मनुनिर्दिष्ट पथ ही राजपथ है

सृष्टिके प्रारम्भसे अर्थात् चिरप्राचीन कालसे ही हम नुका शासन मानते आ रहे हैं। वेदमें अनेक स्थलोंमें नुका उल्लेख मिलता है। अतः यह मनुस्मृति प्रायः दो रव वर्षोंकी सुप्राचीन है, इसमें संदेह नहीं। मेधातिथिने लेखा है कि 'मनुने जो कुछ कहा है–वह भेषज है।' ऐसे वचन चारों वेदोंमें मिलते हैं।

मा नः पथः पित्र्यान्मानवादधि दूरं नैष्ट परावतः।
(ऋक्सं० ८। ३०। ३)

इस मन्त्रका अर्थ है—'मनु हमारे पिता हैं, उन्होंने जो पथ निर्माण किया, उससे हमें हटना नहीं चाहिये। अपितु इसके अतिरिक्त जो विप्रकृष्ट मार्ग हैं, उनसे हमें दूर रहना चाहिये।' 'मत मत तत पथ' यह वाक्य आज अनवरत सुना जाता है। परंतु भगवान्‌ने गीतामें कहा कि **'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।'** विधर्मियोंके साधन प्रायः इतने परिष्कृत नहीं हैं। अनुभव एवं ज्ञान-विज्ञानके विरुद्ध होनेसे ये विधर्मी कभी वैदिक पथपर नहीं चले। वे जन्मान्तर ही नहीं मानते, फिर इनमें मोक्षकी कल्पना ही कहाँसे आयेगी। अतः मानवमात्रको मनुके उपदेशोंका ही पालन करना चाहिये।

पुनर्जन्म और जन्मद्वारा ही वर्णभेद उपनिषद्-समर्थित हैं

तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरञ्श्वयोनिं वा शूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा॥ (छान्दोग्योप० ५। १०। ७)

श्रुतिके इस प्रसिद्ध वचनसे जन्मगत वर्णभेद सिद्ध होता है। ये कर्मफलके अनुसार हैं। इसका भाव यह है कि चन्द्रलोकसे प्रत्यावृत्त जीवोंमें जिन्होंने इस लोकमें रमणीय आचरण अर्थात् विविध सत्कार्योंका अनुष्ठान किया है, वे निश्चय ही अभ्याश अर्थात् अतिसत्वर ही उत्कृष्ट ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्ययोनि जन्म ग्रहण करते हैं और जिन लोगोंने इहलोकमें के कपूय अर्थात् असत्कर्मका अनुष्ठान किया है, वे भी नि निश्चय ही अपकृष्ट—कुत्ता, सूकर तथा चाण्डालयोनि जन्म लेते हैं। (महा महोपा० दुर्गाचरण, सांख्य-वेदान्ततीर्

यहाँ 'शोभन अनुशय' और 'अशोभन अनुशय'का अर्थ 'स्वस्वकर्मानुरूपेण' विभिन्न योनिमें जन्म होते हैं। गीत भी यही बात कही गयी है। ब्रह्मविद्या और ज्ञान-ल होनेपर शुक्ल अर्थात् देवयान मार्गद्वारा ऊर्ध्वगति या मु प्राप्त होती है, उन्हें पुनरावृत्त नहीं होना पड़ता। अतः सर उत्तम कर्मादिके फल हैं—पितृयाण और कृष्ण-गति प द्वारा चन्द्रलोक अथवा स्वर्गमें गमन एवं पुण्य-क्षय होने मनुष्यलोकमें पुनर्जन्म होता है। एतद्‌द्वयातीत दैवक क्रूर नराधमगण 'आसुरी' अर्थात् व्याघ्र-सर्पादि त कृमि-कीटादि योनियोंमें अनवरत जन्म लेते रहते हैं। है—तृतीय एवं अधम गति।

सदाचार तपस्याके मूल

भगवान् मनुने कहा है—**'सर्वस्य तपसो मू माचारं जगृहुः परम्'** (१। ११०)। शुद्ध आहार देहशुद्धि तथा चित्तशुद्धिके लिये अत्यावश्यक हैं—**'आहा शुद्धौ सत्त्वशुद्धिः। सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः** (छान्दोग्य० ७। २६। २) आहार-शुद्धिसे चित्त शुद्धि होकर तैलधारावत् अनवरत भगवान्‌का स्मर होता है। ब्रह्मसूत्रके **'अनाविष्कुर्वन्नन्वयात्'** (३। ४। ४ सूत्रमें शुद्ध भोजनको अपरिहार्य माना गया है। उच्छि अस्पृश्य वा अमेध्य अर्थात् जो पदार्थ श्रीभगवान् पूजामें अथवा यज्ञमें निवेदित नहीं किया जा सकत वह निषिद्ध है। आहार भी एक प्रकार यज्ञ ही है। इस प्रकार स्थूल देहशुद्धिके निमित्त दन्तधावन, शौचक्रिया बाद जल और मृत्तिकाद्वारा शुद्धि निःसन्देह भारतीय आचि ही देन हैं। ये आचार पृथ्वीभरमें दूसरे धर्म एवं सम्प्रदा यहीं नहीं हैं और न कभी रहे। ये भी वैदि

चिराचरित प्रथा है। न्यायोपार्जित धनद्वारा यज्ञ-दान-इष्टापूर्तादि कर्म कर यज्ञशेष भोजनसे शरीर धारण करना चाहिये। अनिवेदित सब कुछ ही अभक्ष्य हैं। आहारके साथ धर्मका घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस प्रकार पवित्र रहकर यज्ञ, दानादि सत्कर्म निष्कामभावसे आचरित होनेपर निःसंदेह मोक्षमार्गको प्रशस्त करते हैं।

वेदान्त-शास्त्रोंमें निष्काम कर्मयोगका स्वरूप

(लेखक—याज्ञिकसम्राट् पं० श्रीवेणीरामजी शर्मा गौड़, वेदाचार्य, काव्यतीर्थ)

जीवनके साथ कर्मका बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। चर-अचर सभी कर्मसे बँधे हुए हैं। पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि भोग-योनियाँ हैं, इनके द्वारा बने कर्मोंसे नये संचित और नये प्रारब्ध कर्म नहीं बनते। पूर्व प्रारब्धके अनुसार क्रियमाण कर्म ही होते रहते हैं। किंतु मानवयोनि कर्मयोनि है। इसके द्वारा किये गये कर्म तीन भागोंमें विभक्त होकर क्रियमाण, संचित और प्रारब्ध बनते हैं। शेष प्रारब्धकर्मसे कोई योनि मिलती है और तब कर्मोंका प्रारम्भ होता है। कर्मका प्रारम्भ या आचरण ही क्रियमाण कर्म है और यही स्वल्प समयमें संचित-कर्म बनकर पुनः प्रारब्ध बन जाता है। यह चक्र अनन्तकालतक मोक्षपर्यन्त चलता रहता है।

किसी भी कार्यके अन्तमें अथवा कार्यके मध्यमें एक विराम होता है, इसीको 'अवकाश' कहते हैं। यह एक प्राकृतिक नियम-सा है। जैसे सृष्टिके अन्तमें प्रलयका होना, यह एक प्राकृतिक अवकाश है; किंतु यह परम आश्चर्य है कि ये क्रियमाण, संचित और प्रारब्धकर्म इस जीवको यहाँ भी पूर्ण अवकाश नहीं देते। शास्त्रोंका साक्ष्य है कि महाप्रलयके समयमें भी संचितकर्मोंका नाश नहीं होता और नयी सृष्टिके समय परमात्माकी यह अनादि प्रकृति उन्हीं परिपक्व कर्मोंके माध्यमसे पुनः सृष्टिका निर्माण करती है—'धाता यथापूर्वमकल्पयत्।'

अज्ञानके कारण सभी जीव अमुक होनेसे उस अन्तमें लीन तो रहते हैं, किंतु सूक्ष्मरूपसे वे उस समय भी अलग-अलग रहते हैं। परमात्माकी यह परम [illegible] ... जीवोंको तथा तत्सम्बन्धी कर्मोंको ढूँढ़-ढूँढ़कर विचित्र सृष्टिका निर्माण करती है। तात्पर्य यह कि महाप्रलयकालमें भी कर्म तथा जीव अपने कारणस्वरूप परमात्मामें पड़े रहते हैं, जिससे कर्मोंका नाश नहीं होता। अतः सूक्ष्मरूपसे सृष्टि भी अनवरत बनी रहती है, यह सब शास्त्रसम्मत है।

वेदान्तदर्शनका—'भावे चोपलब्धेः' (२।१।१५) यह सूत्र सत्कार्यवादका समर्थक है। तदनुसार 'अपने कारणमें शक्तिरूपसे कारणकी सत्ताके होनेपर भी उसकी (कार्यकी) उपलब्धि होती है।' और भी वेदान्तदर्शनमें 'सत्त्वाच्चावरस्य' (२ । १ । १६) सूत्रमें 'अवरस्य कार्यस्य सत्त्वात्' आदिसे सत् होना भी श्रुतिसम्मत है। अतः जीवके कर्म प्रलयकालमें बने ही रहते हैं। कर्म-सम्बन्धसे ही मायाका मलिन अन्धकार (अज्ञान) जीवके साथ लगा रहता है, जिसे काल भी नहीं खा सकता। श्रीमद्भागवत (८ । ३ । २५)के गजेन्द्रमोक्ष-प्रकरणको देखिये। गजेन्द्र श्रीभगवान्‌की स्तुतिमें कहता है—

> जिजीविषे नाहमिहामुया कि-
> मन्तर्बहिश्चावृतयेभयोन्या।
> इच्छामि कालेन न यस्य विप्लव-
> स्तस्यात्मलोकावरणस्य मोक्षम्॥

'प्रभो! इस गजयोनिमें मैं जीना नहीं चाहता; क्योंकि यह भीतर और बाहर सभी प्रकारसे अज्ञानरूप आवरणके द्वारा ढकी है। इसको रखकर करना भी क्या है! मैं तो इस जीव और परमात्माके बीचमें

अज्ञानरूप मायाका जो मलिन पर्दा है, उससे मुक्त होना चाहता हूँ; जो कालक्रमसे अपने-आप नहीं छूट सकता और वह केवल भगवत्कृपा अथवा तत्त्वज्ञानके द्वारा ही नष्ट होता है।' विचारणीय बात है कि क्या उपाय किया जाय जिससे संचितकर्म आगे प्रारब्धकर्म न बन सके।' इसी स्थलपर 'निष्कामकर्म'का स्मरण होना आवश्यक है, जिसका विवेचन आगे किया जायगा। यहाँ यह भी कहा जा सकता है कि 'इन कर्मके झंझटोंको छोड़ो। मैं निष्क्रिय ही क्यों न रहूँ।' इसके उत्तरमें स्वयं भगवान्‌श्रीकृष्ण ही गीता-(३।६)में कहते हैं—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥

'जो मूढबुद्धि पुरुष कर्मेन्द्रियोंको हठसे रोककर इन्द्रियोंके भोगोंको मनसे ही चिन्तन करता रहता है, वह मिथ्याचारी कहा जाता है।' अतः कर्मके बन्धनोंसे बचनेके लिये यह ढंग ठीक नहीं। कर्मोंके रहते हुए जिस परमानन्दकी प्राप्तिके लिये जीव भटक रहा है, उस परमानन्दकी प्राप्ति सर्वथा असम्भव है। वस्तुतः परमानन्द ही जीवकी पैतृक सम्पत्ति है और वही उसका वास्तविक स्वरूप है। अतः वह उसी परमानन्दको प्रत्येक योनिमें ढूँढ़ता है। यह अटल नियम है कि 'जिसने जिस सुखका कभी अनुभव प्राप्त किया है, उसे उस सुखकी प्राप्तिकी सदा-सदा उत्कण्ठा होती है; जैसे जिस-किसीने कभी सर्पको देखा होगा तो उसे ही कभी रज्जुमें सर्पकी भ्रान्ति हो सकती है, दूसरेको नहीं; अतः यह जीव अपनी स्मृतिमें परमानन्दको लिये हुए है। इसीलिये वह उसे ढूँढ़ता है।

भगवान् श्रीकृष्णने उसको कर्मबन्धनसे मुक्त होनेके लिये मुख्यरूपसे ये दो उपाय बतलाये—एक सांख्ययोग और दूसरा (निष्काम) कर्मयोग। सांख्यके अनुसार यह जगत् गुणगुणोंके अन्दरकी भाँति स्थित है। सबके बनाये हुए गुण ही एक-दूसरेसे टकराकर लीला कर रहे हैं। माया कर्त्री है, जीव नहीं; अहंकारसे ही वह अपनेको कर्त्ता मानता है। उसे तो कर्तृत्व-अभिमान त्यागकर निर्द्वन्द्व रहना चाहिये—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥

(गीता ३।२७)

'अर्जुन! वस्तुतः समस्त कर्म प्रकृतिके गुणोंके द्वारा किये जाते हैं, तो भी अहंकारसे मोहित हुए अन्तःकरणवाला पुरुष 'मैं कर्ता हूँ'—ऐसा मान लेता है।' भगवान् श्रीकृष्णने निष्काम कर्मयोगके द्वारा अर्जुनको यह बतलाया कि 'हे अर्जुन! तुम कर्मके फलोंकी इच्छाको त्यागते हुए तथा सिद्धि और असिद्धिकी परवा न करके परमात्माकी आज्ञासे स्वधर्मानुकूल कर्मोंको करते रहो।'

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योःसमो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥

(गीता २।४८)

'अर्जुन! आसक्तिको त्यागकर तथा सिद्धि और असिद्धिमें समान बुद्धि रखकर योगमें स्थित होकर कर्मोंको करो, यह समत्वभाव ही 'योग'-नामसे कहा जाता है।' पर भगवान् श्रीकृष्णके उपर्युक्त दोनों मार्गोंको जानकर भी अर्जुनको शान्ति नहीं मिली; क्योंकि वह वास्तविक एक मार्गकी ही खोजमें है। वह द्वन्द्वोंमें फँस गया है। अर्जुनकी अशान्त स्थितिको देखकर भगवान्‌ने हँसते हुए कहा—

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥

(गीता ५।४)

'अर्जुन! सांख्ययोग (संन्यास) और निष्काम कर्मयोगको मूर्खलोग ही अलग-अलग कहते हैं, न कि पण्डितजन; क्योंकि दोनोंमेंसे एकमें भी अच्छी तरह स्थित हुआ पुरुष दोनोंके फलस्वरूप परमात्माको प्राप्त होता है।' अतः श्रीभगवान्‌ने अर्जुनसे कहा—तुम कर्मयोगी बनो।

वस्तुतः सांख्ययोग और निष्काम कर्मयोग—ये दोनों एक ही हैं और इन दोनोंका फल भी एक ही है। वस्तुतः इन दोनोंके मार्ग भिन्न-भिन्न ही हैं। अतः एक-ही समयमें ये दोनों एक साथ नहीं चलाये जा सकते। अतः तुम निष्काम कर्मयोगका ही पालनकर कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाओ। यही तुम्हारे लिये श्रेयस्कर होगा; क्योंकि तुम एक क्षत्रिय गृहस्थ हो। जीवनका कर्मोंके साथ अपरिहार्य सम्बन्ध है और कर्मोंका जाल भी महान् है, जिससे निकलना असम्भव है।

वस्तुतः ईश्वरार्पण-बुद्धिसे फलेच्छाशून्य कर्म ही 'निष्कामकर्म' है। इच्छाका त्याग तो यहाँतक होना चाहिये कि—'तत्रापि ईश्वरो मे तुष्यतु इत्यपि सङ्गं त्यक्त्वा' (शांकरभाष्य)। अर्थात् मेरे इन कर्मोंसे ईश्वर प्रसन्न हों—मनुष्यकी यह भी इच्छा नहीं होनी चाहिये। अतः योगस्थ होकर कर्म करना ही 'निष्काम कर्मयोग' है।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥
(गीता २।५१)

'बुद्धियोगयुक्त ज्ञानिजन कर्मोंसे होनेवाले फलको त्यागकर जन्मरूप बन्धनसे छूटे हुए निर्दोष अर्थात् अमृतमय पदको प्राप्त होते हैं।' सारांश यह कि निष्काम कर्मयुक्त योगियोंको ही अनामय (दुःखरहित) परमानन्दपद प्राप्त होता है; क्योंकि वे कर्मफलकी इच्छाको त्यागकर जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्त हो जाते हैं। इस प्रकार यहाँतक निष्काम कर्मका स्वरूप उसके पालन करनेके योग्य अधिकारी तथा उसके पालनकी शैली एवं उसके फलका संक्षेपमें दिग्दर्शन कराया गया।

अतः निष्कर्ष यह है कि फलेच्छारहित निष्काम कर्म करनेसे ही मुक्ति अथवा अनन्तानन्द जैसे प्राप्त

अनादिकालसे मनका सम्बन्ध है। मायाने पञ्चमहाभूतोंके सत्त्वगुणसे 'अन्तःकरण' बनाया है। यह मन भी अन्तःकरणका ही एक भेद है। संकल्प-विकल्प ही इस मनके प्राण हैं। यह मन मायाका श्रेष्ठ पुत्र है और यही जगत्के समस्त प्राणियोंकी देहोंका तथा रजोगुण, सत्त्वगुण और तमोगुणका भी निर्माता है। इसी बातको श्रीमद्भागवत (१२।५।६)में भी कहा है—

मनः सृजति वै देहान् गुणान् कर्माणि चात्मनः।
तन्मनः सृजते माया ततो जीवस्य संसृतिः॥

'मन ही आत्माके लिये शरीर, विषय और कर्मोंकी कल्पना कर लेता है और उस मनकी सृष्टि माया करती है। वस्तुतः माया ही जीवके संसारचक्रमें पड़नेका कारण है।' मनको अपना मित्र कैसे बनाया जाय और इसपर पूर्णतः अधिकार कैसे जमाया जाय? इस मनके निग्रहका उपाय अनादिकालसे ही समस्त वेदादि शास्त्र एवं ऋषि-मुनि तथा गुरुजन बतलाते आ रहे हैं कि दान, स्वधर्म-पालन, तीर्थसेवन, व्रत तथा उपवास आदि शुभकर्म करनेसे अवश्य ही मनोनिग्रह होता है। श्रीमद्भागवत (११।२३।४६)में कहा है कि—

दानं स्वधर्मो नियमो यमश्च
श्रुतं च कर्माणि च सद्व्रतानि।
सर्वे मनोनिग्रहलक्षणान्ताः
परो हि योगो मनसः समाधिः॥

दान, अपने धर्मका पालन, नियम, यम, वेदाध्ययन, सत्कर्म और ब्रह्मचर्यादि श्रेष्ठ व्रत—इन सबका अन्तिम फल यही है कि मन एकाग्र हो जाय, भगवान्में लग जाय। मनका समाहित हो जाना ही परमयोग है।' भगवान् कृष्णद्वारा उपदिष्ट निष्काम कर्मयोग वह अद्भुत जादू है, जिस धर्मका स्वल्पांश साधन भी जन्म-मृत्युरूप महान् भयसे उद्धार कर देता है—

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥

निष्काम कर्मसे क्या होता है और निष्काम कर्मका तथा मनका क्या सम्बन्ध है, ये सभी विषय विचारणीय हैं। इस मनका प्राण है—संकल्प। इसी संकल्पसे मनकी सत्ता है। निष्काम कर्म संकल्परहित अर्थात् फलेच्छासे शून्य होता है। फलतः वह शनैः-शनैः दुर्बल होकर बुद्धिका अनुसरण करता है। बुद्धितत्त्व आत्मासे अत्यन्त समीप है, जिससे यह मन भी आत्मसामीप्य प्राप्त करेगा। बुद्धितत्त्वपर प्रतिबिम्बित जीवके ऊपर-नीचे, दायें-बायें, सर्वत्र साक्षी चैतन्य प्रकाशसे व्याप्त हो रहा है। श्रीमद्भागवत (३।२८।३५)में यह बात इस प्रकार निर्दिष्ट है—

> मुक्ताश्रयं यर्हि निर्विषयं विरक्तं
> निर्वाणमृच्छति मनः सहसा यथार्चिः।
> आत्मानमत्र पुरुषोऽव्यवधानमेक-
> मन्वीक्षते प्रतिनिवृत्तगुणप्रवाहः॥

'जैसे तेल आदिके समाप्त हो जानेपर दीपशिखा अपने कारणरूप तैजस्-तत्त्वमें लीन हो जाती है, वैसे ही आश्रय, विषय और रागसे रहित होकर मन शान्त-ब्रह्माकार हो जाता है। इस अवस्थाके प्राप्त होनेपर जीव गुणप्रवाहरूप देहादि उपाधिके निवृत्त हो जानेके कारण ध्याता, ध्यान, ध्येय आदि त्रिपुटीरहित एक अखण्ड परमात्माको ही सर्वत्र अनुस्यूत देखता है।' अतः स्पष्ट है कि निर्विषय मन जब उस मुक्ताश्रय परमात्माकी सन्निधिको प्राप्त कर लेता है, तब वह अकस्मात् निर्वाणपदको उसी प्रकार प्राप्त कर लेता है, जिस प्रकार दीपशिखाकी किरणें अपने आश्रय अग्नि आदिमें लीन हो जाती हैं। इसलिये निष्काम कर्मसे मनोनिग्रह और मनोनिग्रहसे कर्मबन्धनोंसे मुक्ति होती है।

श्रीमद्भागवत-(१०।१४।२९)में ब्रह्माजी भगवान्‌की स्तुति-प्रार्थना करते हुए कहते हैं—'प्रभो! इन समस्त उपायोंके होते हुए भी जबतक आपके चरणकमलोंका प्रसाद जीवको प्राप्त नहीं होता, तबतक उसे आपकी प्राप्ति सर्वथा असम्भव है।

> अथापि ते देव पदाम्बुजद्वय-
> प्रसादलेशानुगृहीत एव हि।
> जानाति तत्त्वं भगवन् महिम्नो
> न चान्य एकोऽपि चिरं विचिन्वन्॥

निष्कर्ष यह है कि भगवद्भक्तिके बिना निष्काम कर्म भी सफल नहीं हो सकता; क्योंकि निष्काम कर्ममें भी 'ईश्वरार्पणबुद्धि' आवश्यक है। भगवद्भक्ति समस्त इष्टकी साधिका है। भगवान्‌ने गीता-(१८।६६) प्रायः अष्टादश योगोंका उपदेश देकर अन्तमें—

> सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

—कहकर भक्तियोगमें ही सभी योगोंका पर्यवसान किया है। (अतः गीताका कर्मयोग भक्तिप्रधान है।)

निष्काम कर्म तथा सकाम कर्म—इन दोनोंके कर्ताओंको कर्मका फल तो अवश्य ही मिलता है; क्योंकि कर्म कभी निष्फल नहीं होता। त्याग तो केवल फलेच्छाका ही होता है। अतः फलके त्यागका तो प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि फल-प्राप्तिमें तो कर्ताका अधिकार ही नहीं रहता। वह दैवाधीन है। अन्यथा दुःखी होना कौन पसंद करेगा! कर्ताके अधिकारमें केवल इच्छा होती है। इच्छाके त्यागमें ही जीवका अधिकार भी है और यही शास्त्रसम्मत भी है। अतः निष्काम कर्ममें फलत्यागका भाव नहीं है। केवल फलको मनमें न लाकर भगवान्‌को अर्पित करनेसे ही सभी कर्म भस्म हो जाते हैं और वे पुनः संचित और प्रारब्धकर्म बननेके योग्य नहीं रह जाते। अतः जीव मुक्त हो जाता है। इसीलिये गीताशास्त्र [illegible] भी अपने सिद्धान्त-प्रतिपादनमें उत्कृष्ट समस्त शास्त्रोंको प्रतिपादनके रूपमें प्रकट करते हुए कहा है कि भगवत्प्रीत्यर्थ [illegible] निष्काम कर्म ही सिद्धान्त प्रतिष्ठित की गयी है।

वैष्णव आगमोंमें निष्काम कर्मयोग

(लेखक — डॉ० श्री[illegible] सक्सेना [illegible], एम० ए० (अंग्रेजी हिन्दी), साहित्यरत्न, आयुर्वेदरत्न)

वैष्णव आगम अनन्त हैं। उनके प्रतिपाद्य साक्षात् श्रीभगवान् विष्णु हैं और उनमें जीवके कर्म, ज्ञान, उपासना आदि सभी साधन भगवान् विष्णुकी प्राप्तिके लिये ही बताये गये हैं। उनके अनुसार भगवत्सेवा मानवका परम कर्तव्य है। अतः वैष्णवागमोंका कर्मयोग अपने कर्मोंको भगवत्प्रीत्यर्थ और भगवदर्पण करनेका निर्देशक है। जीव यन्त्रवत् है और उसके द्वारा जो भी कर्म होते हुए प्रतीत होते हैं, वे सभी भगवान्‌के द्वारा ही यथार्थतः होते हैं। अतः कर्म भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार करने चाहिये। वैष्णवागमोंके ऐसे निर्देशनोंसे स्पष्ट है कि वे निष्काम कर्मयोगके प्रतिपादक हैं।

कर्म सहज प्रवृत्ति है

'लक्ष्मीतन्त्र'में इन्द्र भगवती लक्ष्मीसे प्रश्न करते हैं कि यदि जीव सनातन है और वह श्रीकी चित्-शक्ति ही है, तो फिर क्लेश, कर्म और आशयसे क्यों स्पृष्ट होता है[1]। इसके उत्तरमें श्रीजी कहती हैं कि एक ही चित्-शक्ति काल और काल्यके भेदसे भोक्त्री और भोग्या—ऐसी द्विधा हो जाती है। इनमें कालात्मिका शक्ति मोहिनी और बन्धनी है। यही सविकारा प्रकृति है, जिसके द्वारा विमुग्ध जीव बन्धनमें पड़ा रहता है। जीवको पाँच क्लेश होते हैं—तम, मोह, महामोह, तामिस्र और अन्ध। यह तिरोभाव शक्तिका कार्य है। अनात्ममें अहंताकी भ्रान्ति, 'तम' या 'अविद्या' है। अनात्ममें अहंता मान लेनेपर जो अभिमान होता है, वही 'अस्मिता' या 'मोह' है। सुख-अनुस्मृति-हेतु-रूप वासनासे प्रभावित रञ्ज्य विषय 'राग' या 'महामोह' है। दुःख-अनुस्मृति-हेतु-रूप वासनासे प्रभावित द्वेष्य विषय 'द्वेष' या 'तामिस्र' है। दुःख दूर करने और सुख पानेकी अभिलाषामें विघ्न होनेपर जो त्रास होता है, वह 'अभिनिवेश' या 'अन्ध' है।[2]

इस प्रकार देहमें आत्म-बुद्धि करनेपर त्रिविध कर्म होते हैं—सुख-प्रेप्सु, दुःख-जिहासु और उभयेच्छु। इनका विपाक भी तदनुकूल त्रिविध है—सुख, दुःख और सुखदुःखात्मक। स्पष्ट है कि तिरोभावशक्ति जीवको अविद्या-ग्रस्त करके पञ्चक्लेशदायी काम्य कर्मकी परम्परामें डालती है[3]।

कर्म-विधि

'अहिर्बुध्न्यसंहिता'का मन्तव्य भी 'लक्ष्मी-तन्त्र'-जैसा ही है। उसके अनुसार जीव अविद्यासे विद्ध होकर बन्ध-मोक्षको प्राप्त होते हैं। वे कर्मपरवश होकर पृथ्वीपर उत्पन्न होते हैं। तब वे 'क्लेशाशयापरामृष्ट' हो जाते हैं और 'आविर्भाव-तिरोभाव'को ग्रहणकर कर्मभूमिमें आते हैं।[4] राग-द्वेषयुक्त ऐसे लोगोंके हितके लिये तथा पाप-निवारणके लिये, आयुर्वेदोपदेशके समान अनेक नियम और अनेक फलवाले धर्मोंका विधान शास्त्रोंके द्वारा किया जाता है। जीवोंके द्वारा चतुर्वर्ग सेवनीय है, जिनमें धर्म, अर्थ, काम त्रिवर्ग हैं। त्रिवर्ग साधनरूप है। दया, उत्थान और संकल्प त्रिवर्गके क्रमशः अन्तरङ्ग हेतु हैं और न्याय्य धर्म-पालन, तन्त्र-चिन्तन और विवाहादि इनके बहिरङ्ग हेतु हैं।

१—लक्ष्मी तन्त्र १२। १। २—लक्ष्मी तन्त्र १२। ४–२१। ३—लक्ष्मी तन्त्र १२। ३२–३५।

४—सर्वतोऽविद्ययाविद्धाः क्लेशमय्या [illegible] ॥

श्रुति-निर्दिष्ट कर्म दो प्रकारके हैं—प्रवर्तक और निवर्तक, अर्थात्—प्रवृत्ति-परक और निवृत्ति-परक। प्रवर्तक कर्म स्वर्गादिफलके साधन हैं, और निवर्तक कर्म मोक्ष-साधन हैं।[1] इसीमें योग है, जो जीवात्मा-परमात्माका संयोग और विष्णुके परमपदकी प्राप्ति कराता है।[2]

अविद्यादिसे क्लेश पाता हुआ जीव इष्ट-प्राप्ति और अनिष्ट-परिहारकी इच्छासे शुभाशुभ फलवाले कर्म करता है।[3] शुभ और अशुभसे मिश्रित फल जो विधाताकी प्रेरणासे उसे मिलते हैं, वे हैं—जाति (जन्म), आयु और भोगकी प्राप्ति। फिर इससे शनैः-शनैः सुखादिकी वासनाएँ संचित होने लगती हैं। यह निग्रह शक्तिकी तिरोधान-परम्परा है।[4]

सात्वततन्त्रकी स्थापना है कि कर्म गुणत्रय-क्षोभसे शुभाशुभ फलप्रद तथा मात्रोंका परिणाम करके जन्मका हेतु बनता है।[5] इसके अनुसार कर्म दो प्रकारके हैं—प्रवृत्तिकर्म और निवृत्तिकर्म। ये श्रुतियों एवं स्मृतियोंके द्वारा कामी-जनोंके लिये काम्य बताये गये हैं। प्रवृत्तिको अविरोधभाव-से करनेपर मानव स्वर्गको जाता है और पुण्य भोग लेनेपर पृथ्वीपर कर्म-संङ्गियोंमें उत्पन्न होता है। मनसे भोगेच्छाका त्याग कर निवृत्तिकर्मका आचरण करनेवाला योगी परम-सिद्धि प्राप्त करता है, जहाँसे लौटता नहीं। अतः प्रवृत्ति-निष्ठ व्यक्तियोंके लिये, जो नाना-काम-अनुरागी होते हैं, बुधजनोंके द्वारा छः प्रकारके नियमोंके अनुवर्तनकी विधि बतायी गयी है। शास्त्रमें यदि हिंसादिका विधान कहीं प्रतीत होता है तो वह काम्यकर्म-निष्ठाके लिये ही बताया गया है, किंतु अहिंसा ही परमधर्म है और अभीष्ट फल देती है। अतः प्रयत्नपूर्वक काम्यकर्मका त्यागकर निवृत्तिकर्म-परायण होना चाहिये। निवृत्ति-निष्ठ मनुष्यको भी हरिभक्तियुक्त, लोक-सुमङ्गल, कृष्ण-लीला-कथा-श्रवणादिक कर्म करते रहना चाहिये। जो व्यक्ति कृष्ण-शरणमें रहकर नित्य हरि-पद-सेवा करते हैं, वे लोक-परलोकमें कृतार्थ होकर निरन्तर परमानन्दसन्दोह प्राप्त करते हैं।[6]

लक्ष्मीतन्त्रका कथन है कि भगवतीमें परमप्रीतिके चार उपाय हैं—कर्म, सांख्य, योग और सर्व-संन्यास। कर्म चार प्रकारके हैं—नित्य, नैमित्तिक और काम्य-कर्म तथा कर्म-संन्यास। अपने वर्णाश्रम-सम्बन्धी कर्म नित्य और नैमित्तिक हैं। फल-विशेषकी कामनासे किये जानेवाले कर्म काम्य हैं। काम्य-कर्मोंको लक्ष्मी-तन्त्रने 'काम-हत' कर्म कहा है। कामना बिना जो कर्म केवल भगवत्प्रीत्यर्थ किये जायँ, वे 'अकामहत' हैं। मुमुक्षु योगियोंके लिये सर्व-संन्यास विधेय है।[7]

'महानिर्वाणतन्त्र'के मतानुसार निष्काम और सकाम भेदसे मनुष्य दो प्रकारके होते हैं। सकामी जनोंको कर्म-फल मिलता है।[8] तन्त्रशास्त्रमें सकाम कर्मके विधानका कारण यह है कि कर्म किये बिना कोई आधा क्षण भी नहीं रह सकता। न चाहते हुए भी वे कर्म-वायु-वश विवश

१—अहिर्बुध्न्य सं० ३१। १२-१४। २—वही ११। ११, १५।

३—क्लिश्यद्भिः क्लेशितः क्लेशैरविद्यादिभिरोदशैः। पुंसः प्रेप्साजिहासाभ्यामागमानमनुमन्यन्॥
इष्टार्थप्राप्तयेऽनिष्टविघाताय च लालसः। कर्म तत् कुरुते कामी शुभाशुभफलोदयम्॥
(अहिर्बुध्न्य सं० १४। २२, २३)

४—अहिर्बु० सं० १४। २४-२५। ५—सात्वततन्त्र १। १३-१५। ६—सा० त० ९। १५-४९।

७—लक्ष्मीतन्त्र १५। १६-२०।

८—सकामा चैव निष्कामा द्विविधा भुवि मानवाः। अकामानां पदं मोक्षः कामिनां फलमुच्यते॥
(महानिर्वाणतन्त्र ८। २०)

इसके विपरीत क्रिया-विरहित व्यक्ति लोकमें धर्म-भ्रष्ट कहे जाते हैं । शास्त्रका तात्पर्य वही समझता है, जो धर्ममें श्रद्धा रखता है । शास्त्रहीन व्यक्ति तत्त्वका निर्धारण नहीं कर सकता । तत्त्व-निर्धारणके बिना शङ्काका निवारण नहीं होता । शङ्कामलिन हृदयमें प्रेमसूर्यका प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता, जिससे कृष्ण भासमान हों । अतः चित्तको स्वच्छ बनानेके लिये वर्णाश्रमधर्मका विधान किया गया है । इसके बिना न तो ज्ञानका, न भक्तिका ही यथार्थ उदय होता है ।[1] अतः नित्य और नैमित्तिक कर्म तो करने चाहिये, किंतु काम्य (सकाम) और निषिद्ध कर्मको दूरसे ही पूर्णतः त्याग देना चाहिये—

नित्यं नैमित्तिकं तस्मात् कर्तव्यं तदशङ्कया ।
काम्यं निषिद्धं यत्कर्म तत्तु दूरात् परित्यजेत् ॥[2]

नित्य और नैमित्तिक कर्म कभी भी फल-बन्धन नहीं करते । इनका अनुष्ठान नहीं करनेसे प्रत्यवाय उत्पन्न हो जाता है और अनुष्ठान करनेसे चित्त-शुद्धिके अतिरिक्त अन्य कोई फल नहीं होता ।[3] सहजकर्म करना चाहिये, इससे विघ्न नहीं होता ।[4]

नित्य-नैमित्तिक कर्म यदि फल-संकल्प-रहित होकर किये जायँ, तो वे चित्तका शोधन करते हैं और देह नहीं दिलाते । अतः ऐसे निष्कामकर्म करनेसे कोई हानि नहीं होती । फिर भी पण्डितमानी मूढजन शोधन-कारी कर्मका त्यागकर पाप-चित्त हुए भ्रान्तिमें पड़े रहते हैं । अपनेको ब्रह्मज्ञानी कहनेवाले, किंतु सांसारिक सुखोंमें आसक्त व्यक्तिको, जो कर्म और ब्रह्म दोनोंसे भ्रष्ट हैं, अन्त्यज (त्याज्य)की भाँति त्याग देना चाहिये ।[5] (क्रमशः)

श्रीवैखानस-कल्पसूत्रमें कर्मयोग

(लेखक—श्रीचल्लपल्लि भास्कर श्रीरामकृष्ण मावार्युलु, एम्० ए०, बी० एड्०)

कल्पसूत्र तथा उनके उद्देश्य

वेद भारतीय संस्कृतिके मूल केन्द्र-बिन्दु हैं तथा जीवके आत्मोन्नति या कर्मबन्ध-मोचन-प्राप्ति ही उनका परमाशय है । वेदके ऋक्, यजुः, साम तथा अथर्व—ये चार विभाग हैं—इन वेदोंके शिक्षा, कल्प, निरुक्त, छन्द, व्याकरण और ज्योतिष—ये छः अङ्ग भी प्रसिद्ध हैं । इन सबका परमाशय मानव-कल्याण ही है । इनमें 'कल्पसूत्र' मानवके कर्मकाण्डके उपयोगमें आनेके कारण वेदके महत्त्वपूर्ण अङ्ग हैं । इनके भी शान्तिकल्प, वैतानकल्प, [illegible]कल्प, श्राद्धकल्प, आङ्गिरसकल्प [illegible] भेद [illegible] सूत्रोंका अप[illegible] [illegible] (१-५५)

[illegible] हैं, [illegible]

कल्पके अतिरिक्त (१) स्मार्तसूत्र (गृह्यसूत्र), (२) धर्मसूत्र और (३) श्रौतसूत्र—ये ३ अन्य भेद भी हैं । जिस कल्पसूत्रमें उपर्युक्त तीनों विभाग पाये जाते हैं, वह 'परिपूर्ण-सूत्र' कहलाता है । 'श्रीवैखानस-सूत्र' में ये तीनों विभाग पाये जाते हैं' ।

इसकी दूसरी विशेषता है—'वानप्रस्थाश्रम'की प्रवृत्ति-निरूपण जो अन्य सूत्रोंमें प्रायः अप्राप्य है । बोधायनादि अन्य सूत्रकारोंके द्वारा 'वानप्रस्थो वैखानसशास्त्र-समुदाचारो वैखानसः' आदि वाक्योंसे 'वैखानससूत्रोक्त रीतिसे ही वानप्रस्थाश्रम स्वीकार करनेका आदेश दिया [illegible] न सूत्रकी तीसरी विशेषता है—दिव्य आराधना । [illegible] एवं २—मूर्तार्चनका निरूपण । अग्निमें [illegible] करके आराधना करना अमूर्तार्चना और प्रतिमादिमें

१ ४८ । २-भा० सं० १६ । [illegible] । ४-भा० [illegible]

की जानेवाली आराधना समूर्त्यर्चना कहलाती है। 'नारायण-परता इसकी चौथी विशेषता है—यही मानवको कर्मबन्धनसे छुटकारा पानेका मुख्य उपाय है।

वैखानससूत्रमें कर्मयोग

यदि 'कर्मयोग' क्रिया-फलपर्यवसायी माना जाय तथा क्रियायोगकी श्रेष्ठता 'क्रियावानेव ब्रह्मविदां वरिष्ठः' उपनिषद्वाक्य-प्रमित माना जाय तो उक्त क्रियायोगका स्वरूप भगवान् श्रीकृष्णके श्रीमुखसे उद्धवके प्रश्न 'क्रियायोगं समाचक्ष्व भगवदाराधनं प्रभो।' (भागवत ११।२७।२)के उत्तरमें 'वैदिकस्तान्त्रिको मिश्रः (११।२७।७)से लेकर अध्यायके अन्ततक कथित कथन वैखानस भगवच्छास्त्रका संक्षिप्त वर्णन (११।२७।६) ही है।

सूत्रप्रतिपादित कर्मयोगका स्वरूप

पहले ही सूचित किया गया है कि 'कल्पसूत्र' साधारणतया मानव-जन्म-साफल्य परामुक्ति-साधना-निरूपक एकमात्र वेदाङ्ग है। उक्त साधनाक्षेत्रके चार विभाग देखनेमें आते हैं; यथा—१-चरित्र, २-क्रिया, ३-ज्ञान एवं ४-योग। इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

चरित्र—इसमें जीवके मातृ-गर्भमें प्रवेश करनेसे लेकर, शरीर-त्यागके पश्चात् उसको उत्तम गति मिलनेके लिये किये जानेवाले संस्कार-विशेषोंका निरूपण किया गया है।

मानव-शरीरको इस प्रकार संस्कारोंसे सुसंस्कृत बनानेकी [illegible] देनेका कारण यह है कि 'दुर्लभं मानुषं जन्म' (भागवत ७।६।१) एवं '[illegible]' ([illegible]) आदि उक्तियोंसे मानव-जन्मकी दुर्लभता सूचित है। उक्त [illegible] प्राप्त करनेके [illegible] (जिनके) और [illegible] (जन्मके) [illegible] [illegible] [illegible] के लिये [illegible] आवश्यक है।

यथा न क्रियते ज्योत्स्ना मलप्रक्षालनान्मणेः।
दोषप्रहरणान्नज्ञानमात्मनः क्रियते यथा॥
प्रकाश्यन्ते न जन्यन्ते नित्या एवात्मनो हि ते॥

२-(वैखानस स्मार्त-सूत्र श्रीनिवासदीक्षितीय व्याख्या॰ पृ॰ १)

उक्त संस्कार निम्न रीतिसे विभाजित हैं—

(अ) ब्राह्म संस्कार, (आ) दैव संस्कार।

संस्कारो द्विविधो ज्ञेयो ब्राह्मो दैवः प्रकीर्तितः।
(वही पृ॰ [illegible])

तत्र निषेकादिपाणिग्रहणान्ताः ब्राह्मसंस्काराः यज्ञाः दैवसंस्काराः। (वही पृ॰ ४)

(अ) उक्त ब्राह्म-संस्कारके निम्न सूचित विभाग हैं—

तत्र ब्राह्मसंस्काराश्चतुर्विधा बीजक्षेत्रशुद्धि ब्राह्मण्यापादका उत्कृष्टत्वापादकाः क्रियमाणाधि न्युपकारकाश्चेति। (वही॰ पृ॰ [illegible])

अर्थात्-(१) बीजक्षेत्र शुद्धि करनेवाले, (२) ब्राह्मणत्वको आपादन करनेवाले, (३) उत्कृष्टता देनेवाले तथा (४) अपने द्वारा किये जानेवाले पाप दोषकी शान्ति करके उपकार करनेवाले। इन संस्कारोंका विवरण इस प्रकार है।

(१) बीज-क्षेत्र-शुद्धिकारक संस्कार—निषेक, ऋतु-संगमन, गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्त, विष्णुबलि, जातकर्म, उत्थानपर्यन्त संस्कार हैं। (२) ब्राह्मण्यापादक संस्कार—नामकरण, अन्नप्राशन, प्रवासागमन, पिण्डवर्धन, चौल, उपनयन, पारायण, व्रत-बन्ध, [illegible] संस्कार। (३) उत्कृष्टत्वापादक—उपाकर्म, समावर्तन, पाणिग्रहणपर्यन्त संस्कार। (४) उपकारक [illegible] संस्कार—[illegible] [illegible] [illegible] [illegible]) [illegible] आदि। (आ) दैव संस्कार—[illegible] [illegible] है। [illegible]

● [illegible]

ाम कर्मबद्ध बना रखनेमें ही यत्नशील रहते हैं। ोवनपर्यन्त उक्त यज्ञोंका अनुष्ठान करते रहनेसे जीवन न ही भगवदर्पित बन जाता है। उक्त यज्ञोंका विवरण प्रकार है।

(१) पाँच महायज्ञ—ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ यज्ञ, मनुष्ययज्ञ—ये प्रतिदिन अनुष्ठेय हैं। (२) सप्त कयज्ञ—स्थालीपाक, आग्रयण, अष्टका, पिण्ड-पितृयज्ञ, सेक श्राद्ध, चैत्रि, आश्वयुजी। (३) सप्तहविर्यज्ञ—न्याधेय, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, आग्रयणेष्टि, चातुर्मास्य, रुढ़, पशुबन्ध, सौत्रामणि। (४) सप्तसोमयज्ञ—निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र, ाप्तोर्याम। इन यज्ञोंकी संख्या 'यज्ञाश्च द्वाविंशत्' वैखानस० स्मा० सू० १।२।३)के अनुसार बाईस ही गयी है। इसका विवरण इस प्रकार है—(१) त्यप्रति अनुष्ठेय होनेके कारण पञ्च महायज्ञ मिलाकर क यज्ञके रूपमें, गणित हैं। अतः ये १+७ पाकयज्ञ, +७ सोमयज्ञ +७ हविर्यज्ञसंस्था मिलाकर कुल १+७+७+७=२२ यज्ञोंके रूपमें गृहीत हैं। इस प्रकार दैव संस्कार (यज्ञ) २२+ब्राह्म संस्कार १८ (वैखानस स्मार्तसूत्र १।२।२) मिलाकर कुल ४० संस्कार कहे गये हैं—'इत्येते चत्वारिंशत् भवन्ति' (वही १।१।२)।

जो उपर्युक्त संस्कारसे संस्कृत होता है, वह अपने संस्कृत संस्कारोंकी अधिकताके अनुसार निम्न सूचित रीतिसे कहा जाता है।

१ मात्र—[illegible]से, जातकर्मसे, संस्कृत ब्राह्मण [illegible]से, ब्राह्मणसे पैदा हुआ शिशु 'मात्र' कहलाता है। (वही १।१।१) उक्त रीतिसे पैदा हुआ शिशु (जातकर्मके बाद [illegible] [illegible]

आदिसे) ब्राह्मण—उपनयनपर्यन्त संस्कारोंसे संस्कृत तथा सावित्रीका अध्ययन करनेवाला होता है (वही १।२।१०)। उपनयन-संस्कारके पश्चात् वेदाध्ययन करके पाणिग्रहणपर्यन्त उत्कृष्टत्वापादक उपाकर्म, समावर्तन, पाणिग्रहणसंस्कारसे संस्कृत तथा उपर्युक्त सप्त पाक-यज्ञोंका अनुष्ठान करते रहनेवाला श्रोत्रिय—कहलाता है। (वही १।२।१२)

आहिताग्नि—उपर्युक्त श्रोत्रियत्व सिद्धिपर्यन्त किये जानेवाले संस्कारोंके अतिरिक्त स्वाध्याय (वेदका नित्य अध्ययन) करनेवाला ब्राह्मण आहिताग्नि कहलाता है। (वही १।१।१२)

अनूचान—उपर्युक्त संस्कारोंके साथ हविर्यज्ञोंका भी अनुष्ठान करनेवाला व्यक्ति 'अनूचान' कहलाता है॥ (वही १।१।१२)

भ्रूण—(उपर्युक्त संस्कारोंके साथ) सोम यज्ञोंका भी अनुष्ठान करनेवाला ब्राह्मण भ्रूण कहलाता है। (वही १।१।१२)

ऋषिकल्प—इन संस्कारोंके साथ नियम तथा यमोंसहित रहनेवाला ब्राह्मण ऋषि कहलाता है। (वही १।१।१४)

यम-नियमका स्वरूप इस प्रकार उक्त है।

शौचमिज्या तपो दानं स्वाध्यायोपस्थनिग्रहौ।
व्रतोपवासौ मौनञ्च स्नानञ्च नियमा दश॥
आनृशंस्यं क्षमा सत्यमहिंसा दम आर्जवम्।
दानं प्रसादो माधुर्यं मार्दवं च यमा दश॥

इस प्रकार ऊपर बादमें वर्णित ब्राह्मण-संस्कारकी अधिकताके कारण पूर्वापेक्षया उत्तम होता है। अतः [illegible] उपर्युक्त कार्मिक संस्कारोंका [illegible] सिद्ध [illegible] है।

[illegible]—(भगवदाराधनात्मक [illegible]) (वैखानस-स्मार्त सूत्र ४।१०।२ में)—'अथाग्नौ नित्यहोमान्ते विष्णोर्नित्यार्चा सर्वदेवार्चा भवति'—[illegible] [illegible], [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

१- [illegible] (पृ० [illegible])
[illegible]

आचार्य शंकर चाहते हैं कि 'सर्वप्रथम क्रिया नष्ट होगी, उससे चिन्ता या व्यर्थ विचार मिट जायगा। तदनन्तर वासनाएँ हट जाती हैं। वासनाओंका दूर हो जाना ही मोक्ष है। इसीको जीवन्मुक्ति भी कहते हैं।' यहाँ हम देखते हैं कि यद्यपि ऊपरसे क्रियाका, फिर चिन्ताका तत्पश्चात् वासनाओंका नाश-ही-नाश इस श्लोकमें उल्लिखित है, तथापि हर-एक नाश मनुष्यको ऊपर लिये जानेवाला है। यह मोक्षकी क्रमिक सीढ़ी है।

यदि मनुष्य हमेशा कुछ-न-कुछ करता ही रहता है तो उसका तात्पर्य यह है कि उसका मन किसीके पीछे हैरान है। अरमानोंके बढ़नेसे कार्योंकी भी वृद्धि है। कार्य सफल होते हैं तो फिर नयी अभिलाषाएँ जन्म लेती हैं। फिर नये-नये कार्योंकी भरमार हो जाती है। मनुष्य उनके अंदर चकित रहता है —

वासनावृद्धितः कार्यं कार्यवृद्ध्या च वासना।
वर्धते सर्वथा [illegible]

भी मनुष्य कर्मोंद्वारा बाधित नहीं होता। यह है आचार्य-शंकरका उपदेश। जिसके मनमें थोड़ी भी ममता, अहंकार न हो और जो विषयी नहीं है, ऐसा व्यक्ति अपने घरमें रहते हुए भी मुक्तपुरुष-सा है।

इस लेखके प्रारम्भमें विज्ञानी या धीमान्‌का वर्णन किया गया है। बादमें हम देखते हैं कि मैं, मेरा-मेरी वाली चिन्ताओंसे मुक्तपुरुषका उल्लेख है। हाँ, मनुष्य यदि कार्योंके पीछे पागल बनके फिरता है तो उसका कारण उसके मनमें ऐसे विचार हैं—यह मेरा है, मुझे इसे पूरा करना है, यदि करूँ तो मुझे यह मिलेगा, वह मिलेगा इत्यादि।

ज्ञानीका कोई कर्तव्य अधूरा नहीं होता। वह सब कुछ कर चुका होता है। इसी कारण उसे 'कृतकृत्य' कहा गया है। कार्योंको पूरा करना ज्ञानवान् पुरुषके जीवनमें कभीका पुराना विषय है, विगत दिनोंकी बात

कर्म, क्रिया, कार्य—ये तीन संस्कृत शब्द इन श्लोकोंमें समान अर्थमें प्रयुक्त हैं—सभी जगह आचार्यजी कर्मोंको बराबर निषिद्ध मानते हैं। मनुष्यको नीचे गिरानेवाले सभी काम हैं। एक स्थानपर शंकराचार्य कर्मोंकी एक तालिका भी बनाकर प्रस्तुत करते हैं। हम साधारणतः जिन कर्मोंको सत्कार्य मानते हैं, उनको भी आचार्यवर अपने श्लोकमें व्यर्थ बताते हैं।

> वदन्तु शास्त्राणि यजन्तु देवान्
> कुर्वन्तु कर्माणि भजन्तु देवताः।
> आत्मैक्यबोधेन विना विमुक्ति-
> र्न सिध्यति ब्रह्मशतान्तरेऽपि ॥
>
> (विवेकचू० ६)

'शास्त्रोंका प्रवचन, देवताओंको प्रसन्न करनेके लिये याग-यज्ञ, ईश्वर-आराधन—ये सभी प्रायः सदाचारीके कार्य समझे जाते हैं। परंतु यहाँ आद्यशंकराचार्य इन कर्मोंको वृथा मानते हैं। वस्तुतः ये तबतक व्यर्थ ही हैं, जबतक मनुष्यको ब्रह्म और आत्माकी एकताका ज्ञान न हो। ईश्वर-ज्ञानके बिना यों पुष्पाञ्जलि चढ़ाना या याग-यज्ञ करना आदि समस्त कर्म वृथा हो जाते हैं। सैकड़ों ब्रह्मा आ-आकर चले जायँगे, हमारा व्यक्तित्व ज्यों-का-त्यों वहीं ठहरा रह जायगा। भगवान्‌के निकट वह मुक्तिकी राहमें एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकेगा। ज्ञानयज्ञके सामने कर्मयोग टिक नहीं सकता। ज्ञानीके लिये कोई कर्तव्य नहीं है। यह आचार्य शंकरकी दृष्टि है। उनकी दृष्टिमें सत्कर्म, निष्काम-कर्मादि ज्ञानके बहिरङ्ग साधन हैं। गीता ३। १७ में भी प्रायः ज्ञानीके लिये यही बात कही गयी है।

भगवत्पाद श्रीरामानुजाचार्य और कर्मयोग

(लेखक—अनन्तश्रीविभूषित कोसलेशसदनपीठाधीश्वर श्रीमज्जगद्गुरु रामानुजाचार्य यतीन्द्र स्वामी श्रीरामनारायणाचार्यजी महाराज, वेदान्तमार्तण्ड)

प्रस्थानत्रयी भाष्यकार विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तप्रवर्तक भगवत्पाद रामानुजाचार्यने आत्म-निःश्रेयस-साधनामें प्रीति-रूपापन्नदर्शन-समानाकारतैल-धारावदविच्छिन्न भगवदु-पासनात्मकज्ञानकी वरीयता देते हुए कर्मयोगको उसका अभ्यर्हित अङ्ग और मनःशुद्धि तथा आत्मदर्शनका भी प्रमुख कारण माना है। इसे भगवदाराधनरूप मानकर सभी साधकों एवं ब्रह्मोपासकोंको उनकी उपासना निष्पत्तिके लिये आजीवन अनिवार्य आचरणीय बताया है।

इसका उल्लेख आचार्यने 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (ब्रह्मसूत्र १।१।१) की व्याख्या- (श्रीभाष्य)में इस प्रकार किया है—एवं नियमयुक्तस्य आश्रमविहित-कर्मानुष्ठानेनैव विद्यानिष्पत्तिरित्युक्तं भवति तथा च [illegible] 'विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह' । [illegible] निर्दिष्ट नियमके साथ ब्रह्मोपासककी उपासना वर्णाश्रमोंके लिये शास्त्रविहित कर्मयोगके आचरणसे ही सम्पन्न हो सकेगी—यह कहा गया। इस विषयको 'विद्यां चाविद्यां च'—यह श्रुति सुस्पष्ट बतलाती है। इस श्रुतिका 'अविद्या'पद वर्णाश्रमविहित कर्मको बतलाता है (अविद्या—कर्मयोगसे)मृत्युपदसे ज्ञानोत्पत्तिविरोधी पूर्वसञ्चित कर्म बतलाये गये हैं। इस तरह श्रुतिका यह तात्पर्य है—'जो उपासक अपने वर्णाश्रमके अनुकूल विहित कर्मों तथा जीव, जगत् और ईश्वरके ज्ञानको साथ-साथ जानता है, वह अपने कर्मयोगके द्वारा ज्ञानोत्पत्तिके अन्तराय प्राचीन-कर्मोंसे पारकर उपासनात्मक ज्ञानसे ब्रह्मको प्राप्त कर लेता है। ज्ञानोत्पत्तिके लिये [illegible]

...ण्य विद्या-(ज्ञान-) से भिन्न वर्णाश्रमोचित कर्म ही
है; जैसा कि श्रीविष्णुपुराणमें भी कहा गया है—
...ब्रह्मोपासनात्मक राजा केशिध्वजने भी उपासनात्मक ज्ञानको
...सम्पन्नताको अपनाकर, विद्या (ज्ञान)से भिन्न विद्या सदृश
(अविद्या) कर्मयोगके द्वारा ज्ञानोत्पत्तिविरोधी प्राचीन
...र्मोंको दूर करनेके लिये अनेक यज्ञोंको किया ।'

पुण्य और पापवाले दोनों प्रकारके कर्म ज्ञानके
...रोधी हैं । ज्ञानकी उत्पत्तिके विरोधी होने तथा आत्म-
...:श्रेयसके विरुद्ध स्वर्ग-नरकादि अनिष्ट फल देनेवाले
...नेके कारण दोनों ही पाप-शब्दसे कहे जाते हैं ।
...न्य-पापरूप सकाम कर्म, ज्ञानोत्पत्तिके अनुकूल सत्त्वगुण-
...ो दबा देते हैं और रजोगुण तथा तमोगुणको बढ़ा देते
...; अतएव ये ज्ञानोत्पत्तिके विरोधी हैं । पाप नरकप्रद एवं
...नका विरोधी है, यह तो निम्न श्रुति ही बतलाती है—
...ष एवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषति'
...षी० ब्रा०उ० ३।१।६९) अर्थात् 'परमात्मा जिसको
...योगतिका संकल्प करता है, उसीसे पापकर्म कराता है ।'
...जोगुण और तमोगुण यथार्थ ज्ञानके आच्छादक तथा
...त्त्वगुण वास्तविक ज्ञानका कारण है—इसका विवेचन
...ताके चौदहवें अध्यायमें 'सत्त्वात् संजायते ज्ञानम्'
...आदि श्लोकोंके द्वारा भगवान्ने ही किया है । अतः
...नोत्पत्ति और उसकी उत्तरोत्तर वृद्धिके लिये पापकर्मको
... करना चाहिये । उसे दूर करनेका सुलभ उपाय है—
...फलाभिसंधि-रहित निष्काम कर्मयोगरूप धर्मका निरन्तर
...चरण । श्रुति भी कहती है—'धर्मेण पापमपनुदति'
...ै० आ० ६३ । १४४) । निष्काम कर्मके द्वारा साधक
...पको दूर करता है ।' उपर्युक्त विश्लेषणसे यह सिद्ध
...आ कि ब्रह्मप्राप्तिके साधनभूत उपासनात्मक ज्ञानकी
...द्धिके लिये, वर्णाश्रमोचित विहित कर्मोंका निष्काम
...वसे अनवरत अनुष्ठान करता रहे । (द्रष्टव्य अथातो
...ब्रह्मजिज्ञासा—ब्रह्मसूत्र १ । १ । १का श्रीभाष्य) ।
...चार्यने गीता ३ । १९के भाष्यमें भी फलासक्ति

और कर्तापनके अभिमानसे रहित कर्मयोगको आत्मदर्शनका
श्रेष्ठ साधन बताते हुए ज्ञानयोगसे भी उसे सुगम और
ज्ञानयोगीके लिये भी अवश्यानुष्ठेय बतलाया है—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥

रामानुज गीताके तीसरे अध्यायके उपोद्घात भाष्यमें कहते हैं
कि जिसे साधनाके बिना ही स्वाभाविक आत्मदर्शन होता रहता
है, उस आत्मतृप्त अधिकारीके लिये साधनाकी आवश्यकता
नहीं है, किंतु आत्मानुभूति-हेतु प्रयत्नशील साधकको
उसकी पूर्तिके लिये कर्मयोग ही श्रेयस्कर होगा; कारण
चिरकालसे अभ्यस्त होनेसे यह सुकर है एवं उसमें
प्रमाद भी सम्भव नहीं है । उसके भीतर आत्माका
वास्तविक अनुसंधान होते रहने और ज्ञानयोगीके
जीवनमें भी अंशतः इसके आचरणकी उपयोगिता होनेसे
भी आत्मदर्शनकी उपलब्धिमें उसका (कर्मयोग) का
प्रमुख स्थान है । इसलिये असङ्गपूर्वक कर्तव्यबुद्धिसे
जबतक आत्माका दर्शन नहीं हो जाता, तबतक कर्म
करते ही रहो ।' 'असक्तः' तथा 'कार्यम्' इन दोनों
पदोंसे आगे कहा जानेवाला अकर्तापनका अनुसंधान करता
हुआ साधक कर्मोंका आचरण कर कर्मयोगसे ही
प्रकृतिसे परे आत्माको प्राप्त कर लेता है । (गीता रा०
भा० ३ । १९) ।

तदनन्तर इस इक्कीसवें श्लोककी व्याख्यामें आचार्य
कहते हैं—ज्ञानयोगके आदर्श विशेषाधिकारीके द्वारा कर्म-
योगानुष्ठानका उदाहरण प्रस्तुत करते हुए भगवान् कृष्ण
उसकी श्रेष्ठता बतलाते हैं—उपर्युक्त कारणोंसे ज्ञानयोगके
अधिकारीको भी आत्मदर्शनके लिये कर्मयोगका आचरण
श्रेयस्कर है, इसीलिये महामना अतीन्द्रियतत्त्वदर्शी
ज्ञानियोंमें अग्रसर राजर्षि जनकादि महापुरुषोंने कर्म-
योगसे ही आत्मतत्त्वका साक्षात्कार किया है—

'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।'

मध्व-गौडीय वैष्णव-सम्प्रदायमें निष्काम कर्म और शुद्धा भक्ति

(लेखक—डॉ० श्रीअवधबिहारीलालजी कपूर, एम्० ए०, डी० लिट्०)

श्रीचैतन्यमहाप्रभुके अनुसार जीवका परम धर्म है—अधोक्षज भगवान् श्रीकृष्णकी भक्ति—'स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे' (श्रीमद्भा० १ । २ । ६) । कर्मका मूल्य भक्तिके साधनरूपमें है—सहायकरूपमें है; स्वतन्त्ररूपमें नहीं। सत्कर्म वही है, जिससे प्रभु संतुष्ट हों—'तत्कर्म हरितोषं यत्' (श्रीमद्भा० ४ । २९ । ४९) । हम जिस कर्मका अनुष्ठान करें, उसका पूर्ण लाभ—वास्तविक सिद्धि यही है कि भगवान् श्रीहरि संतुष्ट हो जायँ—'स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्हरितोषणम्' (श्रीमद्भा० १।२।१३)। विष्णुपुराणका कथन है कि वर्णाश्रमधर्मके पालनसे ही विष्णु आराधित या संतुष्ट होते हैं, उन्हें संतुष्ट करनेका दूसरा कोई उपाय नहीं—

> वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्।
> विष्णुराराध्यते पन्था नान्यत् तत्तोषकारणम् ॥
> (वि० पु० ३।८।९)

भक्ति-शास्त्रोंका भी कथन है कि भगवान्की संतुष्टि विशुद्ध भक्तिद्वारा ही होती है—'भक्त्याहमेकया ग्राह्यः' (श्रीमद्भा० ११ । १४ । २१) और वर्णाश्रमधर्म भक्ति-साधनका अङ्ग है (भक्तिरसामृतसिन्धु, पूर्व-भाग २।११८)। अन्य सकाम कर्मोंका अनुष्ठान तभीतक करना चाहिये, जबतक श्रद्धा-भक्ति और वैराग्य उत्पन्न नहीं होते, श्रद्धा और वैराग्यके उत्पन्न होते ही उसे त्याग देना चाहिये—

> तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
> मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥
> (श्रीमद्भा० ११ । २० । ९)

शास्त्रोंके इन कुछ परस्पर विरुद्ध-से दीखनेवाले वाक्योंका समाधान इस प्रकार है—भगवान्की कृपा या तुष्टिके बिना किसी साधनका फल प्राप्त नहीं होता। पर तुष्टिके भी विभिन्न प्रकार हैं। सब साधनोंमें भगवान्की एक-सी नहीं होती। जिस साधनसे उनकी जिस प्रकारकी तुष्टि होती है, उसीके अनुरूप वे फल भी देते हैं, जैसा कि गीताके—'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'—इत्यादि श्लोकसे सिद्ध है। साधन-भक्तिसे श्रीभगवान् प्रसन्न होकर भक्तोंके हाथ बिक जाते हैं—'विक्रीणीते स्वमात्मानं भक्तेभ्यो भक्तवत्सलः।' इसलिये उन्होंने स्वयं कहा है—'मैं भक्तके पराधीन हूँ'—'अहं भक्तपराधीनः' (श्रीमद्भा० ९।४।६३) वैदिक हिंसामय यज्ञोंसे सुखभोगादिकी प्राप्ति तो होती है, पर वे क्षयिष्णु हैं—

> य एषां पुरुषं साक्षादात्मप्रभवमीश्वरम्।
> न भजन्त्यवजानन्ति स्थानाद् भ्रष्टाः पतन्त्यधः॥
> (श्रीमद्भा० ११ । ५ । ३)

अतः निष्काम कर्मकी साधना करनी चाहिये। इससे अनामय अपवर्ग-पद सुलभ हो जाता है—

> कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
> जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥

'बुद्धिमान् पण्डितगण कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाले फलको त्याग कर जन्मरूप बन्धनसे छूट जाते हैं और निर्दोष (अमृतमय) परमपदको प्राप्त होते हैं।' कर्मको भगवदर्पण करनेका भी यही भाव है।

> यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
> यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥
> शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
> (गीता ९ । २७-२८)

'कौन्तेय! तू जो कुछ कर्म कर, जो कुछ भोजन कर, जो कुछ हवन कर, जो कुछ दान कर, जो तप कर वह सब मेरे अर्पण कर।' श्रीमद्भागवतमें भक्तिके प्रकरणमें भी यही

'शरीर, वाक्, मन, इन्द्रिय, बुद्धि या स्वभावसे भक्त जो कुछ भी करे, वह भगवान्‌के लिये ही है, इस भावसे उन्हें समर्पण करते हुए करे। परंतु इस श्लोकमें जिस प्रकार समर्पण करनेकी बात कही गयी है उसमें और भक्तके समर्पणमें भेद है। भक्त जो कुछ भी करता है, भगवान्‌के लिये करता है अर्थात् कर्म करनेके पूर्व उसे भगवान्‌को समर्पित करता हुआ करता है, परंतु यहाँ कर्म करनेके पश्चात् उसका फल भगवान्‌को समर्पित करनेको कहा गया है।

श्रीधरस्वामीके अनुसार भी श्रवण-कीर्तनादि नवधा भक्ति अनुष्ठित होनेके पूर्व विष्णुको अर्पित होती है, अनुष्ठित होनेके पश्चात् नहीं (श्रीमद्भा० ७। ५। २३-२४ की टीका)। श्रीमद्भागवतमें भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

आज्ञायैवं गुणान् दोषान् मयादिष्टानपि स्वकान्।
धर्मान् संत्यज्य यः सर्वान् मां भजेत् स सत्तमः॥
(११। ११। ३२)

'उद्धव! मैंने वेदादि धर्मशास्त्रोंमें धर्मका उपदेश किया है। जो व्यक्ति मेरेद्वारा उपदिष्ट उन सब धर्म-कर्मादिके गुण-दोषसे सम्यक् रूपसे अवगत हो जानेके पश्चात् उनका परित्यागकर मेरा भजन करते हैं, वे परम संत हैं।'

गीतामें भी उनका इसी प्रकारका उपदेश है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
(१८। ६६)

'अर्जुन! सब धर्मोंको त्यागकर एकमात्र मेरी शरण ग्रहण कर। मैं तेरा समस्त पापोंसे उद्धार कर दूँगा। किसी प्रकारका शोक मत कर।' इस प्रकारका साधन जिसमें सब धर्मोंका त्यागकर भगवान्‌में आत्म-समर्पणपूर्वक केवल उनका भजन करनेको कहा गया है, सब प्रकारसे भक्तिके अनुकूल है। श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तिने 'आज्ञायैवमित्यादि' श्लोककी अपनी टीकामें इसे केवलाभक्तिका प्रथम सोपान कहा है। श्रीजीवगोस्वामीने इसे शुद्धाभक्तिका मध्यम श्रेणीका साधन कहा है। पर यह उत्तमा भक्ति नहीं कही जा सकती। महाप्रभुने इसे भी एक प्रकारका बाहरका साधन ही कहा है; क्योंकि इसमें भक्तिका आकार तो है, पर प्राण नहीं है। (चैतन्य-चरितामृत २। ८। ५७-) भक्तिका प्राण है—आत्यन्तिकी श्रद्धा और श्रीकृष्णकी प्रेम-सेवा-प्राप्तिके लिये बलवती लालसा।

गृहस्थ साधकका कल्याण वेदविहित कर्मोंको विधिपूर्वक करते रहनेमें ही है। उन कर्मोंके करते रहनेसे उसकी चित्त-शुद्धि होती है और वह क्रमशः भगवद्भजनका अधिकारी बन जाता है। उनका त्याग करनेसे वह वेदोंका आश्रय छोड़ बैठता है और उसे उच्छृङ्खल जीवनके भयंकर परिणामोंका भोग करना पड़ता है।

ऐसे व्यक्तिके लिये ही भगवान्‌ने कहा है—

श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे यस्ते उल्लङ्घ्य वर्तते।
आज्ञोच्छेदी मम द्वेषी मद्भक्तोऽपि न वैष्णवः॥
(वाधूलस्मृति १८९)

'श्रुति और स्मृति मेरी ही आज्ञा हैं। जो मेरी आज्ञाका उल्लङ्घन करता है, वह मेरा द्वेषी है, वैष्णव नहीं।' 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' इत्यादि श्लोकमें भी आत्यन्तिकी श्रद्धा और श्रीकृष्णकी प्राणभरी प्रेम-सेवाकी बलवती लालसाकी मनोवृत्तिका अभाव है। इसके विपरीत श्लोकके शेषार्धमें जो बात कही गयी है, वह पापोंके नाशके उद्देश्यसे साधकको श्रीकृष्णकी शरण लेनेको प्रेरित कर सकती है, जो अन्याभिलाषिताशून्य उत्तमा-भक्तिके अनुकूल नहीं है। महाप्रभुके अनुसार निष्काम कर्म भगवान्‌के निमित्त उनकी तुष्टिके लिये आर्तपूर्ण हृदयसे होना चाहिये। भगवान्‌को तुष्ट करनेकी, उन्हें सुखी करनेकी हृदयमें निरन्तर अभिलाषा होनी चाहिये। इस प्रकारकी तीव्र

अभिलाषाके हृदयमें होनेका नाम ही है—प्रेम। ऐसे भूखे साधककी सेवासे आर्तबन्धु श्रीभगवान्का हृदय जिस प्रकार सुखसे विगलित हो जाता है, उस प्रकार स्वधर्मका विधिपूर्वक पालन करनेवाले या केवल कर्तव्य-बुद्धिसे निष्कामकर्म करनेवाले साधककी साधनासे नहीं होता। 'पद्यावली'के एक श्लोकमें प्रेमी साधककी अभिलाषाका वर्णन इस प्रकार है—

मानोपचारकृतपूजनमार्तबन्धो
प्रेम्णैव भक्तहृदयं सुखविद्रुतं स्यात्।
यावत् क्षुदस्ति जठरे जरठा पिपासा
तावत् सुखाय भवति ननु भक्ष्यपेयम्॥
(पद्यावली १०)

'उदरमें जितनी भूख और प्यास होती है
ही अन्न-जल तृप्तिकर होता है। उसी प्रकार भ
प्रेम-सेवाकी भक्तमें जितनी भूख होती है, उ
वह तृप्तिकर होती है—केवल भक्तके लिये
भगवान्के लिये भी। भगवान् 'आर्तबन्धु'
भक्तमें प्रेमसेवाकी जितनी भूख देखते हैं, उ
उनकी भी जठराग्नि तीव्र होती है। वे भी उस
सेवा ग्रहण करनेको उतने ही अधिक व्यग्र हो उ
और उसे ग्रहण कर उनकी तृप्ति भी उतनी ही
होती है। भगवान्की जठराग्नि जगानेका ए
उपाय है—हृदयमें उन्हें प्रसन्न करनेकी तीव्र लालसा
श्रवण-कीर्तनादि श्रद्धा-भक्तिके कार्योंमें संलग्न रहन

कर्मयोगके संदर्भमें कर्म, अकर्म और विकर्मकी व्याख्या

(ब्रह्मलीन स्वामी श्रीभोलेबाबाजीके विचार)

कर्माकर्मविहीनं च क्रियाकारकवर्जितम्।
निष्कलं निश्चलं शान्तं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्॥

एक शिष्ट व्यक्तिने एक दिन एक संतसे प्रश्न किया कि महाराज! श्रुति-स्मृतिरूप शास्त्रमें विधान किये हुए कर्मोंका नाम कर्म है और शास्त्रमें निषेध किये हुए कर्मोंका नाम विकर्म है। यह बात तो समझमें आती है और शास्त्रविहित कर्म करना चाहिये तथा शास्त्रनिषिद्ध कर्मोंसे बचना चाहिये, यह भी ठीक लगता है; परंतु अकर्म क्या है? यह समझमें नहीं आता। कर्म न करनेको यानी चुपचाप बैठ जानेको अकर्म कहें तो यह बन नहीं सकता; क्योंकि चुपचाप बैठना हो ही नहीं सकता, चुपचाप बैठनेमें भी [illegible] जीवन ही नहीं रहेगा; [illegible] ही है, अकर्म कैसे? गीतामें कर्ममें अकर्म देखनेको और अकर्ममें कर्म देखनेको कहा है; और ऐसा देखने[illegible] को बुद्धिमान् बताया गया यह बात समझमें [illegible] बैठती। कृपा करके स्पष्ट रीतिसे समझाइये।

संत—बच्चा! कर्म, विकर्म और अकर्मका स्वरू बतानेके लिये ही भगवान्ने गीता (४। १८) [illegible] कहा है कि—

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥

हे अर्जुन! देह, इन्द्रिय, बुद्धि आदिका श्रुति-स्मृतिरूप शास्त्रविहित जो व्यापार है, उसका नाम कर्म है और शास्त्रनिषिद्ध व्यापारका नाम विकर्म है। [illegible] कर्म विकर्मरूप कर्म [illegible] मो (ही?) [illegible] [illegible]

जैसे नदीके किनारेके वृक्षोंमें यद्यपि वास्तवमें चलनरूप क्रिया नहीं होती तो भी नौकामें बैठे हुए पुरुष नौकाके चलनेसे नदीके किनारेके वृक्षोंमें चलनरूप क्रियाका आरोपण करते हैं, इसी प्रकार शास्त्र-विचारसे रहित मूढ पुरुष अक्रिय आत्मामें देहेन्द्रियादिके व्यापार-रूप कर्मका आरोपण करते हैं। आत्मामें कर्म आरोपित है, वस्तुतः आत्मा अकर्ता है—इस प्रकार विचारकर आत्मामें कर्मका अभाव देखना ही कर्ममें अकर्म देखना है। भाव यह है कि जैसे नौकामें बैठे हुए पुरुष यद्यपि किनारेके वृक्षोंके चलनरूप कर्मका आरोपण करते हैं तो भी वस्तुतः वृक्षोंमें चलनरूप क्रिया नहीं है, इसी प्रकार मूढ पुरुष यद्यपि अक्रिय आत्मामें देहादिके व्यापाररूप कर्मका आरोपण करते हैं तो भी अक्रिय आत्मामें परमार्थसे कर्मोंका अभाव ही है। इस प्रकार देखना कर्ममें अकर्म देखना है। और, देह-इन्द्रियादि इत्यादि तीनों गुणवाली मायाका परिणाम है; इसलिये देहादि सर्वदा व्यापाररूप कर्म करनेवाले हैं। उन देहादिमें वस्तुतः कभी कर्मका अभाव नहीं होता तो भी देह-इन्द्रिय आदिमें कर्मके अभावका आरोपण होता है।

जैसे दूर-देशमें चलते हुए पुरुषोंमें यद्यपि स्तुतः गमनरूप क्रियाका अभाव नहीं है तो भी दूरत्व-रूप दोषके कारण उनमें गमनरूप क्रियाके अभावका आरोपण किया जाता है, अथवा जैसे आकाशमें स्थित न्द्र-नक्षत्र आदिमें वस्तुतः गमनरूप क्रियाका अभाव हीं है, वे सर्वदा चलते ही रहते हैं, तो भी दूरके रण उन चन्द्रादिमें गमनरूप क्रियाके अभावका रोपण होता है, इसी प्रकार सदा व्यापाररूप कर्म-ले देह-इन्द्रियादिमें वस्तुतः कर्मका अभाव नहीं है ो भी 'मैं चुपचाप बैठा हूँ, कुछ भी नहीं करता' स प्रकारकी अभ्यासरूप प्रतीतिके बलसे देहादिमें र्मके अभावका आरोपण करनेमें आता है। इस प्रकार देह-इन्द्रिय आदिमें आरोप की हुई व्यापारके उपरामतारूप जो अकर्म है, उस अकर्ममें देह-इन्द्रिय आदिके सर्वदा व्यापारस्वरूप वास्तविक स्वरूपका विचार करके, कर्म देखनेका नाम अकर्ममें कर्म देखना है। भाव यह है कि जैसे दूर-देशमें चलनेवाले पुरुष तथा आकाशमें गतिशील चन्द्रादिमें यद्यपि दूरीके कारण गमनरूप क्रियाका अभाव प्रतीत होता है तो भी वस्तुतः वे क्रियावाले ही हैं, वैसे ही 'मैं चुप बैठा हूँ, कुछ करता नहीं हूँ'—इस प्रकारकी अभ्यासरूप प्रतीतिके बलसे यद्यपि देह-इन्द्रियादिमें व्यापाररूप कर्मका अभाव प्रतीत होता है तो भी देह-इन्द्रिय आदि वस्तुतः कर्मवाले ही हैं। उदासीन अवस्थामें भी 'मैं उदासीन होकर स्थित हूँ'—इस प्रकारका अभिमान भी कर्म ही है। इस प्रकार देखनेका नाम अकर्ममें कर्म देखना है। ऐसे कर्ममें अकर्म देखनेवाला और अकर्ममें कर्म देखनेवाला पुरुष-रूप परमार्थ-दर्शी है; क्योंकि वह यथार्थ देखनेवाला है यानी अक्रिय आत्माको अक्रिय देखता है और क्रिया करनेवाले देहादिको क्रिया करनेवाला देखता है।

परमार्थ होनेसे वही सब मनुष्योंमें बुद्धिमान् है; वही योगयुक्त है और वही सब कर्मोंको करनेवाला है। **'कर्मण्यकर्म यः पश्येत्'**—इस प्रथम पदसे श्रीभगवान्ने कर्म तथा विकर्मका वास्तविक स्वरूप दिखलाया है; क्योंकि 'कर्म' शब्द विहितकर्म और निषिद्धकर्म दोनों-का वाचक है और **'अकर्मणि च कर्म यः'** इस दूसरे पदसे भगवान्ने अकर्मका वास्तविक स्वरूप दिखलाया है। भगवान्का तात्पर्य यह है कि—'हे अर्जुन! तू जो मानता है कि कर्म बन्धनका हेतु है, इसलिये मुझे कर्म करना नहीं चाहिये; मुझे चुपचाप बैठ जाना चाहिये—तेरा यह मानना मिथ्या है; क्योंकि 'मैं कर्मोंका कर्ता हूँ'—इस प्रकारका कर्तृत्वाभिमान जबतक रहता है, तबतक ही विहितकर्म और निषिद्धकर्म उसका बन्धन करते हैं।

भगवद्गीताका कर्मयोग

(लेखक—विद्यावाचस्पति पं० श्रीदीनानाथजी शास्त्री, सारस्वत, विद्यावागीश)

मीमांसकोंकी दृष्टिमें यह संसार अनादि-कर्मचक्रद्वारा संचालित है। भगवान्ने कर्मको साँप एवं बिच्छू-सा माना। पर वे साँप एवं बिच्छूको मरवाना उचित नहीं मानते थे; क्योंकि यह भी एक प्रकारकी हिंसा ही है।

हम पहले जब मुलतानमें रह रहे थे तो एक बार वहाँ एक ततैया (भूँड) न दीखा। हम बड़े आश्चर्यमें पड़ गये। उसका परिणाम बड़ा भीषण हुआ। इससे वहाँ प्रबल मलेरियाका प्रकोप फूट पड़ा। इससे जनता समझ गयी कि ये साँप, बिच्छू तथा ततैया आदि विषैले जीव संसारकी स्वच्छताके लिये हैं। वे उसमें फैले हुए विषको चूस लेते हैं। इससे वह विष हट जाता है और जनता

वस्तुतः कर्मके फलकी वासना ही बिच्छूके डंकके काँटे एवं साँपके दाँतके समान पुरुषके अंदर विष डाल देनेसे पीड़ा देती है। यदि कर्मकी इस वासना एवं आसक्तिको डंककी तरह कर्मसे निकाल दिया जाय तो वही कर्म बन्धनमें न डालकर मुक्तिका देनेवाला हो जाता है। यह भगवान्ने मुक्तिका सुन्दर एवं सरल उपाय बताया। 'भगवद्गीता' इसी वासना एवं आसक्तिको हटाती है। 'कर्मयोग' शब्द गीताके इसी अर्थका प्रतिपादक है। यह एक पारिभाषिक शब्द है। इसलिये 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' (९। २१) के अनुसार स्वर्ग भी वासना-प्राप्य होनेसे गतागतकारक है। [illegible]

यों हाव-भाव कर रही होगी इत्यादि उसके मनमें सुन्दरके ध्यान उपस्थित हो रहे थे। 'योगवासिष्ठ'में श्रीवसिष्ठजी श्रीरामसे कहते हैं—मनसे जो किया जाता है अर्थात् आसक्त होकर जो किया जाता है, वही कर्म है, जो कर्म मनके सम्पर्कसे रहित शरीरसे किया जाता है, वह कर्म नहीं होता। वसिष्ठजीके अनुसार कर्मफलका संबन्ध मनकी आसक्तिसे है। अतः मानसिक पुण्य-पाप भी होते हैं। मन न रहे तो कर्म निर्बीज-से हो जाते हैं—

मनसैव कृतं राम न शरीरकृतं कृतम्।

यही संसारी व्यवस्था है। आसक्ति बन्धन है और अनासक्तता मुक्ति है। 'अष्टावक्रगीता' में भी कहा गया है—

निवृत्तिरपि मूढस्य प्रवृत्तिरुपजायते।
प्रवृत्तिरपि धीरस्य निवृत्तिफलभागिनी॥
(१८ । ६)

मूर्खकी निवृत्ति भी प्रवृत्तिका और धी-(विद्वान्-) की प्रवृत्ति भी निवृत्तिका फल देनेवाली होती है।

इसे ही आप गीतामें घटा सकते हैं। भगवान्‌ने अर्जुनसे युद्ध करवाया है, पर युद्धका फल तो स्वर्ग है, उसके अनुसार तो 'गतागतं कामकामा लभन्ते' (९ । २१)-साधकका गमनागमन हुआ करता है। युद्धमें हिंसा अनिवार्य है, परंतु भगवान्‌ने वह युद्ध अर्जुनद्वारा अनासक्तिभावसे कराया है। 'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्' (२ । ३७) 'तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर' (३ । १९) इस अनासक्तिभावसे युद्धका फल स्वर्ग बन्धनकारक नहीं होगा, हिंसा नहीं होगी, जीतकर प्राप्त हुई भी पृथ्वी अनासक्तताके कारण भोगप्रद नहीं होगी। फिर 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' (९ । २१) के अनुसार इस लोकमें नहीं आना पड़ेगा। तब 'यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम'—(१५ । ६) यह मन्तव्य भी चरितार्थ हो जायगा। अनासक्तताने हिंसा होने दी, भी नहीं होने दी। यही अनासक्तिकी विशेषता है।

प्रश्न होता है—एक समाजके संस्थापक तो मुक्तिसे भी वापस लौटना मानते थे, फिर हम भी वैसा क्यों न मानें? इसपर उत्तर यह है कि स्वामीजी सुकर्मसे मुक्ति मानते थे। तदनुसार कर्मक्षयी होनेसे कर्मके फलसे प्राप्त हुई मुक्ति भी अवश्य अनित्य होगी। पर तत्त्वतः बात ऐसी नहीं। हम पहले कह चुके हैं कि सुकर्मसे स्वर्ग है और कुकर्मसे नरक। सुकर्म-कुकर्म न होनेसे नये कर्मके लिये मनुष्यलोक प्राप्त होता है, भगवान्‌ने एक ऐसा सुन्दर उपाय रखा था कि कर्म हो सही, पर वह कर्म अकर्म हो जाय। उन्होंने गीता (४ । १८)में कहा है—

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥

सो कर्म अकर्म कब होता है? उत्तर है—अनासक्तिसे। अनासक्तिसे किया हुआ कर्म 'कर्म' नहीं रहता, किंतु 'अकर्म' हो जाता है। कर्मसे बन्धन तथा अकर्मसे मोक्ष होता है। कर्मको अकर्म बनानेकी विधि है—अनासक्तिकी कुञ्जी। आसक्ति तो गतागतकारक होनेसे बन्धनप्रद है और अनासक्ति मुक्तिप्रद; क्योंकि उनमें गतागत नहीं होता।

कुछ लोग कहते हैं कि 'अल्पशक्तिमान् जीव अनन्त मोक्षसुख भोगनेको समर्थ नहीं हो सकता, तब उस जीवकी नित्यमुक्ति कैसे?' पर यह ठीक नहीं। न्याय-दर्शन (१ । १ । २२) के अनुसार मुक्तिसुखको दुःखका अभाव-मात्र माना जाता है, (महासुख या परमानन्द नहीं।) कोई मूर्ख ही होगा, जो फिर दुःखकी प्राप्ति चाहता हो।

जो यह कहा जाता है कि जब मोक्षका आदि है, तो अन्त भी होना आवश्यक है, यह भी ठीक नहीं। बन्धका प्रध्वंसाभाव ही मोक्ष होता है। प्रध्वंसाभावका लक्षण यह है—'सादिरनन्तः प्रध्वंसः उत्पत्त्यनन्तरं कार्यस्य' (तर्कसंग्रह)। प्रध्वंसाभावका आदि तो होता है, पर उसका अन्त नहीं होता। यह इस अभावकी खूबी है। सो कर्मका प्रध्वंसाभाव कर्मकी अनासक्तिसे होता है।

(क) कोई यदि बंदूक चला रहा हो, बीचमें आकर उससे कोई व्यक्ति मर जाय और अभियोग चलनेपर सिद्ध हो जाय कि बंदूक चलानेवालेका मृतकको मारनेका मनसे उद्देश्य नहीं था, तब उसे फाँसी नहीं दी जाती; किंतु कारावास दिया जाता है। वह दण्ड मारनेका नहीं होता। मारनेका दण्ड तो फाँसी है। यह कैद असावधानीके दण्डस्वरूप होती है। यदि कोई किसीको मारनेके उद्देश्यसे गोली मारे और वह बच जाय तो यह सिद्ध हो जानेपर कि वह उसे निरपराध होनेपर भी मारना चाहता था, मारनेवालेको नियमानुसार कालापानी (या जन्मकैद) रूप सजा मिलती है।

(ख) एक बार होलीके समयमें एक वृद्ध पुरुष बहुत प्रातः ही शौच होने गया। लोटेसे जब उसने अङ्ग-प्रक्षालन किया तो उसे अपना हाथ कुछ लाल जान पड़ा। उसने समझा कि मुझे मलके साथमें रक्त आया है। शायद मुझे खूनी बवासीर हो गयी है। इस भ्रममें वह बीमार पड़ गया। दूसरे दिन घरके लड़के पश्चात्ताप कर रहे थे कि लोटेमें हमसे भिगोया हुआ हमारा लाल रंग कहाँ चला गया! वृद्धने यह सुना और उन लड़कोंसे पूछा कि क्या अमुक लोटेमें तुमलोगोंने लाल रंग भिगो रखा था! जब वृद्धको पता चला कि यह वही लाल रंग भिगोया हुआ लोटा था, जिसे वह शौचार्थ ले गया था और वही लाल रंग उसके हाथोंमें लगा था, लहू नहीं; तो वह निश्चिन्त एवं स्वस्थ हो गया। इन सबमें कारण वही मनका योग-अयोग था। वस्तुतः मन ही बन्धन और मोक्षका कारण होता है—

'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।'

इन दृष्टान्तोंसे गीताके अनासक्त कर्मयोगपर पूरा प्रकाश पड़ता है। दृष्टान्तमें एक देश ही लिया जाता है, सर्वांश नहीं। सो यहाँ उसका तात्पर्यमात्र लेना चाहिये। 'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्' (देवी० भा० ३। २५। ६) यह वचन तो सकाम कर्मोंमें चरितार्थ है। निष्काम कर्म तो वस्तुतः अकर्म (कर्माभाव) है। उसमें उक्त वचन चरितार्थ नहीं है।

मुक्ति सुकर्मसे नहीं मिलती; मुक्ति तो कर्म-संन्याससे, कर्मफलसे कुछ भी सम्बन्ध न रखकर कर्माभावसे मिलती है। कर्माभाव तीन प्रकारका होता है—कर्म बिल्कुल न होना, पर यह कठिन है। दूसरा होता है—जब सभी कर्मोंका फल उसी क्षणमें प्राप्त हो जाय, तब कोई कर्म शेष न रहकर फलभोग प्राप्त हो जाते हैं; तो कोई कर्म शेष न रह जानेसे कर्माभाव हो जाता है। जैसे कि एक गोपीने श्रीकृष्णकी वंशीका निनाद सुना। वह उनके पास जाने लगी। किंतु उसके पतिने उसे वहाँ नहीं जाने दिया। उसे वहीं गृहियमें बाँध रखा। उसी समयमें भगवान्‌के विरहसे उसे जो सीमातीत 'दुःख' हुआ, उससे उसके पिछले तथा इस जन्मके सभी पापकर्मोंकी कठी-फलभोग देकर जल गयी और पुनः वह भगवान्‌का निष्काम चिन्तन कर रही थी, इससे जो उसे सीमातीत आह्लाद हो रहा था, उससे उसके सभी जन्मोंके पुण्य-कर्मोंकी कड़ी भी फल देकर जल गयी और शेष कोई भी कर्म न रहनेसे उसका देहपात हो गया।*

यह विष्णुपुराण (५। १३। २१-२२)में भी सूचित किया गया है, जिसमें ऐसा वर्णन प्राप्त होता है—

* द्रष्टव्य-श्रीमद्भागवत १०। २९। ९ और विष्णुपुराण ५। १३। २१-२२।

तच्चित्तविमलाह्लादक्षीणपुण्यचया तथा ।
तदप्राप्तिमहादुःखविलीनाशेषपातका ॥
चिन्तयन्ती जगत्सूतिं परब्रह्मस्वरूपिणम् ।
निरुच्छ्वासतया मुक्तिं गतान्या गोपकन्यका ॥

अर्थात्—कोई गोपकुमारी जगत्के कारण परब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्णचन्द्रका चिन्तन करती हुई प्राणायामके रुक जानेसे मुक्त हो गयी; क्योंकि भगवद्ध्यानके विमल आह्लादसे उसकी समस्त पुण्यराशि क्षीण हो गयी थी और भगवान्की अप्राप्तिके महान् दुःखसे उसके समस्त पाप क्षीण हो गये थे। यह है दूसरे प्रकारका कर्मक्षय।

तीसरा कर्मक्षय गीतोक्त है, जिसका (निष्काम कर्मका) उल्लेख हम ऊपर कर आये हैं। इसमें फलासक्ति-राहित्य प्रधान है। अन्यत्र जिस ढंग कर्म है—उससे कर्मक्षयस्वरूप मुक्ति भी स्वतः सिद्ध होती है; जैसे—बीज भुन जानेसे फिर उससे अङ्कुर कभी प्रकट नहीं होता।

इससे सिद्ध है कि आसक्तिसे रहित निष्काम कर्म बन्धनकारक नहीं होता और यही गीतोक्त कर्मयोगका वास्तविक प्रतिपाद्य है।

गीताके निष्काम कर्मयोगका विवेचन

(स्वर्गीय श्रीहरिकृष्णदासजी गोयन्दका)

गीतापर विहंगम दृष्टि डालनेपर प्रतीत होता है कि गीतामें मोक्षके लिये दो स्वतन्त्र साधन बतलाये गये हैं, जिनके फलमें किसी प्रकारका भेद नहीं है—यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते (५ । ५)। जिस प्रकार सांख्य यानी ज्ञानयोगके साधकको साधन करते-करते परब्रह्म परमात्माके स्वरूपका अपरोक्ष ज्ञान होकर मुक्ति मिल जाती है, उसी प्रकार निष्काम कर्मयोगका साधक भी भगवत्कृपासे परब्रह्म परमात्माका तत्त्वज्ञान लाभ कर परमपदको प्राप्त हो जाता है (गीता अ० १० । १०-११)। अन्तर इतना ही है कि सांख्ययोगके साथ तो विवेक-विचार और शम-दमादि साधनोंका विशेष सम्बन्ध है और निष्काम कर्मयोगके साथ भगवद्भक्ति तथा शरणागतिका विशेष सम्बन्ध है। इसीलिये दोनों साधनोंके अधिकारी भिन्न-भिन्न हुआ करते हैं और साधनकालमें दोनोंकी भावना भी भिन्न-भिन्न हुआ करती है। दोनोंका समुच्चय नहीं हो सकता। गीता (१८ । ४९–५५)में सांख्ययोगका वर्णन ज्ञाननिष्ठाके नामसे आया है।

ज्ञाननिष्ठाका साधक ही सांख्ययोगी कहलाता है। वह समझता है कि सारा खेल प्रकृतिका है। इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयमें बरत रही हैं, आत्मा शुद्ध-चेतन निर्लेप है, वह न कर्ता है, न भोक्ता है (गीता ३। २८, ५। ८-९, १३। २९, १४। १९)।

वह आत्माको परब्रह्म परमात्मासे भिन्न नहीं समझता। उसकी दृष्टिमें सब कुछ एक परब्रह्म परमात्माके ही स्वरूपका विस्तार है। साधनकालमें वह प्रकृति और उसके विस्तारको आत्मासे भिन्न, अनित्य और क्षणिक समझता है और अपनेको अकर्ता, अभोक्ता और परब्रह्म परमात्मासे अभिन्न समझता हुआ एक परमात्म-सत्ताको ही सर्वत्र व्यापक समझकर साधनमें रत रहता है; फिर उसकी दृष्टिमें एक सच्चिदानन्दघन वासुदेवके अतिरिक्त और कुछ रहता ही नहीं; अन्तमें वह अनिर्वचनीय परम पदको प्राप्त हो जाता है।

निष्काम कर्मयोगका वर्णन गीताके दूसरे अध्यायके ३९वें श्लोकसे आरम्भ होता है। इस मार्गसे चलनेवालोंके लिये भगवान्की प्रधान आज्ञा यह—

रनेमें ही अधिकार है, फलमें नहीं । अतः तुम र्मफलकी इच्छा करनेवाले मत बनो और कर्मोंको ाड़ देनेका भी विचार मत करो (गीता २ । ४७-८)।' फल और आसक्तिको छोड़कर सिद्धि-असिद्धिको मान समझकर निरन्तर मेरा स्मरण करते हुए गीता ८ । ७) मेरे लिये सब कर्म करते रहो गीता १२ । १०)।

उपर्युक्त भगवदाज्ञानुसार साधन करनेवाले निष्काम र्मयोगीका भाव सकामी मनुष्योंसे अत्यन्त विलक्षण ोता है । वह जो कुछ कर्म करता है, उसके फलकी इच्छा हीं करता और उस कर्ममें आसक्त भी नहीं होता । र्म करते-करते बीचमें कोई विघ्न आ जाता है तो ससे वह विचलित नहीं होता । कर्म पूरा न होनेसे या सका परिणाम विपरीत होनेसे उसको दुःख नहीं ोता । किया हुआ कर्म साङ्गोपाङ्ग सफल होनेसे या सका परिणाम अनुकूल होनेसे वह हर्षित नहीं होता । सारमें जो कर्म स्वर्गादि महान् फल देनेवाले बतलाये ये हैं, उनमें वह आसक्त नहीं होता और छोटे-से-ोटे (झाड़ू देनेतकके) कामको भी वह हेय नहीं मझता । वह समझता है कि अपने-अपने स्थानपर धिकारानुसार सभी कर्म बड़े हैं । भगवान्को प्रसन्न रनेके लिये भावकी आवश्यकता है, न कि छोटे-बड़े र्मकी ।

निष्काम कर्मयोगका साधक कभी पापकर्म हीं कर सकता; क्योंकि पापकर्म प्रायः लोभ और ासक्तिसे बनते हैं, जिनका त्याग इस मार्गमें चलने-ालेको पहले ही कर देना पड़ता है । वह संसारके राचर सम्पूर्ण जीवोंको भगवान्की मूर्ति समझता है; तः किसी भी प्राणीके प्रतिकूल आचरण नहीं कर सकता । वह प्रत्येक कार्य भगवान्के आज्ञानुसार और गवान्के ही लिये करता है; किसी भी कार्यमें उसका निजका स्वार्थ नहीं रहता । उसका जीवन भगवदर्पण हो जाता है; अतएव स्त्री, पुत्र, धन, घर और अपने शरीरमें या संसारकी किसी भी वस्तुमें उसकी ममता नहीं रहती । वह समझता है कि यह सब कुछ प्रभुकी मायाका विस्तार है, भगवान्का लीलाक्षेत्र है और वास्तवमें क्षणिक तथा अनित्य है; अतः वह उन सबसे अपने प्रेमको हटाकर केवल भगवान्में ही प्रेमको एकत्र कर देता है । काम करते हुए उसके अन्तःकरणमें हर समय भगवान्की स्मृति बनी रहती है, कर्मोंमें आसक्ति और फलेच्छा न रहनेके कारण एवं सब कर्म भगवान्के ही लिये किये जानेके कारण वे कर्म उसके लिये भगवान्की स्मृतिमें सहायक होते हैं, बाधक नहीं होते । वह निरन्तर भगवान्के प्रेममें मग्न रहता है । उसको भगवान्पर पूरा भरोसा और विश्वास रहता है । अतः बड़ा-से-बड़ा सांसारिक दुःख उसको उस स्थितिसे चलायमान नहीं कर सकता । वह जो कुछ करता है, उसमें अपनी सामर्थ्य कुछ भी नहीं समझता है—'मैं केवल भगवान्का यन्त्र हूँ, वे जो कुछ करवाते हैं वही करता हूँ' (गीता १८ । ६१)। वह कर्तृत्वाभिनिवेशसे रहित होता है । अतः बड़ा-से-बड़ा कार्य उसके द्वारा सहजमें हो जानेपर भी उसके मनमें किसी प्रकारका अभिमान नहीं होता । इस भगवदाश्रयरूप कर्मयोगनिष्ठाका वर्णन करते हुए भगवान् गीताके अट्ठारहवें अध्यायके छप्पनसे लेकर अट्ठावनवें श्लोकतकके पूर्वार्धतकमें कहते हैं—

'मेरे परायण हुआ निष्काम कर्मयोगी सम्पूर्ण कर्मोंको सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी परमपदको प्राप्त हो जाता है । अतएव हे अर्जुन ! तू सब कर्मोंको मनसे मुझमें अर्पित करके मेरे परायण हुआ समत्व-बुद्धिरूप कर्मयोगका अवलम्बन करके निरन्तर मुझमें चित्तवाला हो । इस प्रकार निरन्तर मुझमें

शंकराचार्यजीका मत

आचार्य भगवत्पाद श्रीशंकरके भाष्यानुसार सब कर्मोंको छोड़कर परमहंस संन्यासी हो जाने और आत्म-अनात्मविषयक विवेकपूर्वक निरन्तर आत्म-स्वरूप-चिन्तनमें लगे रहकर परब्रह्म परमात्मामें अभिन्न हो जानेका नाम सांख्ययोग है; क्योंकि जहाँ-जहाँ सांख्ययोगका विषय आया है, आपने उसकी व्याख्या प्रायः इसी प्रकार की है (द्रष्टव्य—गीताका शांकरभाष्य, अ० २ श्लोक ११ से ३०; अ० ३ श्लोक ३; अ० १३ श्लोक २४; अ० ५ श्लोक ४—५)। आपके मतानुसार गीतामें ज्ञानयोग, ज्ञाननिष्ठा और संन्यास आदि नाम भी सांख्ययोगके ही हैं। आप ज्ञानकर्मका समुच्चय नहीं मानते, प्रत्युत प्रबल युक्तियोंद्वारा समुच्चयवादका खण्डन करते हैं (गीता-शांकरभाष्यका उपोद्घात और तीसरे अध्यायकी अवतरणिका देखिये।) आप निष्काम कर्मयोगको (सीधे)

... पर ज्ञानयोगका (अन्तरङ्ग)

स्वामी श्रीरामानुजाचार्यजीका मत

स्वामी श्रीरामानुजाचार्यके मतानुसार इन्द्रियजयपूर्वक शम-दमादि साधनोंसहित सर्वकर्मोंसे निवृत्त होकर आत्मस्वरूपानुसंधानका नाम सांख्ययोग है। आपका कथन है कि संख्या नाम बुद्धिका है, उससे जो युक्त है अर्थात् केवल एक आत्माको विषय करनेवाली बुद्धिसे जो युक्त हैं वे सांख्य (सांख्ययोगी) हैं। ऐसे स्थिरबुद्धि पुरुष उपयुक्त ज्ञानयोगके अधिकारी हैं और जिनकी बुद्धि विषयोंसे व्याकुल है, जिनको ज्ञानयोगका अधिकार प्राप्त नहीं हुआ है, वे कर्मयोगके अधिकारी हैं (देखिये, रामा० ३। ३)। आत्म-ज्ञानपूर्वक निष्कामभावसे कर्मोंका आचरण करना आपके मतानुसार कर्मयोग है (गीता० रामा० भा० २। ३९)। सांख्ययोग और कर्मयोग दोनों ही भक्तियोगके अङ्गभूत हैं। सांख्ययोगके साधनमें इन्द्रियोंको जय करना आदि अनेक कठिनाइयाँ हैं और कर्मयोग ...

उसकी अपेक्षा कर्मयोग

श्रेष्ठ बतलाया गया है। आपके मतानुसार ध्यानयोग निष्काम कर्मयोगका फल है और अ० १८ श्लोक ४९वेंसे ५५वें तकका जो वर्णन है, वह ध्यानयोगका ही वर्णन है—ज्ञानयोगका नहीं। वहाँ जो ५०वें श्लोकमें 'ज्ञानस्य परा निष्ठा' शब्द आया है, उसको आप ब्रह्मका विशेषण मानते हैं।

स्वामी श्रीशंकराचार्यजीने जिस प्रकार ज्ञानयोगको प्रधानता दी है, उसको उस रूपमें आप स्वीकार नहीं करते; आपके मतसे ज्ञानयोग और कर्मयोग दोनों आत्म-स्वरूपका साक्षात्कार करानेवाले अवश्य हैं, परंतु परमात्माका साक्षात्कार भक्तिके बिना नहीं हो सकता। आत्मस्वरूपका ज्ञान भक्तियोगका अङ्गभूत है, अतएव वह मोक्षका स्वतन्त्र साधन नहीं है। इस वर्णनसे यह समझ लेना स्वाभाविक ही है कि स्वामी श्रीरामानुजाचार्य और श्रीशंकराचार्यका इस विषयमें बड़ा मतभेद है। इसके अतिरिक्त एक प्रधान मतभेद यह है कि स्वामी श्रीरामानुजाचार्य तो जीव और ईश्वरका भेद मानते हैं, पर स्वामी श्रीशंकराचार्य भेद नहीं मानते। मुख्य सिद्धान्तोंमें भेद होनेके कारण ही अपने-अपने सिद्धान्तकी पुष्टिके लिये अन्यान्य विषयोंमें भी मतभेद होता गया है।

लोकमान्यका मत

लोकमान्य तिलकमहोदय सांख्ययोगकी व्याख्या तो प्रायः स्वामी श्रीशंकराचार्यके अनुरूप ही करते हैं, परंतु अ० २ श्लोक ३०वेंसे आगे जिन श्लोकोंको स्वामी श्रीशंकराचार्य ज्ञानयोगका प्रतिपादक मानते हैं, लोकमान्य उन्हीं श्लोकोंद्वारा निष्काम कर्मयोगका प्रतिपादन करते हैं। आपके मतानुसार ज्ञान और कर्मका समुच्चय ही निष्काम कर्मयोग है। समुच्चयवादका आप बड़ी युक्तियोंके साथ समर्थन करते हैं और स्वामी श्रीशंकराचार्यजीकी युक्तियोंका उत्तर भी उसी ढंगका देते हैं। आप गीताको केवल निष्काम कर्मयोगका प्रतिपादक शास्त्र मानते हैं।[1] अध्याय २ श्लोक ११वेंसे ३०वें तकका जो वर्णन है, वह आपके मतानुसार सन्यासमार्गवालोंके तत्त्वज्ञानका वर्णन है जो कि केवल आत्माकी नित्यताका प्रतिपादन करनेके लिये गीतामें लिया गया है। आपका कथन है कि सांख्यमतानुसार कभी-न-कभी कर्मोंका त्याग करना ही पड़ता है, अतः इस मतके तत्त्वज्ञानसे अर्जुनकी इस शंकाका पूरा समाधान नहीं हो सकता कि 'युद्ध क्यों करें ?' ऐसा समझकर भगवान्ने अ० २ श्लोक ३९ से लेकर गीताके अन्तिम अध्यायकी समाप्तिपर्यन्त अनेक शंकाओंका निराकरण करते हुए निष्काम कर्मयोगका ही वर्णन और पुष्टीकरण किया है। (देखिये गीतारहस्य अ० २ श्लोक ३९ पर टिप्पणी)। अध्याय १४ श्लोक २१से २५तक जो गुणातीतपुरुषविषयक वर्णन है, उसको भी आप कर्मयोगीका ही वर्णन मानते हैं। अध्याय १८ श्लोक ४९से ५५ तकका जो वर्णन है, वह भी आपके मतानुसार कर्मयोगका ही वर्णन है; क्योंकि आपके मतानुसार सांख्ययोगी संन्यासी ही हो सकता है, गृहस्थ नहीं हो सकता। और, गीताका उपदेश अर्जुनको निमित्त बनाकर दिया गया है जो कि आजीवन गृहस्थ रहकर धर्म करता रहा है। कर्मोंको छोड़कर संन्यासी होना तो वह स्वयं चाहता ही था। फिर यदि वैसी ही अनुमति भगवान्की किसी अंशमें मिल जाती तो वह कर्म करता ही क्यों? इस दृष्टिसे आपके मतानुसार गीतामें सांख्यमार्गका वर्णन (प्रतिपादन) नहीं है। परंतु मेरी समझसे सांख्ययोग और निष्काम कर्मयोग दोनों ही साधनोंको प्रत्येक अधिकारी मनुष्य कर सकता है। इसमें आश्रमका या स्वरूपसे कर्मोंके त्यागका कोई सम्बन्ध नहीं है। केवल भावका और साधनकी विधिका ही अन्तर है। अतएव जिन-जिन

[1] १-पर निष्कामकर्मयोगमें ज्ञान और भक्तिका समन्वय कर उसे भागवतधर्मका सँवारा हुआ रूप भी स्वीकार किया गया है। (द्रष्टव्य-गीता रहस्यका भाग ४ 'भागवतधर्मका उदय और गीता' प्रकरण पञ्चसंस्करण, पृष्ठ ५३९-५५८)

स्थलोंमें भगवान्ने स्पष्ट ही ज्ञानयोगका वर्णन किया है। उनको कर्मयोग बतलाना एक क्लिष्ट कल्पना ही जान पड़ती है। (देखिये गीता अ० ५। ८-९ और १३, अ० १४। २१से २५, अ० १८ श्लोक ४९से ५५)। श्रीमधुसूदनजी, नीलकण्ठजी और शंकरानन्दजी आदि टीकाकारोंने भी इस विषयमें प्रायः स्वामी श्रीशंकराचार्यके ही पक्ष लिया है, यद्यपि उन सबकी युक्तियोंमें और लेखन-शैलीमें बहुत कुछ भेद है। उसका विस्तृत वर्णन विस्तारभयसे यहाँ नहीं किया जा सकता। प्रधान सिद्धान्तमें विशेष मतभेद नहीं है।' × × ×

गीताका कर्मयोग और अन्य सम्बद्ध कतिपय योग

कर्मयोग—सबसे पहले फलकी कामनाको छोड़कर केवल कर्तव्यबुद्धिसे निष्काम कर्म किया जाता है, जिससे सिद्धि-असिद्धि दोनोंमें कर्त्ता समान रहता है। परंतु वह कर्मका त्याग कदापि नहीं करता (गीता २। ४७-४८ और ६। १)। निष्काम कर्म करनेसे किञ्चित् चित्त-शुद्धि होनेपर साधक यह समझने लगता है कि प्राणिगण स्वतन्त्र न होकर एक ही विश्व-विराट्के भिन्न-भिन्न अङ्ग हैं, इसलिये उन सभीको परस्पर सहायताकी अपेक्षा है (गीता ३। १०)। श्रीभगवान् स्वयं भी विश्वहितार्थ निष्कामभावसे कर्म कर रहे हैं (गीता ३। २३-२४)। इस समयसे (नियमसे) साधक स्वार्थ-परायण होना ईश्वरीय संकल्पके विरुद्ध समझकर लोकहितार्थ कर्म करना प्रारम्भ कर देता है (गीता ३। २०, २५)। पात्रमें दान, रोगी-चिकित्सा-प्रबन्ध, दीन-दरिद्र-पोषण आदि सब इसके अन्तर्गत हैं। इस अवस्थामें यह एक आपत्ति आ जाती है कि साधकके हृदयमें मान-बड़ाई, यश, प्रतिष्ठा आदि प्राप्त करनेकी वासना जाग्रत् होने लगती है; क्योंकि इसमें दूसरेका उपकार करनेकी भावना मनमें वर्तमान रहती है, जिससे अभिमान आ जाता है। इन सब सूक्ष्म वासनाओंके आ जानेसे भी कर्म बन्धनका कारण हो जाता है। अतएव तीसरी अवस्थामें कर्म यज्ञकी भाँति किया जाता है। भक्तिभावसे किये जानेपर उस यज्ञके फलको श्रीभगवान् सृष्टिहितमें संयोजित कर देते हैं, क्योंकि वे ही यज्ञके भोक्ता हैं (गीता ५। २९)।[1] पञ्चमहायज्ञको इसी महायज्ञके अन्तर्गत समझना चाहिये।

अभ्यासयोग—कर्मयोगसे मन और चित्तकी शुद्धि होनेपर ही मनोनिग्रह सम्भव है। अनेक यत्न करनेपर भी जो बहुत-से लोग मनका निग्रह नहीं कर सकते, उसका यही प्रधान कारण है कि वे पहले कर्मयोगद्वारा अपने चित्तकी शुद्धि नहीं करते। अभ्यास और वैराग्य ही मनोनिग्रहके प्रधान उपाय हैं (गीता ६। ३५)। प्राणायाम (गीता ४। २९) और लक्ष्ययोग—दृष्टि नासिकाके अग्रभाग आदि किसी स्थानविशेषमें संलग्न करना (गीता ६। १३)—प्रभृति मनोनिग्रहके साधन अभ्यासकी भी यहाँ चर्चा की गयी है[2]। उत्तम अभ्यास यह है—'कामात्मक संकल्पको त्यागकर इन्द्रियोंकी बहिर्मुख वृत्तियोंको अन्तर्मुख करके धीरे-धीरे बुद्धिद्वारा चित्तकी भावनाओंको रोककर चित्तको कारण शरीरस्थ जीवात्मामें स्थित करना और फिर किसी भी भावनाको न आने देना (गीता ६। २४, २५)। जब-जब यह चञ्चल चित्त आत्मासे अन्यत्र जाय, तब-तब उसको वहाँसे लौटाकर फिर आत्मामें स्थिर करना

१-हमारी मान्यताके लिये द्रष्टव्य—ब्रह्मलीन श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाका इसी अङ्कमें पूर्व प्रकाशित लेख—गीतोक्त निष्काम कर्मयोगका स्वरूप।

२-गीतामें छठे अध्यायतक श्रीभगवान्ने उस समयके प्रचलित सिद्धान्तोंकी चर्चा की है और उनकी अपूर्णता भी दिखलायी है। सातसे बारहतक अपने मतका प्रतिपादन कर उपदेशको पूर्ण किया है और उसके बाद उनका विशेष विवरण है।

गीता ६ । २६)—इस प्रकार एकाग्रता करनेकी
[बा]रंबार चेष्टा ही यथार्थ अभ्यास है । परमोत्तम अभ्यास
[य]ह है कि चित्त आत्माके बदले श्रीभगवान्‌में संलग्न कर
[दि]या जाय (गीता ६ । १४); क्योंकि योगाभ्यासियोंमें
[अ]न्तरात्माको श्रीभगवान्‌में अर्पित कर श्रद्धासे उनका भजन
[क]रनेवाला योगी ही परमोत्तम है (गीता ६ । ४७) ।
[ऐ]से आत्मसमर्पित अभ्यासीमें सब प्राणियोंके प्रति एकात्म-
[बु]द्धि उत्पन्न हो जाती है, जिससे वह दूसरेके दुःखको
[अ]पना दुःख समझकर उसकी निवृत्तिके लिये यथासाध्य
[य]त्न करता है (गीता ६ । २९ से ३२) ।

प्राणायाम और लक्ष्ययोगादिके अभ्याससे चित्तके किसी
[प्र]कार एकाग्र होनेपर किंचित् चामत्कारिक शक्तियोंकी भी
[प्रा]प्ति हो सकती है; किंतु न तो वह यथार्थ आध्यात्मिक
[यो]ग है, न उससे शान्ति मिलती है और न भगवत्प्राप्ति ही
[हो]ती है, जो कि योगका मुख्य उद्देश्य है; बल्कि उससे
[उ]ल्टा व्याघात (बाधा) होता है । यथार्थ वैराग्यकी
[प्रा]प्ति तो केवल भगवद्‌भक्तिद्वारा ही होती है, जिसकी
[अ]त्यन्त आवश्यकता वास्तविक मनोनिग्रहके लिये भी है ।

ज्ञानयोग—कर्मयोगद्वारा चित्तकी शुद्धि और अभ्यास-
[यो]गद्वारा मनके निगृहीत होनेपर जब बुद्धि शान्त और
[दृ]ढ़ होती है, तब साधक ज्ञानकी प्राप्तिके योग्य होता
[है] । शम-दमादिविशिष्ट साधक आचार्यद्वारा शास्त्रके
[सि]द्धान्तका श्रवण कर उसका मनन करता है । यह केवल
[बु]द्धिद्वारा शास्त्रके सिद्धान्तका ज्ञान प्राप्त करना है । इसीको
[स्वा]ध्यायरूपी ज्ञानयज्ञ भी कहते हैं (गीता ४ । २८) ।

भक्तियोग—इस प्रकार कर्म, अभ्यास और ज्ञान-
[यो]गकी प्राप्ति होनेपर साधकमें श्रीभगवान्‌के प्रति अनुराग
[उत्]पन्न होता है और तब वह भगवत्-प्राप्तिकी साक्षात्
[सा]धनाका अनुसरण करनेयोग्य होता है, जिसका वर्णन
[बा]रहवें अध्यायमें ९ वें श्लोकसे १२ वें तक है । यहाँ सात
[सा]धनाओंका वर्णन इस प्रकार है—

(१) कर्मफलका अर्पण—श्रीभगवान्‌ने इसको सबसे नीचेकी अवस्था माना है; क्योंकि उनके निमित्त साक्षात् कर्ममें सबसे पहले यही है । इस अवस्थामें श्रीभगवान्‌के योगका आश्रय लेकर केवल श्रीभगवान्‌के निमित्त कर्म-फलका त्याग किया जाता है (गीता १२ । ११) । कर्मयोगके कर्म और इस भक्तिके कर्ममें बड़ा भेद है । कर्मयोगका उद्देश्य केवल चित्तशुद्धि है, उसका मूल कारण वह भगवत्प्रेम नहीं है, जो वहाँ बीजरूपमें रहता है । किंतु भक्तियोगकी इस अवस्थामें साधकके हृदयमें भगवत्प्रेमके अङ्कुरित होनेके कारण वह प्रत्येक कर्म करते समय श्रीभगवान्-(अपने इष्टदेव-) का स्मरण करता है और कर्म करनेमें उसका मुख्योद्देश्य उसके फलका उन्हींके चरण-कमलोंमें अर्पण करना होता है (गीता ४ । २४) । इस सतत स्मरणद्वारा (गीता ८ । ७) वह श्रीभगवान्‌के साथ युक्त अर्थात् क्रमशः उनके सन्निकटस्थ होता जाता है और इसे ही श्रीकृष्णने 'मद्योगमाश्रितः' कहा है (गीता १२ । ११) । यहाँ वह केवल उन्हीं धर्मानुकूल कर्मोंको करता है, जिनका फल श्रीभगवान्‌के प्रति अर्पण करनेयोग्य होता है । उनके प्रतिकूल कदापि नहीं करता ।

(२) कर्मार्पण—दूसरी अवस्थामें कर्म ही श्रीभगवान्‌के निमित्त किया जाता है (गीता १२ । १०) यानी फलकी जगह स्वयं कर्म ही अर्पित होता है (गीता ३ । ३०) । यह दासभावके सदृश है, किंतु इसमें श्रीभगवान् अपनेसे भिन्न प्रभु न होकर परमलक्ष्य बन जाते हैं, जिनको प्रेमपूरित हृदयसे परिपूर्ण सेवाद्वारा प्राप्त करना ही जीवनका एकमात्र लक्ष्य बन जाता है (गीता ११ । ५५) । इस स्थितिमें साधक अपने गृह, परिवार, वैभव, शरीर, मन, बुद्धि और क्रिया-शक्ति आदिके साथ दृश्य-मात्रको श्रीभगवान्‌की वस्तु मानता है और केवल उन्हींके निमित्त उन सबका व्यवहार करता है, स्वार्थके लिये

कदापि नहीं करता। प्रत्येक कर्म करते समय इस भावको ध्यानमें रखकर वह निरन्तर श्रीभगवान्‌का स्मरण करता रहता है (गीता ८।७)। वह प्रत्येक कर्म—यहाँतक कि भोजनतक भी श्रीभगवान्‌के पदार्थोंकी (शरीर, परिवार आदिकी) रक्षाके निमित्त आवश्यक जानकर करता है और उन कर्मोंको वह श्रीभगवान्‌का ही कर्म समझता है। इसी तरह यज्ञ, दान, तप आदि कर्म भी लोक-हितके लिये श्रीभगवान्‌के कार्य समझकर करता है (गीता ९।२७); क्योंकि वह जानता है कि धर्मकी रक्षा श्रीभगवान्‌का मुख्य और परम प्रियकार्य है, जिसके लिये वे स्वयं अवतार लेते हैं (गीता ४।७-८)। यज्ञ, दान, तप ये तीनों ही मानव-समाजको पवित्र करनेवाले हैं (गीता १८।५)। इस कर्मार्पण-भावसे कर्म करनेपर नित्य व्यवहारके सभी स्वाभाविक कर्मोंका सम्पादन श्रीभगवान्‌की पूजा हो जाती है (गीता १८। ४५-४६-५६)। इस अवस्थामें साधकके लिये भगवत्-परायण होना, चित्तको सदा श्रीभगवान्‌में समर्पित रखना और समबुद्धि होना आवश्यक है (गीता १८।५७)। इस समय वह नीचे-ऊँचे, छोटे-बड़े सभीको श्रीभगवान्‌का अंश समझकर सभीको आत्मदृष्टिसे एक समान समझता है (गीता ५।१८) और इसीलिये वह लोक-हितकर कर्मको श्रीभगवान्‌का मुख्य प्रियकार्य समझकर उसमें विशेषरूपसे प्रवृत्त रहता है (गीता ५।२५, १२। ४)। इस भावसे कर्म करनेपर कर्मसे विपरीत या अनुपयुक्त परिणाम होनेपर भी वह साधक निर्ममत्व, असङ्ग और सर्वार्पण-भावके कारण पापका भागी नहीं होता (गीता

एकाग्रता है, जिसके निमित्त किसी इच्छित वस्तु ... विशेषपर चित्त संयम किया जाता है। किंतु इसका लक्ष्य केवल भगवत्-प्राप्ति है और वही ... विषय भी है (गीता १२।९)। श्रीभगवान् (अपने इष्टदेव) के दिव्यनाम (मन्त्र) के जप और हृदय-कमलमें उनकी दिव्य-साकार-मूर्तिको चित्रितकर उनमें श्रद्धा तथा अनन्यभावसे चित्तको एकाग्र संलग्न करना है यहाँका उपासनारूपी अभ्यास है। इस अभ्यासमें प्रवृत्त होनेवालेका श्रीभगवान् शीघ्र उद्धार करते हैं (गीता १२।२, ६, ७, ९)। जिस साधकका मन जिस इष्टदेवता-(विष्णु, शक्ति, शिव आदि-)में स्वभावतः अनुरक्त हो, उसे उसीकी उपासना करनी चाहिये। इस उपासनाके लिये उपास्यका मनोहर चित्र रखना आवश्यक है, जिसके अनुसार हृदयमें भी पैरसे आरम्भकर क्रमशः ऊपरके समस्त अङ्गोंको एक सुन्दर मूर्ति बनायी जा सके और फिर उस आभ्यन्तरिक हृदयस्थ साङ्गोपाङ्ग मूर्तिमें चित्त सन्निविष्ट किया जा सके। उपास्यकी हृदयस्थ मूर्तिपर चित्तके सन्निविष्ट हो जानेपर अन्य किसी भी भावनाको चित्तमें नहीं आने देना चाहिये और जब चित्त अन्यत्र चला जाय (जो प्रारम्भमें अवश्य होता है) तब उसको शीघ्र वहाँसे फिर उसी उपास्यमें लौटाकर संलग्न करना चाहिये (गीता ६।२५, २६, ३५)। इस तरह बार-बार यत्नरूपी अभ्याससे चित्त उपास्यमें संलग्न हो जायगा। यह अभ्यास प्रतिदिन नियमपूर्वक नियत समयपर करना चाहिये। इसके लिये उपयुक्त समय प्रातः और सायंकाल है।

उसकी पूर्ण शुद्धि होनेके कारण प्रयत्न, श्रवण, मनन, निदिध्यासनद्वारा प्रकृति, पुरुष, ज्ञेय आदिका ज्ञान उसको साधारण रीतिसे और क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका ज्ञान विशेष रीतिसे प्राप्त हो जाता है। ऐसे साधककी स्थिति अनवरत निदिध्यासनद्वारा कारण-शरीरके अभिमानी 'प्राज्ञ' जीवात्मा-तक हो जाती है, उसको यह भी ज्ञान हो जाता है कि कारण-शरीरके ऊपर जो तुरीय-चैतन्यरूप श्रीभगवान्‌का परम प्रकाश है, वह गायत्री है। इसीकी सहायतासे ही वह वहाँसे ऊपर उठकर और मायाका अतिक्रम कर श्रीभगवान्‌को प्राप्त कर लेगा (गीता ७।४-५, ९।१३)।

(५) ध्यान-ध्यानकी यह अवस्था ज्ञान (शास्त्र-पाण्डित्य) से ऊँची है (गीता १२। १२)। इसीका नाम ध्यानयोग भी है (गीता १८।५२)। यह चित्त या मस्तिष्ककी वृत्ति अथवा कार्य न होकर हृदयका कार्य है। श्रीभगवान्‌के निमित्त त्याग, उनकी अहैतुकी उपासना और सद्गुणयुक्त ज्ञानके फलस्वरूप हृदयके पवित्र होनेसे उसमें उस परम प्रेमका सञ्चार होता है, जो श्रीभगवान्‌की ओर अनवरत प्रवाहित हुआ करता है, जिससे ध्याता तुरंत अपने ध्येय-को हृदय-कमलमें ही (गीता १३। १८, २३, ३२; १५। १५) साक्षात् देख पाता है और इस दिव्य दर्शनको प्राप्तकर वह उनके श्रीचरणकमलोंमें प्रवेश कर जाता है और तदनन्तर उस दुर्लभ मकरन्दका रसास्वादन-कर कृतार्थ होता है। पहले ज्ञान, फिर दर्शन और तब प्रवेश—यही क्रम है (गीता ११।५४)। इस अवस्थामें वह ज्यों-ही और जब भी अपने ध्येयका ध्यान करता है, त्यों-ही वे उसके हृदयमें प्रत्यक्ष हो जाते हैं। अब ध्याता-ध्येय, नाम-नामी और मन्त्र, देवताकी एकता प्रत्यक्ष हो जाती है। यही आत्मार्पण-भाव है। इस अवस्थामें साधक भक्तको श्रीभगवान्‌के विश्वरूपका दर्शन होता है, जिससे वह श्रीभगवान्‌को सर्वत्र प्रत्यक्ष व्याप्त देखता है और इसीसे वह सभीको श्रीभगवान्‌का रूप जानता है, जो परम दुर्लभ अवस्था है (गीता ७। १९)। इसी अवस्थाकी झलक महात्मा हरिदासने इस पदमें दी है—

अब हौं कासों बैर करौं।
कहत पुकारत प्रभु निज मुखते घट-घट हौं बिहरौं॥
आपु समान सबै जग लेखौं भक्तन अधिक डरौं।
श्रीहरिदास कृपाते हरिकी नित निर्भय विचरौं॥

इस समय संसारके हितार्थ श्रीभगवान्‌का तेज-वितरण करनेके लिये वह केन्द्र बन जाता है। जो तेज उसके हृदयसे प्रवाहित होकर संसारका परम कल्याण करता है, ऐसे साधकके जीवनका व्रत ही परोपकार हो जाता है—'परोपकाराय सतां विभूतयः।' (सुभाषित) साधारण लोगोंके अभ्यन्तरमें श्रीभगवान् द्रष्टा अर्थात् साक्षीकी भाँति रहते हैं। जो अनन्यभावसे श्रीभगवान्‌में नियुक्त रहकर उनकी उपासना करता है, उसके लिये वे योगक्षेमवाहक हैं (गीता ९। २२)। जो भगवान्‌में तन्मय होकर उपदेश, यशोवर्णन आदिद्वारा दूसरोंको भी ईश्वरोन्मुख करते हैं—श्रीभगवान् उनके अभ्यन्तरमें ज्ञानको प्रज्वलितकर अज्ञान-तिमिरका नाश कर देते हैं (गीता १०।९ से ११)। यह ऊपरकी अवस्था है। ऐसे भक्तके वे कर्मफलभोक्ता हो जाते हैं अर्थात् उसके त्यागरूपी यज्ञके फलको वे संसारके हितके लिये स्वयं भोगते हैं; १३वें अध्यायके २२ वें श्लोकका यही भाव है।

(६) कर्मफल-त्याग-यह ध्यानसे भी उत्तर है (गीता १२। १२)। इस कर्मफल-त्यागमें मामूली कर्म-फलका नहीं, मोक्षतकका त्याग इष्ट है और इसी कारण गीताके अन्तिम अध्यायका नाम 'मोक्ष-संन्यास-योग' है। इस समय उस भक्तको मोक्षकी प्राप्तिका पूर्ण अधिकार होता है, परंतु वह सदा श्रीभगवान्‌की सेवामें संयुक्त रहनेके सामने मोक्षको भी अति तुच्छ समझकर उसका सहर्ष त्याग कर देता है। इसी अवस्थामें उसे परामक्तिकी प्राप्ति होती है

(गीता १८ । ५४-५५) और वह अपनी आत्माको श्रीभगवान्में अर्पित कर देता है, जो सृष्टिका मूल कारण-स्वरूप उनका आदि संकल्प है (गीता १८ । ६६)।

(७) शान्ति-मोक्ष-त्यागद्वारा आत्मसमर्पण करनेसे ही यथार्थ शान्ति मिलती है, अन्यथा नहीं। क्योंकि इस आत्म-समर्पणद्वारा श्रीभगवान्के सृष्टि रचनेके आदि-संकल्प—'एकोऽहं बहु स्याम्—मैं एक हूँ अनेक हो जाऊँ' पूर्ति होती है। यही मोक्षत्यागके अनन्तर्की शान्ति है (गीता १२ । १२)। इसे प्राप्तकर साधक कृतकृत्य हो जाता है।

गीतामें निष्काम कर्मयोग और उसका स्वरूप तथा महत्त्व

(लेखक—डॉ० श्रीवेदप्रकाशजी शास्त्री, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० लिट्०, डी० एस्० सी०)

योग शब्दका सामान्य अर्थ है—संयोग, मिलाप अथवा विभिन्न घटकोंका एकत्रीकरण। महर्षि पतञ्जलिने योगकी परिभाषा देते हुए कहा है—'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' अर्थात् चञ्चल चित्तके समस्त व्यापारोंको रोक देना ही योग है। यहाँ लक्ष्यार्थ यही है कि इधर-उधर भटकते हुए चित्तको तत्तद्व्यापारोंसे विरत कर परमात्मतत्त्वमें मिला देनेसे व्यक्ति व्यर्थके प्रपञ्चोंसे मुक्त हो रसमय दशाका भागी बन सकता है। 'रसो वै सः' इसी श्रुतिके अनुसार परमात्मा रसरूप हैं और आत्मा रसका प्यासा है। सामान्य रूपमें मनुष्यमात्रपर दृष्टि डाली जाय तो ज्ञात होगा कि आनन्दकी कामना मनुष्यमें स्वाभाविक है, यह उसकी वृत्ति है। उठते-बैठते, चलते-फिरते मनुष्य सदैव आनन्दकी कामनासे परिपूर्ण रहता है। सम्भव है कि मनुष्य अपनी इस आनन्द-प्राप्तिकी कामनाको स्पष्ट न समझता हो अथवा यह वृत्ति उसमें मूर्च्छित या सुषुप्त हो, पर ज्ञानमें या अज्ञानमें आनन्द-प्राप्ति ही उसका परम लक्ष्य रहता है। आनन्द मानवकी मूल-प्रकृति है। इसीलिये जब भी मानव किसी प्रकारके संकटसे ग्रस्त हो जाता है, तब वह तत्काल उससे छूटनेका प्रयास करता है। उपनिषदोंमें इसी आनन्दकी अजस्र भावनाको परिलक्षित कर कहा गया है—

'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव

अर्थात् आनन्द ही ब्रह्म है। आनन्दसे ही समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं, आनन्दके द्वारा ही प्राणी जीवित रहते हैं और प्रयाणकालमें आनन्दमें समा जाते हैं। इस प्रकार 'योग'के द्वारा आत्माको उसके काम्यसे मिलानेका प्रयास हुआ है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें योगकी परिभाषा उपर्युक्तसे किंचित् हटकर प्राप्त होती है और उसकी महिमा—'योगः कर्मसु कौशलम्' कही गयी है। अर्थात्—कार्यक्रममें समता रूपी निपुणता प्राप्त कर लेना ही श्रेयका उपाय है। भाव यह है कि किसी कार्यमें इस प्रकार तन्मय हो जाना ही योग है, जिसमें देहाध्यास तक जाता रहे। यह तन्मयावस्था आनन्दका मूल उत्स (स्रोत) है अतः यही योग है, यही साधना है, यही वह परम धाम है, जिसका वियोग आत्माको सदैव आकुल बनाये रखता है। योगके इस परिप्रेक्ष्यमें निष्काम कर्मयोगका स्वरूप जाननेका प्रयास यदि किया जाय तो वह किसी सीमा-तक निश्चय ही वस्तुस्थितिको उजागर कर पानेमें समर्थ होगा। निष्काम कर्मयोगका सामान्य भाव है—फल त्यागकी भावनाके साथ कर्म करना। प्रश्न उठता है—प्रत्येक कार्यका कोई-न-कोई फल अवश्य होता है। इस स्थितिमें निष्काम कर्मका किसी-न-किसी रूपमें फल मिलता है या नहीं? फल मिलता है और निश्चय ही

सन्त विनोबा भावेने एक स्थानपर लिखा है—'साधारण मनुष्य अपने फलके आस-पास काँटेकी बाड लगाता है, पर इससे वह मिलनेवाले अनन्त फल गवाँ बैठता है। सांसारिक मनुष्य अपार कर्म करके अल्प फल प्राप्त करता है, पर निष्काम कर्मयोगी थोड़ा-सा करके भी अनन्तगुना फल पाता है। (पर वह स्वयं फलेच्छा नहीं रखता।)

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने संन्यास और निष्काम कर्मयोग—दोनोंको परम कल्याणकारी स्वीकार करते हुए भी संन्याससे निष्काम कर्मयोगको श्रेष्ठ प्रतिपादित किया है। उक्त दोनोंके सम्बन्धमें अर्जुनकी जिज्ञासाका समाधान करते हुए गीता-(५।२)में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते॥

'कर्मोंका संन्यास (देह, इन्द्रिय और मनद्वारा होनेवाले सभी कर्मोंमें कर्तृत्वविषयक अभिमानका त्याग) तथा कर्मयोग (समत्वबुद्धिसे भगवत्प्रीत्यर्थ कर्मोंको करना) इन दोनोंमें साधन-सुलभ होनेके कारण निष्काम कर्मयोग विशेष महत्त्वपूर्ण है; यद्यपि हैं दोनों ही परम कल्याणकारी।'

निष्काम कर्मके सम्पादनमें समत्वबुद्धिका योग विशेषतः रहता है, अतः निष्कामकर्म स्वभावतः ही 'योग' रूपमें परिणत हो जाता है; क्योंकि योगको एक अन्य परिभाषामें कहा गया है कि 'समत्वं योग उच्यते'—समताको ही योग कहते हैं। यह समत्व कब आता है? इसका उत्तर श्रीमद्भागवत-(३।२५।१६)में इस प्रकार उपलब्ध होता है—

अहंममाभिमानोत्थैः कामलोभादिभिर्मलैः।
वीतं यदा मनः शुद्धमदुःखमसुखं समम्॥

'जब यह मन मैं और मेरेपनके कारण होनेवाले काम-लोभादि विकारोंसे मुक्त एवं शुद्ध हो जाता है, उस समय वह सुख-दुःखादिसे मुक्त होकर सम अवस्थामें आ जाता है।'

इस अवस्थामें पहुँचते ही जीव अपने ज्ञान, वैराग्य और भक्तिसे, मुक्त हृदयसे आत्माको प्रकृतिसे परे, एकमात्र (अद्वितीय), भेदरहित, स्वयंप्रकाश, सूक्ष्म, अखण्ड और उदासीन देखता है तथा प्रकृतिको शक्तिहीन अनुभव करता है। भागवत ३।२५।१७-१८में कहा है—

तदा पुरुष आत्मानं केवलं प्रकृतेः परम्।
निरन्तरं स्वयंज्योतिरणिमानमखण्डितम्॥
ज्ञानवैराग्ययुक्तेन भक्तियुक्तेन चात्मना।
परिपश्यत्युदासीनं प्रकृतिं च हतौजसम्॥

वस्तुतः कर्मयोगी और कुछ नहीं, संन्यासी ही होता है। यद्यपि वह संन्यास नहीं लेता तथापि उसका कर्म संन्यासीके समान ही प्रशस्त, कल्याणकारी और मोक्षदायक होता है। श्रीमद्भगवद्गीता-(५।३)में इस भावको इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात् प्रमुच्यते॥

'जो व्यक्ति न किसीसे द्वेष करता है, न किसीकी आकाङ्क्षा करता है वह निष्काम कर्मयोगी सदैव संन्यासी ही समझने योग्य है; क्योंकि राग-द्वेषादिसे रहित हो जानेवाला व्यक्ति सहज ही संसाररूप बन्धनसे मुक्त हो जाता है।'

संन्यास और कर्मयोग दोनोंका फल भी एक ही प्रतिपादित हुआ है, और वह है—परमात्माकी प्राप्ति। इनमें किसी एकका भी आश्रय लेकर व्यक्ति परमात्माको प्राप्त करनेमें समर्थ हो सकता है। अतः इन्हें भिन्न फलवाला कहना कथमपि समीचीन नहीं। गीता-(५।४)में स्पष्ट कहा गया है कि—

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥

रम्भेषु निर्विण्णो विरक्तः संयतेन्द्रियः।
गसेनात्मनो योगी धारयेदचलं मनः॥
रसम्यतया बुद्ध्या मन आत्मवशं नयेत्॥

'मनके वशमें हो जानेपर हृदयकी गाँठ खुल जाती, सम्पूर्ण संदेह नष्ट हो जाते हैं, ईश्वरका साक्षात्कार में होने लगता है और इस साक्षात्कारके होते ही कर्म, फल और तत्परक वासनाएँ विलीन हो जाती हैं।' कर्म- । अपनी वास्तविक स्थितिमें पहुँच जाता है। श्रीभागवत १।२०।३०)में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
यन्ते चास्य कर्माणि मयि दृष्टेऽखिलात्मनि॥

संन्यासी और कर्मयोगीमें स्वरूपतः भी किंचित् र होता है। जहाँ संन्यासी संन्यासका आश्रय लेकर र और उसके आकर्षक पदार्थोंसे दूर भागकर को पलायनवादी सिद्ध करता है, वहाँ निष्काम योगी संसारमें रहकर ही सारे काम भगवन्निमित्त कर करता है और अपनी स्थिति जलमें कमलकी

परम लाभ प्राप्त कर पानेमें सफल हो जाता है, जो जीवनात्मका काम है। परमलाभ है ईश्वरकी प्राप्ति, आत्माका परमात्मामें विलय। श्रीमद्भागवतमें कहा है—
'अयं हि परमो लाभ उत्तमश्लोकदर्शनम्।'

निष्काम-कर्मयोगी जिस परम लाभको संसारमें रहते हुए पा लेता है, उसे इतर सांसारिक जन क्यों नहीं प्राप्त कर पाते, जबकि वे भी जीवन-संघर्षमें वही भूमिका निभाते हैं जो निष्कामकर्मयोगी निभाते हैं ! संसारी मनुष्यकी तपस्या यद्यपि बहुत कठोर होती है, परंतु होती है क्षुद्र फलोंके लिये; अतः परिणाम निष्कामकर्मयोगीकी अपेक्षा हीन कोटिका अथवा क्षुद्र प्राप्त होता है। कर्मके एक-सदृश होनेपर भी भावनाभेदसे फलमें अन्तर पड़ जाता है। गङ्गामें मात्र उसे सामान्य नदी मानकर स्नान करना जहाँ शारीरिक शुद्धिरूपी फल देता है, वहीं उसमें पवित्र मातृभाव रखकर स्नान करना शरीरके साथ मनकी शुद्धिरूप फल भी दे देता है। सकाम कर्म-कर्ता और निष्कामकर्मयोगीके

गीताके कर्मयोग और निष्काम कर्मोंका वास्तविक रहस्य क्या है ?

(लेखक—डॉ० भीखुकरलजी उपाध्याय, एम्० ए०, पी एच्० डी०, शिक्षा-शास्त्री, तीर्थद्वय, रत्नद्वय)

जो कर्म करता है, परन्तु कामनासे नहीं करता, नकी अग्निसे कर्मकी अन्तर्निहित 'कामना'को कर देता है, जला देता है, जो कर्मके फलको को, मोहको, आसक्तिको छोड़कर उसे पुरुषोत्तमके में समर्पित कर देता है, उसकी आत्मा सदा तृप्त से किसी दूसरेका सहारा नहीं लेना पड़ता, वह त सब कुछ करते हुए भी मानो कुछ नहीं करता।' कर्मयोगीका साधारण लक्षण है।

कर्म-सिद्धान्त—भौतिकवादी इसी जीवनको आदि अन्त मानता है, किंतु उसके पास जन्मसे ही

सृष्टिमें कारण-कार्यका यह नियम अटल है, इससे कोई भी नहीं बच सकता। किंतु जड प्रकृतिके इस नियमके चेतन आत्माके प्रसङ्गमें अटल होनेपर भी आत्माकी स्वतन्त्रताके अनुसार उसके फलको नियन्त्रित भी किया जा सकता है और उससे मुक्त भी हुआ जा सकता है। भिन्न-भिन्न प्रकारके बन्धनोंको तोड़नेके लिये, बीमारीसे मुक्त होनेके लिये, दुःखोंके पहाड़ोंको धूल बनाकर उड़ा देनेके लिये, विविध पीड़ाओंसे मनुष्यकी मुक्तिके लिये उसकी सतत 'संघर्ष-यात्रा' इसका प्रमाण है। जड-जगत्‌में जो 'कार्य-कारण'का नियम कहा जाता

सामाजिक प्रवृत्तिके अनुसार अपनी वासनाओंकी तृप्तिको ही जीवनका मानक और उद्देश्य बना लिया जाता है, जिसके कारण वह कर्म-शृङ्खलाको कभी तोड़ नहीं पाता। कर्मका सिद्धान्त इतना अटूट है कि लगातार भी कर्ता और भोक्ताका भाव आ जानेपर व्यक्ति संस्कारोंकी प्रबल शृङ्खलामें बँध जाता है।

कर्मत्यागकी भावना—इसलिये कुछ लोगोंका यह दृष्टिकोण बना कि ये सब उत्पन्न प्राणी कर्मद्वारा बन्धनमें फँसते हैं तथा प्रत्येक कर्म कर्ताके अहंकार और पृथक्ताकी भावनाको पुष्ट करता हुआ एक नयी कर्म-परम्पराको जन्म देता है। इनसे मुक्त होने तथा शाश्वत सत्य और आनन्दकी खोजके लिये मनुष्यको सब कर्मोंको त्यागकर, संन्यासी बनकर ज्ञानद्वारा अपने उद्धारका मार्ग क्यों नहीं प्रशस्त करना चाहिये! इस दृष्टिकोणका परिणाम वर्तमान जीवनकी उपेक्षाके रूपमें प्रतिफलित हुआ।

जीवनमें कर्म अनिवार्य हैं—गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण-के द्वारा अर्जुनको प्रदत्त इस प्रश्नके उत्तरने हजारों वर्षोंसे भारतीय जीवनको मन्त्र-मुग्ध किया है। यहाँ आकर गीताका ज्ञान संदेह और अँधेरेमें भटकते हुए हमारे प्रश्नोंके आगे प्रकाश लेकर उपस्थित हो जाता है। गीताके प्रारम्भमें अर्जुन भी युद्ध न करने, कर्मसे दूर रहने और संसारको त्यागनेके लिये ऐसी युक्तियाँ प्रस्तुत करता है, जो सुननेमें ठीक जान पड़ती हैं। वह अपनी भावनाजन्य दुर्बलताको दयाके रूपमें देखता है और स्वयंको स्वार्थसे ऊपर उठा हुआ व्यक्ति मानकर यह कल्पना कर बैठता है कि अपने प्रतिद्वन्द्वियोंकी तुलनामें वह कितना श्रेष्ठ है। वह यह भी प्रश्न उठाता है कि कर्म करना अच्छा है या कर्मका त्याग।

गीता कहती है कि यह संसार हमारा निर्माण नहीं है। इसके व्यवहार, क्रियाकलाप हमारे इच्छानुसार न अपनेको नहीं बचाते। इसके हमने कुछ [illegible] कर्मके लिये ईश्वरने हमें पूर्णतः नियुक्त किया [illegible] इसलिये हमें अपने-आपको साधन बनाकर कर्म कर[illegible] होगा—'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते[illegible]' का यही वास्तविक तात्पर्य है। मनुष्यको अपने कर्म धर्मका पालन करना चाहिये। कर्मके इस उच्च[illegible] दोनोंकी समस्याओंके समाधानके लिये गीता निष्[illegible] कर्मका उपदेश देती है, जिसके अनुसार मनुष्य कर्मोंको करते हुए भी कर्मफलसे ऊपर उठ[illegible] है। मनुष्यके सामान्य जीवनके लिये अच्छे और उदासीन होनेका उपदेश यह नहीं करती; क्योंकि [illegible] प्रकारकी शिक्षाके बहुत ही हानिकर परिणाम [illegible] सकते हैं। गीता प्रत्येक कर्तव्य-कर्मकी शिक्षा देती [illegible]

कर्मका गौरव—शरीर एवं इन्द्रियोंकी चेष्टाका [illegible] ही कर्म है। यह हम सभी जानते हैं कि यह जी[illegible] और हमारे चारों ओर फैला हुआ संसार नित्य कर्म-पर[illegible] हैं। कर्म छोड़कर कौन रह सकता है! हमारी प्रति[illegible] दिनकी रहन-सहन और जीविका भी कर्मके बिना नहीं चल सकती। जीवनमें कुछ भी प्राप्त करनेके दो ही उपाय हैं—कर्म और ज्ञान। कर्मसे अप्राप्त वस्तुकी प्राप्ति होती है और ज्ञानसे अप्राप्त वस्तुका ज्ञान होता [illegible] सर्जनात्मक कर्मोंकी चिनगारियाँ मनुष्योंके जीवनपर प्रतिपल अगणित दीप जला रही हैं। जीवनकी स[illegible] और गतिशीलताके लिये इस कर्मशील संसारमें कर्मोंके आह्वान निरन्तर हमारे जीवनके चारों ओर गूँजते रहने चाहिये। कर्मसे पलायन, कर्मके प्रति हीनभावना, समाजको निष्क्रिय बनाकर तमसाच्छन्न बना सकती है। कर्मके पीछे भी सुव्यवस्थित जीवन-दर्शन हो सकता है, गीतामें श्रीकृष्णने यह बताकर मनुष्यकी गतिशीलताको जीवन प्रदान किया है। यहाँ अर्जुन और श्रीकृष्ण मुनियोंके समान किसी तापस-आश्रममें ध्यान करने नहीं बैठे हैं, बल्कि रणभेरियोंके तुमुल निनादसे आकुल युद्ध-

-रूपमें दार्शोंकी खनगमाहट्के बीच युद्धके रूपर रथी और सारथीके रूपमें विद्यमान हैं। अतः धर्म-त्याग नहीं, धर्म-संग्रहका प्रसङ्ग है, पर प्रश्न यह है कि कर्म-शील—कर्मके बन्धनसे बचा कैसे जाय?

शास्त्रानुकूल कर्मका ही नाम धर्म है, मानसकर्मका नाम भक्ति है, बौद्धिककर्मका ही नाम तत्त्वज्ञान है। बुद्धिकी स्थिरता और निर्मलतासे कर्ममें मन दिखायी पड़ने लगता है। कर्मका यह चमत्कार सदासे मनुष्य-मनको आकृष्ट करता आया है। किंतु कर्म करनेपर भी यदि व्यक्ति अहंकेन्द्रित और स्वार्थी है तो उसके कर्म अन्य लोगोंके लिये घातक हो सकते हैं और उससे समाजमें अशान्ति फैल सकती है। ऐसा व्यक्ति अपने मनको भी शान्त और सुखी नहीं रख सकता है। हम देखते हैं कि आजकल समाजमें ऐसे लोगोंकी संख्या अधिक है, जो कर्तव्य-अकर्तव्यका विचार न कर केवल तात्कालिक लाभके लिये ही कर्म करते हैं; वे झूठ बोल सकते हैं और यदि किसी दुर्बल व्यक्तिको हानि पहुँचानेसे अपना लाभ होता है तो उसे भी करनेमें नहीं चूकते। जब मनुष्य स्वार्थ तथा अपने मन और इन्द्रियोंके सुखको ही लक्ष्य बनाकर कर्म करता है तो वह प्रकृतिकी परवशता स्वीकार कर लेता है और उसके बन्धनमें जकड़ता चला जाता है। कामना सदा ही प्राप्ति और संकल्पमें संकीर्णता लाती है, उसके कारण क्षुद्र राग और द्वेष, क्रोध और क्षोभ, सफलता तथा प्रियंकर वस्तुओंके प्रति आसक्ति, विफलता तथा अप्रिय वस्तुओंसे उत्पन्न शोक-संताप हमको घेर लेते हैं। कामनाको पालते रहनेवाले कभी निष्कलुष शान्ति एवं स्थिर ज्योति नहीं पा सकते। सृष्टिके सभी द्वन्द्वोंको समचित्त और समबुद्धि होकर ग्रहण करनेपर ही हम उनके प्रभावसे बच सकते हैं। (क्रमशः)

श्रीमद्भगवद्गीतामें निष्काम-कर्मयोग

(लेखक—पं० श्रीकुबेरनाथजी शुक्ल)

भगवान् श्रीकृष्णने निष्काम कर्मयोगका विवेचन गीता-के दूसरे, तीसरे एवं अठारहवें अध्यायोंमें विस्तारसे किया है। निष्कामभावसे जो कर्म किये जाते हैं, उनके फलका कभी नाश नहीं होता है। उनमें कोई प्रत्यवाय (पाप) भी नहीं होता। वे सब प्रकारके भयोंसे रक्षा करते हैं (गीता २। ४०)।

निष्काम कर्म करनेसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है। शुद्धान्तःकरणमें आत्मज्ञानका उदय होता है और आत्म-ज्ञानके उदित हो जानेपर ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति होती है। यह आनन्द परमोत्कृष्ट है। लौकिक सभी सुख एवं आनन्द इसकी तुलनामें क्षुद्रकोटिके हैं। श्रुति कहती है—'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' क्षुद्र जलाशयोंमें स्नान-पानादिका प्रयोजन यथाकथंचित् सिद्ध होता है, परंतु विशाल जलाशयोंसे स्नान, पानादि कार्य उत्तमोत्तमरूपमें सम्पन्न होते हैं। सकाम कर्म क्षुद्र जलाशयके समान हैं और निष्काम कर्म विशाल जलाशयके समान हैं। जो सुख सकाम कर्मोंके करनेसे प्राप्त होते हैं, वे सब अनिवार्यरूपसे निष्काम कर्म करनेसे प्राप्त हो जाते हैं। अतः सकाम कर्मोंकी उपादेयता नहीं है, है भी तो थोड़ी है (गीता २। ४६)।

फलोंकी अभिलाषा छोड़कर तथा कर्तृत्वाभिमानसे रहित होकर फलसिद्धिमें हर्ष और विफलतामें विषाद त्यागकर ईश्वराराधन-बुद्धिसे कर्म करना श्रेयस्कर है। फलाभिसंधिसे किया जानेवाला कर्म निकृष्ट-कोटिका होता है। वह जीवनमें दुःख और कार्पण्य प्रदान करता है। वह जन्म-मरण-चक्रके बन्धनका कारण होता है। वह सब अनर्थोंका मूल कारण है। अतः सब अनर्थोंको दूर करनेवाले तथा आत्मज्ञानको उत्पन्न करनेवाले निष्कामकर्मोंका अनुष्ठान करना चाहिये।

...जब कि विद्वज्जन लोकसंग्रहकी भावनासे अनासक्तिपूर्वक कर्म करते हैं। अर्जुन! तुम अध्यात्मबुद्धिसे सब कर्म मुझे समर्पित करो। आशा, ममता एवं शोकको त्यागकर युद्ध करो एवं अपने धर्मका पालन करो। 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः'के अनुसार सबको अपने-अपने धर्मका पालन करना चाहिये। अपने धर्ममें निधन भी कल्याणकर होता है।

कुरुक्षेत्रके विशाल युद्धस्थलपर गाण्डीवधारी अर्जुनने कर्तव्यविमूढ हो भगवान्‌की शरणमें जाकर विनीत शिष्यके समान मार्गदर्शनके लिये प्रार्थना की। परमकृपालु भगवान् श्रीकृष्णने श्रीमुखसे निष्काम कर्मयोगका उपदेश किया, जिससे अर्जुनका व्यामोह दूर हो गया और वे सोत्साह कर्तव्यपालनके निमित्त खड़ा हो गये।

अर्जुनके समान समस्त जिज्ञासुओंके लिये यह निष्काम कर्मयोगका उपदेश शाश्वतरूपसे व्यामोहनाशक बना रहेगा। व्यामोहनाशसे भगवत्स्मृति हो जाती है और मनुष्यका चरम लक्ष्य—आत्मकल्याण फलीभूत हो जाता है।

शास्त्र-सम्मत निष्काम कर्मका स्वरूप

(लेखक—श्रीमत्प्रभुपाद प्राणकिशोरजी गोस्वामी)

कर्मकी परम्परा अनादिकालसे चली आ रही है। कर्मके द्वारा ही निर्माण और ध्वंसात्मक कार्य होते हैं। सत्कर्मके द्वारा निर्माण और असत्कर्मद्वारा ध्वंस-कार्य होते हैं। महर्षि पाणिनि एवं पतञ्जलिके अनुसार 'योग' पद युज्-समाधौसे निष्पन्न हुआ है और उसका अर्थ है—असम्प्रज्ञात-चित्तनिरोध। 'दक्षस्मृति'के अनुसार परमात्मा एवं जीवात्माके संयोगको भी 'योग' कहते हैं।

कामनासे कर्म होते हैं। कर्मके पहले संकल्पके साथ कोई उद्देश्य-प्रेरणा—दृष्ट अथवा अदृष्ट भी कुछ रहती है और पीछे फल भी लगा रहता है। वासना शुद्ध होनेसे शुद्ध फल और अशुद्ध वासनासे अशुद्ध फलकी प्राप्ति होती है। जीव कर्मके वशमें है और ईश्वर है सबके कर्मोंका फलदाता। कर्मके द्वारा ही नदियाँ, समुद्रादि प्रवाहित होते हैं, वायु प्रवाहित होती है, अग्नि प्रज्वलित होती है, पृथ्वी प्राणियोंको धारण करती रहती है—इसमें पवन, अग्नि, पृथ्वी, जलको कोई फल-कामना नहीं है। प्रायः जीवोंके उपकारके लिये इनके कर्म निष्काम होते चलते रहते हैं।

वस्तुतः पारिभाषिक कर्म-शब्दसे वेदानुगत धर्माचरणशील प्राणियोंके वर्णाश्रमके विभक्त कर्तव्य अधिकार धर्मानुष्ठानको समझना चाहिये। कर्मकाण्डमें यज्ञ, हवन, व्रत, नियम और दानादिके व्यापारको कर्म कहा गया है। कर्माचरणमें कुछ-न-कुछ प्रेरणा, बोध और सुख-समृद्धि पानेकी उत्कण्ठा तो रहना स्वाभाविक है। प्रवृत्तिपरक शास्त्रोंमें बृहद् अनुष्ठानसे स्वर्गादि-लाभ सूचित किया गया है। निवृत्तिपरक शास्त्रोंमें दानादिद्वारा निर्मम होनेसे, जीवके कल्याणार्थ कामनारहित कर्मको ही निष्काम कर्म घोषित किया गया है। साधकोंके हृदयसे जब 'हम' और 'तुम'का भाव निवृत्त हो जाते हैं, जब सर्वत्र सभी जीवोंमें एक महान् सत्ताके आविर्भावका दर्शन होता है, जब एक आनन्दमय स्वरूपका अनुभव होता है, तब आचरित कर्मफल ज्ञानाग्निसे दग्ध हो जाते हैं और कर्ताको बन्धनसे मुक्ति मिल जाती है। इस अवस्थामें योग-साधनासे, भक्तिसे, भगवच्चरणारविन्दकी शरणागतिसे भी कर्म शुद्ध हो जाते हैं, वासना नष्ट हो जाती है, योग सिद्ध हो जाता है और भगवद्-प्रेमकी प्राप्ति हो जाती है। इसीको निष्काम कर्मयोग कहा जाता है। मीमांसा-शास्त्रने द्विजातियोंद्वारा निष्काम हवनादिको यज्ञ कहा गया है। प्रवृत्तिमार्गसे ईश्वर ध्यान

प्राप्ति होती है। उपनिषदोंमें ज्ञानयोगको क्रियायोगसे भी श्रेष्ठ माना गया है। पातञ्जलि-योगशास्त्रमें राजयोगकी प्रधानता है। महाभारत, गीता, रामायण तथा पाञ्चरात्रादि शास्त्रोंमें श्रद्धा-भक्तिपूर्वक भगवदाराधनको ही प्रधानतः योग स्वीकार किया गया है। आचार्यशंकरने ज्ञानयोगको नैष्कर्म्यसिद्धि, ब्रह्मानन्द, मोक्ष-प्राप्तिका परम-साधन ही माना है। निम्बार्क, रामानुज, मध्वाचार्य, श्रीवल्लभ आदि वैष्णव-संत-आचार्यगण सभी जीवोंके लिये श्रद्धा-भक्तिपूर्वक भगवत्-शरणागतियोगसे ही भगवत्प्राप्ति स्वीकार करते हैं। स्व-स्व-वर्णाश्रमके अनुसार शास्त्रविहित धर्म कर्म-योगके अन्तर्गत हैं। अहंकार-परित्यागसे ये कर्म विशेष शुद्ध बन जाते हैं।

जैसे छोटे-से-छोटे कुसुमकोरक (कलिका)के साथ उसके पत्रपल्लवका संयोग, पल्लवके साथ शाखाका और शाखाके साथ मूल-काण्डका, मूल-काण्डके साथ आधार-भूमिका संयोग होता है, वैसे ही छोटे-से परमाणुके स्पन्दनसे प्रकृति-पुरुष समष्टि विश्वका बृहत्तम ब्रह्माण्डका संयोग ही है। वे पूर्ण उपकार और सम्पोषण-धारण आदि कार्य करते हैं। संसारमें मानवका देह-धारण करना कर्मसे और कर्म ही होता है। शुभ भावनायुक्त प्रेरणाकी उन्नति जि मानव-देहमें होती है तथा उसकी वृद्धि एवं पुष्टि है, उसीका जीवन महान् जीवन बन जाता है। जिन ध्यान जीवनभर परोपकारपरायण कर्मोंमें रत रहता उन्हींके कर्म निष्काम कर्म होते हैं। अपनी स्वार्थ-पूर्ति लिये किया गया कोई भी कर्म निष्काम नहीं हो सकता सर्वात्मना परोपकारकी शुभ भावनासे ही निष्काम सिद्धि होती है। अतः स्व-वर्णाश्रम-धर्मका पालन क हुए ईश्वर-उपासनादि सात्त्विक कर्म ही परम आदर्श है। श्रीमद्भागवतमें शुकदेवजीका कथन है—

> अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः
> तीव्रेण भक्तियोगेन भजेत पुरुषं परम्।
> (२।३।१)

'बुद्धिमान् प्राणी निष्काम हो या सकाम अ मोक्षकी कामनावाला हो, उसे बस, तीव्र भक्तिये परमपुरुष परमात्माकी ही आराधना करनी चाहिये यही सर्वोत्तम निष्काम कर्मयोग है।

निष्काम-कर्मयोग

(लेखक—आचार्य डॉ० श्रीउमाकान्तजी 'कपिध्वज', एम्० ए०, पी-एच्० डी०, काव्यरत्न)

प्राकृतिक नियमानुसार प्रत्येक क्रियाकी प्रतिक्रिया भी होती है। जो जैसा कर्म करता है, उसे वैसा फल भोगना पड़ता है। बृहदारण्यकोपनिषद् (४। ४। ५)-का मत है कि 'मनुष्यकी इच्छाके समान विचार, विचारोंके अनुसार कर्म होते हैं और कर्मके अनुसार उसे फल मिलता है।' महाभारत शान्तिपर्व (२०१। २०-१६)-के अनुसार 'कर्मफलमें आसक्त व्यक्ति जैसे कर्म [illegible] ही पाता है। इनमें कुछ कर्म इस प्रकार- [illegible] उनका परिणाम तुरंत मिल जाता है, [illegible] ऐसे होते हैं, जिनका फल कालान्तरमें [illegible] तो बहुत कालके पश्चात् दिखायी पड़ता है।' मनुष्य शरीर, वाणी और मनसे निरन्तर करता रहता है। कर्मसे ही विश्वकी उत्पत्ति है। [illegible] को लेकर ही मानव-जीवनका आरम्भ है। कर्म जीवन है; क्योंकि कर्म ही गति, चेष्टा और प्रवृत्ति है। जीवन भी यही है। सद्योजात शिशुकी भावभंगी ध्यानपूर्वक देखनेसे ज्ञात हो जाता है कि जीवनका क्या है? चञ्चलता ही जीवन है। चञ्चलता अर्थात् चलना। गीताकारका भी स्पष्ट उद्घोष है कि 'प्र प्रकृतिसे उत्पन्न गुणोंद्वारा परवश हुए कर्म करते हैं' तात्पर्य यह [illegible] तो [illegible] है, पर [illegible] ईश्वर-प्रदत्त [illegible] आर्य

व-जीवनकी सार्थकता सिद्ध हो सकती है। वस्तुतः व-जीवन कर्ममय है, वह कर्मोंका ही संवलित णाम है।

कर्म 'सकाम' तथा 'निष्काम'के भेदसे दो प्रकारके हैं। फलकी इच्छासे किये जानेवाले कर्म सकाम हैं। में आसक्ति होनेके कारण ही ये सकामकर्म बनमें डालनेवाले होते हैं। अतएव भगवान् अर्जुनको काम कर्म करनेका उपदेश देते हुए कहते हैं—न्तीनन्दन! तुम कर्मफल और आसक्तिसे रहित होकर तैंका ईश्वरार्थ भलीभाँति आचरण करो[1]।' कर्मयोगी फलासक्ति त्यागकर कर्म करता है, तब ऐसे कर्म काम-कर्मकी श्रेणीमें आ जाते हैं। निष्कामकर्म रागरहित होते हैं। अतः इनके द्वारा बन्धनकी उत्पत्ति होती।

कर्मयोगकी सुगमताके विषयमें भगवान् श्रीकृष्णने वजीसे कहा है—'मैंने ही मनुष्योंका कल्याण नेके लिये तीन प्रकारके योगोंका उपदेश किया है।—ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग। इनके अतिरिक्त प्योंके लिये श्रेयःप्राप्तिका अन्य कोई साधन नहीं है।[2] गवान्‌द्वारा निर्दिष्ट इस मार्गत्रयकी पृथक्-पृथक् सफलतामें योग ही हेतु है।

ज्ञानयोग—शास्त्रोंमें ज्ञानकी महिमाका विशेष वर्णन है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—संसारमें ज्ञानके समान पवित्र करनेवाला अन्य कुछ नहीं है[3]। वेदोंमें भी 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः', 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'[4] 'ब्रह्मविदाप्नोति परमम्'[5] कहकर ज्ञानके असाधारण महत्त्वका ख्यापन किया गया है। महाभारतका भी कथन है—कर्मसे प्राणी बँधता है और ज्ञानसे मुक्त होता है।[6] गोस्वामी तुलसीदासजी भी कहते हैं 'ग्यान मोच्छ-प्रद बेद बखाना'। श्रीभगवान् भी 'शमः कारणमुच्यते' के बाद ज्ञानीको अपना ही रूप मानते हैं[7]।

कर्मयोग—कर्मयोग समर्थकोंके अनुसार लौकिक और वैदिक कर्म करता हुआ जीव परमेश्वरके निकट पहुँच सकता है। परिस्थितिके अनुसार जो कर्तव्य सामने आकर उपस्थित हुआ है, वही नियतकर्म है। यहाँ 'कर्म'को धर्मका पर्यायवाची समझना चाहिये। अपने स्वाभाविक कर्मों अर्थात् वर्णाश्रमोचित धर्मको निष्कामभावसे करते रहनेसे मनुष्यको परमसिद्धिकी प्राप्ति होती है—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
... ...
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

अपने-अपने कर्ममें लगा हुआ मनुष्य परमसिद्धिको प्राप्त होता है; अर्थात् उसकी देह और इन्द्रियाँ

१–तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥ (गीता ३। ९)

२–योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया। ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥ (श्रीमद्भा० १०। २०। ६)

देवीभागवत (७। ३७। ३)में, इन्हींको कर्मयोग, ज्ञानयोग तथा भक्तियोग कहा है—
मार्गास्त्रयो मे विख्याता मोक्षप्राप्तौ नगाधिप। कर्मयोगो ज्ञानयोगो भक्तियोगश्च सत्तम॥

३–न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते॥ (गीता ४। ३८)

४–बिना ज्ञानके मोक्ष प्राप्तिका दूसरा मार्ग नहीं है (श्वे० उ० ३। ८)

५–ब्रह्मज्ञानसे मोक्ष प्राप्त होता है (तैत्तिरीय० २। १)

६–कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया तु प्रमुच्यते। (महा० शान्ति० २४१। ७)

७–द्रष्टव्य–गीता (७। १७), कूर्मपु० ब्राह्मीसंहिता (४। २४), श्रीमद्भा० (११। १९। ३), स्कन्दपु० १। ५। ४२-४३), शिवपुराण (२। २। ४३। ४—९), मानस (१। २१। ३)

स्वाभाविक कर्म करनेसे शुद्ध हो जाती है और उसमें ज्ञाननिष्ठाकी योग्यता आ जाती है अतः उस परमेश्वरको अपने स्वाभाविक कर्मद्वारा पूजा कर।

कर्मयोगी साधकके लिये हमारे धर्मग्रन्थोंमें निष्काम कर्म करनेकी प्रेरणा दी गयी है; क्योंकि कर्मोंके तीन भेद संचित, प्रारब्ध और क्रियमाणकी सफलताके लिये यह आवश्यक है कि कर्मयोगीके द्वारा किये जानेवाले क्रियमाण बुरे न हों, प्रारब्धको वह हँसता हुआ भोग ले तथा अपने वर्तमान शुभ-कर्मोंके द्वारा पूर्वकालके (संचित) अशुभ-कर्मोंपर विजय प्राप्तकर अशुभ कर्मोंके फलको शान्त कर दे (नष्ट कर दे)। इस प्रकार वस्तु, परिस्थिति, संयोग, वियोग आदिको भगवत्प्रदत्त मानकर तथा फल और आसक्तिका परित्यागकर भगवदाज्ञानुसार केवल भगवदर्थ समत्व-बुद्धिसे कर्म करनेवाला कर्मयोगी निःसंदेह 'निष्काम-कर्मयोगी' है।

निष्काम-कर्म करनेकी सर्वप्रथम प्रेरणा हमें वैदिक साहित्यसे प्राप्त होती है। यजुर्वेद और ईशावास्योपनिषद्‌का आदेश है कि कर्मयोगीको कर्म करते हुए सौ वर्षतक जीवित रहना चाहिये[2]। अथर्ववेदके ऋषिका भी स्पष्ट उद्घोष है कि सौ वर्षोंतक उत्साहशील जीवन जियो। जीवन-शक्तिको ऐसे संयमसे खर्च करो कि सौ वर्षोंतक पूर्ण कर्मशील रह सको। निष्कामभावसे कर्माचरण करनेवाला पुरुष कर्मबन्धनमें नहीं पड़ता। कर्मोंमें लिप्त न होनेका एकमात्र मार्ग है[4]।

कठोपनिषद् (१।१।१७) में [illegible] है कि 'ऋक्, यजुष्, साम—तीनों वेदोंके निष्णात होकर, निष्कामभावसे यज्ञ, दान और (शास्त्रोक्त) तीनों कर्मोंको करता हुआ पुरुष [illegible] तर जाता है। वह देवयानद्वारा परमशान्तिको प्राप्त होता है।' श्वेताश्वतर-उपनिषद्‌में भी निष्काम-कर्मयोगके महत्त्व बतलाते हुए साधक-(कर्मयोगी-)के [illegible] कल्याणमार्गका निर्देश दिया गया है—'जो कर्मयोगी वर्णाश्रम-विहित कर्तव्यकर्मोंको अहंता-ममता-आसक्तिरहित होकर ईश्वरार्पणबुद्धिसे करता है, वह तुरंत ही परमात्माको प्राप्त हो जाता है'[5]। 'यत्करोषि', 'परित्यज्य', मन्मनाभव, अनाश्रितः कर्मफलम्, का[illegible] कर्मयोगो विशिष्यते, कर्मण्येवाधिकारस्ते, योग[illegible] कर्माणि, योगस्थः कुरु कर्माणि, त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं, कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि, शारीरं केवलं कर्म, अनेक गीतावाक्योंमें भगवान्‌ने निष्कामकर्मकी ही प्रदान की है। गीताका प्रतिपाद्य कर्मयोग ही है

यही कर्मोंका योग है। यही उपासकोंका सम्पादन करनेवाली कुशलता है। स्वयं अहङ्कारशून्य होकर प्रभुको ही समस्त कर्मोंका प्रेरक मानकर निष्कामभावसे कर्तव्यकर्मोंका पालन करनेसे कर्मासक्ति शनैः-शनैः

१-देखिये—[illegible] (२।७।७१, २।९।४, २।९।६, २।१।[illegible] ६, २।६।४, २।६।३-५, २।२, २।६।१०-११, ३।५७।२९, २।६।१८, २।६।३९, [illegible] २।२।१५, २।६।११)

२-कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः। (यजु० ४०।२)

३-शतं जीव शरदो वर्धमानः (अथर्व० ३।११।४)

४-एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥ (ईश० २)

५-[illegible] [illegible]॥ [illegible]

६-[illegible] (२।४७), ७-[illegible] (१२।११), ८-[illegible] (५।१२), ९-[illegible] (४।१९), [illegible] (६।१), १०-[illegible] (३।७), ११-[illegible] (२।४७), १२-[illegible] (२।४८), १३-[illegible] (४।२०), १४-[illegible] (४।२१)

हो जाती है। इस विषयमें स्वयं भगवान् विश्वास दिलाते हुए कहते हैं कि—'उद्धवजी! मेरे भक्तको चाहिये कि अपने सारे कर्म 'मेरे लिये ही करे' और धीरे-धीरे उनको करते समय मेरे स्मरणका अभ्यास बढ़ाये। कुछ ही दिनोंमें उसके मन और चित्त अपने-आप मुझमें समर्पित हो जायँगे'।[१] गीता भी कहती है कि जो पुरुष सब कर्मोंको परमात्मामें अर्पित करके और आसक्तिको त्यागकर कर्म करता है, वह पुरुष कमलके पत्तेकी तरह पापसे लिप्त नहीं होता।[२] 'सुबोधिनी' टीकामें श्रीवल्लभाचार्यजी भी कहते हैं कि 'येनैव कर्मणा नाशः शङ्कनीयस्तदेव भगवति भावनीयम्' अर्थात् जिस कर्मसे हानिकी सम्भावना हो, उसमें भी भगवान्‌की भावना करनी चाहिये—भगवान्‌में लगाना चाहिये।

भक्तियोग—

जिस दशामें जीवके मन, वाणी और शरीर भगवन्मय हो जाते हैं, मनसे प्रभुका सतत स्मरण होता है, वाणीसे निरन्तर उनके गुणोंका गान होता है, शरीरसे अनवरत उनकी सपर्या (सेवा) होती है, वही भक्ति है; अर्थात् भगवान्‌के दिव्य गुणोंके श्रवणसे द्रवीभूत हुए चित्तकी वृत्तियाँ उन सर्वेश्वर प्रभुकी ओर जब धारा-प्रवाह-रूपसे सतत बहने लगती हैं, तब वही क्रिया भक्तिका स्वरूप बन जाती है। ऋग्वेदसंहितामें कहा गया है—'जैसे गङ्गा आदि नदियाँ समुद्रकी ओर दौड़ती हुई उसीमें लीन हो जाती हैं, वैसे ही भगवद्भक्तोंके मनकी सभी वृत्तियाँ अनन्त दिव्य गुणगणकर्मवान् परमेश्वरकी ओर जाती हुई तदाकार होकर उन्हींमें विलीन हो जाती हैं।

भक्तिसे व्यष्टि-समष्टिघातक सभी तत्त्व नाशोन्मुख होने लगते हैं, एवं ऐसा निर्दोष, निर्मल और निष्पाप तथा सुखद वातावरण बन जाता है कि जिसमें प्रविष्ट होकर पतनोन्मुख मनुष्य भी प्रकर्षोन्मुख हो जाता है। भक्तिकी महत्ता बतलाते हुए भगवान् उद्धवजीसे भागवत-(११।१४।२०)में कहते हैं—'उद्धवजी! जिस प्रकार उत्कृष्ट भक्ति मुझे अपने वशमें कर लेती है, वैसे सांख्य, धर्म, स्वाध्याय, तप और त्याग नहीं कर सकते।'[३]

भक्ति-रसके आनन्दातिरेकसे साधक भक्त आत्म-सम्पृक्त और पर-सम्पृक्त भाव-भावनाओंसे सर्वथा असंस्पृष्ट और निरा चिदानन्दमय हो जाता है। इस अवस्थामें उसके द्वारा जो कार्य होते हैं, उसमें आसक्ति कदापि नहीं हो सकती और इस तरह वे निष्कामकर्मके अन्तर्गत आते हैं। तात्पर्य यह कि भक्तियोगके पथिकका कर्तापन समाप्त हो जाता है और उसका सर्वस्व अपने इष्टमें ही समाहित हो जाता है; अतः उसके समस्त कर्म प्रभुके लिये ही होते हैं—जैसा कि श्रीमद्भागवतमें कहा गया है। भगवद्भक्त शरीरसे, वाणीसे, मनसे, इन्द्रियोंसे, बुद्धिसे, अहङ्कारसे अनेक जन्मों अथवा एक जन्मकी आदतोंसे (स्वभाववश) जो कुछ करे, वह सब परमपुरुष नारायणके लिये ही है—इस भावसे उन्हें

१-कुर्यात् सर्वाणि कर्माणि मदर्थं शनकैः स्मरन्। मय्यर्पितमनश्चित्तो मद्धर्मात्ममनोरतिः॥ (श्रीमद्भा० ११।२९।९)

२-ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः। लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥ (गीता ५।१०)

अग्निं विश्वा अभि पृक्षः सचन्ते समुद्रं न स्रवतः सप्त यह्वीः॥ (ऋक्० १।७१।७)

श्रीमद्भागवत (३।२९।११)में भी इसी मन्त्रका छायानुवाद इस प्रकार किया गया है—

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये। मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ॥

३-न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव। न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता॥

समर्पण कर दे* । 'भागवत-धर्म' यही है। इसके परिपालन-से साधककी कर्मोंमें कदापि आसक्ति नहीं हो सकती । सारांश यह कि जीवको कर्म करना तो आवश्यक ही है, पर कर्म करनेमें कर्तापन न होनेसे, अहंकार और वासनाके परित्यागजन्य ममत्व और तृष्णाके आत्यन्तिक अभावसे एवं भगवान्‌के लिये ही कर्म करनेसे कर्मयोगकी सार्थकता सिद्ध हो जाती है । ज्ञान, कर्म और भक्ति—तीनों मार्गोंमें निष्काम का अस्तित्व इष्ट है । एकमें कर्मोंका अस्तित्व स्वीकार करे, दूसरेमें कर्मोंको भगवदर्पित करे और [illegible] अपना अस्तित्व भगवान्‌में समाहित करे ।

निष्काम-कर्मयोगका रहस्य

(लेखक—श्रीरमेंदराय प्राणशंकरजी बधको)

परिस्थिति, स्वभाव, वर्ण और आश्रमके अनुसार जो शास्त्रविहित कर्म निर्दिष्ट हैं, उन कर्मोंको उनके फलमें कर्तापनके अभिमानका और आसक्ति, कामना एवं ममता-का सर्वथा त्याग कर श्रद्धासे करना तथा कर्मकी सिद्धि और असिद्धिमें सम रहना 'कर्मयोग' है—'**समत्वं योग उच्यते**' । जहाँ केवल कर्तव्य-बुद्धिसे कर्म किया जाय—आसक्ति, ममत्व और कामनाका अभाव हो, वह निष्काम-कर्म है ।

'न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृदिति न्यायेन व्यापाररहितस्यासम्भवेनान्यव्यापारं विहाय सद्व्यापार एव श्रयणीय इत्यर्थः ।' (देवीभा० ११ । १ । ५ की नीलकण्ठी टीका) कोई भी मनुष्य इस संसारमें क्षणभर भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता—यह सामान्य वचन है । '**समाध्यभावः**', '**यथा च तक्षोभयथा**' (ब्रह्मसू० २ । ३ । ३९-४०) इत्यादि वचन विशेष हैं । इस तरह मनुष्यको प्रायः सदा मानसिक, वाचिक आदि क्रियामें व्यस्त देखकर सद्व्यापार, सदाचार या सत्कर्मोंका ही आश्रयण करना चाहिये ।

हिंदू-शास्त्रोंके अनुसार भी—'प्रशस्तानि सदा कुर्याद-प्रशस्तानि वर्जयेत्'का सिद्धान्त उद्‌घुष्ट है । जैनधर्म भी कहता है—'पावकम्म नेव कुज्जा न कारवेज्जा'—पापकर्म करना नहीं और दूसरोंसे कराना नहीं । उपनिषदोंका भी यही उपदेश है कि '**यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि**'। (तैत्तिरीयोप० १ । ११ । २) गृहस्थके लिये पञ्च-महायज्ञ नित्य करनेका शास्त्रोंमें विधान है । वे पञ्च-महायज्ञ हैं—ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ और नृयज्ञ । स्वाध्यायसे ब्रह्मयज्ञ, तर्पणसे पितृयज्ञ, हवनसे देवयज्ञ, बलिकर्मसे भूतयज्ञ और अतिथि-सत्कारसे नृयज्ञ सम्पन्न होता है । श्रुति भी कहती है—

'जायमानो ह वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवाञ्जायते ।'
(तैत्ति० संहि० ६ । ३)

जन्मके समय द्विज देवऋण, पितृऋण और ऋषि-ऋणको लेकर उत्पन्न होता है और इसीलिये मनुस्मृति (६ । ३५) में कहा गया है—

'ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत् ।'

अतः मोक्षार्थीको भी पहले इन तीन ऋणोंसे मुक्त होना पड़ता है । महाभारतमें भी विधान है कि ज्ञानी हो या अज्ञानी, जबतक जीवन है, तबतक मुक्ति-हेतु उसे वर्णाश्रम-विहित कर्म करना चाहिये ।

ज्ञानिनाज्ञानिना वापि यावद्देहस्य धारणम् ।
तावद् वर्णाश्रमप्रोक्तं कर्तव्यं कर्ममुक्तये ॥

---

* कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्याऽऽत्मना वानुसृतस्वभावात् ।
करोति यद्यत् सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयेत्तत् ॥
(श्रीमद्भा० ११ । २ । ३६)

ज्ञानी हो या अज्ञानी—जबतक देह है, तबतक उसे शुद्धिके लिये वर्णाश्रमधर्ममें बताये हुए कर्म अवश्य करने चाहिये—

नैमित्तिकं च नित्यं च काम्यं कर्म यथाविधि।
आचरेन्मनुजः सोऽयं भुक्तिमुक्तिफलाप्तिभाक्॥
(देवीभा० ११। २४। ९६)

'जो मनुष्य नित्य-नैमित्तिक काम्यकर्मोंका यथाविधि आचरण करता है, वह भोग और मोक्षरूप फलोंको अवश्य प्राप्त करता है।' अतः सद्गृहस्थको सर्वदा नित्य, नैमित्तिक और प्रायश्चित्त—इन तीनों प्रकारके कर्मोंका तथा ब्रह्मचारी और वानप्रस्थीको सदा नित्य और प्रायश्चित्त इन दोनोंका यथाविधि अनुष्ठान करना चाहिये। इनके अतिरिक्त काम्य और निषिद्ध कर्मोंसे तो उपर्युक्त तीनोंको ही सदा बचते रहना चाहिये। महर्षि बादरायण 'तपसानाशकेन' बृहदारण्यक (४। ४। २२) के आधारपर भी अपने ब्रह्म सूत्र—'अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात्' (४। १। १६)में विद्वान्‌को भी अग्निहोत्र, यज्ञ, तप, दानादि करनेकी आज्ञा देते हैं; क्योंकि ये धर्मकार्य विचार—सत्-ज्ञानके साधक हैं, बाधक नहीं। अतः अज्ञाननिवृत्तिके मुख्य कारण और ज्ञानप्राप्तिके परम्परा-कारण अन्तःकरणशोधक इन वेदविहित कर्मोंका आचरण करते रहा चाहिये। पूर्ण ज्ञान होनेसे पहले अकर्मावस्था निद्रा, तन्द्रा, आलस्य एवं प्रमाद मात्र ही हैं। इनसे विहित कर्माचरणरूप प्रत्यवाय तो अवश्य लगता है, किंतु त्यागका कोई फल नहीं मिलता।

'फलोद्देशेन विधीयमानानि कर्माणि काम्यानि ज्योतिष्टोमादीनि—फलोद्देश्यसे जो कर्म शास्त्रोंमें निर्दिष्ट हुए हैं, उन्हें काम्य-कर्म कहते हैं जैसे—वाजपेय, ज्योतिष्टोमादि यज्ञ। कल्याणेच्छु साधकको जहाँतक सम्भव हो, इन काम्यकर्मोंसे बचना चाहिये; क्योंकि वे भी निषिद्ध कर्मोंकी भाँति जन्म-मरणके चक्रमें डालनेवाले हैं। गीतामें भी कहा है—

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥
(२। ४३-४४)

मुण्डकोपनिषद्‌के प्रथम मुण्डकके दूसरे भागमें कर्म और कर्मफलोंकी अनित्यता दिखाकर कर्मकाण्डियोंकी निन्दा की गयी है। कर्मकाण्डी वहाँ पण्डित नहीं, पण्डितंमन्य (अपनेको पण्डित माननेवाले) कहे गये हैं। सकामता सर्वत्र सांसारिकता ही है। सकाम-भक्तिका फल भी जन्म-मरण, शरीर एवं शरीर-भोग ही है। कर्मठ, सकाम ईश्वर-भक्त और सकाम नास्तिककी वास्तविक जीवन-स्थिति और अन्तरङ्ग मनःस्थितिमें बहुत सामान्य अन्तर दीखता है।

मुण्डकोपनिषद्‌में कहा है—'तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते।' (मुण्डको० १। १। ५)

यहाँ ऋग्वेदसे लेकर ज्योतिषतककी विद्याओंको अपरा, अनित्य फल देनेवाली और कर्मोंको नश्वर कहा गया है। इसी कारणसे उपनिषदोंने वेदोंके संहिता और ब्राह्मणभागोंमें पुराण, तन्त्र एवं योग आदि अन्तरङ्ग साधनोंमें जो क्रियाएँ हैं, उनकी भी उपेक्षा-सी की है। गीता भी आसक्तिमुक्त कर्मयोग और हेतुमुक्त भक्तिका ही विधान करती है।

विहित कर्म कैसे करने चाहिये? इसके लिये गीता कहती है कि जो मनुष्य कर्म करता है, पर फलेच्छा नहीं रखता, वह संन्यासी है। केवल अग्निका और कर्मका त्याग करनेवाला न संन्यासी है, न योगी। केवल कर्म छोड़ देनेसे नैष्कर्म्यकी सिद्धि नहीं होती। विहित-कर्मोंके अनुसार कर्तव्य-बुद्धिसे यज्ञ, दान, तप आदि सभी कर्म करने चाहिये। आसक्ति और फलेच्छाका त्याग ही सात्त्विक त्याग है। त्यागमें क्रियाकी नहीं, उसके फलकी ही प्रधानता है। गीता-(१८। ११)के शब्दोंमें जो कर्म फलत्यागीके लिये

लिप्त हुआ और कर्मोंके अभिमानसे रहित हो और फल न चाहनेवाले पुरुषद्वारा बिना राग-द्वेषके किया गया हो, वही सात्त्विक कर्म है। भगवान् यह भी कहते हैं कि 'अर्जुन ! जो पुरुष न किसीसे द्वेष करता है, न किसीकी आकाङ्क्षा करता है, वह कर्मयोगी सदा संन्यासी समझने योग्य है (५ । ३); क्योंकि राग-द्वेषादि द्वन्द्वोंसे रहित पुरुष सुखपूर्वक संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है और सर्वथा निवृत्ति द्वारा बिना कर्मयोग भी सिद्ध नहीं होता (३ । १९)। इसलिये तुम निरन्तर आसक्तिसे रहित होकर सदा कर्तव्य-कर्मोंको भलीभाँति करते रहो। आसक्तिसे रहित होकर कर्म करता हुआ मनुष्य परमात्माको प्राप्त कर लेता है। संक्षेपमें, आत्माके अकर्तापनको जानकर अनहंकार-भावसे फलत्यागपूर्वक यज्ञ, दान, तप आदि एवं सेवा-कार्य करता रहे। यह कर्म समाज-सेवाका हो तथा शुद्ध चित्तसे किया जाय और ईश्वरको समर्पित हो। सारांश यह है कि काम्य-कर्मोंका त्याग संन्यास और सभी कर्मोंके फलको छोड़ना त्याग है। यज्ञ, दान, तप आदि नित्य करणीय आवश्यक हैं और पावन करनेवाले हैं।

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।

जो कर्म परमात्माकी प्रसन्नताके लिये, लोकसंग्रहके लिये, सभी लोगोंके उद्धारके लिये, आसक्ति, कामना और स्वार्थ त्यागकर किया जाता है, वह कर्म कभी बन्धनकारक नहीं होता। यही यज्ञ है। यज्ञके अतिरिक्त जो भी कर्म होते हैं, वे सभी बन्धनकारक होते हैं। गीतामें और भी कहा है कि यज्ञके लिये आचरितकर्म सर्वथा विलीन हो जाते हैं अर्थात् वे शुभाशुभ फलका उत्पादन नहीं करते और फलदायक तथा बन्धनकारक नहीं होते (४ । २३)। गीताके ५वें अध्यायके १२वें श्लोकके अनुसार निष्काम-कर्मयोगी फल छोड़कर निश्चल शान्तिपाता है और अयुक्त स्वैर-वृत्तिसे आसक्त होकर बन्धनमें पड़ता है। इसीसे 'ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्' (४ । २४) के अनुसार मुमुक्षु पुरुषोंको ब्रह्मबुद्धिसे समस्त कर्म करने चाहिये। [illegible] में भी कहा गया है—

'[illegible] प्रवृत्तये ॥' ([illegible])

इसमें जिसका चित्त है, वैसा मुमुक्षु पुरुष आसक्तिरहित होकर ईश्वरार्पण-बुद्धिसे यज्ञादि कर्म करनेसे उसके सभी कर्मोंका अग्निमें स्वर्ण डालनेके समान तत्काल हो जाता है। यही बात गीता (४ । २३)में कही है—

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥

भगवान् महावीरके शब्दोंमें कहें तो जिस तरह सूखे और गीले मिट्टीके गोलोंको दीवारपर फेंकनेसे उनमेंसे गीला ही चिपकता है—सूखा नहीं, उसी तरह जो कामवासनामें आसक्त और दुष्ट-बुद्धि मनुष्य होते हैं, उन्हींको संसारका बन्धन होता है—और जो कामवासनासे विरक्त हैं, उनको यह बन्धन नहीं होता। कर्मकी सिद्धिमें हर्ष, उसकी असिद्धिमें शोक होना ही बन्धनकी जड़ है। अतः दोनों अवस्थामें समानभावसे रहना ही उचित है। अत एव कर्मबन्धनसे छूटनेके लिये कर्म करके भगवान्‌को उसे अर्पित करना या भगवान्‌के उद्देश्यसे ही कर्म करना अथवा 'सभी कर्म प्रकृतिसे ही होते हैं और गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं'—ऐसा समझकर मन, इन्द्रिय और शरीरके द्वारा होनेवाले समस्त कर्मोंमें कर्तापनका अभिमान छोड़ देना ही नैष्कर्म्यकी सिद्धिके लिये समुचित है। कहा भी है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥
(ईशोप० २)

शास्त्रोक्त कर्मका आचरण करते हुए जीवन-निर्वाह । केवल यज्ञार्थ—केवल परमात्माकी पूजाके लिये ही अपने लिये नहीं । कर्म करते हुए उससे लिप्त न का यही एक मार्ग है । इसके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग कर्मबन्धनसे मुक्त होनेका नहीं है । इसीलिये निषद् (.६ । ६७) में कहा गया है—

अन्तःसंत्यक्तसर्वाशो वीतरागो विवासनः ।
बहिः सर्वसमाचारो लोके विहर विज्वरः ॥

अन्तःकरणद्वारा समस्त आशाओंको भलीभाँति त्याग-कर वीतराग और वासना-शून्य होकर बाहरसे समस्त समाचार-सदाचार करते हुए संसारमें त्रिविध तापोंसे शून्य होकर विचरण करो । यही निष्काम कर्मयोगका रहस्य है ।

निष्काम-कर्मयोग—एक विवेचन

(लेखक—पं० श्रीकिशोरचन्द्रजी मिश्र, एम्० एस्-सी०, बी० एल्०, बी० एड्० (स्वर्णपदकप्राप्त)

र चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥
(रा० च० मा० ७ । ४३ । ४)

युगों-कल्पोंसे भटकते-भटकते कहीं नर-शरीर मिलता है।

भाग मानुष तनु पावा । सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा॥
न धाम मोच्छ कर द्वारा । .... ॥
(रा० च० मा० ७ । ४२ । ७-८)

इसलिये भगवान् कहते हैं कि मनुष्य दृढ़ वैराग्यरूपी हथियारके द्वारा संसारका समापन कर परमपद मोक्षका वेषण करे—

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः ।
(गीता १५ । ४)

इस प्रकार इस संसारवृक्षको काटकर उस म पदका अनुसंधान या अन्वेषण करना लिये, जिसे पाकर पुनः इस दुःखमय संसारमें— खालयमशाश्वतम् में (गीता ८ । १५) नहीं ना पड़ता । दूसरा मनुष्य दूसरे मनुष्यका उद्धार नहीं कर सकता, अतः स्वयं अपना उद्धार करना लिये —'उद्धरेदात्मनात्मानम्' (गीता ६ । ५) ।

हु न कोउ सुख दुख कर दाता। निज कृत कर्म भोग सब भ्राता॥
(रा० च० मा० २ । ९१ । ४)

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् ।

पर कर्मके परित्याग करने मात्रसे ही मुक्ति न होगी।

प्रथम तो कर्मका पूर्ण त्याग ही असम्भव है,—'न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।' (गीता १८ । ११); क्योंकि कर्म ऐच्छिक ही नहीं, अनैच्छिक भी हैं, स्वतः संचालित कर्म (Reflexion) भी हैं । अतः हमारे न चाहनेपर भी श्वास-प्रश्वास-क्रिया, रक्त-संचालन-क्रिया, छींकना, खाँसना तथा इसी तरहकी अन्य क्रियाएँ भी हो जाती हैं और होती रहेंगी । वास्तवमें गीता ३ । ५ के अनुसार—

नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥

कोई भी पुरुष किसी कालमें क्षणमात्र भी बिना कर्म किये नहीं रहता । सभी कर्म प्रकृतिसे उत्पन्न हुए गुणोंद्वारा परवश हुए प्राणियोंसे हुआ करते हैं । यदि पूर्ण कर्म-त्याग सम्भव मान लिया जाय और मनुष्य क्रियमाण कर्मोंसे किसी प्रकार बच भी जाय तो भी संचित और प्रारब्ध कर्मोंसे वह नहीं बच सकता । अतएव कर्म-बन्धनसे मुक्तिका युक्तियुक्त विज्ञान-सम्मत उपाय है—निष्काम कर्मयोग । वैज्ञानिक दृष्टिसे विचारनेसे ज्ञात होगा कि कर्मका क्या कारण है, कर्म किस प्रकार बाँधता है, इससे मुक्त होनेके लिये किस भाँति जीवन-यापन करना है, कैसी बुद्धि होनी चाहिये, कैसा मन होना चाहिये, इन्द्रियोंको किस ढंगसे रखना चाहिये, शरीरका क्या उपयोग है, आत्मा क्या है, इत्यादि-इत्यादि ।

नाकी यह विशेषता है कि कामके उपभोगसे नहीं होती है, बल्कि कामना और प्रबल हो महाभारतकार कहते हैं—

कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते॥

इनका अर्थ यह इच्छा नहीं है, जिसके पूर्ण कोई इच्छा शेष ही नहीं रह जाती। दूसरे । श्रेयकी इच्छा, तत्त्वज्ञानकी इच्छा, ब्रह्मोपलब्धिकी मुक्तिकी इच्छा कामना नहीं है। निष्काम ी समझा जाता है, जिसे अपने लिये न विषय- ः इच्छा है, न किसी पद या प्रतिष्ठाकी और किसी स्तुति या ख्यातिकी; जिसे परमात्मा-प्राप्तिकी के सिवा, जनरूपमें जनार्दनकी सेवाके अतिरिक्त कोई इच्छा ही नहीं है।

साधकको इतनेपर भी संतोष नहीं करना है। उसे कर्म- । भी त्याग करना है; क्योंकि—'कृपणाः फलहेतवः' ो इच्छा रखनेवाले कृपण होते हैं, विवेकहीन होते संकीर्ण मनोवृत्तिवाले होते हैं, अनुदार होते (गीता २। ४९)। इसके अतिरिक्त 'फले सक्तो बध्यते' (गीता ५। १२)—फलकी आसक्तिसे कर्म- न्धन दृढ़ होता है। इसलिये कर्मयोगीके लिये स्पष्ट देश है—'मा कर्मफलहेतुर्भूः' (गीता २। ४७) लार्थी मत बनो। फलकी ओर ध्यान रहनेसे साधनकी वित्रताकी ओर ध्यान नहीं रह पाता है। इसलिये कर्म चकोटिका नहीं हो पाता, साथ ही फलाकाङ्क्षा भी र्मबन्धनका एक कारण है।

कर्मयोगीको सदैव समदृष्टिसे कर्म करना है, स समत्वके कारण कर्म योग बन जाता है और वह न्धनकारक न होकर आत्मविकासक बनकर क्रमशः ईश्वरसे योग करानेवाला तथा मोक्षका कारण बन जाता है। साधककी समदृष्टि प्रगाढ़ होती-होती जीवमात्रमें व्याप्त हो जाती है, वह विद्या-विनय-सम्पन्न ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ता और चाण्डालको समान दृष्टिसे देखता है। इसलिये योगीका कर्म सबके प्रति एक-सा (सम-भावगत) होता है। यही नहीं, योगी दुःख-सुख, हर्ष-शोक, जय-पराजय, निन्दा-स्तुतिमें भी सम बना रहता है, एक-सा बना रहता है, अविचलित बना रहता है। उसका 'समोऽहं सर्वभूतेषु' भाव इतना प्रगाढ़ हो जाता है कि सबके साथ उसका सहज ही तादात्म्य हो जाता है, वह सबको अपने समान आत्मवत् समझने लगता है।

निष्काम-कर्मयोगके सतत आचरणसे धीरे-धीरे साधकका चित्त शुद्ध होता जाता है, कर्म-संसारका परदा क्षीण होता जाता है, चित्तपर आत्माका प्रतिबिम्ब स्पष्ट होने लगता है, परिवर्तनशील दुःखमय संसारके प्रति दृष्टिकोण बदलने लगता है और अविनाशी तथा निर्विकार परमात्माके प्रति आकर्षण बढ़ता जाता है। साधक धीरे-धीरे बलवती इन्द्रियोंपर विजय पानेमें समर्थ होने लगता है। वह जितेन्द्रियताकी ओर प्रगति करने लगता है। यही नहीं, वह मनोजयी भी होने लगता है। 'मन एव हि संसारः'—यथार्थमें मन ही संसार है। प्रत्येक व्यक्तिका संसार वैसा ही है, जैसा उसका मन देखता है। मन मानो वह दर्पण है, जिसपर उसीका प्रतिबिम्ब पड़ता है, जो उसके सामने आता है; संसार सामने है तो संसारका प्रतिबिम्ब पड़ेगा और परमात्मा सामने हैं तो परमात्माका प्रतिबिम्ब पड़ेगा; परंतु एक समय उसपर एक ही प्रतिबिम्ब पड़ेगा, स्वार्थका पड़ेगा तो परमार्थका नहीं; संसारका पड़ेगा तो संसार-सारका नहीं; असत्‌का पड़ेगा तो सत्‌का नहीं। निष्काम कर्मयोगसे संसार मिटता जायगा, आत्मा प्रकाशित होती जायगी।

प्राणीमें शरीर और आत्मा दोनों साथ ही हैं। निष्काम कर्मयोगी श्रेयस्कामी होनेके कारण परार्थका,

परमार्थका, आत्माका उत्कर्ष चाहता है, इसलिये सब नियत कर्म, 'शास्त्रविहित कर्म' युक्तिसे करता है। वह मन और इन्द्रियोंको वशमें रखते हुए निःस्वार्थ कर्म विशुद्ध चित्तसे करता है।

धीरे-धीरे अभ्याससे कर्मयोगी तीनों गुणोंसे परे होता जाता है, वह जितेन्द्रिय होता जाता है। शरीरमें उसका तादात्म्य भाव मिट जाता है। उसके लिये शरीर एक साधनमात्र है, जिसकी सहायतासे, सदुपयोगसे वह मुक्ति प्राप्त कर सकता है। सच पूछा जाय तो 'निःस्वार्थ कर्मद्वारा मानव-जीवनके चरम लक्ष्य मुक्तिको प्राप्त कर लेना ही सच्चा निष्काम कर्मयोग' है। इसके योगकी सफल साधनाके फलस्वरूप मनुष्य हो त्यागके प्रति सतत जागरूक रहते इन्द्रियोंको पूर्णतः स्थितप्रज्ञकी तरह वशमें समत्व बुद्धि-युक्त एवं योगस्थ होकर करते-करते मन और चित्तकी मलिनता नष्ट हो जानेसे निष्कलुष हो पवित्र पाशोंको भस्म करते हुए, छिन्न-संशय परम तत्त्वको प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार तर जाता है। यही कर्मयोगकी सफलता।

निष्काम कर्मयोग—एक चिन्तन

(लेखक—डॉ० श्रीजयमन्तजी मिश्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, व्याकरण-साहित्याचार्य)

संस्कृतवाङ्मयमें काम शब्द मदन, विष्णु, शिव, बलदेव आदिके नामोंके अतिरिक्त इच्छा, इष्टविषय, वर आदिके अर्थोंमें भी प्रयुक्त हुआ है। (शब्दकल्पद्रुमकोश) 'काम्यते असौ कामः'—इस विग्रहसे घञन्त काम शब्द इच्छा, कामना-विषय आदि अर्थोंमें व्यवहृत होता है। यह—

कामः स्मरेऽभिलाषे च कामं रेतोनिकामयोः ॥

इत्यादि वचनोंसे स्पष्ट है। इसी तरह 'काम्य कर्म'का अर्थ होता है—फलेच्छायुक्त कर्तव्य, जो निम्नलिखित उदाहरणोंसे स्पष्ट है—

यत् किंचित् फलमुद्दिश्य यज्ञदानजपादिकम्।
क्रियते कायिकं यच्च तत्काम्यं परिकीर्तितम् ॥
(शब्दकल्पद्रुमकोश)

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
(गीता १८।२)

पूर्वोक्त दोनोंका मुख्य अर्थ है—क्रमशः कर्तव्य-कर्मके फलकी सिद्धि और असिद्धिमें समभावसे देखना (४८); अर्थात् फलासक्तिको त्यागकर कर्तव्य करनेवालेको फलकी प्राप्तिसे प्रसाद और फलकी विषादका न होना, दोनों ही स्थितियोंमें सम रहना 'समत्वरूप योग' है। इस समत्वबुद्धिसे किया गया निष्काम कर्म, मनुष्यकी ईश्वर-प्रा पारमार्थिक सिद्धिमें अद्वितीय साधन हो जाता है। यही निष्काम कर्म कर्तव्य कर्म है। इसके विपरीत कर्म सांसारिक बन्धनप्रद हैं, अतः वे निम्नकोटिके हैं और त्याज्य हैं। लौकिक फलके उद्देश्यसे करनेवाले कृपण—दीन हैं और समत्व-बुद्धियुक्त कर 'कर्मयोगी'। वे इस लोकमें पुण्य और पाप दोनों त्यागकर उनसे सदाके लिये मुक्त हो जाते हैं। इसलिये यह समत्व-रूप योग ही कर्ममार्गमें कुशलता है। इसीके द्वारा कर्म-बन्धनसे मुक्ति मिलती

१-कर्मयोग (स्वामी विवेकानन्द पृ० ८०)
२-दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय। बुद्धौ शरणमन्विच्छ
३-बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते। तस्माद्योगाय युज्यस्व
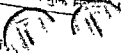
नामें निष्काम कर्म 'यज्ञ' शब्दसे भी प्रतिपादित जो श्रेयस्काम व्यक्तिके लिये अवश्य कर्तव्य रूपमें गया है; क्योंकि निष्कामभावसे कर्तव्य-पालन-केया गया यज्ञ अर्थात् सत्कर्म बन्धनकारक नहीं ससे भिन्न अर्थात् अपने लौकिक सुख, मान, प्रतिष्ठा लेये किया गया कर्म मनुष्यको सांसारिक बन्धनमें है । अतः आसक्ति छोड़कर यज्ञार्थ कर्म आदेश दिया गया है ।

न्मङ्गलकारक भगवान् श्रीकृष्णने कर्म-संन्यास .र्म-योगको निःश्रेयसका साधन बतलाकर कर्म-सिसे कर्म-योगकी श्रेष्ठता प्रदर्शित की है; क्योंकि र्म-संन्याससे निष्काम-कर्मयोग साधनमें सुगम होता इस प्रकारका निष्काम कर्मयोगी सभी कर्मोंको ्मामें अर्पितकर अनासक्त होकर वर्णाश्रम-कर्म-धर्म करता है । इसलिये वह जलमें कमल-दलके समान पापमें लिप्त नहीं होता ।

गीतोक्त निष्काम कर्म-योगमें जैसा कि पूर्वमें संकेत किया गया है, सुख और दुःख, लाभ और हानि, जय और पराजयमें कर्मयोगीको समान बुद्धि हो जानेसे न तो अशान्ति होती है और न किसी प्रकारका उसे पाप होता है ।

इस कर्मयोगका भक्तियोगके साथ गहरा सम्बन्ध है, जिसे भगवान्ने गीताके अठारहवें अध्यायमें सुस्पष्ट कर दिया है । गीताके अनुसार भगवत्-परायण कर्मयोगी सभी प्रकारके वर्णाश्रमानुसार शास्त्रविहित कर्तव्य कर्मोंको करता हुआ भगवान्की असीम अनुकम्पासे सनातन अविनाशी परमपदको प्राप्त हो जाता है । (गीता १८ । ४१—५६) अतः गीतोक्त निष्काम कर्मयोग भगवत्-प्राप्तिका अद्वितीय, सुगम साधन होनेके कारण श्रद्धापूर्वक अनुष्ठेय है ।

निष्काम-कर्मयोग—एक व्याख्या

(लेखक—पं० श्रीरमाकान्तजी पाण्डेय, साहित्य-पुराणेतिहासाचार्य, एम० ए०)

रामगीतोपनिषद्में श्रीहनुमान्‌जी भगवान् श्रीराघवेन्द्रसे ते हैं—'प्रभो ! श्रेष्ठ पुरुषोंने संचित, क्रियमाण और ब्ध नामक तीन प्रकारके कर्म बतलाये हैं । कुछ नोंके मतसे इन कर्मोंमेंसे संचित कर्मोंका ज्ञान प्राप्त से तत्काल ही उनके सुख-दुःखात्मक फलके भोगे ा ही नाश हो जाता है—'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि मसात् कुरुतेऽर्जुन' । वेदान्तके पारदर्शी विद्वान् गोंका कथन है कि संचित कर्मोंका नाश हो ः विद्वज्जन पुण्य अथवा पाप कर्म नहीं करते, अतः आगामी कर्मोंका सम्बन्ध भी नहीं रह सकता । किंतु तत्त्वज्ञानिजन कहते हैं कि हाथसे छूटे हुए बाणके सदृश विद्वानोंके प्रारब्धकर्मोंका भोग किये बिना नाश नहीं होता; अर्थात्—प्रारब्धकर्म, धनुर्धारीके धनुषसे लक्ष्यकी ओर छूटे हुए बाणके सदृश हैं, क्रियमाण कर्म छोड़नेके लिये प्रस्तुत धनुषमें लगे हुए बाणके सदृश हैं और संचित कर्म तूणीरमें रखे हुए बाणराशि-सदृश हैं ।' इनमें संचित कर्म आत्मज्ञानसे नष्ट हो जाते हैं । दूसरे क्रियमाणकर्म विलीन हो वासनानाशसे छूटते हैं, पर प्रारब्धकर्मका हाथसे छूटे हुए बाणके सदृश भोगसे ही क्षय होता है—प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षयः ।

१—यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः । तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥ (गीता ३ । ९)

२—संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ । तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते ॥ (गीता ५ । २)

३—ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः । लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ (गीता ५ । १०)

४—सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ । ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥ (गीता २ । ३८)

ईके साथ इन दो सिद्धान्तोंका समन्वय किया गया है। तिरा पक्ष यह है कि बिना भोगके कर्मोंका क्षय नहीं ता। अस्तु, वेदान्तके सिद्धान्तके सम्बन्धमें यह ना जाय कि जीवन्मुक्तके संचित और क्रियमाण र्म समष्टिचिदाकाशका आश्रयकर भविष्यत्कालके कारण ते हैं और समष्टि फल उत्पन्न करते हैं (यह बात रद्वाज 'कर्ममीमांसा'में भी कही गयी है) तो इससे पूर्वकथित शङ्काओंका समाधान अपने आप हो जायगा और दूसरे पक्षके अनुसार जो यह कहा गया है कि आत्मज्ञानीके तीनों प्रकारके कर्म आत्मज्ञानसे नष्ट हो जाते हैं, यह भी यथार्थ ही है; क्योंकि आत्मज्ञानके द्वारा स्वरूपकी उपलब्धि होते ही उक्त मुक्तात्माके संचित कर्म उसको छोड़कर समष्टिचिदाकाशमें पहुँच जाते हैं; आत्मज्ञानसे उत्पन्न निष्काम अन्तःकरणमें पुनः आगामी क्रियमाण कर्म अपना सम्बन्ध स्थापन नहीं कर सकते। आत्मामें युक्त रहनेसे प्रारब्धकर्मका भोग वस्तुतः भोगके समान नहीं होता। शरीराध्यास रहनेके कारण प्रारब्धकर्म भोग होनेपर भी अनुभवमें नहीं आते। यही दोनों सिद्धान्तोंका समन्वय है। प्रारब्धकर्म तभीतक भोगने पड़ते हैं, जबतक देहके साथ आत्माका सम्बन्ध रहता है। देहात्मभाव इष्ट नहीं है। इसलिये वे बलवान् हैं और पीछे प्रारब्धकर्म हैं, इसलिये वे दुर्बल हैं—ऐसा मानना पूर्वाचार्योंके मतसे असत् मिथ्या है।"

इस प्रकार कर्म-विवेचनको सुनकर श्रीहनुमान्‌जीने कहा कि "हे राघवेन्द्र! कर्मोंका विनियोग आपने अच्छा ही कहा है, तथापि मुझे एक और संदेह है। विद्वानों (आत्मज्ञानियों)के पुण्य और पाप उनके मित्र और शत्रुओंमें चले जाते हैं, यह जो श्रुतिकथित सिद्धान्त है वह दोनों पक्षोंके विरुद्ध है। आत्मज्ञानियोंके संचित और प्रारब्धकर्मोंका जब भोग और ज्ञान होता है, तब उनका दूसरे जो शत्रु-मित्र हैं, उनमें विनियोग कैसे होगा?"

श्रीहनुमान्‌जीके प्रश्नके उत्तरमें भगवान् श्रीराघवेन्द्रने कहा कि सम्यक् ज्ञानका उदय होनेके पहले या पीछे, लोकसंग्रहकी बुद्धि रखकर ही जो नैमित्तिकरूपसे क्रियमाण पुण्य-कर्म हों, वे आत्माद्वारा उपभुक्त अथवा ज्ञानद्वारा नष्ट न होनेके कारण मित्रोंमें चले जाते हैं। लोकसंग्रहकी बुद्धि न रखकर विद्वानोंद्वारा न किये जानेवाले अर्थात् आत्मज्ञानप्राप्तिके पूर्व किये हुए जो नैमित्तिक अथवा काम्य पापकर्म हुए हैं, उनका भोग न होनेसे अथवा ज्ञानके द्वारा उनका नाश न होनेसे आत्मज्ञानियोंके ऐसे पापकर्म उनके शत्रुओंमें चले जाते हैं। तात्पर्य यह कि जब जीवन्मुक्त यह अनुभव कर लेता है कि मैं स्वरूपसे आत्मा हूँ, शरीर नहीं हूँ, तब स्वतः ही शरीर-सम्बन्धी चिदाकाशमें बननेवाले कर्मसमूह उस जीवन्मुक्तको योगप्रदान करनेमें असमर्थ हो जाते हैं। परंतु कर्म बिना प्रतिक्रिया उत्पन्न किये नष्ट नहीं होते। इस कारण वे उस जीवन्मुक्त व्यक्तिके चिदाकाशमें स्थान न पाकर ब्रह्माण्ड चिदाकाशको आश्रय करके अन्यके भोगोपयोगी बन जाते हैं। ऐसे समयमें वे जीवन्मुक्त महापुरुष, जो साक्षात् ब्रह्मस्वरूप हैं, उनके दुःख देनेवालोंमें उनके असत् क्रियमाण कर्म और उनकी सेवा करनेवालोंमें उनके क्रियमाण सत् कर्म पहुँच सकते हैं। इसका कारण यह है कि ऐसे ब्रह्ममूर्ति ब्रह्मपुरुषकी सेवा करना अथवा क्लेश देना एक प्रबल कर्म अवश्य होगा क्योंकि प्रबल कर्म तुरंत फल उत्पन्न करनेवाले हैं। और प्रबल उग्र कर्म दैवप्रेरणासे असाधारण शैलीपर उत्पन्न होते हैं, ऐसा शास्त्रका सिद्धान्त है। वही असाधारण शैली उक्त कर्मोंको विदाकाशसे खींचकर उक्त साधुभक्त या साधुनिन्दक व्यक्तिमें देवताओंद्वारा पहुँचा दिया करती है—

'अत्युत्कटैः पापपुण्यैरिहैव फलमश्नुते।'

—यही इसकी मीमांसा है। वे पुण्य-पाप पृथक् होनेके कारण अर्थात् मित्र और शत्रुओंमें चले जानेके

निष्काम-योगदर्शन—एक विश्लेषण

(लेखक—आचार्य डॉ० श्रीरञ्जनजी)

विसर्गसंधिके सम्मान्य नियमके विरुद्ध सुपामादि-(पा० ८ । ३ । ९८—१०१ काशिका)की तरह निः+काम='निष्काम' शब्द बनता है। इसका शाब्दिक अर्थ शब्दकोशके अनुसार वह पदार्थ या कार्य है, जिसमें किसी प्रकारकी कामना, आसक्ति या इच्छा न हो। उस व्यक्तिकी बुद्धि अनासक्त रहती है, जिसने अपने आत्माको वशमें कर लिया है और जिसे कोई इच्छा शेष नहीं रही है वह सन्यासद्वारा उस सर्वोच्च दशातक पहुँच जाता है, जो सब प्रकारके कर्मसे ऊपर है। इससे स्पष्ट होता है कि यह कामना और क्रियासे रहित सर्वोच्च दशाकी प्राप्ति है। गीता (१८ । ४९) में कहा है—

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥

यह सबको ज्ञात है कि कामना ही कर्मकी जननी है। ऐसी स्थितिमें मानव-हृदयमें वर्तमान कामनाकी प्रेरणासे ही इन्द्रियाँ अपने विषयोंमें प्रवृत्त होती हैं और शरीरके अङ्ग-प्रत्यङ्ग संचालित होते हैं। यह सिद्धान्त मनुष्यतक ही सीमित नहीं है; बल्कि प्राणिमात्रका सर्जक, विश्वनियन्ता भी इस नियमानुसार सृष्टिकी रचना करता है। विश्व-उत्पत्तिका अन्य कोई हेतु नहीं, बल्कि यह कामना है, जिसकी प्रेरणास्वरूप विश्वकी उत्पत्ति हुई। तैत्तिरीय उपनिषद्-(५ । ६ । १)में कहा गया है—

सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति ।

'उस एक परमात्माने कामना की कि मैं अनेक रूपमें अभिव्यक्त हो जाऊँ' और वह बहुत हो गया। इससे स्पष्ट होता है कि कर्ताकी कामनाके बिना कर्म सम्भव नहीं और सामान्यतया कर्मयोग सकाम ही सिद्ध होता है। **"काम्यश्च वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः"**। हाँ! यदि वह कामना सात्त्विक रूपमें परिवर्तित होकर अकामता, निष्कामता, या पूर्ण-कामताकी परिधिमें समाविष्ट हो जाती है तो वह विशेष सिद्धिप्रद हो जाती है।

जीवनके परमलक्ष्यकी प्राप्तिके लिये शास्त्रोंमें कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग—इन तीन साधनोंका उल्लेख है। वेदोंका पूर्वभाग कर्मकाण्ड है और उत्तरभाग ज्ञानकाण्ड। उपासनामें अशतः कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड दोनोंका समन्वय करती है। इस प्रकार 'कर्म' और 'ज्ञान' दोनों परस्पर भिन्न होनेपर भी एक दूसरेके अङ्ग हैं; क्योंकि भक्ति दोनोंकी समन्वयसाधिका है। ज्ञानहीन कर्म और कर्महीन विज्ञान किसी कामका नहीं। यदि ज्ञानहीन कर्म मात्र मशीनी क्रिया-कलाप है तो कर्महीन विज्ञान उद्देश्यविहीन मशीनका खाकामात्र है। इसलिये समस्त क्रियाओंका ज्ञानानुवर्तिनी होना आवश्यक है। ये दोनों भक्तिके सहचर हैं और इनका आपसमें विरोध नहीं है। उपनिषद् और पुराणोंमें भी ये अनादिकालसे व्याख्यात हैं। योगवासिष्ठके प्रथम अध्यायके अनुसार दोनोंके सहयोगसे मोक्षकी प्राप्ति होती है। कर्म-निरपेक्ष ज्ञान कैवल्यकी ओर उन्मुख होता है तो ज्ञान निरपेक्ष कर्म स्वर्ग-प्राप्तिका माध्यम बनता है।

ज्ञानी भक्तको छोड़कर शेष तीनों भक्त कर्मयोगी होते हैं। कर्मयोगीके निष्कामकर्म उसे ज्ञान एवं मोक्षकी ओर प्रेरित करते हैं। योगी द्रुमिल राजा जनकसे कहते हैं—

आदावभूच्छतधृती रजसास्य सर्गे
विष्णुः स्थितौ क्रतुपतिर्द्विजधर्मसेतुः ।
रुद्रोऽप्ययाय तमसा पुरुषः स आद्य
इत्युद्भवस्थितिलयाः सततं प्रजासु ॥
(श्रीमद्भा० ११ । ४ । ५)

'यह ईश्वर स्वयं आप-आप ही रजोगुणका आश्रय करके ब्रह्माके रूपमें, इस जगत्की उत्पत्तिमें सत्त्वगुणका आश्रय करके विष्णुके रूपमें इसकी रक्षा और तमोगुणका आश्रय करके रुद्ररूपमें इसके संहारमें लीन है। इसकी शक्तिकी व्याख्या नहीं की जा सकती।' कर्म अच्छे-बुरे दोनों होते हैं। इनका बुरा होना अन्तःकरणकी एक धारापर निर्भर है। क्रियाका संचालन प्रायः स्थूल शरीरसे होता है, पर जिस बुद्धि या भावनासे अच्छे कर्म करनेकी प्रेरणा मिलती है, उसका सीधा संस्पर्श अन्तःकरण या आशयोंसे होता है। इसे हम चित्तकी संज्ञासे भी विभूषित करते हैं। वह जैसा होगा, वैसा कर्म होगा, किंतु यह चित्त ऐसा है कि इसे वशमें रखना सबके वशकी बात नहीं है। मन वशमें हो जाय तो जीवन कर्म-बन्धनसे मुक्त हो सकता है। यहीं भक्तियोगका आश्रयग्रहण परमावश्यक हो जाता है। भक्तिसे भगवान्‌का आश्रय मिलता है। फिर तो परमपदकी प्राप्ति सहज सुलभ हो जाती है। भगवान्‌ने अर्जुनके बिना पूछे ही बतला दिया कि—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥
(गीता १८। ५६)

'मेरा आश्रय लेनेवाला निष्काम कर्मयोगी सम्पूर्ण कर्मोंको करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी परमपदको प्राप्त होता है।'

कर्मका वर्गीकरण—कर्मको असली रूपमें पहचाननेके लिये इसके वर्गीकरणका दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न है। वे निम्न हैं—

(१) साधनकी दृष्टिसे—मानसिक, वाचिक, कायिक।
(२) धर्मशास्त्रकी दृष्टिसे—सात्त्विक, राजस, तामस।
(३) हेतुकी दृष्टिसे—नित्य, नैमित्तिक और काम्य।
(४) वैज्ञानिक दृष्टिसे—कर्म, विकर्म, अकर्म और
(५) वेदान्तिक दृष्टिसे—प्रारब्ध, संचित तथा क्रियमाण।

...में कर्मोंके भी साक्षी हैं—१—सूर्य, २— ... ४—वरुण, ५—पृथ्वी, ६—जल, ७—अग्नि, ८—वायु और ९—आकाश—ये नवों हमारे कर्मोंके साक्षिगण हमारे कर्मोंकी उचित और अनुचित व्याख्या जगन्नियन्ताके सम्मुख प्रस्तुत करते हैं। हम अपने कर्मव्यापारके इन सभी साक्षियोंको भूल जाते हैं, किंतु हमें राज और समाजमात्रका तो भय रहता है, पर परमात्माके भयकी हमें प्रतीति नहीं होती; क्योंकि परमात्माको हम अपने ज्ञान-चक्षुसे देखते नहीं। पर हमने जिन भी गवाहोंकी चर्चा की है, वे ही परमात्माद्वारा नियुक्त हैं और ये बराबर परमात्माके सामने कर्मोंका पर्दाफाश करते रहते हैं। फलस्वरूप दुःख और सुख दोनों, जो भी कर्मफलके अनुसार मिले, भोगना पड़ता है। इसके बावजूद भी हम स्थायी सुखसे वञ्चित हैं। इस दृष्टिकोणसे यदि वेदान्तिक कर्मभेदकी समीक्षा की जाय तो निष्कामयोगदर्शनकी बहुत-सी बातें ग्राह्य हो जायँगी। इससे स्पष्ट होता है कि पूर्वकृत किये गये कर्मका जो भाग हम इस जगत्‌में भोगते हैं, वह प्रारब्ध है। गोस्वामी तुलसीदासजीने इसे स्पष्ट किया है—

तापस अंध साप सुधि आई। कौसल्यहि सब कथा सुनाई॥
(मानस, अयोध्याकाण्ड)

यह स्पष्ट है कि दशरथका मरण श्रवणकुमारके पिताके शापवश हो रहा है; और यही उनका प्रारब्ध था। कर्मफल भोगना अनिवार्य एवं आवश्यक है। हाँ, उसमें विलम्ब हो सकता है, पर प्रारब्धका सर्वथा उल्लङ्घन नहीं हो सकता। उसमें किसी प्रकारकी क्षीणता या कमी भी नहीं आ सकती। आचार्य भगवत्पाद शंकरने कहा है—

संचिते सुकृतदुष्कृते ज्ञानाधिगमात् क्षीयेते। न त्वारब्धकार्ये सामिभुक्तफले, याभ्यामेतद् ब्रह्मज्ञानायतनं जन्म निर्मितम्॥
(ब्रह्मसूत्र ४। १। १५ पर शांकरभाष्य)

अर्थात्—पूर्वसंचित पुण्य और पापज्ञानकी प्राप्तिमें क्षीण होते हैं, परंतु आरब्ध कर्म जिनका आधा पुण्य

मुक्त हो गया हो और जिनसे ब्रह्मज्ञान-प्राप्तिके लिये साधनभूत नर-जन्म प्राप्त हुआ है वे कर्म क्षीण नहीं होते। संचित कर्म संकलित कर्म हैं। किसी मनुष्यद्वारा पूर्व जन्मसे लेकर इस क्षणतक किया गया कर्म संचित कर्म है। मीमांसकगण इसे ही अदृष्ट एवं चेतन मानकर 'अपूर्व' संज्ञा भी देते हैं; क्योंकि यह अकेले इसी जन्मका कर्म नहीं है। ऐसे कर्मोंको एकके बाद एकको भोगना पड़ता है और ज्ञान-प्राप्तिके साथ इसमें कमी-बेशी भी होती है। 'अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः' ब्रह्मसूत्र (४।१।१५)के अनुसार—जिनका फल अभी आरब्ध नहीं है, ऐसे संचित पुण्य और पाप ज्ञानसे नष्ट हो जाते हैं; क्योंकि ज्ञान और भक्तिके सहयोगसे ज्यों ही परमात्माका साक्षात्कार होता है, कर्मकी शक्ति कम हो जाती है—

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।
(मुण्डकोप० २।२।८)

कर्मका तीसरा भेद है—क्रियमाण जो कर्म अभी हो रहा है, उसे ही क्रियमाण कर्म कहते हैं। यह कर्म भावी शरीरके लिये संचित और प्रारब्धकर्मका सृजन करता है। फलस्वरूप जीवधारी जन्म और मृत्युके गोलकमें फँसता है और यह चक्कर मोक्षपर्यन्त नहीं छूटता। मनुष्यका जन्म-मरण इसी कर्मसमूहपर निर्भर है; क्योंकि मनुष्यकी प्रवृत्ति जिस तरफ होगी, उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग ठीक उसी प्रकारके कर्मकरनेके लिये बाध्य होंगे। वह मनसे जो कामना करेगा, उसी प्रकार संकल्प करेगा और फिर उस संकल्पसे क्रियान्वित [illegible] उसका उपहार प्राप्त होगा—

[illegible] स यत्क्रतुर्भवति
[illegible] कुरुते तदभिसम्पद्यते।

[illegible] भाव [illegible] अन्य उदाहरणसे भी [illegible] किसी जल- [illegible] वहाँसे दूसरे आवर्तमें पड़ जाता है, उसे छुटकारा नहीं मिलता। ठीक उसी प्रकार जीवनकी गति एक जन्मसे दूसरे जन्मकी प्राप्तिमें होती है। पञ्चदशी—(१।३०)में उल्लेख है—

नद्यां कीटा इवावर्तादावर्तान्तरमाशु ते।
व्रजन्तो जन्मतो जन्म लभन्ते नैव निर्वृतिम्॥

इस प्रकार क्रियमाण कर्मके फलस्वरूप दोहरी हानि होती है। उस कर्मके परिणामस्वरूप जो फल भोगना पड़ता है, वह तो जीवधारी भोगता ही है, साथ ही तत्काल उसका तेज, बल और बुद्धिका विकास भी अवरुद्ध होने लगता है। बुरेका परिणाम बुरा, अच्छेका अच्छा होता है। हम जैसा बोयेंगे, वैसा काटेंगे—'नहिं विष बेलि अमिअ फल फरहीं।' जगज्जननीके हरणके समय विश्व-विदित महाज्ञानी यतिवेशधारी रावणके ज्ञानकी जो दुर्दशा हुई, वह मानसके पाठकोंसे छिपी नहीं है। गोस्वामीजी लिखते हैं—

जाकें डर सुर असुर डेराहीं। निसि न नीद दिन अन्न न खाहीं॥
सो दससीस स्वान की नाईं। इत उत चितइ चला भड़िहाईं॥
इमि कुपंथ पग देत खगेसा। रह न तेज तन बुधि बल लेसा॥

अब सोचिये, रावणके ज्ञानकी यहाँ क्या दुर्दशा हुई! कर्मसम्बन्धी एक बात और है; वह यह कि अनजानमें हुए कामका फल भी अवश्य मिलेगा। कोई आगपर चाहे हाथ जानकर रखे या अनजानमें, हाथ तो जलेगा ही; क्योंकि अग्निकी यह प्रकृति ही है। ठीक ऐसे ही कर्मकी भी प्रवृत्ति है। कर्म हम जानकर करें या अनजानमें उसका फल तो मिलेगा ही।

अब यहीं एक जटिल प्रश्न उठ खड़ा होता है। हम ऐसा कर्म करें ही क्यों? क्यों न ऐसा कर्म करें, जहाँ फल-भोगकी गुंजाइश ही न हो? अब आप ही सोचिये, क्या ऐसा कोई कर्म है? या बिना कर्मके भी जीवन धारण किया जा सकता है? बिना कर्मके तो जीवन सम्भव नहीं; क्योंकि कर्म तो जीवनका व्यापार है, दोनों एक दूसरेके परिपूरक हैं। तो फिर क्या किया

जाय ! यही द्विविधामन्त परिस्थिति हमें प्रभुकी ओर प्रेरित करती है । अतः हम जो कुछ करें भगवान्‌के लिये करें तो क्या हर्ज है । हमारा विश्वास है, इसमें कोई हानि नहीं है । सिद्धान्त है—'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये ।' हम उनके हैं, वे हमारे हैं, फिर उनसे हमारा भेद क्या । हम दासत्व स्वीकार कर लें और जो कुछ करें उनके लिये करें । वे ही कर्ता हैं, वे ही भोक्ता हैं । अतः हम उनके लिये कर्म करें या हम फलकी भावनाका त्याग करें; नहीं तो कर्म भयंकर सर्प बनकर काट खायेगा । भगवान् श्रीकृष्णका इस विषयमें स्पष्ट संकेत है कि फलासक्ति नहीं होनी चाहिये । फलासक्तिका त्याग कृष्णार्पण-की भावनासे होगा और यही त्याग सर्वश्रेष्ठ त्याग है—

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥
(गीता १८ । ९)

'जो व्यक्ति नियत कर्मको अपना करके योग्य मानकर करता रहता है और उसके प्रति सम्पूर्ण आसक्ति तथा फलको त्याग देता है, उसका त्याग सात्त्विक माना जाता है ।'

अब प्रश्न उठता है कि क्या सभी कर्म करने [illegible] हैं ! हाँ, फलकी आसक्ति त्यागनेपर सभी सत्[illegible] सम्पन्न किये जा सकते हैं । पर यदि इसको [illegible] कर लिया जाय तो और अच्छा होगा । इसके लिये भक्ति और ज्ञान अनिवार्य हैं । भक्तिसे कृष्णार्पणकी भा[वना] जगेगी और ज्ञानसे कर्तव्य कार्यरूपमें परिणत होगा किंतु यह कार्य बड़ा दुष्कर है । इसके लिये [illegible] प्रयत्नकी आवश्यकता है । मात्र यही उद्देश्य रहे—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥
(गीता २ । ४७)

'अर्थात्—तुझे केवल कर्म करनेका अधिकार है, उनके फलपर तेरा अधिकार बिलकुल नहीं । तेरा उद्देश्य कर्मका फल कभी न हो और न अकर्मके प्रति तेरा अनुराग हो, नहीं तो तुम्हें परम आनन्दकी प्राप्ति नहीं होगी ।'

बस, यही निष्कामयोगदर्शनकी उपलब्धि और निष्कर्ष है ।

कर्मफल

न स शैलो न मध्व्योम न सोऽस्त्यिदस्य न विष्टपम्। अस्ति यत्र फलं नास्ति कृतानामात्मकर्मणाम्।
कर्मणीतं [illegible] कथ्यतेऽथानुभूयते। क्रियास्तु विविधास्तस्य [illegible]॥
अकारणमुपायान्ति सर्वे जीवाः परात् परम्। तस्मात् तेषां स्वकर्माणि कारणं सुखदुःखयोः॥
सर्वां हि [illegible] प्रयान्त्यफलतां क्रियाः। [illegible] फलयस्योऽपि सेकाभावे लता इव॥
समस्त [illegible] गुरुणा गमनं [illegible]। यथा [illegible] राम [illegible] सर्वदा॥

'ऐसा कोई पर्वत नहीं है, ऐसा कोई आकाश नहीं है, ऐसा कोई समुद्र नहीं है, ऐसा कोई स्वर्ग नहीं [illegible] किये हुए कर्मोंका फल न मिलता हो । पर फल जाता है और अनुभवमें भी आता है कि [illegible] [illegible] होता है । और [illegible] [illegible] उसकी [illegible] है । [illegible] [illegible] होते हैं । फिर उनके कर्म [illegible] [illegible] हो जाता है । सब क्रियाएँ [illegible] [illegible] —[illegible] होती हैं, [illegible] फल [illegible] [illegible] भी [illegible] नहीं देती । ([illegible] कहते हैं—) हे राम ! [illegible] [illegible] नहीं [illegible] ([illegible])

[illegible])

कर्मयोग

(लेखक—आचार्य श्रीरामप्रतापजी त्रिपाठी)

सभी मनुष्य सुखोंकी प्राप्तिके लिये और दुःखोंकी निवृत्तिके लिये ही प्रायः कर्म करते हैं। जो पुरुष वास्तवमें सुख प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें विचार करना चाहिये कि उनके कर्मोंका फल किस प्रकार उनकी भावनाके विपरीत हो जाता है।

कर्म (शास्त्रविहित), अकर्म (निषिद्ध) और विकर्म (विहितका उल्लङ्घन)—ये तीनों एकमात्र वेदके द्वारा जाने जाते हैं। इनकी व्यवस्था लौकिक-रीतिसे नहीं होती। वेद अपौरुषेय हैं, ईश्वर-रूप हैं; इसलिये उनके तात्पर्यका निश्चय करना बहुत कठिन है। इसीसे बड़े-बड़े विद्वान् भी उनके अभिप्रायका निर्णय करनेमें भूल कभी-कभी भूल कर बैठते हैं। ये वेद परोक्षवादात्मक हैं, अर्थात् इनमें शब्दार्थ तो कुछ है और तात्पर्यार्थ कुछ और है। ये कर्मोंकी निवृत्तिके लिये कर्मोंका विधान करते हैं। जैसे बालकको मिष्टान्न आदिका लोभ देकर औषध खिलाते हैं, वैसे ही ये अनभिज्ञोंको स्वर्ग आदिका प्रलोभन देकर श्रेष्ठकर्ममें प्रवृत्त कराते हैं। जिनका अज्ञान निवृत्त नहीं हुआ है, जिनकी इन्द्रियाँ वशमें नहीं हैं, वे यदि मनमाने ढंगसे वेदोक्त कर्मोंका परित्याग कर देते हैं तो वे विहित कर्मोंका आचरण न करनेके कारण विकर्मरूप अधर्म ही करते हैं। इसलिये वे मृत्युके बाद फिर मृत्यु ही प्राप्त करते हैं। अतः जो फलाकाङ्क्षा छोड़कर उन विहित वेदोक्तकर्मोंका अनुष्ठानकर उन्हें विश्वात्मा भगवान् श्रीहरिको समर्पितकर देते हैं, उन्हें कर्मोंसे छुट्टी या निवृत्तिरूप सिद्धि मिल जाती है। स्वर्ग आदिकी प्राप्तिके उद्देश्यसे वेदोंमें जिस सकाम साधनाका वर्णन मिलता है, उसका तात्पर्य फलकी सत्यतामें नहीं है। वह तो कर्मोंमें रुचि पैदा करानेके लिये है। श्रीमद्भागवत (११।३।४६)में कहा गया है—

> वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसङ्गोऽर्पितमीश्वरे।
> नैष्कर्म्यां लभते सिद्धिं रोचनार्था फलश्रुतिः॥

यहाँपर अब यह प्रश्न होता है कि यदि फलकी इच्छामें सत्यता नहीं है तो फिर कर्मोंका क्या उपयोग है—कर्म करनेकी क्या आवश्यकता है ? संसारमें साधारण मनुष्य भी बिना किसी हेतुके कर्ममें प्रवृत्त नहीं होते—**प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते।** और, हेतु किसी-न-किसी फलका ही होता है।

अतः साधारणतः मनुष्योंके कर्मोंमें प्रवृत्त होनेमें हेतुका रहना अनिवार्य है; परंतु हेतुके स्वरूप भिन्न-भिन्न होते हैं। सकामभावसे कर्म करनेवाला मनुष्य तरह-तरहके फलोंकी कामनासे अनेक कर्म करता है, उसके कर्मोंमें हेतु है—विषयकामना। इसीलिये वह आसक्त होकर कर्म करता है। उसकी बुद्धि कामनाओंसे ढकी रहती है और उसे कर्मकी सिद्धि या असिद्धिमें सुखी या दुःखी होना पड़ता है। परंतु जो निष्कामभावसे परमात्माको अर्पण करके कर्मोंमें प्रवृत्त होता है, उसे फल-कामनाके अभावमें आसक्ति नहीं होती न तो उसे कर्मोंकी सिद्धि या असिद्धिमें किसी प्रकारका हर्ष-शोक होता है। अवश्य ही उसे भगवत्प्राप्तिकी कामना रहती है; पर निष्काम-कर्ममें भगवत्प्राप्तिकी कामना परिणाममें परम अभ्युदय, निःश्रेयसका हेतु होनेके कारण कामना नहीं समझी जाती। इस प्रकार वह पुरुष निष्काम ही समझा जाता है।

सकामी पुरुष जगत्के पदार्थोंमें सुख मानकर ही उन्हें प्राप्त करनेकी इच्छासे आसक्तिपूर्वक कर्म करता है और निष्कामी पुरुष सब कुछ भगवान्‌का समझकर सिद्धि-असिद्धिमें समत्वभाव रखता हुआ आसक्ति और फलकी इच्छाको त्यागकर भगवदाज्ञानुसार कर्तव्य

अभिमानसे रहित होकर भगवान्‌के लिये ही समस्त विहित कर्मोंका अनुष्ठान करता है। जो कर्म भगवत्प्रेम या भगवत्प्राप्तिके लिये नहीं होते, उनका नाम ही 'कर्मयोग' नहीं होता। कर्मयोगकी सार्थकता तभी होती है, जब कर्मोंका योग परमात्माके साथ कर दिया जाता है। परमात्म-सम्बद्ध कर्मके न होनेपर निष्कामता ही नहीं होती; फिर कर्मयोग कैसे हो सकता है?

वास्तवमें कर्मोंका अनुष्ठान मनुष्यको बन्धनमें नहीं डालता। फलकी इच्छा और आसक्तिसे ही उसका बन्धन होता है। फल और आसक्ति न हो तो कोई भी कर्म मनुष्यको बाँध नहीं सकता। फल, आसक्ति और अहंकारका परित्याग करके भगवदाज्ञानुसार कर्तव्य-कर्मोंका भगवान्‌में अर्पण करके समत्वबुद्धिसे कर्म करना ही 'कर्मयोग' है। भगवान् श्रीकृष्णने कहा है कि अपने-अपने वर्णाश्रम-धर्मके अनुसार कर्ममें लगा हुआ मनुष्य सिद्धिकी प्राप्ति कर सकता है। अवश्य ही कर्म करते समय मनुष्यका लक्ष्य परमात्मामें रहना चाहिये; क्योंकि जिन परमात्मासे यह विश्व उत्पन्न हुआ है और जो सर्वप्राणियोंमें स्थित हैं, उन्हींकी सेवा-अर्चा-द्वारा मनुष्य अपने-अपने कर्मोंसे सिद्धि प्राप्त कर सकता है। गीता (१८ । ४६ में) कहती है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

भगवान् श्रीकृष्ण गीता (१८ । ५६-५७) में यह भी स्पष्ट कहते हैं कि—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥
... मयि संन्यस्य मत्परः।
... मच्चित्तः सततं भव॥

'... हुआ निष्काम कर्मयोगी सम्पूर्ण ... हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी परमपदको प्राप्त हो जाता है। सब कर्मोंको मनसे मुझमें अर्पित करो ... परायण हुआ समत्व-बुद्धिरूप बुद्धियोग या ... कर्मयोगका अवलम्बन करके निरन्तर मुझमें ... चित्तवाला हो।'

परंतु कर्मके मध्य एक दुर्गुणका निवास ... कर्ताको बन्धनमें डालनेके लिये सदा तैयार रह... इसका नाम है वासना, फलाकाङ्क्षा या आसक्ति ... विपदन्तको तोड़ना नितान्त आवश्यक है। जिस ... कामनासे कर्मका निष्पादन किया जाता है, उस... तो भोगना ही पड़ेगा। उससे किसी भी प्रकार ... मुक्ति नहीं मिल सकती; परंतु फलस्वरूप ... मुक्ति अवश्य प्राप्त की जा सकती है। कुशलतासे ... संपादन करना ही 'योग' कहलाता है—'योगः क... कौशलम्'। परंतु साधारण कर्मवादको कर्मयोगमें प्र... करनेके लिये तीन साधनोंकी विशेषरूपसे आवश्यकता है—(१) फलाकाङ्क्षा-वर्जन, (२) कर्तृत्वाभिमा... त्याग और (३) ईश्वरार्पण। गीता (२ । ४७) ... उपदेश है कि मानवका अधिकार कर्म करनेमें ... फलमें कभी नहीं। फलकी आकाङ्क्षासे कर्म ... मत करो तथा कर्मके न करनेमें (अकर्ममें) तुम्... इच्छा न होनी चाहिये—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥

निष्काम कर्मयोगका यही महामन्त्र है। इस श्लोक... चारों पादोंको हम कर्मयोगकी 'चतुःसूत्री' कह सकते है... अतः आसक्तिका परित्याग कर कर्म करनेमें कि... प्रकारकी त्रुटि नहीं है। इस प्रकार गीताका मा... सिद्धान्त है कि प्राणीको कर्मका त्याग न करना चाहिये प्रत्युत कर्मकी फलेच्छाका ही त्याग करना आवश्यक है। यद्यपि कुछ पण्डितजन काम्यकर्मके त्यागको संन्यास

ते हैं, परंतु श्रेष्ठ पण्डितोंकी सम्मतिमें सब कर्मोंके
का त्याग ही वास्तवमें संन्यास है। इसीको गीता
८।२) अपने शब्दोंमें इस प्रकार व्यक्त करती है—

ाम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
र्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥

कर्ताको कर्म करनेमें कर्तृत्वाभिमानका भी परित्याग
ा चाहिये; क्योंकि सभी जीव त्रिगुणात्मिका प्रकृतिके
के दास हैं, जो बलात्कारसे प्राणियोंसे अनिच्छया भी
ं कराया करते हैं। तब कर्तृत्वाभिमान क्यों? फिर तो
कार्योंको भगवदर्पण-बुद्धिसे करना चाहिये। *गीता*
.।२७) में भगवान्ने यही कहा है—

त् करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
त् तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

'मनुष्य जो कुछ करे, खाये, पिये, हवन-दानादि कर्मोंका अनुष्ठान अथवा तप करे—उन सबको भगवान्को अर्पित कर दे। इसका फल यह होगा कि शुभ-अशुभ-फलरूप कर्मोंके बन्धनसे वह मुक्त हो जायगा। अज्ञ तथा पण्डितके कर्म करनेमें यही सुस्पष्ट अन्तर है। अज्ञानी आसक्तिसे कर्मोंका आचरण करता है, जब कि ज्ञानी आसक्तिसे रहित होकर ही कर्मोंका आचरण कर्तव्य-बुद्धिसे करता है और भगवदर्पण करके वह सर्वदा लोकसंग्रहके निमित्त ही कर्म करनेमें प्रवृत्त होता है (गीता ३।१५)—

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद् विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्॥

यही लोक-संग्रह कर्मयोगीका कर्तव्य-क्षेत्र होता है, जो उसे बन्धन-निर्मुक्त रखता है।

कर्मयोगकी निष्कामता

(लेखक—पं० श्रीशिवकुमारजी शास्त्री, व्याकरणाचार्य, दर्शनालंकार)

भारतीय संस्कृति मानवको मृत्युसे अमृतत्वकी ओर
ःतमसे—अज्ञानान्धकारसे प्रकाश (ज्ञान)की ओर ले
नेवाली है। अमृतत्व और ज्ञान-प्रकाशकी प्राप्ति ही
व-जन्मका सच्चा लक्ष्य है। यही असत्से सत्की
ः गमन है। बाह्यपदार्थोंसे यह अमृतत्व—प्रकाश एवं
्रूपता प्राप्य नहीं है। 'अमृतत्वस्य तु नाशास्ति
त्तेन' (बृहदा०) 'न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः' (कठोप०)
ादि कहकर उपनिषदें बतलाती हैं कि अमृतत्वकी
ते सांसारिक बाह्य पदार्थोंसे कथमपि सम्भव नहीं और
न पदार्थोंसे मनुष्य कभी तृप्त हो सकता है। धर्म, अर्थ,
म, और मोक्ष—इस चतुर्वर्गमें मानव-जीवनका लक्ष्य परम
ार्थ सर्वश्रेष्ठ एकमात्र मोक्ष ही है। दुर्लभ मानव-जीवनकी
ही कसौटी है कि वह तत्त्व-जिज्ञासाद्वारा भगवत्प्राप्तिको
ा प्राप्त किया या नहीं; क्योंकि उसका लक्ष्य ब्रह्म है—
ा तल्लक्ष्यमुच्यते' (मुण्डक० २।२।४)। इस संसारमें
ान्ति नके योग्य पात्र मनुष्य-जन्मको पाकर जो
अपनेको नहीं जान सका, वह फिर यहीं और कभी शान्ति नहीं पायेगा—

लब्ध्वेह मानुषीं योनिं ज्ञानविज्ञानसम्भवाम्।
आत्मानं यो न बुध्येत न क्वचिच्छममाप्नुयात्॥
(श्रीमद्भा० ६।१६।५८)

भगवत्प्राप्ति या आत्मसाक्षात्कारकी क्षमताके लिये शास्त्रीय उपायोंका अवलम्बन परमावश्यक है। यह भगवत्-प्राप्ति शास्त्रीय सदुपायोंके आश्रयणसे ही सम्भव है। शास्त्रोंमें मानव-जीवनकी सफलताके लिये कर्म, उपासना, भक्ति तथा ज्ञान—इन तीन योगोंका वर्णन मिलता है। परम वैराग्यशील पुरुषोंके लिये 'ज्ञानयोग', कर्मोंमें आसक्त चित्तवालोंके लिये 'कर्मयोग' और निर्वेद शील या आसक्तिसे रहित चित्तवालोंके लिये—भगवत्कथादिके श्रवणमें, श्रद्धालु पुरुषोंके लिये उपासना (भक्तियोग) निर्दिष्ट है। जबतक चित्त उपरत (निष्कामकर्मि रति) और भगवत्-कथादि-श्रवणमें श्रद्धा-सम्पन्न न हो जाय, तबतक कर्म कर्तव्य है—

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया ।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित् ॥
निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्मसु ।
तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम् ॥
यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान् ।
न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः ॥
तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता ।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते ॥
(श्रीमद्भा० ११ । २० । ६-९)

'स्वकर्मके आचरणमें फलाशाका परित्यागकर प्रवृत्त पुरुष स्वर्ग-नरक न जाकर पवित्र होकर विशुद्ध ज्ञान एवं पराभक्ति पा लेता है, जिससे उसका परम श्रेय निश्चित है'—

स्वधर्मस्थो यजन् यज्ञैरनाशीःकाम उद्धव ।
न याति स्वर्गनरकौ यद्यन्यन्न समाचरेत् ॥
अस्मिंल्लोके वर्तमानः स्वधर्मस्थोऽनघः शुचिः ।
ज्ञानं विशुद्धमाप्नोति मद्भक्तिं वा यदृच्छया ॥
(श्रीमद्भा० ११ । २० । १०-११)

मनुष्य शरीरादिमें आसक्तिके कारण ही स्वर्गादिकी कामना करता है । इसका परित्याग ही श्रेयःप्राप्तिका कारण है । 'फलासक्ति' मानव-शरीरके अन्तःकरण और इन्द्रियोंको अपवित्र बना देती है । भक्ति (उपासना) तथा कर्ममें फलानुसंधान मनुष्यको सच्चे लक्ष्यसे भ्रष्ट कर देता है । बड़े-बड़े योगियोंकी भी सिद्धि-प्राप्ति अन्तरायरूपसे ही वर्णित है । अतः कर्म करते हुए भी फलेच्छाको सतत पृथक् ही रखना चाहिये । फलेच्छा कर्मका वह विष है, जिससे कर्म तो अपवित्र होता ही है, मानवका जन्म-मरणचक्र भी नहीं रुकता । यह मानवको भगवत्प्राप्तिसे पृथक् कर देती है । कामना-रहित बुद्धिसे किया गया कर्म स्वतः पवित्र होकर साधककी अन्तःशुद्धि करके उसे पवित्र बना देता है ।

वेदोंमें निष्काम-कर्म

फलाशाका परित्याग मनुष्यकी अन्तःशुद्धि सम्पादित कर भगवत्साक्षात्कारकी योग्यता बढ़ा देता है । निःस्पृह निष्काम योगीको भी ज्ञान-निमित्तक कर्ममें [illegible] मानसिक कषाय-मल कामादि दोषोंका [illegible] कर्मोंसे विनाश होनेपर ही ज्ञान-प्राप्ति सम्भव होती है 'कषाये कर्मभिः पक्वे ततो ज्ञानं प्रवर्तते ।' ([illegible]

ईशोपनिषद्की श्रुति कहती है कि [illegible] एवं मोक्षके हेतुभूत शास्त्रविहित स्वकर्तव्य कर्मोंको [illegible] हुए ही मनुष्य सौ वर्षपर्यन्त जीवनकी इच्छा करे [illegible] प्रकार निष्काम कर्मोंका आचरण करनेसे [illegible] पुरुषको मुक्ति प्राप्त होती है । इस मार्गको छोड़ [illegible] अन्य प्रकारसे मुक्ति सम्भव नहीं । निष्कामकर्मके आच[रणसे] मनुष्यका अन्तःकरण नितान्त निर्मल होकर [illegible] भगवत्प्राप्ति-हेतुभूत ज्ञानका स्थान बन जाता है । योगी भगवत्साक्षात्कारका पात्र हो जाता है । [illegible] कर्म मनुष्यकी आसक्तिका हेतु नहीं बनता और वह उनमें लिप्त ही होता है । परम्परया मोक्षकी का[रण]भूता अन्तःशुद्धि होनेसे आसक्ति सर्वथा असंगत [हो] जाती है । पुनः उस योगीकी इच्छाके अनुसार उसका कर्मोंमें अधिकार रहता है । यही बात सिद्धान्त शुक्ल यजुर्वेद (४० । २)की श्रुति कहती है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

जो पुरुष सम्पूर्ण संसारके कारणभूत परब्रह्म और विनाशी शरीर—इन दोनोंके यथार्थ तत्त्वको सम्यक् जान लेता है । शरीर-'शारीर' इन दोनोंको जो योगी एक साथ जान लेता है और शरीरसे भिन्न मैं अविद्योपाधिसे स्वकर्मवशात् शरीरीके समान हूँ—यह विचारकर आत्मसाक्षात्कारके प्रधान कारण ज्ञान-प्राप्तिके हेतु उपासना एवं निष्काम-कर्म करता है, वह कर्मयोगी विनाशी शरीरसे अन्तःशुद्धिकर आत्मज्ञान प्राप्तकर मुक्तिका पात्र हो जाता है—

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते ॥
(यजुर्वेद० ४० । ११)

कर्मयोग ज्ञानका तभी अङ्ग तथा साधन बन सकता जब उसमें सकामभाव हो एवं फलानुसंधान न हो। नुसंधान और कामासक्तिसे अन्तःशुद्धि सम्भव नहीं; बन्धनका कारण होते हैं—

न्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं मनः।'

(त्रिपुराता० उप० ५। ३। २१, विष्णुपु० ६। ७। २८)

जिस प्रकार शोधन-द्रव्योंसे प्रक्षालित वस्त्र स्वयमेव त्र हो जाता है, उसमें श्वेतभाव प्रकाशित हो जाता इसी प्रकार अविचाररूप कर्मोंके द्वारा स्वाभाविक कर्म उपासना मार्गको पाकर, अन्तःशुद्धिके द्वारा तत्त्वज्ञानकी यता पाकर—उससे अमृतत्व पा लेता है—

द्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
विद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥

(शुक्लयजुः ४०। १४)

वेदोंमें कितने मन्त्र ऐसे हैं, जिनमें निष्कामकर्मसे आत्मज्ञान-प्राप्तिके द्वारा मुक्तिका वर्णन मिलता है।

पुराणोंमें निष्काम-कर्मयोग

ऊपर श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धके कुछ श्लोक दृत कर 'स्वधर्मस्थ अनाशीःकाम' (—विषयाभिलाषासे हित), अनघ (निष्पाप), शुचि, (सदाचारसम्पन्न) श्य विशुद्ध ज्ञानको पा लेता है—यह बताया गया है। और विषयासक्त मन बन्धनका कारण तथा विषयाभिलाषासे हित मन मुक्तिका सहकारी होता है। यह चित्त त्माके बन्धन तथा मुक्तिका साधन माना जाता है। षयासक्त चित्त बन्धनकारक तथा परमात्मामें रत चित्त क्तिके लिये होता है। देखिये, भागवतकार कहते हैं—

चेतः खल्वस्य बन्धाय मुक्तये चात्मनो मतम्।
गुणेषु सक्तं बन्धाय रतं वा पुंसि मुक्तये॥

(श्रीमद्भा० ३। २५। १५)

जिससे भगवान् संतुष्ट हों, वही कर्म है और जिससे मनुष्यकी बुद्धि भगवान्‌में ही प्रवृत्त हो, वही द्या है। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

तत्कर्म हरितोषं यत् सा विद्या तन्मतिर्यया॥

(४। २९। ४९)

कामासक्त अविवेकी सांसारिक पदार्थोंकी प्राप्तिको ही सर्वस्व माननेवाले लोभी जन सकाम होकर यज्ञादि कर्म-परायण होकर अपने स्वरूपको नहीं जान पाते—

दुराराध्यं समाराध्य विष्णुं सर्वेश्वरेश्वरम्।
यो वृणीते मनोग्राह्यमसत्त्वात् कुमनीष्यसौ॥

(श्रीमद्भा० १०। ४८। ११)

'बड़े-बड़े ब्रह्मादि देवोंके द्वारा कठिनतासे प्रसन्न करने योग्य सर्वेश्वरोंके भी स्वामी भगवान् विष्णुको प्रसन्नकर जो उनसे विषय-सुख माँगता है, निश्चय ही वह दुष्टबुद्धि है; क्योंकि विषय-सुख अत्यन्त तुच्छ है'—

कामिनः कृपणा लुब्धाः पुष्पेषु फलबुद्धयः।
अग्निमुग्धा धूमतान्ताः स्वं लोकं न विदन्ति ते॥

(श्रीमद्भा० ११। २१। २७)

इन्द्रियोंके द्वारा जितने विषयोंका ग्रहण होता है, उन सबका अधिष्ठाता मन ही है, अतः मनको ही मनुष्यके बन्धन-मोक्षका कारण माना गया है। इसीसे विषयासक्त मन बन्धनका कारण तथा विषयासक्तिसे रहित वही 'मन' मुक्तिका कारण हो जाता है। वेद-पुराणोंमें, उपनिषद्-दर्शनोंमें सर्वत्र मनोनिग्रहपर बल दिया गया है। मनकी समाधि ही परमयोग है—

'परो हि योगो मनसः समाधिः।'

(श्रीमद्भागवत)

'कर्म वही है—जो बन्धनका कारण न हो और विद्या-ज्ञान भी वही है, जो मुक्तिका साक्षात् साधन हो। इसके अतिरिक्त अन्य कर्म श्रम और अन्य विद्याएँ कलाकौशल ही हैं'—

तत्कर्म यन्न बन्धाय सा विद्या या विमुक्तये।
आयासायापरं कर्म विद्यान्या शिल्पनैपुणम्॥

(विष्णु० १। १९। ४१)

दर्शनोंमें भी मनको विषयासक्तिसे पृथक् कर कर्मोंकी निष्कामतापर पूर्ण बल दिया गया है। 'निःश्रेयस-प्राप्ति' सभी दर्शनोंका प्रतिपाद्य है। अतः चित्तशुद्धिके लिये,

मनःप्रसादनके लिये कर्मोंकी निष्कामता यहाँ भी अपेक्षित है—

'यदपि तस्य भगवतोऽभिगमनादिलक्षणमाराधनमजस्रमनन्यचित्ततयाभिप्रेयते तदपि न प्रतिषिध्यते। श्रुतिस्मृत्योरीश्वरप्रणिधानस्य प्रसिद्धत्वात् (ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य २।२।८।४२)। प्रकट है कि आचार्य शंकरने भगवान्‌के सगुण साकार रूपकी आराधनामें श्रुति-स्मृतियोंमें, ईश्वरमें एकाग्रताके प्रसिद्ध होनेसे अनन्यचित्तताका समर्थन किया है। यह अनन्यचित्तता निष्कामतासे ही सम्भव है। कर्मकी निष्कामतापर गीता (३।१९)का भी अत्यधिक बल है, यथा—'तुम आसक्तिरहित होकर शास्त्रविहित कर्तव्य कर्मोंको निरन्तर भलीभाँति करो; क्योंकि आसक्तिरहित होकर कर्मोंका अनुष्ठान करता हुआ मनुष्य परमात्माको पा लेता है'—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥

अतः निष्काम कर्मोंके आचरणसे मनुष्यका अन्तःकरण शुद्ध होकर विशुद्ध ज्ञानका पात्र बन जाता है। उससे वह भगवान्‌को प्राप्त कर लेता है। कर्मफलमें आसक्ति मानव-मनको मलिन कर उसे नीचे गिरा देती है। जो पुरुष सब कर्मोंको परमात्मामें अर्पितकर आसक्तिको छोड़कर कर्म करता है, वह पुरुष जलमें कमलपत्रकी तरह पापसे लिप्त नहीं होता। अतः निष्काम-कर्मयोगी ममत्वबुद्धिका त्यागकर केवल शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियोंद्वारा भी आसक्तिको छोड़ अन्तःशुद्धिके लिये कर्म करता है। निष्काम-कर्मयोगी कर्मोंके फलको छोड़कर ईश्वरार्पण-बुद्धिसे कर्म करते हुए क्रमशः भगवत्प्राप्तिरूप शान्तिको प्राप्त कर लेता है। इसके विपरीत सकाम पुरुष ... फँसकर कामनाओंसे आबद्ध हो जाता है। ... होनेसे निष्काम कर्म ही

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥
कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥
युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥
(गीता ५।१०—१२)

'विधिना विहितम्—कर्तव्यमिति विचारः' इस शब्दका यह निष्कर्ष—जिसमें स्वतः कर्तव्यका अवधारण सिद्ध रहता है। अतः शास्त्रोंने विधिके बचनेका दृढ़ आग्रह है। योगी और भोगीमें यही अन्तर है कि योगीके सारे कार्य—चाहे वह देश-सेवा, समाज-सेवा या अन्य कुछ हो, शास्त्रविहित विधिसे कर्तव्यबुद्धिसे, भगवत्प्रीत्यर्थ भगवदर्पण-भावसे विधि-अविधिमें समता रखते हुए अनुष्ठित होते हैं, उनमें अहंता, ममता या अपने गौरव, अश्रद्धा आदि भावोंका स्थान नहीं होता। इसके विपरीत भोगी पुरुष विविध दुराग्रह कामनाओंमें आसक्त होकर अनास्था, अश्रद्धा, अपने बड़प्पन आदि भावोंको लेकर दूसरोंको नीचा दिखाने आदिकी दृष्टिसे स्वच्छन्दतापूर्वक दूसरोंके हिताहितका विचार न कर कुछ भी करनेमें प्रवृत्त हो जाते हैं। धर्माचरणका मुख्य प्रयोजन मोक्ष-सिद्धि है, अर्थोपार्जन नहीं—

धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य नार्थोऽर्थायोपकल्पते।
(श्रीमद्भा० १।२।९)

इस प्रकार मोक्ष-साधक धर्म ही अभिप्रेत है। योगके द्वारा आत्मदर्शन ही सबसे बड़ा धर्म है—

अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्।
(याज्ञवल्क्य० १।८)

मोक्ष-साधकको धर्मकी भाँति अर्थ, काम भी धर्मानुकूल ही अभिमत है। मनीषी राजा दिलीपके अर्थ, काम भी धर्मानुकूल ही थे—

अप्यर्थकामौ तस्य ...

भगवान्‌ने गीतामें—'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि
र्षभ'—सभी जीवोंमें मैं धर्मानुकूल काम हूँ यह
: कहकर धर्मानुकूल कामको अपना स्वरूप बताया
अर्थ तथा कामको धर्म और मोक्षके मध्यमें रखनेका
: कारण यह है कि अर्थ और काम मोक्षके सहकारी
विरोधी नहीं। निष्काम कर्म अन्तःशुद्धिमें महान्
रक हैं। सिद्ध है कि मोक्षप्राप्तिमें निष्कामतासे
र अन्य कोई साधन नहीं। शुद्ध वस्त्रपर ही कोई
चढ़ता है। इसी प्रकार निष्काम कर्मोंद्वारा पूर्ण
शुद्धि होनेपर ज्ञान-प्रकाशमें मुक्तिका मार्ग दीखता
अतः जीवनकी सफलताके लिये सकाम कर्मोंसे मन
हटाकर फलानुसंधानसे सर्वथा पृथक् रहकर शास्त्रविहित
स्वकर्तव्य कर्मोंके अनुष्ठानमें प्रमाद नहीं करना चाहिये।
इससे सद्यः श्रेयःप्राप्ति सम्भव है। पशुओंकी भाँति
दूसरोंकी प्रेरणासे विवेक-शून्य होकर चलना छोड़कर
विवेकका आश्रय लेना चाहिये; वसिष्ठजीका वचन है—

धिया परप्रेरणया मा यात पशवो यथा।
(योगवासिष्ठ ६)

इस प्रकार निष्काम-कर्मयोगी स्वकर्मसे उस परमात्मा-
का सम्यक् पूजन कर सिद्धि पा जाता है—

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।
(गीता)

कर्मयोगका कर्म और योग

(लेखक—डॉ० श्रीव्रजभूषणजी वाजपेयी, एम्० बी० बी० एस्०)

न्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
क्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥
(गीता ४।९)

'मेरा (मायामय) जन्म और (साधु-संरक्षण आदि)
दिव्य हैं अर्थात् अलौकिक हैं। इस प्रकार जो तत्त्वसे
ता है, हे अर्जुन! वह इस शरीरको छोड़कर पुनर्जन्म
पाता, मेरे पास आ जाता है' ऐसा शङ्खघोष करनेवाले
श्वर श्रीकृष्णद्वारा निर्देशित कर्मयोगका कर्म दिव्य है
तत्त्वतः निष्काम भी। जो इनका रहस्य जान लेता है,
पुनः संसारमें नहीं आता, उसे मुक्ति मिल जाती है।

कृ (करणे) धातुसे निष्पन्न कर्म शब्दका सामान्य
है—कार्य, पृथक्-पृथक् चेष्टा, जिसका दुर्बल या
—कोई एक संस्कार मनुष्यके चित्तपर पड़ता है।
संस्कारोंके समुच्चयसे ही मनुष्यका चरित्र बनता है,
कित्व बनता है। कर्मका अर्थ ऐसे ही कार्य हैं, जिनका
कार चित्तपर पड़ता है और इसलिये जिसका शुभ या
शुभ फल मनुष्यको भोगना पड़ता है, इस जन्ममें
जन्मान्तरमें।

मनुष्य-शरीरमें तथा मनुष्यद्वारा और भी अनेक
ऐच्छिक-अनैच्छिक तथा स्वतः चालित कर्म होते रहते हैं;
जैसे खेलके लिये खेल या कोई लीला, रक्त-संचालन या
पाचन-क्रिया, छींकना, जम्हाई लेना प्रभृति। ये भी हैं
तो कर्म ही, लेकिन इन कर्मोंका मनुष्यके चरित्रपर, आचरण-
पर, व्यक्तित्वपर वह प्रभाव नहीं पड़ता, जिससे संस्कारका
निर्माण हो या जो कोई शुभ-अशुभ फल दे। बोलचालकी
भाषामें भी हम अलग-अलग इन्हें खेल करना है या
काम करना है कहते हैं। इससे स्पष्ट है कि खेल
खेल है और काम काम है, काम खेलसे भिन्न है। खेलका
असर चित्तपर नहीं पड़ता है और कर्मका कोई-न-कोई
संस्कार अवश्य बनता है। प्रत्येक कर्मका चित्तपर एक
चित्र-सा बन जाता है। यही है चित्रगुप्तका लेखा, जिसके
आधारपर जीवनभरके हमारे पाप-पुण्यका—शुभ-अशुभ
कर्मोंका लेखा-जोखा होता है और जीवनमें या मरणानन्तर
जिसके आधारपर हमें भिन्न-भिन्न योनियाँ प्राप्त
होती हैं; उत्तम कुलमें या अधम कुलमें जन्म लेना पड़ता
है; दुःख-सुख भोगना पड़ता है। जिन कर्मोंसे संस्कार

बनते हैं, उन्हें ही बन्धनमें डालनेवाला कर्म कहा जाता है। वैसे ही कर्मके लिये कहा गया है—'कर्मणा बध्यते जन्तुः' जीव कर्मोंद्वारा बँध जाता है। शरीरस्थ आत्मा ही जीव है और कर्मबन्धनोंसे बँधा हुआ जीव ही बद्ध जीव कहलाता है। उनसे छूटनेपर ही वह मुक्त कहा जाता है।

ज्ञानियोंके विचारानुसार निर्मल—निष्पाप अन्तःकरण ही शुद्ध उदार चित्त युक्त आत्मा है। इसका मलिन हो जाना, मलयुक्त या कलुषयुक्त हो जाना ही बन्धन है। बन्धनमें, बद्धावस्थामें अज्ञानताके कारण शरीर और आत्माका पृथकत्व मानो मिट-सा जाता है। शरीरके साथ आत्माका तादात्म्य होते ही जीव शरीर-सुखके लिये व्याकुल रहता है। शरीर अनित्य है, नाशवान् है, क्षण-क्षण परिवर्तित होता रहता है, एक प्रवाह-जैसा है, प्रवाहित होता जा रहा है; एक क्षणके लिये भी नहीं रुकता। सुख भी स्थायी नहीं रहता, दुःख भी चिरन्तन नहीं रहता। दिन-रात्रिकी तरह जीवनमें सुखके क्षण और दुःखके क्षण आते-जाते रहते हैं। स्थायी, अविनाशी, अपरिवर्तनशील है—केवल शुद्ध आत्मा। इसलिये आत्मा सुख-दुःखसे परे है। वह सदैव निर्विकार है, वह स्वयं सर्वशक्तिमान् है, सर्वज्ञ है, सर्वव्यापी है। जब आत्मा निष्कलुष, निष्पाप, निष्पक्ष, निर्विकार रहता है, तब वह अपने सच्चे रूपमें है—ऐसा माना जाता है। प्रत्येक प्राणी ही नहीं, जड पदार्थका कण-कण स्वतन्त्र होनेके लिये संघर्ष करता रहता है और यह संसारके संघर्षका परिणाम है, क्रियाका प्रतिफलन है, कर्मकी निष्पत्ति है।

मनुष्य-योनिके अतिरिक्त सब योनियाँ भोग-योनि मानी गयी हैं। केवल मनुष्ययोनि भोगयोनिके साथ-ही-... ने है। मनुष्य-शरीर पाकर जीव चाहे ... सकता है, अन्यथा भोगकी ओर ... पड़ जा सकता है और ... पुनरपि जननी-जठरे शयनम्'की प्रक्रियामें आ जाता है। कि कर्मबन्धनसे छूट जानेपर उसे इस चौरासी लक्ष योनियोंकी चक्करदार चहारदीवारीकी परिक्रमा नहीं करनी पड़ती।

स्थिति बड़ी जटिल है। मनुष्य-शरीर मिला है मोक्ष-साधनके लिये। उसे कर्म करनेका अधिकार मिला है। कर्म बन्धनकारक है, लेकिन है उससे छूटना। कैसे सम्भव होगा? इसीका उत्तर है—योगद्वारा, कर्मयोगद्वारा। योगका प्रचलित अर्थ है चित्तवृत्तिनिरोध। कर्म चित्तपर संस्कार डालता है, योग चित्तवृत्तियोंका निरोध करता है। कर्म बन्धनकी सृष्टि करता है, योग बन्धनसे छुटकारा देता है। अतएव कामनासे पूर्ण मनुष्यकी मुक्तिका रास्ता है कर्मयोग। कर्मयोग मनुष्यको कामनासे विरत करता है। कैसे?—यहाँ यह विचारणीय है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें योग शब्दकी अन्य दो विशेषताएँ हैं—(१)'समत्वं योग उच्यते' (२। ४८) और (२) 'योगः कर्मसु कौशलम्' (२। ५०)। समत्वको, समत्व बुद्धिको, द्वन्द्वसे अर्थात् सुख-दुःख, राग-द्वेष, प्रेम-घृणासे परेकी स्थितिको अर्थात् जय-पराजय, लाभ-हानिको समान समझनेकी स्थितिको योग कहा गया है। समत्वके साथ कर्म करनेसे, हर्ष-विषाद या हार-जीतकी स्थितिसे दूर होकर कर्म करनेसे कर्म-बन्धन नहीं बनता है, चित्तपर कोई संस्कार नहीं पड़ता है। इसलिये कर्म-बन्धनसे मुक्ति पानेके लिये कर्मयोगीको सर्वप्रथम समत्व-प्राप्तिके लिये यत्न करना चाहिये; तात्पर्य यह कि किसी भी स्थितिमें उसे मानसिक संतुलन नहीं खोना है। कर्मसे उसे न राग होना चाहिये, न द्वेष; कर्म करते समय उसकी दृष्टि लाभ या हानिपर न रहे, जय-पराजय-पर न रहे, उसे कर्म करना है, उत्तम रीतिसे करना है; कर्मकी उत्कृष्टतापर ध्यान रहे। कर्मसे होनेवाले फलकी ओर दृष्टि ही न डाली जाय।

अब थोड़ा इस योग-कौशलकी ओर ध्यान दें। कोई काम करें, किंतु अन्तेर कोई आँच न आने दें

ई विपत्ति न आने दें, कोई थकावट या कोई स्तता न आने दें, कोई घबड़ाहट या कोई अधीरता आने दें, बुद्धिमानीसे अपनेको प्रतिक्षण सकुशल खते हुए कर्म करें। दूसरे शब्दोंमें इस रीतिसे कर्म करें कि कर्मका शुभाशुभ फल नहीं भोगना पड़े; न सुख-दुःख भोगना पड़े और न इस संसारमें पुनर्जन्म हो, शरीर छूट जाय और आत्माका पूर्णतम विकास ऐसा हो कि वह परमात्माके साथ एक हो जाय, परमात्मासे आत्माका योग हो जाय; मन-चित्त निर्मल और निष्पाप हो जाय, ज्ञानसे उद्भासित रहे; अज्ञानता मिट जाय। निर्मल आत्मा अपने स्वरूपमें स्थित हो जाय। बस; इसे ही तो मुक्ति कहेंगे। यही कर्मकुशलताकी सिद्धि है।

इस युक्तिसे कुशलतासे कर्म करनेके लिये कर्मके मर्मको भलीभाँति समझना पड़ेगा, अनुभव करना पड़ेगा कि कर्म विकर्म कैसे होता है और वह 'अकर्म' कैसे बन जाता है। कर्ममें ऐसी कौन-कौन-सी विशेषताएँ हैं, जिनसे बचे रहनेपर कर्म बन्धनकारक न होकर आत्मविकासक हो जाता है, मुक्तिदायक हो जाता है।

कर्मके सम्बन्धमें गीताके अनुसार सांख्यशास्त्रमें कथन है कि प्रत्येक कर्मके पाँच हेतु हैं—अधिष्ठान, कर्ता, करण, पृथक्-पृथक् चेष्टा और दैव। अधिष्ठानको, आश्रय या आधारको जाननेके साथ ही यह भी जानना आवश्यक है कि वास्तवमें कर्ता है कौन? पुरुष, आत्मा या प्रकृति? गीता (३। २७) स्पष्ट शब्दोंमें कहती है—'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः' अर्थात्—सम्पूर्ण कर्म प्रकृतिके गुणोंद्वारा किये गये हैं। ये तीनों गुण हैं—सत्त्व, रज और तम। वास्तवमें प्रकृतिके ये तीनों गुण ही कर्ता हैं, अहंकारविमूढात्मा अपनेको कर्ता समझ बैठता है और व्यर्थ ही कर्मोंमें जा फँसता है। कर्मयोगके साधकको इस मूर्खतासे, इस अहंकारसे सदैव बचना है। उसे निस्त्रैगुण्य होकर नियत कर्म करना है और अपनेको कर्ता न समझकर 'निमित्तमात्र' समझना है। उसे सदैव यही समझना है कि गुण गुणोंमें बर्तते हैं। मेरा किसी कर्मसे कुछ लेना-देना नहीं है। ऐसा सोचते हुए उसे किसी कर्मसे आसक्त होना नहीं है; क्योंकि आसक्तिके कारण भी कर्मका संस्कार चित्तपर पड़ता है, आसक्तिके चलते भी कर्म बन्धनकारक हो जाता है। अनासक्त भावसे किया गया कर्म कर्मयोगकी सीमामें होता है।

अधिष्ठान और कर्ताके अतिरिक्त कर्मयोगीको कर्म भी जानना है। बात कठिन है। साधारण लोगोंका क्या कहना'किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः'—कवि—मनीषी भी मोहमें पड़ जाते हैं—ऐसा निर्णय करनेमें कि क्या कर्म है, क्या अकर्म है? देश, काल, परिस्थितिके अनुसार जो कर्म हाथमें आ जाय उसे फलमें समत्वबुद्धिसे, कौशलसे करना 'कर्मयोग' है। वर्णाश्रमपर आधृत कर्म हो, नौकरी हो या व्यापार हो, अपनी पात्रताके अनुरूप जो भी अपना निर्धारित कर्म है उसे न बड़ा समझना है और न छोटा; वह कर्तव्य है—ऐसा समझकर पूर्ण तन्मनस्कताके साथ उसे करना है। दूसरोंके कर्मकी ओर दृष्टि डालना नहीं है। पूर्ण निष्ठाके साथ साधकको अपना कर्म करना है; क्योंकि 'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः' (गीता १८। ४५)। तत्परताके साथ अपना-अपना कर्म करके ही मनुष्य सिद्धि प्राप्त कर सकता है, मुक्त हो सकता है। पर-धर्मको सदैव भयावह समझते हुए अपने धर्ममें, नियतकर्ममें तन-मन लगा देना चाहिये। यही है—सिद्धिका रहस्य। यही है—श्रेयः-प्राप्तिका प्रशस्त पथ।

आसक्तिके अतिरिक्त फलकी आकाङ्क्षा भी कर्मसिद्धि-के मार्गमें एक बहुत बड़ी बाधा है; अतएव कर्मयोगमें स्पष्ट आदेश है कि 'मा कर्मफलहेतुर्भूः' गीता २। ४७) और न नियतकर्मसे अरुचि और न अकर्ममें सङ्ग हो।

कर्मोंके कुशलताके लिये शरीर और शरीरीके, देह और आत्माके भेदको भलीभाँति समझ लेना चाहिये और यह भी जान लेना चाहिये कि मानव-जीवनका वास्तविक उद्देश्य क्या है। श्रेयःप्राप्तिकी इच्छाको दृढ़ करते हुए यह जानकर कि इसी लक्ष्यकी सिद्धिके लिये हमें यह शरीर मिला है, न कि विषय-सुख-भोगके लिये, कर्मयोगी पूर्ण मनोयोगसे सदैव सत्कर्म करता रहे—वह अपने सुखके लिये, इन्द्रिय-सुख अथवा अपने शारीरिक या मानसिक सुखके लिये कुछ नहीं करते हुए, उस ओर ध्यान दिये बिना सदैव दूसरोंको सुख-सुविधा पहुँचानेका प्रयत्न करता रहे। कर्म-बन्धनसे बचनेके लिये यह सर्वाधिक सरल उपाय है कि जो भी कर्म करो दूसरोंके लिये करो, अपने सुखकी चिन्ता न करो। ऐसा संकल्पकर कर्मयोगी यदि 'सर्वजनहिताय,' 'सर्वजनसुखाय' कर्म नहीं कर पाता है तो 'बहुजनहिताय', बहुजनसुखाय' तो अवश्य ही करता रहे। गीताने इसे ही 'लोक-संग्रह' नाम दिया है और कहा है कि—लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि।'

इस संसारमें कर्म यज्ञके लिये ही है—ऐसी एकाग्र बुद्धिसे वह जो कुछ करता है, पवित्र मनसे, शुद्ध विचारसे दूसरोंके कल्याणके लिये करता है। फलतः- 'यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते'-(गीता ४।२३)—यज्ञके लिये, जन-कल्याणके लिये कर्म करते हुए समग्र कर्म नष्ट हो जाते हैं; यानी उन सब कर्मोंको बन्धन-शून्य हो जाना पड़ता है। कर्मयोगी जनहितमें कर्म करते-करते विश्वके साथ समरस हो जाता है, विश्वके साथ उसका तादात्म्य स्थापित हो जाता है। सर्वभूतोंको अपनेमें और अपनेमें सर्वभूतोंका दर्शन करने लगता है—'सर्वत्र समदर्शनः' हो जाता है। लगनेसे वह धीरे-धीरे निष्काम हो जाता है, और बन जाता है निःस्वार्थ भी। उसे उपलब्धि हो जाती है। निष्कामता परम-सिद्धि है।

यतः इन्द्रियोंके माध्यमसे कर्म होते हैं, जिनके विषयोंकी ओर दौड़ना स्वाभाविक है, अतः कर्म-कुशलताकी माँग है कि इन्द्रियाँ वशमें रहें और इन्द्रियोंपर नियन्त्रण रखनेवाला चञ्चल मन भी। मन अंकुश रख सकती है उससे भी अधिक शक्ति-सम्पन्न बुद्धि ही। अतएव धीको प्रेरित करनेवाले सावित्रीदेवीकी प्रार्थनासे हो या जैसे हो बुद्धिकी सद्विवेकिनी शक्तिको बढ़ाना है, उसे पूर्णतः अन्दरकी ओरसे खींचकर सत्की ओर करना है—ताकि आत्मके प्रत्येक संकेत उसे स्पष्ट दीख सके। हृदय जितना उदार होगा, जितना निःस्वार्थ होगा, कर्मयोगी उतने ही रूपमें बुद्धियोगको प्राप्त कर लेगा।

इस तरह आसक्तिहीन, कामनाशून्य, फलाकांक्षासे रहित तथा इन्द्रिय-मन-बुद्धिको वशमें रखकर दूसरोंके कल्याणार्थ नियत कर्म करते-करते धीरे-धीरे चित्तशुद्धि आने लगती है, चित्त सदैव प्रसन्न रहने लगता है और मन शान्त हो जाता है, काम-क्रोध मिटने लग जाते हैं और ज्ञान-का प्रकाश बढ़ने लगता है। स्वामी विवेकानन्दका कहना है कि निःस्वार्थ होकर कर्मयोगके आचरणसे सर्वज्ञ प्राप्त की जा सकती है तथा ज्ञानाग्निसे उसके सर्व कर्म भस्मसात् हो जाते हैं। सब कर्मबन्धन (संचित और प्रारब्ध कर्मोंके भी बन्धन) जलकर राख हो जाते हैं। साधक सर्वथा मुक्त हो जाता है और 'परमाप्नोति पूरुषः' प्रमाणित हो जाता है।

सारांश यह कि कर्म यदि संसार-शकट है तो इसके साथ जोड़कर [illegible]

कर्म अपने-आपमें बन्धन रहता है, संमुक्ति
न होता है, वही योग-संलग्न-भावनासे मुक्ति-
क बन जाता है, उसीसे ऊपर उठकर सत्-चित्-
दके समक्ष उपस्थित करनेवाला बन जाता है;
से निरा कर्म ही नहीं, अकर्म (कर्मशून्यता)में परिवर्तित कर देता है; प्रकृतिके पाससे छुड़ाकर परम पुरुषके पासमें ले जाकर खड़ा करा देता है। यही है 'कर्म' और 'योग'का कर्मयोग, यही कर्म संन्यासकी अपेक्षा विशिष्ट है—तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते।

सकाम कर्म और निष्काम कर्म

(लेखक—डॉ० श्रीनागेन्द्रकुमारजी दुबे, एम० बी० बी० एस्० (पदमवर्गपदकप्राप्त)

कर्मका मर्म समझना दुस्साध्य है; क्योंकि कर्मकी
—अति जटिल है 'गहना कर्मणो गतिः'
(गीता ४। १७); तथापि सब कर्मोंको हम मुख्यतः
श्रेणियोंमें विभक्त कर सकते हैं—(१) सकाम
और (२) निष्काम कर्म। कर्मोंका—मनुष्यका
य जो फल पड़ता है, वह या तो शुभ है या
म या दोनोंका सम्मिश्रण है। कर्म-फलकी शृङ्खला
संसारमें चलती ही रहती है—

कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके' (गीता १५। २)।
यों तो स्वयमेव कर्म प्रकृति-प्रसूत है, प्रकृतिके
ये गुणोंसे चलते ही रहते हैं प्रतिपल, प्रतिक्षण;
न अहङ्कार-विमूढात्मा अपनेको उन कर्मोंका कर्ता
लेता है और कर्ता बनते ही वह उन कर्मोंके
फलका भोगनेवाला हो जाता है। किंतु जो भगवान्‌को
तः जान लेता है, वह कर्मोंसे नहीं बँधता। भगवान्
ता—(४। १४)में कहते हैं—

। मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
ति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥

'कर्म मुझे लिप्त नहीं करते हैं और न कर्म-फलकी
लालसा है; इस तरह जो मुझे जानता है, वह
नहीं बँधता है।' यही सत्य है, छिपा हुआ
अन्तरतममें, कर्मके परमाणु-परमाणुमें।
सारा रहस्य इसी भावमें छिपा है, करीब-करीब ठीक उसी तरह जिस तरह शरीरमें आत्मा व्याप्त है; जड-जङ्गमकी परिवर्तनशीलतामें अपरिवर्तनशीलता सन्निहित है; विकारियोंमें निर्विकारी वर्तमान है। सामान्य-दृष्टिमें वह दिखायी नहीं पड़ता है, जिस तरह किसी काष्ठ-खण्डमें व्याप्त अग्नि साधारणतः दिखायी नहीं पड़ती है, किंतु रहती है अवश्य; क्योंकि उचित संयोग पड़नेपर जल उठती है।

जड पदार्थके प्रत्येक कणमें, प्रत्येक प्राणीके शरीरमें वह निर्गुणतत्त्व, निर्विकारी तत्त्व, वह अमरतत्त्व, वह अजर-तत्त्व व्याप्त है अवश्य—क्योंकि उसकी उपस्थितिके बिना कोई संघात, कोई प्रतिमा, कोई रूप बन ही नहीं सकता है—चाहे उस अदाह्य, अशोष्य तत्त्वको हम सत् कहें, ब्रह्म कहें, आत्मा कहें, चित् कहें अथवा अन्य कोई नाम दें। शरीरस्थ होनेपर वही जीव कहलाता है। मनस्वियोंका कहना है कि मानव-शरीरमें उसका मुख्य स्थान मन है। इसलिये कहा गया है—'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः'—मन ही मनुष्योंके बन्धन एवं मोक्षका कारण है। किसी-किसी मनस्वीका कहना है कि निर्मल मनसे ही आत्माका दर्शन होता है और शुद्ध आत्मासे जब मलीनता लिपट जाती है, तब वह जीवात्मा बन जाता है। ऐसा मन कामनाओंका अनन्त प्रवाह-स्वरूप है, मानो किसी सरिताकी अजस्र धारा है, जिसमें प्रतिक्षण नयी-नयी जलराशि प्रवाहित होती

रहती है; प्रतिपल तरङ्गें उठती-मिटती रहती हैं। जिस क्षण यह कामना-प्रवाह रुक जायगा, जिस पल ये कामना-तरङ्गें नहीं उठेंगी, उसी क्षण मन निस्तरङ्ग—निर्मल होकर आत्माके रूपमें प्रतिष्ठित हो जायगा। वही स्थिति है मुक्तिकी स्थिति, मोक्षकी स्थिति। श्रीमद्भगवद्गीतामें उस स्थितिको स्थितप्रज्ञताकी स्थिति कहा गया है, 'निस्त्रैगुण्य'की स्थिति कहा गया है। 'निमित्त-मात्र' की स्थिति कहा गया है, 'निराशी, निर्मम, निरहङ्कार, निराश्रित'की स्थिति कहा गया है।

व्यावहारिक जगत्में यह स्थिति कर्मपर निर्भर है और कर्मके प्रति कर्ताके दृष्टिकोणपर निर्भर है, उसकी भावनापर निर्भर है। यों तो प्राणीको मनुष्ययोनि मिलती है—मुक्ति-प्राप्तिके लिये ही और इसीलिये उसे कर्म करनेका अधिकार भी मिला है। अन्य योनियाँ भोग-योनियाँ हैं, किंतु मनुष्य-योनि भोग-योनिके साथ-ही-साथ कर्मयोनि भी है। जैसे जीवने कर्मके सहारे मनुष्य-शरीर प्राप्त किया, वैसे ही यदि वह समुचित युक्तिसे, कौशलसे योग लगाकर कर्म करे तो जैसे काँटे-से-काँटा निकाला जाता है, वैसे ही कर्मके द्वारा कर्म-बन्धनसे छुटकारा पाकर वह सर्वथा मुक्त हो जा सकता है, निर्बन्ध हो जा सकता है, निर्ग्रन्थ हो जा सकता है। इस हेतु मनुष्यको सकाम कर्म और निष्काम कर्म समझना—दोनोंकी उपयोगिता और उनका महत्त्व समझना, दोनोंका भेद समझना आवश्यक है।

मोटे तौरपर सकाम कर्म वह है, जो हम किसी कामनाकी, अपने सुखकी पूर्तिके लिये करते हैं और जो कर्म हम किसी कामनाकी पूर्तिके लिये नहीं करते हैं, जो अपने सुखके लिये नहीं, बल्कि दूसरोंके हितके लिये करते हैं, वह निष्काम कर्म है। सकाम या निष्काममें कामनाका अर्थ है तृष्णा, तृष्णा, लिप्सा, निज सुखेच्छा। प्यास लगनेपर हम जल-प्राप्तिकी चेष्टा

करते हैं और जल पी लेनेपर प्यास ... जाती है, लेकिन कुछ काल-बाद पुनः ... लगती है। तृषा सताने लगती है। यही ... जिसकी पूर्ति होनेपर भी स्थायी संतुष्टि नहीं ... पुनः उसे प्राप्त करनेकी कामना होती है; बल्कि वेग कुछ और प्रबल हो जाता है, क्योंकि ... सबल बना देता है। ज्ञानियोंने यह ... 'न जातु कामः कामानामुपभोगेन ...' कामका शमन कामोपभोगसे नहीं होता है। जैसे ... कुण्डमें—प्रज्वलित अग्निमें घीकी आहुति देने ... और अधिक प्रज्वलित हो उठती है, शान्त नहीं ... वैसा ही है—काम। उपभोगसे शान्त होनेके ... और दहक उठता है। इतना ही नहीं, काम... भी कई दुर्गुण उभर आते हैं, जैसे क्रोध और ... ये तीनों-के-तीनों नरकके द्वार हैं। गीता (१६। ... कहती है—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।

इनमें प्रवेश करनेमात्रसे जीवात्मा नष्ट हो जाता ... इसलिये मुक्तिके इच्छुकको इन तीनोंका त्याग ... चाहिये—'तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत्' (गीता १६। ... इसलिये इन तीनोंका त्याग करना चाहिये; मूलतः स... कर्मका त्याग करना चाहिये; कामरहित कर्मका क... नहीं। 'कुरु कर्मैव'—कर्म करो ही, क्योंकि क... कर्मबन्धनका नाश करना है, लेकिन करो निष्काम क... परहित कर्म। सकाम कर्म बन्धन देते हैं।

कामका वास्तविक अर्थ है—अतृप्त इच्छा—... इच्छा जिसकी तृप्ति सदाके लिये हो ही नहीं सकत... है, अर्थात् पदार्थके संयोग और संग्रहसे अपने सुखकी ... इच्छा। पदार्थ नाशवान् है, परिवर्तनशील है। सब समय ... उसका संयोग सम्भव है और न संग्रह ही। इस तरह ... इन्द्रियों किसी ... द्वारा सुखकी इच्छा ...

है। पुनश्च, सुख यहीं बाहर नहीं है; क्योंकि सब दशाओंमें, सब परिस्थितियोंमें किसी पदार्थसे सुख मिल पाता है। पाचन-क्रिया ठीक रहनेपर भोजनका सुख मिल सकता है। शरीरमें शक्ति रहनेपर भोग-सुखका अनुभव किया जा सकता है, अन्यथा नहीं। इसी तरह अन्य सुखोंके साथ भी शर्तें हैं।

जिसे पाकर पुनः कुछ और पानेकी कामना नहीं रह जाती, कामना पूर्ण हो जाती है, उसे प्राप्त करनेका मार्ग है—निष्काम कर्म। उसीका फल होता है—आत्मबोध, मुक्तिकी प्राप्ति, परमतत्त्वकी प्राप्ति, ब्रह्मोपलब्धि; यही मानवका परम उद्देश्य है, परम पुरुषार्थ है।

संक्षेपमें, सकाम और निष्काम कर्मका अन्तर यों समझा जा सकता है—'सकाम कर्म वह कर्म है—जो अपने सुख, लौकिक सुखकी प्राप्तिके उद्देश्यसे किया जाता है; अपनी सुखेच्छाकी पूर्तिके उद्देश्यसे किया जाता है, किसीसे संयोगकी इच्छासे या किसी पदार्थके संग्रहकी इच्छासे—शास्त्रीय भाषामें जो 'कामिनीकाञ्चन'की प्राप्तिके लिये, संग्रहके लिये, उपभोगके लिये किया जाता है।

सकाम कर्म शरीरके चतुर्दिक् चक्कर लगाता रहता है। शरीर-सुख ही उसका केन्द्र है। सकाम कर्मका काम (कामना) शरीर-सुख सागरकी एक-एक तरङ्ग-सा है, जो शरीर-सुखके लिये उठती-गिरती रहती है। सकाम कर्मोंका ध्यान अपनेपर (अपने पुत्र, अपनी पत्नी, अपने ऐश्वर्य, अपनी कीर्ति, अपनी स्तुतिपर) केन्द्रित रहता है। वह केवल अपने हितको सोचता है। अपने हित-साधनमें उसे दूसरेके सुख-दुःखकी कोई चिन्ता नहीं रहती। अपनी कामनाकी पूर्तिके लिये वह दूसरोंका भारी-से-भारी अनिष्ट करनेमें भी नहीं हिचकिचाता है। उस समय, कामनासे विमूढ बने सकाम कर्मोंको यह स्मरण नहीं रहता है कि सारे-के-सारे मानव, चाहे वे पृथ्वीके किसी भागमें क्यों न बसते हों, कोई धर्म क्यों न मानते हों, कोई भाषा क्यों न बोलते हों एक सूक्ष्म किंतु दृढ सूत्रसे एक साथ बँधे हैं और एकके हितमें दूसरेका हित है और एकके अहितमें सबका अहित छिपा है। फलतः एकदेशीय, एकपक्षीय, एक संकीर्ण दृष्टि या अज्ञानताके कारण सकाम कर्मोंका फल होता है अशुभ या बन्धन, पाप या मलीनता, संकीर्णता या दुःख।

निष्काम कर्मके पीछे भी प्रेरणा है इच्छाकी, किंतु वह इच्छा स्व-केन्द्रित नहीं है, वह इच्छा स्व-सुखके लिये नहीं, परके सुखके लिये, दूसरोंको सुख पहुँचानेके लिये, दूसरोंके कल्याणके लिये है। एकको सुख पहुँचानेके लिये, सुविधा पहुँचानेके लिये निष्कामकर्मी दूसरे किसीका अहित कदापि नहीं करेगा। उसका उद्देश्य है दूसरोंका कल्याण करना। उसे अपने सुखकी कोई इच्छा रहती ही नहीं। कर्मके साथ उसका केन्द्रीय उद्देश्य है—अपने अन्तःकरणकी शुद्धि, अपने चित्तको निष्कलुष करना, अपने चित्तपर कर्मका संस्कार नहीं पड़ने देना, कर्मको बन्धनकारक नहीं होने देना। वह कर्म इसलिये करता है कि कर्म उसके आत्माका पूर्ण विकास कर सके, कर्मद्वारा कर्मके अबतकके सब बन्धनोंको काटकर वह पूर्ण स्वतन्त्र हो जाय, स्वच्छन्द हो जाय। वह शुद्ध-बुद्ध आत्मामात्र हो जाय, द्रष्टा हो जाय। उसका जीवमात्र मिट जाय और जन्म-मरणका बन्धन कट जाय।

सकाम कर्मके साथ अनेकानेक मलिन वासनाएँ लिपटी रहती हैं। सकाम कर्मके साथ केवल स्व-सुखेच्छा ही नहीं, कर्म-फलेच्छा भी चिपकी रहती है। कर्मके प्रति आसक्ति बनी रहती है। विषय-रसानुभूति उसे कर्मसे जकड़े रखती है। उसकी सब इन्द्रियाँ सब समय, स्वप्नमें भी विषय-सुखकी ओर दौड़ती रहती हैं।

निष्काम-कर्मयोगकी पृष्ठभूमि—गीताकी स्थितप्रज्ञता

छोड़कर जब मनके सब काम, मनुज होता है आत्माराम।
तुष्ट जो अपने आपमें ही, आप, वही है स्थितप्रज्ञ निष्पाप।
दुःखोंकी जिसे न हो परवाह, सुखोंकी करे न जो कुछ चाह।
रहे भय, राग, रोषसे दूर, वही है स्थितप्रज्ञ हे शूर!
कहीं जो करे न ममता-मोह, किसीसे प्रेम न जिसको द्रोह।
अशुभसे रुष्ट न शुभसे तुष्ट, उसीकी प्रज्ञा है परिपुष्ट।
समेटे अङ्ग कूर्म जैसे, खींच सब विषयोंसे वैसे।
इन्द्रियोंका जो करे निरोध, उसीको होता है स्थिर बोध।
अनाहारी या अथवा अभुक्त, रहे चाहे विषयोंसे मुक्त।
परात्पर-दर्शन बिना परंतु टूटते नहीं राग-रस-तन्तु।
यत्नकारी बुध जनको भी, प्रमाथी इन्द्रियगण लोभी।
अचानक वशमें करते हैं, हृदय हठ-पूर्वक हरते हैं।
उन्हें वशमें कर साधनसे योगयुत मत्पर हो मनसे।
इन्द्रियाँ जिसके हुईं अधीन, उसीकी प्रज्ञा योगासीन।
विषय-सेवनसे विषयासक्ति, और बढ़ती है अति अनुरक्ति।
उसीसे काम, कामसे क्रोध, प्रकट होता है बिना विरोध।
क्रोधसे दारुण मोह-विकाश, उसीसे होता है स्मृतिनाश।
जहाँ स्मृति-नाश वहाँ मतिभ्रष्ट, हुई मतिभ्रष्ट कि फिर सब नष्ट।
किंतु वश कर इन्द्रियाँ अशेष, विधेयात्मा गतरागद्वेष,
भोगकर भी विषयोंका स्वाद, प्राप्त करता है मनःप्रसाद।
प्राप्त होनेपर हृदयाह्लाद दूर होते हैं सभी विषाद।
जहाँ यों हुई हृदयकी शुद्धि, शीघ्र ही होती है, स्थिरबुद्धि।
अयुक्तोंमें यह बुद्धि कहाँ? कहाँ यह आस्तिक भाव वहाँ?
शान्ति कैसी उन भ्रान्तोंको? भला सुख कहाँ अशान्तोंको?
इन्द्रियोंके पीछे अश्रान्त, दौड़ता हुआ मनुज-मन भ्रान्त;
बुद्धिको हरता है पलमें, नावको वायु यथा जलमें।
इन्द्रियाँ इस कारण हे शूर! रहें विषयोंसे जिसकी दूर,
वही है स्थितप्रज्ञ जन धन्य, कौन उसका-सा सुकृती अन्य?
पूर्ण जलनिधिको ज्यों नदतीर, नहीं कर सकते कभी अधीर;
समाकर त्यों जिसमें सब भोग, प्रकट कर सकें न राग न रोग।
वही पाता है शान्ति यथार्थ, कामकामी न कभी हे पार्थ!
छोड़कर इच्छाएँ जो सर्व, तोड़कर अहंकार या गर्व।
विचरता निर्मम निस्पृह है, शान्तिका पद मानो गृह है;
यही है ब्राह्मी स्थिति, इसको प्राप्तकर मोह रहे किसको।
इसीसे अन्त समय स्वच्छन्द प्राप्त होता है ब्रह्मानन्द।

—राष्ट्रकवि स्व० मैथिलीशरण गुप्त

कर्म-विवेचन (१)

(लेखक—डॉ० श्रीमुंशीरामजी शर्मा, 'सोम')

शुक्ल यजुर्वेद कर्मकाण्डका वेद है। उसका प्रथम मन्त्र कहता है—'वः सविता प्रापयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे' सबके प्रेरक तथा उत्पादक प्रभु तुम्हें श्रेष्ठतम कर्ममें नियुक्त करें। मन्त्रकी भावना श्रेष्ठतम कार्य-सम्पादनमें निहित है। इसका तात्पर्य है—श्रेष्ठ, श्रेष्ठतर तथा श्रेष्ठतम कर्मोंकी ओर प्रवृत्त कराना और इसके विपरीत कर्मोंकी ओर न जाने देना। श्रेष्ठ कर्मकी संज्ञा यज्ञ है। यह सृष्टि यज्ञरूपा है। यज्ञके साथ ही सब प्रजा उत्पन्न हुई। अतः हम ऐसे कर्म करें जिन्हें यज्ञकी संज्ञा दी जा सके; अर्थात् जो लोकवेद—उभयसे श्रेष्ठ मान्य हो।

यज्ञकर्ममें दान, संगतिकरण और पूजाकी भावनाएँ हैं[१]। अतः मानवके कर्म इन्हीं तीन भावोंसे भावित हों। हम दानी बनें, कृपण नहीं। हम देवोंकी पूजा करें; बड़ों, पूज्योंका समादर करें। हम मेलसे रहें, एक दूसरेके साथ संगति करते हुए प्रेमभरित व्यवहार करते हुए चलें तथा द्वेष-ईर्ष्या-फूट हमसे पृथक् रहें। हम सम्माननीयोंका सम्मान करें और छोटोंपर दया करें। सबसे बड़ा ब्रह्म है। हम ब्रह्मकी उपासना करें, प्रतिदिन संधिवेलामें प्रातः तथा सायं भगवान्का भजन करें। हम सब उसीकी संतान हैं। पुत्र पिताका अनुकरण करता है। हम भी भगवान्का अनुकरण करें; उसके गुणोंको, तेजको, अपने जीवनमें धारण करें, उसीका ध्यान करें। यज्ञ-कर्मके ये तीन भाग अपरित्याज्य होने चाहिये। इनके अनुकूल आचरण करते हुए हम श्रेष्ठ, श्रेष्ठतर तथा श्रेष्ठतम कर्मोंका सम्पादन कर सकेंगे। यजनशील व्यक्तिमें यज्ञके दान एवं दीप्ति—दोनों गुण आ जाते हैं।

वेदका संदेश मानव-मात्रको सृष्टिके आदिकालमें ही मिल गया था। देव, ऋषि, पितर—इस संदेशके आधारपर ही स्वर्गलोकके अधिकारी बने और अपने जीवनादर्शको हम सबके लिये इतिहासमें छोड़ गये। पूर्वजोंने उनके अनुकरणपर बड़े-बड़े यज्ञ किये और इस वसुधाको, कम-से-कम आर्यावर्त या भारतवर्षको तो स्वर्गके सदृश बना ही दिया था। सत्कर्मोंकी जो परम्परा प्रचलित हुई उसने आर्य-नरेशोंको चक्रवर्ती सम्राट्के पदपर प्रतिष्ठित किया और ज्ञानधनी विप्रोंने पृथ्वीके सभी देशोंको अपने भ्रमण तथा उपदेशोंद्वारा चरित्रसे सम्पन्न किया। 'वसुधैव कुटुम्बकम्'का पुनीत पाठ पढ़कर हम सब इस धरणीके निवासी भाई-भाईकी तरह प्रेम-पूर्वक, सुख-सवलित जीवन-यापन करने लगे।

फिर भी मानव त्रिगुणोपेत होनेके कारण कभी देवत्वमें तो कभी दानवत्वमें भी प्रवेश कर जाता है। दैवी सम्पदाका स्थान आसुरी सम्पदा ग्रहण कर लेती है। सत्त्वपर रज और तमका दबदबा हो जानेसे यज्ञका ऊर्ध्वभाव अपदस्थ हो जाता है। यज्ञका रूप परिवर्तित होकर तामसियोंके दुष्काम्य-कर्मोंके रूपमें आ जाता है। कुछ देशों, कुछ जातियों और कुछ कालोंमें दुष्काम्य-कर्मोंका बोलबालाका होना उक्त तथ्यका ही द्योतक था।

सत्त्वमें समत्व है। जो कर्म हमें क्लेश देता है, वह दूसरोंके लिये भी क्लेशकारी सिद्ध होगा। अतः हम आत्मौपम्य-दृष्टिसे व्यवहार करें। हम दुःखसे बचना चाहते हैं तो दूसरे भी यही चाहते हैं। फिर हम ऐसे कर्म क्यों करें, जो अन्योंके लिये अनिष्टकर हों।

समत्वकी यह भावना वेदसे चलकर भागवतोंको प्राप्त हुई। श्रीमद्भागवत (१२।२।४५) का कथन है—

१—'यज् देवपूजासंगतिकरणदानेषु'।

सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥

यजुर्वेद-(४०-६)में इससे बहुत पूर्व यही बात सिद्धान्तरूपमें कही थी—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति॥

इसी तरह तथा आत्मौपम्यके आधारपर मानवमात्रका विकास सम्भव है, निर्वैरता इसी स्थितिमें आती है। गीता (११-५५) कहती है—

निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥

आर्यजनोंका स्वभाव ही ऐसा था। उन्हें अनार्यत्वसे वैर था, पर जब उनका अनार्यत्व समाप्त हो गया और वे आर्य बन गये, तब वैर किसका और किससे। यही नहीं, युद्धमें वैरका रूप दिखायी देता था, पर शत्रुके मरनेपर कौन किससे वैर करेगा। आर्यशील श्रीरामने विभीषणसे कहा था—

मरणान्तानि वैराणि निवृत्तं नः प्रयोजनम्।

—वैर मृत्युतक ही रहता है। अतः रावणसे वैर उसकी मृत्युके साथ ही समाप्त हो गया। अतः

क्रियतामस्य संस्कारो ममाप्येष यथा तव॥

—इसका अन्त्येष्टि-संस्कार करो; इस कर्ममें यह जैसा तेरा भाई है, वैसा ही मेरा भी।

आत्मौपम्य किसीके कर्तव्यपर आघात नहीं करता। अब गुण-कर्म-स्वभावके आधारपर कर्तव्य कर्मोंमें भेद हो जाता है। नापितका कर्म सूचीकारके कर्मसे भिन्न है। रंगरेज और रजकके कर्म एक-जैसे नहीं हैं। चर्मकार, जुलाहा, तेली, बढ़ई, स्वर्णकार आदि सब अपने-अपने कर्म करनेमें स्वतन्त्र हैं। इस भिन्नताके होते हुए भी सत्य कहता है कि यदि सब अपना-अपना काम करते हुए भगवदर्पण-बुद्धि बनाये रखें तो सब सद्गति प्राप्त कर सकते हैं। गीता-(१८। ४६)के शब्दोंमें—

यतः ... येन सर्वमिदं ततम्।
... सिद्धिं विन्दति मानवः॥

[illegible] अन्य कार्योंमें भी है। [illegible] अलग-अलग कर्म-लक्षण करते हुए [illegible] कर्मों, कर्मकाण्डों और ध्यान न [illegible] मन लगाते रहें तो वह कर्म प्रभु-[illegible] पावन बन जाता है। ऐसे अन्य कर्म, इन [illegible] सम्बन्धका ज्ञान भी दे सकते हैं। [illegible] सुन्दर दर्शन होता है।

यजुर्वेदने विद्या और अविद्या, सम्भूति और असम्भूति समन्वयकी प्रशंसा की है और कहा है कि जो दोनोंको साथ लेकर चलता है, वह एकसे मृत्युको पार करता है और दूसरीसे अमृत प्राप्त करता है। हमारे ऋषियोंका यह कथन भी है कि [illegible] द्वारा सूर्यमण्डलको भेदकर जिस स्वर्गमें पहुँचता है उसीमें वह क्षत्रिय भी पहुँचता है, जो रणभूमिमें शत्रुके सम्मुख युद्ध करता हुआ मारा जाता है। यह स्वकर्तव्य पालनकी ही महिमा है। तुलाधार वैश्य और व्याधके उदाहरण भी महर्षि व्यासने इसी प्रसङ्गमें महाभारतमें दिये हैं।

कर्म कर्मके लिये, कर्तव्य कर्तव्यके लिये निरन्तर करते रहो—न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः अर्थात्—कर्म करते हुए जो थक नहीं जाता उसे देवोंकी मैत्री प्राप्त नहीं होती, ऐसा वेद-वचन है। उपनिषद्‌वाक्य भी है—'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समाः'—कर्तव्यका पालन करते हुए सौ वर्ष जीनेकी कामना करो। आर्यशील कर्तव्यका आचरण करता है, अकर्तव्यका नहीं। यदि कर्तव्य केवल कर्तव्य समझकर ही किया गया तो वह तुम्हें अपनेमें लिप्त नहीं कर सकेगा। यही कर्मके प्रति अनासक्त भावना है। वेदसे लेकर गीतातक सभी शास्त्रों एवं स्मृतियोंमें इस भावनाको प्रमाण माना है। (म का

(२)

भगवद्गीतामें कर्म-अकर्म, विकर्म-सुकर्म-दुष्कर्म आदि दोंको पढ़-सुनकर मनुष्य सोचने लगता है कि कर्मके भेद कैसे हो गये। अकर्म-विकर्म, सुकर्म और र्मोंके लक्षणोंका निर्णय कैसे किया जाय? एक ही को एक परिस्थितिमें करणीय और दूसरी परिस्थितिमें रणीय माना गया है; ऐसा क्यों? सत्य धर्म है, पर के विपरीत किसीकी प्राणरक्षाके लिये असत्य बोलनेको कार्यकर्म माना गया है। यज्ञ श्रेष्ठ कर्म हैं। उनकी करनी चाहिये, पर रामायणमें मेघनादके यज्ञकर्मको वंस कर देना ही धर्म माना गया। मीमांसा आदिमें प्रकारकी अन्य भी कई कोटियाँ मिलती हैं। 'इनमें न-सा वाक्य धर्मसम्मत है' इस प्रकारकी जिज्ञासाएँ एक न्य मानवको असमञ्जसमें डाल देती हैं। वह सोचने ता है कि किस परिस्थितिविशेष-धर्मका निर्णय कौन किस र करेगा। धर्म देश-कालसे भी ऊपर एक शाश्वत न है, जैसा कि महाभारतके ही कई श्लोकोंमें कहा ा है—

> न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
> धर्मं जह्याज्जीवितस्यापि हेतोः ।
> धर्मो नित्यः सुखदुःखे त्वनित्ये
> जीवो नित्यः हेतुरस्य त्वनित्यः ॥
> (भारतसावित्री)

काम, भय या लोभके वशीभूत होकर तथा जीवन-ाके लिये भी मनुष्यको धर्मका परित्याग नहीं करना हिये। धर्म नित्य है, जीव भी नित्य है, परंतु सुख-ःख तथा माया अनित्य हैं। अश्वमेधयज्ञ सहस्रों किये जायँ, न भी वे सत्यके समान नहीं हो सकते—अश्वमेध-हस्रादि सत्यमेकं विशिष्यते। जो मनुष्य वाणीकी ोरी करता है, अर्थात् शब्दद्वारा सत्यका अपलाप करता ै, वह सभी प्रकारके चोरीके कर्म करनेवाला —'स सर्वस्तेयकृन्नरः'। ऐसे परस्परविरोधी वचन सामान्य व्यक्तिको ही नहीं, बड़े-से-बड़े कवियों, क्रान्तदर्शी विपश्चितोंको भी अनिर्णयकी दशामें पहुँचा देते हैं। 'किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः' (गीता ४। १६) तथा 'गहना कर्मणो गतिः' उक्तियाँ ऐसी ही अनिर्णीत अवस्थाके लिये कही गयी हैं।

तैत्तिरीयोपनिषद्के ऋषि ऐसी विचिकित्सा या सन्दिग्धावस्थामें उन अरूप, कोमलहृदय, समदर्शी, विचारशील, तपःश्रद्धासे संवलित धर्मिष्ठोंकी ओर संकेत करते हुए कहते हैं कि यदि तुम कर्मके सम्बन्धमें संशयालु हो तो उठो, ऐसे धर्मिष्ठ वेदपरायण महापुरुषोंकी ओर अपनी दृष्टि ले जाओ। वे ऐसी स्थितिमें जैसा व्यवहार करते हैं, वैसा ही तुम भी करो। संशयके उच्छेदक तथा सत्कर्ममें प्रवृत्त करनेवाले ऐसे ही पुरुषोंके आचार हैं। महाभारतके यक्ष-युधिष्ठिर-संवादमें भी ऐसा ही कहा गया है—

'महाजनो येन गतः स पन्थाः।'(महा० ३। ३१५। ५८)।

विज्ञानेश्वरने भी 'याज्ञवल्क्य' ३। २१ पर इस प्रसङ्गमें बड़ा सुन्दर प्रकाश डाला है। मनुने जीवनको निःसंशय तथा निरापदरूपसे व्यतीत करनेके लिये ही चातुर्वर्ण्य एवं आश्रम-व्यवस्थाको प्रसिद्ध किया था। चारों वर्णोंके पुरुष आश्रमधर्मके अनुसार जीवन व्यतीत करने लगें तो—प्रायः कर्म-विचिकित्साका अवसर ही उपस्थित न हो। कालिदासने रघुवंश (१। ८)में सूर्यवंशी राजाओंके सम्बन्धमें कहा है—

> शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम् ।
> वार्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम् ॥

'बाल्यावस्थामें विद्याका अभ्यास, यौवनमें गृहस्थ—संतानोत्पत्ति, राज्यभोग तथा बुढ़ापेमें मुनिवृत्ति (वानप्रस्थ) धारणकर सूर्यवंशी क्षत्रिय राजागण योगद्वारा अन्तमें शरीरका परित्याग करते थे। यहाँ कविने सूर्यवंशी क्षत्रियोंके

मुनिवृत्तिमें तो प्रवेश कराया है, पर संन्यास लेनेके लिये नहीं कहा; क्योंकि सभी शास्त्रोंमें क्षत्रियोंके लिये पूर्व तीन आश्रम ही निर्दिष्ट है। श्रमजीवी तथा व्यापारी वैश्य शास्त्रानुसार गृहस्थाश्रमतक ही सीमित रहते हैं, वे वानप्रस्थाश्रम भी ग्रहण नहीं करते। यही शास्त्रका आदेश है। क्षत्रिय अपने पुत्रको गृहस्थका भार सौंपकर त्यागवृत्तिको सुगमतासे अपना लेता है; क्योंकि उसे धन, पद तो क्या, तनतकका मोह नहीं रहता। प्राणोंको हथेलीपर रखे रहना उसके जीवन-क्रमका अङ्ग होता है। अतः वानप्रस्थकी मुनिवृत्ति उसे सहजसङ्गिनी जान पड़ती है। वानप्रस्थसे भी ऊपर संन्यास है। संन्यासी क्षत्रिय तो यशोऽभिलाषासे भी ऊपर उठ जाता है। क्षत्रिय मुनिवृत्तिमें भी अपने लिये जीता है, पर ब्राह्मण अपने लिये नहीं, सबके लिये है। ब्राह्मवृत्ति सर्वमय होती है। इसी हेतु ब्राह्मण-संन्यासी परिव्राजक कहलाता है। ऐसा समस्त व्यक्तित्व सारे विश्वको अपना समझकर सर्वत्र विचरण करता है और सबको सदाचारका क्रियात्मक उपदेश देकर वैदिक संस्कृतिका प्रचार करता है। वर्ण और आश्रमकी यह व्यवस्था जीवनको उत्कर्ष प्रदान करती है और संशयोंका निवारण करती हुई सबके लिये जीवन-पथको प्रशस्त करती है।

धर्म, सदाचार या नीतिपर आधारित वर्ण और आश्रमकी मर्यादा कर्ममार्गके क्रमको व्यवस्थित कर देती है तथा संशयके लिये कोई स्थान ही नहीं रहने देती। भगवान् व्यासजीका आदेश है—

तस्माद् धर्मप्रधानेन भवितव्यं यतात्मना।
तथा च सर्वभूतेषु वर्तितव्यं यथात्मने॥
(महाभारत, शा० १६७।९)

इसलिये संयमीको धर्मप्रधान—धर्ममय जीवनवाला होना चाहिये और उसे सभी प्राणियोंसे वैसा ही व्यवहार करना चाहिये, जैसा वह अपने लिये करता है। ... प्राणियोंका हित होता है।

गृहस्थके लिये पाँच महायज्ञ निर्धारित हैं। ... या ऋषितर्पण महायज्ञ है। स्वाध्यायद्वारा ऋषि... उऋण होना है। संध्या, भक्ति या उपासने... द्वारा प्रभुके सांनिध्यमें पहुँचना है। ... ऋणसे मुक्ति देता है। पितृयज्ञ माता-पिता... आदिके ऋणको उतारनेका साधन है। बलिवैश्वदेव... पशु तथा पक्षी, कृमि आदि प्राणधारियोंकी ... करना सिखलाता है। अतिथियज्ञ द्वारपर आये... सन्तको भोजनसे तृप्त करना है। इस प्रकार ग... जितना भी व्यक्तिगत, सामाजिक तथा सार्वभौम ... वह पञ्च यज्ञोंद्वारा दूर हो जाता है। आश्रम... जीवन-विकासकी ऊर्ध्वशिखातक पहुँचा देती है। ... व्यवस्थाकी उपादेयता अत्यन्त आदरणीय है।

कार्य, कर्म—वे करणीय कर्तव्य हैं—जिनका अ... वर्ण एवं आश्रम व्यवस्था करती रही है। कर्म क... मनोवृत्तिको ब्रह्ममय बना लिया जाय, जो कुछ कि... रहा है, वह भगवदर्पणभावसे समन्वित हो, तो ... प्रभाव, उसका परिणाम निःश्रेयसप्रद होगा। ... अभ्युदयमें लगें, पर श्रेयको प्रेमके शिरपर रखे ... ऐहिक तथा आमुष्मिक (पारलौकिक) दोनों ... सफल होंगे। केवल प्रेममें फँसे रहना मनुष्यकी नितान्त दुरुपयोग है।

कर्ममें काया, वाणी तथा मन—तीनोंका योग है। यदि हमारे शरीर, वाणी और मन पवित्र तो कर्म भी पावन सिद्ध होंगे। यह पावनता ... देन है। राजस एवं तामस अंश सत्त्वके सामने ... जाते हैं और उसके वशवर्ती होकर विचरण करते ... कर्म-मीमांसामें सत्त्वका स्थान इसीलिये सर्वोपरि है। स... वेदने दैवी द्वार कहा है। यह द्वार खुलते ही ... सर्वात्मदर्शी (?) सायुज्यकी सिद्धि प्रदान करता है।

ज्ञानयोग और कर्मयोग

(लेखक—श्रीबाबूरामजी द्विवेदी, एम्० ए०, बी० एड्०, साहित्यरत्न)

मद्भगवद्गीता भारतीय संस्कृत वाङ्मयका एक ग्रन्थ-रत्न (शास्त्र) है । इसमें ज्ञान, भक्ति कर्मका समन्वय द्रष्टव्य है । भगवान् श्रीकृष्णसे शङ्का की कि 'यदि कर्मकी अपेक्षा ज्ञान श्रेष्ठ मुझे भयंकर कर्ममें क्यों लगाते हैं; इनमेंसे ही बात निश्चय करके कहिये, जिससे मैं को प्राप्त होऊँ' (गीता ३ । १-२) इसपर ानने कहा कि अर्जुन ! इस लोकमें दो प्रकारकी मेरे द्वारा पहले कही गयी है[1] । ज्ञानियोंकी गसे और योगियोंकी निष्काम कर्मयोगसे ।

न, इन्द्रिय और शरीरद्वारा सम्पन्न होनेवाली क्रियाओंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित होकर ानन्दघन परमात्मामें एकीभावसे स्थित रहनेका ज्ञानयोग है, इसीको संन्यास, सांख्ययोग एवं ज्ञान- कहते हैं ।

'कर्म 'शब्द'कृ' धातुसे बना है, इसका अर्थ है— , व्यापार, हलचल । 'कर्म'के साथ योग (युज्+ दो वस्तुओं या ईश्वर एवं जीवको एकमें मिलनेका नामयोग है—'संयोगं योगमित्याहुर्जीवात्म- त्मनोः'[2]—फल और तन्मूलक आसक्तिको त्यागकर दाज्ञानुसार केवल समत्वबुद्धिसे कर्म करनेका नाम 'निष्काम कर्मयोग' है; इसीको बुद्धियोग, समत्वयोग, तदर्थकर्म, मदर्थकर्म, मत्कर्म भी कहते हैं ।

निष्ठा शब्दका अर्थ वह मार्ग, रीति, प्रणाली या पद्धति है, जिसपर चलनेसे अन्तमें मोक्षकी प्राप्ति होती है । गीतोक्त 'निष्ठा' साधनकी अन्तिम स्थिति अथवा मोक्ष-दशाकी परिचायिका है । ज्ञान-निष्ठाकी पूर्णावस्था ब्रह्मात्मैक्य स्थिति है और कर्मनिष्ठाकी अन्तिम अत्युत्तम अवस्था ही ब्राह्मी स्थिति है ।

गीतोक्त ज्ञानयोग और कर्मयोग-दोनोंसे मोक्ष-प्राप्ति

गीताके पञ्चम अध्यायके आरम्भमें अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णसे प्रश्न किया कि आप कर्मोंके संन्यासकी और फिर निष्काम कर्मयोगकी प्रशंसा करते हैं । इन दोनोंमें जो निश्चय किया हुआ कल्याणकारक हो, उसको मुझसे कहें (५ । १) । श्रीकृष्णने यह कहकर उसकी शङ्काका समाधान किया कि 'कर्मोंका संन्यास और निष्काम कर्मयोग—दोनों ही परम कल्याणकारी हैं, परंतु उन दोनोंमें कर्मोंके संन्याससे निष्काम कर्मयोग साधन-सुलभ होनेके कारण) श्रेष्ठ है[3] ।' संन्यास और निष्कामकर्म-योगको अज्ञानी अलग-अलग फलवाले कहते हैं, न कि पण्डितजन । दोनोंमेंसे एकमें भी अच्छी प्रकार स्थित

१-लोकमान्यतिलकके मतानुसार पहले अर्थात् दूसरे अध्यायमें (गीता २ । ११-३० तक) सांख्यनिष्ठाके सार ज्ञानका (तत्पश्चात्, २ । ३९-५३ तक) कर्मयोगनिष्ठाका वर्णन किया गया है । देखिये—गीतारहस्य ६८० ।

ल्युट्, ज्ञानयोग-ज्ञानमेव योगः, कौशल्यम्, ब्रह्मप्राप्त्युपायो वा । शब्दस्तोममहानिधि, पृष्ठ १८६ । पृष्ठ ३५१ दक्षस्मृति ।

श्रेयसकरावुभौ । तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥ (गीता ५ । २)

हुआ (पुरुष) दोनोंके फलरूप परमात्माको प्राप्त होता है (५ । ४)।

इसके पश्चात् भगवान् श्रीकृष्णने स्पष्ट कर दिया है कि ज्ञानयोगियोंद्वारा जो परमधाम प्राप्त किया जाता है, वही (निष्काम) कर्मयोगियोंद्वारा भी। अतः जो ज्ञानयोग और (निष्काम) कर्मयोगको (फलरूपसे) एक देखता है, वही यथार्थदर्शी है[1]। संन्यास (ज्ञानयोग) और निष्कामकर्मयोग दोनों भगवान्‌के स्वरूप (विभूतियाँ) हैं। श्रीमद्भागवतके उद्धवगीता-प्रसङ्ग-(विभूतियोग-)में श्रीकृष्ण उद्धवसे कहते हैं—'मैं धर्मोंमें कर्म-संन्यास अथवा एषणात्रयके त्यागद्वारा सम्पूर्ण प्राणियोंको अभय-दानरूप सच्चा संन्यास (ज्ञानयोग) हूँ[2]।

निष्कामकर्मयोगको भी अपनी दिव्य विभूति बतलाते हुए भगवान्‌ने वहीं (श्रीमद्भागवत, १८ । ३२में) उद्धवसे कहा है कि 'मैं बलवानोंमें उत्साह और पराक्रम तथा भगवद्भक्तोंमें भक्तियुक्त निष्काम कर्मयोग हूँ।'[3] 'भगवद्-विभूतियाँ भगवान्‌के अखण्ड अन्तर्यामित्व एवं व्यापकत्व—विभुत्वकी द्योतिका तथा तत्सांनिध्य-प्राप्तिकी साधिका हैं, अतः विभूतिरूपमें संन्यास और निष्कामकर्मयोग—दोनों अलग-अलग निश्चय ही भगवत्प्राप्तिके साधन हैं। ये दोनों स्वतन्त्र हैं।

हारीतस्मृतिमें ज्ञान-कर्मसमुच्चयके सम्बन्ध[illegible] मिलता है कि जैसे पक्षियोंकी गति दोनों पंखों[illegible] होती है, वैसे ही ज्ञान और कर्म (दोनों)[illegible] ब्रह्मकी प्राप्ति होती है[4]। इससे स्पष्ट है कि [illegible] समुच्चय भी मान्य है। यजुर्वेदकी एक [illegible] जो मनुष्य विद्या (ज्ञान) और अविद्या (क[illegible] एक दूसरीके साथ जानता है, वह अविद्या[illegible] मृत्यु अर्थात् नाशवन्त माया-सृष्टिके प्रपञ्चको ([illegible] पारकर विद्या-(ब्रह्मज्ञान-)से अमृतत्वको [illegible] लेता है[5]।

विद्या और अविद्याका तात्त्विक स्वरू[illegible] एक अन्य मन्त्रसे स्पष्ट होता है—'जो म[illegible] अर्थात् अनित्यमें नित्य, अशुद्धमें शुद्ध, दुःख[illegible] अनात्मा-शरीरादिमें आत्मबुद्धिका अभ्यास कर[illegible] गुण-रहित कारण-रूप परमात्मासे भिन्न जडवस्तु[illegible] करते हैं, वे घोर अज्ञानान्धकारमें पड़ते हैं[illegible] अपने आपको पण्डित माननेवाले (विद्यार्[illegible] शब्द-अर्थका ज्ञान रखनेवाले अवैदिक आचर[illegible] करते हैं, वे उससे भी अधिक अज्ञानरूपी [illegible] प्रवेश करते हैं[6]।

१–यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते। एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ (गीत[illegible]

२–धर्माणामस्मि संन्यासः क्षेमाणामबहिर्मतिः। गुह्यानां सूनृतं मौनं मिथुनानामजस्त्वहम् ॥

(श्रीमद्भागवत–उद्धवगीता ११ । १

३–ओजः सहो बलवतां कर्माहं विद्धि सात्वताम्। सात्वतां नवमूर्तीनामादिमूर्तिरहं परा ॥

४–उभाभ्यामेव हि पक्षाभ्यां यथा वै पक्षिणां गतिः। तथैव ज्ञानकर्मभ्यां प्राप्यते ब्रह्म शाश्वतम् ॥

(हारीतस्मृति ७

५–विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳसह। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥

(यजु० ४०[illegible]

६–अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते। ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाꣳरताः ॥

त्मा नारायण स्वामीने 'वेदरहस्य'में उक्त भावको रते हुए कहा है कि जो अविद्या=कर्मका) उपेक्षा करके) सेवन करते हैं, वे गहरे अन्धकारमें प्रवेश करते हैं और जो विद्या=ज्ञानकी (कर्मकी उपेक्षा करके) उपासना करते हैं, वे उससे भी अधिक अन्धकारमें गिरते हैं[3]।

गीताका प्रतिपाद्य विषय

ास-मार्गी—श्रीशङ्कराचार्य आदिके मतानुसार—
ा ज्ञानान्न मुक्तिः। (ज्ञानके बिना मुक्ति नहीं है)
यः पन्था विद्यतेऽयनाय। (२ तै० उ० ३।८)
मोक्षके लिये ज्ञानको छोड़कर दूसरा मार्ग नहीं है।)
र्णा बध्यते जन्तुर्विद्यया तु प्रमुच्यते।
(महाभारत, शान्ति० २४१। ७)
हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
(गीता ४। ३८)
नं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।
(गीता ४। ३९)

पर्युक्त सिद्धान्तोंके आधारपर संन्यासमार्गी अनेक ों और विद्वानोंने श्रीमद्भगवद्गीताका मुख्य प्रतिपाद्य 'ज्ञानयोग' सिद्ध किया है। गीतोक्त ज्ञानयोगके ़ सर्वत्र आसक्तिरहित बुद्धिवाला, स्पृहारहित हुए अन्तःकरणवाला पुरुष सांख्ययोगके द्वारा भी र्यसिद्धिको प्राप्त होता है।[1]

कर्म—(निष्कामकर्म—) योगी श्रीलोकमान्य तिलकके मतानुसार—
१—योगः कर्मसु कौशलम् (गीता २। ५०)
२—कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः (यजुर्वेद ४०। २)—इस संसारमें कर्मों (निष्कामकर्मों)को करते हुए ही सौ वर्षोंतक जीनेकी इच्छा करे।
३—नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
(गीता ३। ८)
४—तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते।
(गीता ५। २)
५—योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति।
(गीता ५। ६)

उक्त भगवद्वचनोंके आधारपर गीताका प्रतिपाद्य विषय निष्कामकर्मयोग सिद्ध करते हुए कर्मयोगी पुरुष गीता-(३। ४)के तथ्यका प्रमाण देकर कहते हैं कि कर्मोंके आरम्भ न करनेसे नैष्कर्म्यावस्थाकी प्राप्ति नहीं होती और कर्मोंके त्यागनेसे भगवत्प्राप्तिरूपी सिद्धि नहीं मिलती[2]।

श्रीमद्भगवद्गीताकी नवीनता, अलौकिकता अथच सार्वभौमिकता

गीता-धर्मकी अवतारणा महाभारत-युद्ध-कालमें उस हुई, जब अर्जुनको मोह हो गया था कि अपने ही सम्बन्धियोंसे मैं कैसे युद्ध करूँ। यदि सांख्य स या ज्ञानयोगके अनुसार भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें अर्जुनको आदेश दे दिया होता कि 'जाओ ास ले लो, आततायी कौरवोंके अत्याचारोंको सहन करो, तब गीता भी उपनिषदोंकी सांख्य-(ज्ञान-) प्रधान परम्पराकी कड़ी बनकर रह जाती।

यदि व्यवहार-दर्शनकी प्रधानता, लोक-संग्रहात्मक भावोंकी सामान्योन्मुखताकी कसौटीपर गीता खरी उतरती है तो यही उसकी नवीनता और अलौकिकता है। ज्ञानके साथ भक्तिका मेल करके निष्काम-कर्म-

१—असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः। नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति॥ (गीता १८। ४९)
२—न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते। न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥
३—वेदरहस्य-पृष्ठ १०७। २।

योगका समर्थन गीताकी सबसे बड़ी विशेषता है। यही उसकी सार्वभौमिकता है'।

गीतामें लोक-संग्रह—

गीतामें वर्णित लोक-संग्रहमें व्यवहारदर्शनकी झलक मिलती है **'लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि'** (३ । २०)। भगवान् कहते हैं—लोक-संग्रह-(विश्वके भरण-पोषण, सृष्टि-सञ्चालन-) की ओर दृष्टि रखकर भी तुझे कर्म करना ही उचित है।

गीता शांकरभाष्यमें इस पदकी व्याख्या इस प्रकार है—'लोकसंग्रह'—लोकस्योन्मार्गप्रवृत्ति निवारणम्[2]। अर्थात् लोककी मार्जनीय कुप्रवृत्ति-(कुमार्ग-) को रोकना ही लोकसंग्रह है। गीताके अध्याय दो श्लोक ११-३० तकमें सांख्ययोगका वर्णन है, परंतु अठारहवें श्लोकमें भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको कर्तव्य-कर्म, क्षात्रधर्म, लोकसंग्रहविषयक समुचित शिक्षा दी है—'नाशरहित, नित्यस्वरूप जीवात्माके ये सब शरीर नाशवान् कहे गये हैं, अतः हे अर्जुन! तू युद्ध कर। ज्ञानयज्ञ नहीं, कर्मयज्ञ करे[3]।

गीताके निष्कामकर्मयोगका अन्य शास्त्रोंद्वारा समर्थन

श्रीमद्भगवद्गीताके पूर्ववर्ती ग्रन्थ यजुर्वेदकी आज्ञा है—'मनुष्य इस संसारमें धर्मयुक्त निष्कामकर्मोंको करता हुआ ही सौ वर्ष जीवित रहनेकी इच्छा करे। इस कर्ममें प्रवृत्त व्यवहारों-(लोक-संग्रह-कर्म-) को चलानेवाले तुझ मनुष्यमें अधर्मयुक्त अवैदिक क[4]लिप्त नहीं होते'। अध्यात्मरामायणमें लक्ष्मणसे कहते हैं कि कर्ममय संसारके हुआ मनुष्य बाहरी सब प्रकारके अलिप्त रहता है[5]। महाभारत अश्वमेधपर्वमें कर्म स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है;—जैसे 'जो ज्ञानी श्रद्धासे फलाशा न रखकर कर्म-(निष्काम योगका अवलम्बन करके कर्म करते हैं, वे ही सा हैं अर्थात् सच्चे कर्मयोगी हैं[6]।

कठोपनिषद् (२ । १९)के शांकरभाष्यमें योगविषयक निम्नाङ्कित दृष्टान्त ध्यातव्य है—'पूर्ण ज्ञानी पुरुष सब कर्म करके भी श्रीकृष्ण और जनकके स निःस्पृह, अकर्ता-अलिप्त एवं सर्वदा मुक्त ही रहता है[7]। गीता (३ । ११)में कर्मयज्ञका समन्वयात्मक बतलाते हुए भगवान् श्रीकृष्णने कहा है कि इस यज्ञ देवताओंकी उन्नति करो, देवतालोग तुम सबकी उ करेंगे। इस प्रकार पारस्परिक आदान-प्रदानद्वारा उन्न करते हुए कल्याणको प्राप्त होओगे।

ऋग्वेदके एक मन्त्रसे भी इस गीतोक्तभावकी पुष्टि होती है—'मनुष्यो! तुम सब मिलकर चलो, ए भाषा बोलो, तुम सबके मन एक-जैसा ज्ञान प्राप्त करें—जैसे पहले उत्तम ज्ञानी (व्यवहार-कुशल) विद्व अपना भाग, अपना कर्तव्य-पालन करते आये हैं[8]।

१—गीता-रहस्य अथवा कर्मयोगशास्त्र, पृष्ठ ३६१। २—गीता-शांकरभाष्य ३। २०।
३—अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः। अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत॥ (गीता २। १८)
४—कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः। एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥ (यजुर्वेद ४०। २)
५—प्रवाहपतितः कार्यं कुर्वन्नपि न लिप्यते। बाह्ये सर्वत्र कर्तृत्वमावहन्नपि राघव॥ (अध्यात्म रामायण २। ४। ४२)
६—कुर्वते ये तु कर्माणि श्रद्दधाना विपश्चितः। अनाशीर्योगसंयुक्तास्ते धीराः साधुदर्शिनः॥ (म० आश्व० ५०। ६। ७)
७—विरक्तो सर्वदा मुक्तः कुर्वन्नपि न कर्तृता। अकर्तात्वमभिप्रैति श्रीकृष्णजनकौ यथा॥ (कठ० २। १९ शां० भा०में उद्धृत स्मृति-वचन)
८—संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्। देवा भा[illegible] संजानाना उपासते॥ (ऋग्वेद १०। १९१। २)

...ण और असत्यके त्यागकी बुद्धिसे सम्पन्न ...विचारके बिना उत्तम तत्त्वका ज्ञान नहीं होता। ...ही तत्त्वज्ञान होता है। तत्त्वका बोध कराते ...गवान्ने कहा है—'सृष्टिके पूर्व केवल मैं ही मैं था। ...अतिरिक्त न भाव था न अभाव और न तो दोनोंका ...अज्ञान। न स्थूल जगत् था, न सूक्ष्म जगत् और ...का कारण प्रकृति। जहाँ यह सृष्टि नहीं है— ही मैं हूँ। और इस सृष्टिके रूपमें जो कुछ ...हो रहा है, वह भी मैं ही हूँ और इस सृष्टिके न ... जो कुछ बच रहेगा, वह भी मैं ही हूँ' (भागवत ...)। 'शिवसंहितामें स्पष्ट किया गया है कि जीव शिव ...आत्मासे भिन्न नहीं है। कहीं किसी वस्तुमें कोई ...नहीं है और जो भेद प्रतीत होता है, वह भ्रम है। ...हुआ है और जो होगा, जो मूर्तिमान् है और जो ...र्व है, वह सब परमात्मामें अज्ञानसे भासता है। ...द्भागवतमें यह बात स्पष्ट कही गयी है कि एक ...य ज्ञानतत्त्व ही ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् तीन ...रसे कहा गया है—

...दन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
...ह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥
(भा० १। २। ११)

जिस प्रकार एक ही वस्तु दूध, भिन्न-भिन्न इन्द्रियोंसे ...ण किये जानेपर भिन्न-भिन्न गुणोंवाला जान पड़ता —जैसे नेत्रोंके द्वारा शुक्ल, रसनाके द्वारा मधुर ...दि, उसी प्रकार एक ही परमतत्त्व वस्तुतः अभिन्न ...पर भी उपासनाके भेदसे विभिन्न रूपोंमें ग्रहण किया ...ता है। उसकी प्रतीति ज्ञानीके प्रति ब्रह्मरूपसे, ...गीके प्रति परमात्मारूपसे और भक्तके प्रति भगवद्रूपसे ...ी है। श्रीमद्भागवतके अनुसार श्रीकृष्ण ही परमतत्त्व ...। जिन भगवान्के नामोंका संकीर्तन सारे पापोंको ...या नष्ट कर देता है और जिन भगवान्के चरणोंमें ...त्मसमर्पण, उनके चरणोंमें प्रणति सर्वदाके लिये सब ...रके दुःखोंको शान्त कर देती है, उन परमतत्त्वस्वरूप श्रीहरिको मैं नमस्कार करता हूँ (श्रीमद्भा० १२। १३। २३)। भगवान् कृष्ण स्वयं कहते हैं कि मैं ही स्वयं सत्य तत्त्व हूँ (श्रीमद्भा० ११। २८)।

पाश्चात्य विद्वान् भी नश्वरताके बीच केवल एक सत्यका ही अस्तित्व मानते हैं। 'टेनिसन'के शब्दोंमें—

That God, which ever lives and loves,
One God, one Low, one Element,
And one far-off, divine event,
To which, the whole creation moves-

वेही भगवान् चिरन्तन हैं, अमर हैं और सबको प्यार करते हैं। एक ही ईश्वर है। उसका एक महान् नियम, एक महान् तत्त्व है, उसीकी सुदूर दैवी घटनाकी ओर—चिरशान्तिकी ओर समूची रचना चली जा रही है।

A. H. Cotton नामक विद्वान्ने 'Has Science Discovered God?' नामक पुस्तकमें वैज्ञानिकोंके ईश्वर-विषयक विचारोंका संकलन किया है। उसमें Millikah Einstein, Oliver Lodge, Thompson, Syrad, Curtiss, Eddington, Jean Mather आदि प्रसिद्ध विज्ञान-विशारदोंके विचार दिये गये हैं। इनमेंसे प्रत्येकने अपने ढंगसे परमात्म-तत्त्वकी महिमा गायी है, उनके अनुसार जो सबसे ऊँचा एवं सबका समन्वय करनेवाला तत्त्व है और जिसके बिना अनन्तताके महत्त्वकी कल्पना भी असम्भव है।

परब्रह्म—

यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति।
स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥
(अथर्ववेद १०। ८। १)

परमात्मतत्त्वको यथार्थतः जान लेनेपर वासनाओंका जो उत्तम यानी अशेषरूपसे अभाव है, उसे ही सबमें समभावसे सत्तारूप मोक्षपद कहा गया है। ज्ञानी महात्मा पुरुषोंके साथ विचार करके और अध्यात्मभावनासे शास्त्रोंको समझकर सत्ता-सामान्यमें जो निष्ठा होती है, उसी निष्ठाको मुनिलोग परब्रह्म कहते हैं।

तत्त्वज्ञान —

[illegible] सत्य ही ब्रह्म है तथा आत्मा और अनात्माके भेदको जान लेना ही ज्ञान है। श्रीमद्भागवतके ग्यारहवें स्कन्धमें कहा गया है कि जिसके द्वारा समस्त प्राणियोंमें पुरुष, प्रकृति, महत्तत्त्व, अहङ्कार और पञ्चतन्मात्रा—ये नौ तत्त्व, दस इन्द्रियाँ, एक मन, पाँच भूत और तीन गुण—इन अट्ठाईस तत्त्वों और इनमें अधिष्ठानरूपसे अनुगत एक आत्मतत्त्वका भी साक्षात्कार किया जाता है, वही मेरा निश्चित ज्ञान है तथा जब उस एक ही आत्मतत्त्वका निरन्तर अशेष अनुभव होता रहता है और उसके अतिरिक्त त्रिगुणमय भावोंकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय आदि दिखायी नहीं पड़ते, तब ज्ञानी इस प्रकार अनुभूतिको ही विज्ञान (तत्त्वज्ञान) कहते हैं। तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिये वैदिक कालसे ही यह प्रार्थना चली आ रही है—

ॐ शं नो मित्रः शं वरुणः। शं नो भवत्वर्यमा। शं न इन्द्रो बृहस्पतिः। शं नो विष्णुरुरुक्रमः। नमो ब्रह्मणे। नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि। ऋतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु। तद्वक्तारमवतु। अवतु माम्। अवतु वक्तारम्।

(तैत्ति० शीक्षावल्लीका शान्तिपाठ। यह मन्त्र अशतः शु० यजु० ३६। ९, ऋग्वेद १। ९०। ९, अथर्ववेद १९। ९। ६ में भी मिलता है।)

'हे सर्वशक्तिमान्‌! सबके प्राणस्वरूप वायुमय परमेश्वर! आपको नमस्कार है। आप ही समस्त प्राणियोंके प्राणस्वरूप प्रत्यक्ष ब्रह्म हैं। अतः मैं आपको ही प्रत्यक्ष ब्रह्मके नामसे पुकारूँगा। मैं ऋत नामसे भी आपको पुकारूँगा; क्योंकि सारे प्राणियोंके लिये जो कल्याणकारी नियम है, उस नियमरूप ऋतके आप ही अधिष्ठाता हैं। तथा मैं आपको 'सत्य'के नामसे पुकारूँगा, क्योंकि सत्यके अधिष्ठातृदेव आप ही हैं....।'

इस जगत्‌में आदि और अन्तसे रहित [illegible]

[illegible] ही है। इस प्रकार जो इस वि[illegible] मायामय समझ, ज्ञान [illegible] अर्थात् ज्ञान कहते हैं। यह सब ब्र[illegible] ही है ऐसा निश्चय करके पुरुष पूर्ण ज्ञानी [illegible] यह यथार्थ आत्मदर्शन है। उन पुरु[illegible] न तो स्व जगत् है और न ही मन है। यह [illegible] व्यवहार चेष्टा कर रहा है, ऐसा विचार [illegible] जिसने अपनी स्थिति और मुक्ति प्राप्त [illegible] जाती है, क्योंकि देह हो जानेपर इसकी [illegible] निःसन्देह न तो अहंकार रह जाता है और न ही [illegible] की स्थिति रहती है। इसलिये कहा गया है— शोकके पारदर्शी ज्ञानी पुरुष परमेष्ठि (तत्त्वज्ञान[illegible]) प्राप्त कर चुके हैं। उन्हें इस विस्तृत दृश्यप्र[illegible] विद्यमान होनेपर भी इसका भान नहीं होता[illegible] सबको परब्रह्म ही समझते हैं। जो परमेष्ठिको प्राप्त कर चुके हैं, दृश्य-प्रपञ्चका भान न होनेके कारण उन[illegible] चेष्टा भी वास्तविक चेष्टा नहीं होती। ऐसे तत्त्वज्ञानी[illegible] पराभवमें देवता भी असमर्थ होते हैं; क्योंकि वह उनका आत्मा ही हो जाता है।

कर्म—

वेदान्तकी दृष्टिसे कर्मका प्रवाह अनादि है। जबतक प्राणी जीवित है, उसे कर्म करना पड़ता है। वह पूर्णतया कर्मोंको छोड़ भी नहीं सकता, क्योंकि प्रकृतिके गुण सत्त्व, रज और तम सबसे बलपूर्वक कुछ-न-कुछ कर्म कराते रहते हैं। सुनना, देखना, चखना, सूँघना, स्पर्श करना, चलना, विचारना, संकल्प और निश्चय करना आदि सब कायिक, वाचिक, मानसिक और बौद्धिक चेष्टाएँ कर्मके अन्तर्गत हैं। पर ब्रह्मदृष्टिसे कर्मका अस्तित्व ही नहीं है; क्योंकि वे तो एक पदार्थके जड़ और चेतन उभयरूप होनेपर भी हो सकते हैं। जो वस्तु विकारयुक्त और अपना हिताहित [illegible] होती

इसी प्रकार आचार-समाधिके भी चार प्रकार बताए गये हैं—

१—इस लोकके निमित्त आचारका पालन नहीं करना चाहिये।

२—परलोकके निमित्त आचारका पालन नहीं करना चाहिये।

३—कीर्ति, वर्ण, शब्द और श्लोकके निमित्त आचारका पालन नहीं करना चाहिये।

४—आर्हत-हेतु—अर्हतोंद्वारा मोक्ष-साधनाके लिये उपदिष्ट हेतु (संवर और निर्जरा) के अतिरिक्त किसी भी उद्देश्यसे आचारका पालन नहीं करना चाहिये।

उक्त संदर्भमें गीताका निष्काम कर्म और भगवान् महावीरकी सकाम निर्जरा—दोनों समान महत्त्वके हैं। किसी भी कामनासे जुड़ी हुई कोई भी प्रवृत्ति सकाम निर्जरामें परिगणित नहीं होती। गीतामें—'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'—तुम्हारा कर्म करनेका अधिकार है, पर फलाकाङ्क्षाका तुम्हें अधिकार नहीं है—कहकर श्रीकृष्णने व्यक्तिको कर्म करनेकी खुली छूट दी है। उसका वैशिष्ट्य यही है कि वह कर्म निष्काम हो। 'जैनदर्शन' निष्कामभावसे किये जानेपर भी अनपेक्षित कर्मको नियन्त्रित करनेका परामर्श देता है।

सामान्यतः लोगोंकी एक धारणा है कि मनुष्यको अकर्मण्य नहीं होना चाहिये। कुछ-न-कुछ करते रहना ही जिन्दगी है, जीवन है। जिस दिन कर्म छूट गया, उस दिन जीनेका उल्लास भी छूट गया। किंतु यह धारणा उन लोगोंकी हो सकती है, जिन्होंने अन्तर्मुखताका अभ्यास नहीं किया हो। इस मान्यताका समर्थन वे ही व्यक्ति कर सकते हैं, जो ध्यानकी भूमिकासे गुजरे न हों। ध्यानसाधना व्यक्तिको अकर्म रहनेकी प्रेरणा देती है। मन, वाणी और शरीरकी स्थूल क्रियाओंका निरोध ध्यानका प्रथम विन्दु है। सूक्ष्म क्रियामात्रका निरोध ध्यानका अन्तिम विन्दु है। इस स्थितिमें पहुँचनेवाला ही मोक्षको पा सकता है।

स्वयं भगवान् महावीर साढ़े बारह सालतक अकर्मकी साधनामें संलग्न रहे। उस अवधिमें उन्होंने न किसीको उपदेश दिया, न प्रवचन किया। उस समय वे किसीके साथ बात करना भी नहीं चाहते थे। बहुत बार न बोलनेके कारण उन्हें कई प्रकारकी यातना सहनी पड़ी। वे सब कुछ सहते रहे, पर अनपेक्षित एक शब्द भी नहीं बोले। जब कभी वे बोलते, आत्मशोधनकी दृष्टिसे ही बोलते थे। वे अधिकांश ध्यानमें रहते थे। कई-कई दिनोंतक निरन्तर ध्यानकी साधना करते थे। ध्यानकालमें चाहे मच्छर काटे, चाहे बिच्छू या साँप काटे; चाहे आगकी लपटें उनके शरीरको झुलस दें, वे एक क्षणके लिये भी प्रकम्पित नहीं हुए। साधारणतया ये बातें समझमें आने-जैसी नहीं हैं, फिर भी इनपर अविश्वास करनेका कोई कारण नहीं है। निष्काम कर्मका इससे बढ़कर कोई दृष्टान्त नहीं हो सकता। जिस कर्ममें अपनी दैहिक आसक्ति और परिकर्म भी छूट जाते हैं, वहाँ कोई कामना रह ही कैसे सकती है। वैसी अवस्थामें ही निष्कामता पुष्ट होती है।

निष्काम कर्मका परिणाम अध्यात्म है। अध्यात्मवादी व्यक्ति ही इस दृष्टिकोणको विकसित कर सकते हैं। भौतिकवादी व्यक्ति तो अनेक प्रकारकी कामनाओंसे घिरा रहता है। उसकी एक कामना पूरी होती है, चार दूसरी उभर आती हैं। आज हमारे राष्ट्रिय संकटका भी सबसे बड़ा कारण यही है। यदि हमारे राष्ट्रनेता निष्काम कर्मकी दीक्षा स्वीकार कर लें तो अनेक समस्याएँ स्वयं समाहित हो सकती हैं। किंतु जबतक उनके चारों ओर कामनाओंका जाल बिछा रहेगा, आकाङ्क्षाओंका विस्तार होता रहेगा तथा कर्मको संशोधित करनेका दृष्टिकोण निर्मित नहीं होगा, तबतक स्वस्थ राष्ट्रिय चेतनाके विकासकी कल्पनामात्र बनकर ही रह जायगी।

भावना है; क्योंकि धर्म ही दुःखका नाशक है। ऐसी स्थितिमें कौन-सा पथ प्रशस्त है, जो साधकको साधनाके लिए अनुकूल हो, जिस पथपर चलकर वह अपनी आत्माको परमात्माके पदतक पहुँचा सके।

[जैनोंमें इस प्रश्नका समाधान निष्कामकर्म करनेकी प्रेरणा देकर किया गया है। जैन-शास्त्रोंमें इसके लिए दो उपाय सुझाये गये हैं—निरोध और संशोधन। निरोध, संवर, गुप्ति आदि शब्द एक ही अर्थके बोधक हैं। निरोधका अर्थ है रोकना। मनुष्य अपनी इस क्षमताको विकसित कर सम्पूर्ण क्रियाका निरोध कर ले। जबतक इस रूपमें क्षमताका विकास नहीं होता है, वह कम-से-कम अनावश्यक कर्मको छोड़ दे। आवश्यक और अनावश्यक कर्मोंमें एक निश्चित भेद-रेखाका होना बहुत जरूरी है; अन्यथा शक्तिका अपव्यय होता है और कर्मका कोई सुफल नहीं होता।

गहराईसे देखा जाय तो मनुष्यकी अधिकतर प्रवृत्तियाँ अनावश्यक होती हैं। प्रवृत्तिके अनेक रूप हैं—बोलना, चलना, खाना, सोना, हँसना आदि। इनमेंसे एक प्रवृत्तिपर ही विमर्श किया जाए तो ऐसा प्रतीत होता है कि अस्सी प्रतिशत क्रिया अनावश्यक होती है। इसकी जाँच करनेके लिए एक दिनका पूरा मौन करके निश्चित परिणाम निकाला जा सकता है। देखना यह चाहिये कि एक दिनके मौनमें अनिवार्य-रूपसे बोलनेका प्रसङ्ग कितनी बार उपस्थित होता है। कठिनाईसे दो-चार प्रसङ्ग ऐसे बनते होंगे, जहाँ बोले बिना काममें अवरोध आ जाता है। अधिकांश बोलना तो अभ्यासवश होता है। महात्मा गांधीने मौनको सर्वोत्तम भाषण बताते हुए कहा—'यदि तुम्हारा काम एक शब्द बोलनेसे चल सकता है तो तुम दो शब्द मत बोलो।' साइरसका अनुभव है कि 'मुझे मौन रहनेका पश्चात्ताप कभी नहीं हुआ, किंतु इस बातका पश्चात्ताप अनेक बार हुआ कि मैं क्यों बोला!'

[illegible] है और [illegible] है। [illegible] अनेक प्रकारकी उलझनें बढ़ाता है और [illegible] उपभोगको भी दुःखद सिद्ध है। [illegible] हो न हो तो विषम और विसंवादी [illegible] किया जा सकता है। इसी प्रकार [illegible] भी अनावश्यक [illegible] निरोध करनेकी [illegible] है। मन, वाणी और शरीरकी इन [illegible] प्रवृत्तियोंका निरोध होनेके बाद जो प्रवृत्ति बचेगी [illegible] निष्कामकर्मकी पुष्ट हो सकती है।

आवश्यक और अनावश्यक कर्मोंका सम्यक् [illegible] होनेके बाद अनावश्यक प्रवृत्तिका निरोध और [illegible] संशोधन करनेवाला निष्कामकर्मकी दिशामें गति [illegible] है। निष्कामका अर्थ है अनासक्त कर्म। काम छोटा [illegible] या बड़ा, आवश्यक हो या अनावश्यक, आसक्ति[illegible] परिहार उस कर्मकी उपादेयताका मानदण्ड है। [illegible] आसक्ति किसी भी पदार्थका स्पर्श करनेवाली नहीं होनी चाहिये। इस संदर्भमें जैन आगमोंमें बहुत ही स्प[illegible] दृष्टिकोण है। वहाँ साधकको यह सुझाया गया है कि वह अपनी तपःसाधना और आचार-साधनामें भी किसी प्रकारकी आशंसा (इच्छा) न जोड़े। आशंसाका परित्याग होनेसे तपस्या और आचार दोनों समाधि बन जाते हैं। जहाँ भी इनमें किसी प्रकारकी आशंसा जुड़ी कि समाधि खण्डित हो जाती है। तपःसमाधिके चार प्रकारोंकी चर्चा करते हुए कहा गया है—

१–इस लोकके निमित्त तप नहीं करना चाहिये।

२–परलोकके निमित्त तप नहीं करना चाहिये।

३–कीर्ति, वर्ण, शब्द और श्लोक (यश)के लिये तप नहीं करना चाहिये।

४–निर्जरा आत्म-शुद्धिके अतिरिक्त किसी भी उद्देश्यसे तप नहीं करना चाहिये।

क्योंकि निषिद्ध कर्म मनुष्यको बलपूर्वक बाँधने- ते हैं। शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्मोंको फलकी और कामनाका त्याग करके किया जाता है; शास्त्रविहित कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करना है (१८।६)। शास्त्रविहित कर्मोंका त्याग करना राजस एवं तामस त्याग कहा गया कर्मोंको स्वरूपसे न त्यागकर उनमें आसक्ति ऽच्छाका त्याग करना सात्त्विक त्याग कहा गया ८।७-९)। श्रीभगवान्‌का कथन है— र्म करनेमें ही अधिकार है, उसके फलोंमें इसलिये तू कर्मोंके फलका हेतु मत हो ो कर्म न करनेमें भी आसक्ति न हो (गीता ७)।'

र्मयोगी किसी भी वस्तुको अपनी और अपने लिये रता। शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, धन, मकान, आदि जितनी भी वस्तुएँ हैं, वे सब-की-सब ी संसारसे ही (संसारमें जन्म लेनेपर) प्राप्त और (मृत्यु आनेपर) संसारमें ही छूट जायँगी। पास कोई भी वस्तु व्यक्तिगत नहीं है। संसारसे ई वस्तुओंको अपनी मानकर उनसे सुख लेनेसे बँधता है और उन्हें संसारकी ही सेवामें लगा मनुष्य मुक्त होता है। शरीरादि वस्तुओंको अपनी पने लिये माननेसे 'भोग' होता है, 'योग' नहीं ता। इसलिये हमारे पास जो सामग्री है, उससे ी सेवा कैसे हो? दूसरोंका हित कैसे हो? ो सुख कैसे पहुँचे?—यहींसे कर्मयोग प्रारम्भ है। कर्मयोगीकी प्रत्येक क्रिया दूसरोंके हितके लिये ही होती है। इस प्रकार संसारकी वस्तुको संसारकी ही सेवामें लगा देनेसे संसारसे सुगमतापूर्वक सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और समता या परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति हो जाती है।

अन्तःकरणकी शुद्धि कर्मयोगसे ही होती है (गीता ५।११)। सांसारिक वस्तुओंको अपना मानना ही अन्तःकरणकी मूल अशुद्धि है। कर्मयोगी किसी भी वस्तुको अपने लिये अपनी न मानकर उसे दूसरोंके हितमें लगाता है। इसलिये उसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, और फलस्वरूप उसे तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति भी अपने-आप (बिना किसी दूसरे साधनके) हो जाती है*।

कर्मयोगका मूल मन्त्र है—सेवा। जो कर्म अपने लिये किया जाय, वह 'भोग' और जो कर्म दूसरेके लिये किया जाय, वह 'सेवा' है। कर्मयोगी अपने लिये कुछ भी न करके निःस्वार्थ और निष्कामभावसे अपनी प्रत्येक क्रिया दूसरोंके सुखके लिये ही करता है। उसके द्वारा दूसरोंको सुख मिल सके या न मिल सके, पर उसका भाव दूसरोंको सुख पहुँचानेका ही रहता है। सुख तो उन्हें ही मिलेगा, जिनके भाग्यमें सुख है, पर सुख देनेका भाव रखनेसे कर्मयोगीका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है। कर्मयोगी स्वाभाविकरूपसे निरन्तर सबके हितमें रत रहता है। इसलिये उसे सुगमतापूर्वक परमात्मप्राप्ति हो जाती है;† क्योंकि जो दूसरोंके हितमें लगा रहता है, उसका परम-हित भगवान् करते ही हैं।

कर्मयोगी कभी स्वप्नमें भी ऐसा विचार नहीं करता कि दूसरे बदलेमें मेरी सेवा करें, मेरी प्रशंसा एवं सम्मान करें, मेरा एहसान (उपकार) मानें

---

* तत् स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥
काल पाकर उस तत्त्वज्ञानको कर्मयोगके द्वारा शुद्धान्तःकरण हुआ योगसंसिद्ध पुरुष अपने-आप ही में पा लेता है।' (गीता ४।३८)

† ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥
सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें रत योगिजन मुझे ही प्राप्त कर लेते हैं।' (गीता १२।४)

कर्मयोगका तत्त्व, महत्त्व और कर्मयोगीका स्वरूप-स्वभाव

[श्रीमद्भगवद्गीताके आधारपर]

(लेखक श्रीराजेन्द्रकुमारजी धवन)

योगका लक्षण है—'समता'—'समत्वं योग उच्यते' (गीता २ । ४८)। परमात्मा भी सम है—'निर्दोषं हि समं ब्रह्म' (गीता ५ । १९)। अतएव योग, समता और परमात्मा—तीनों एक ही तत्त्व हैं।

समताकी प्राप्ति संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेसे होती है; क्योंकि संसार विषम है। इसलिये भगवान् गीता-(६ । २३-) में कहते हैं—

'तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।'

'दुःख-संयोगके वियोगको 'योग'नामसे जानना चाहिये।'

संसार दुःखोंका घर है—'दुःखालयम्' (गीता ८ । १५)। अतः संसारसे सम्बन्ध होना ही 'दुःख-संयोग' है। इस दुःखरूप संसारसे वियोग (सम्बन्ध-विच्छेद) होनेपर मनुष्य योगी हो जाता है और उसकी स्थिति समता या परमात्मतत्त्वमें हो जाती है।

वास्तवमें जीव स्वरूपतः पहलेसे ही योग अथवा समतामें स्थित है। परंतु उसने भूलसे संसार-(विषमता-)से अपना सम्बन्ध मान लिया, जिसके कारण उसे अपने स्वरूपकी विस्मृति हो गयी। अतएव संसारसे सम्बन्ध-विच्छेदपूर्वक अपने स्वरूपकी स्मृति जगानेके लिये अहैतुक करुणावरुणालय भगवान्‌ने तीन योग-साधन बतलाये हैं—ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग*। यहाँ केवल कर्मयोगपर विचार किया जा रहा है।

कर्मयोगका लक्षण है—कर्म करते हुए उनसे मुक्त रहना। आसक्ति और कामनाको त्यागकर बुद्धिसे शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्मका आचरण करते रहना है। कर्मयोगमें 'कर्म' दूसरोंके लिये और 'योग' अपने लिये होता है। कर्मयोगी अपने लिये कोई कर्म नहीं करता। परमात्मप्राप्ति कर्मसे नहीं, अपितु 'कर्मयोग'से होती है। कर्मसे उन्नति होती है और 'कर्मयोग'से उसका नाश होता है। इस योगमें सभी कर्म आसक्ति और कामनाको त्यागकर किये जाते हैं। आसक्ति और कामनाको त्यागकर किये गये कर्म कर्म होनेपर भी निष्काम निर्लिप्त होनेसे 'अकर्म' बन जाते हैं, अर्थात् वे बन्धनकारक नहीं होते (गीता ४ । २०)। इसलिये कर्मयोगी कर्म करते हुए भी कर्मोंसे लिप्त नहीं होता (गीता ५ । ७)। वह आसक्ति और कामनासे रहित होकर कर्म करते हुए परमात्माको प्राप्त कर लेता है (गीता ३ । १९)। गीतामें प्रायः दो-चार नहीं सर्वत्र इसी भावनाकी धुनसक्ति दीखती है इसमें योग शब्द भी बहुधा कर्मयोगके लिये प्रयुक्त हुआ है।

कर्मयोगमें सर्वप्रथम निषिद्ध-कर्मों-(झूठ, कपट, चोरी, हिंसा, व्यभिचार आदि-)का स्वरूपसे त्याग किया

* योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया। ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥

श्रीभगवान् कहते हैं—'मनुष्योंका कल्याण करनेके लिये मैंने इन तीन योगोंका उपदेश किया है—ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग। मनुष्यके कल्याणके लिये इनके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है।'

ल्लन नहीं कर सकता। कर्मयोगीको दूसरेके कर्म-रीक्षणसे कोई तात्पर्य नहीं होता। मूलतः वह सुधारक नहीं होता, सुधारका आदर्श होता है।

कर्मयोगी अपने लिये न तो कोई कर्म करता है और न अपनेको किसी कर्मका कर्ता ही मानता है, फिर उसमें कर्तृत्वाभिमान आ ही कैसे सकता है? वह कर्म-सामग्री और कर्म-फलके साथ भी अपना कोई सम्बन्ध नहीं मानता। इसी प्रकार वह शरीर-इन्द्रियाँ, मन-बुद्धि, माता-पिता, स्त्री, भ्राता-पुत्र, परिवार, वर्ण-आश्रम-जाति, विद्या, शक्ति अथवा योग्यता आदि किसीके भी साथ अपना स्वार्थसम्बन्ध नहीं मानता। केवल सेवा-दृष्टया कर्तव्य-पालनके लिये ही वह इनसे सम्बन्ध मानता है। कर्तव्यमात्रके लिये माना गया सम्बन्ध बन्धन-कारक नहीं होता। जैसे मनुष्यका दवामें राग नहीं होता, वैसे ही कर्मयोगीका कर्तव्य-कर्मोंमें राग नहीं होता। आसक्ति और कामना न रखकर अपने कर्तव्य-कर्मोंका पालन करनेसे उसमें निर्लिप्तता आती है और मनुष्य कर्मसिद्धिको प्राप्त हो जाता है।

कर्मयोनि होनेके कारण मनुष्य-शरीरमें कर्मकी प्रधानता है। मनुष्य क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता (३। ५)। मनुष्य चाहे तो कर्मफलका त्याग कर सकता है, पर कर्मका नहीं। इस दृष्टिसे मनुष्य-मात्र कर्मयोगके अधिकारी हैं। अपने कल्याणकी तीव्र इच्छा होनेपर कोई भी मनुष्य कर्मयोगका अनुष्ठान कर सकता है। गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय तो मनुष्य-शरीर कर्मयोगका पालन करनेके लिये ही मिला है। वर्तमानमें लोग भक्ति और ज्ञानपर ही अधिक ध्यान दे रहे हैं, कर्मयोगपर नहीं। कर्मयोगको तत्त्वसे जानने-वाले और उसका अनुष्ठान करनेवाले श्रेष्ठ पुरुषोंकी कमी होनेके कारण ही कर्मयोगका प्रचार बहुत कम है। वर्तमानमें निःस्वार्थभावसे दूसरोंका हित करनेवाले मनुष्यों-का बहुत अभाव है। इसलिये वर्तमानमें सबसे अधिक आवश्यकता कर्मयोगकी ही है। कर्मयोगके सिद्धान्तसे ही लोकसंग्रह होगा और लोक-संग्रहसे विश्वका मङ्गल होगा।

कर्मयोगका पालन किये बिना ज्ञानयोग या भक्ति-योग इन दोनोंमेंसे कोई भी एक सिद्ध नहीं हो सकता। चाहे कोई ज्ञानयोगका पालन करे या भक्तियोगका, कर्म-योगकी प्रणाली शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्म करना, अपने लिये कुछ न करना आदि—उसे अवश्य अपनानी पड़ेगी। श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान्‌ने कर्मयोगको ज्ञानयोग और भक्तियोगके समकक्ष शीघ्र सिद्धिदायक बतलाया है (३। ७ और ५। २)। भगवान् निष्काम-कर्मयोगीको 'नित्यसंन्यासी' भी कहते हैं (गीता ५। ३)। उपनिषदोंमें सबसे पहली ईशावास्योपनिषद्‌का द्वितीय मन्त्र भी स्पष्टरूपसे कर्मयोगकी महत्ता और आवश्यकताका प्रतिपादन करता है।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

'इस जगत्‌में निष्कामभावमें शास्त्रनियत कर्मोंको आचरण करते हुए ही सौ वर्षोंतक जीनेकी इच्छा करनी चाहिये। इस प्रकार किये जानेवाले कर्म तुझ मनुष्यमें लिप्त नहीं होंगे। इससे भिन्न अन्य कोई मार्ग नहीं है, जिससे मनुष्य कर्मोंसे मुक्त हो सके।' इसके लिये विश्वमें परमात्मदर्शन भी आवश्यक है। अखिल-ब्रह्माण्डमें जो कुछ भी जड़-चेतनस्वरूप जगत् है, यह समस्त ईश्वरसे व्याप्त है। उस ईश्वरको सर्वत्र देखते हुए त्यागपूर्वक आत्मपालन या आत्मरक्षण करते रहो। इसमें आसक्त मत होओ।

इस कर्मयोगमें आरम्भका अर्थात् बीजका नाश नहीं है और उल्टा फलस्वरूप दोष भी नहीं है, बल्कि इस कर्मयोगरूप धर्मका थोड़ा-सा भी साधन जन्म-मृत्युरूपके महान् भयसे रक्षा कर लेता है (गीता २। ४०)।

इत्यादि । जो दूसरेसे सुख, सेवा, सम्मान या अन्य किसी लाभको पानेकी आशासे दूसरेकी सेवा करता है, वह भोगी होता है, योगी नहीं होता । सेवा करनेकी वस्तु है, करवानेकी नहीं । एक व्यापारी शीतकालमें सैकड़ों कम्बल बेच देता है, और उन कम्बलोंसे लोगोंको सुख भी मिलता है; परंतु इसे व्यापार ही कहा जायगा, सेवा नहीं; क्योंकि व्यापारी बदलेमें धन कमानेके उद्देश्यसे ही कम्बल बेचता है । सेवामें भावका विशेष महत्त्व होता है, क्रियाका कम ।

कर्मयोगी किसी भी वस्तुको अपनी न मानकर उसीकी मानता है, जिसकी वह सेवा करता है । इसलिये वह दूसरेकी सेवा करनेमें अपना कोई एहसान नहीं मानता, अपितु वह यह मानता है कि संसारसे ली हुई वस्तुको संसारकी ही सेवामें लगा देना अपना ऋण उतारना है, किसीपर कोई एहसान करना नहीं ।

सेवाके विषयमें लोगोंकी एक मुख्य शङ्का यह रहती है कि जिसकी सेवा की जाती है, उसकी वृत्तियाँ बिगड़ती हैं; जैसे—एक निर्धन व्यक्तिकी धनसे सेवा की जाय, तो उसमें शनैःशनै लोभ उत्पन्न हो जायगा और धन लेने या माँगनेकी बुरी आदत पड़ जायगी । परंतु यह शङ्का निराधार है । वास्तवमें अपनेद्वारा की गयी सेवामें त्रुटि होनेपर ही दूसरे-(सेवा लेनेवाले-)में 'लेने'का भाव उत्पन्न होता है । तात्पर्य यह है कि यदि हम बदलेमें मान, आदर, सुख आदि पानेकी कामनासे अथवा ममता-आसक्तिको साथ रखते हुए दूसरेकी सेवा करते हैं, तो उसमें 'लेने'की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है । इसके विपरीत आसक्ति और कामनासे रहित ईश्वर बुद्धिसे शुद्ध सेवा करनेसे दूसरे-(सेवा लेनेवाले-) के अन्तःकरणमें भी दूसरोंकी सेवा करने-(या दूसरोंको देने-) का भाव जाग्रत होता है ।

हम जिस (शरीरादि) वस्तुको अपनी मानते हैं, वह अशुद्ध हो जाती है । कर्मयोगी कि… अपनी नहीं मानता । अतः कर्मयोगीके पा… प्रत्येक वस्तु पवित्र हो जाती है, धन्य हो… जिस स्थानमें कर्मयोगी निवास करता है, व… पवित्र हो जाता है । वहाँका वातावरण पवि… है । सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें रत उस… दर्शन-स्पर्श-वार्तालापसे ही लोगोंको शान्ति मि…

कर्मयोगीका कर्तृत्वाभिमान (कर्तापनका अ… कर्म करते हुए भी सुगमतापूर्वक मिट जा… कारण यह कि कर्मयोगी जिस समय जो कर्म क… उसी समय उस कर्मका कर्ता रहता है, अ… नहीं; जैसे, व्याख्यान देते समय ही वह… रहता है, सुनते समय ही वह 'श्रोता' बनता… शिक्षा देते समय ही वह 'शिक्षक' बनता है—अन्य नहीं । जैसे लिखनेके समय हम लेखनीको ग्रहण… हैं और लिखना समाप्त करते ही उसे यथास्थान… देते हैं, वैसे ही कर्मयोगी कर्म करते समय ही… और कर्म-सामग्री-(शरीरादि वस्तुओं-)से अ… सम्बन्ध मानता है, और कर्म समाप्त होते ही उ… सम्बन्ध-विच्छेद करके अपने (कर्तृत्व-भोक्तृत्व-रहित… स्वरूपमें स्थित हो जाता है । कर्म करते समय… कर्मयोगीका भाव वैसा ही रहता है, जैसा भाव नाटकमें… स्वाँगका रहता है । तात्पर्य यह कि जैसे नाटकमें… श्रीरामका स्वाँग करनेवाला व्यक्ति अपनेको श्रीराम नहीं… मानता, वैसे ही कर्मयोगी संसारमञ्चपर स्वाँगकी तरह… सारे कर्तव्य-कर्म करते हुए भी अपनेको उनका कर्ता… नहीं मानता । संसारमें पिता, पुत्र, भाई, पति आदिके… रूपमें उसे जो स्वाँग मिला है, उसे वह ठीक-ठीक… निभाता है । दूसरा अपने कर्तव्यका पालन करता है… या नहीं करता—उसकी ओर न देखकर वह अपने… कर्तव्यका उत्तमसे उत्तम पालन करता है । दूसरेके… कर्तव्यको देखनेवाला… अपने कर्तव्यका ठीक-ठीक

ता है, तबतक उसका चित्त कर्मवासनाओंमें ा है; इसीसे उसे शारीरिक बन्धनमें बँधना पड़ता ो कारण है कि कर्मवासनाओंमें आसक्तचित्त । फिर कर्मोंमें प्रवृत्त कर देता है।'

एव शास्त्र कहता है कि मनके सकाम कर्मोंमें एवं अज्ञानग्रस्त होनेपर भी विहित कर्मोंको ग बुद्धिसे करता ही रहे; तभी इसे शरीर-बन्धनसे गेगी; क्योंकि केवल कर्म करनेसे ही कर्म-बन्धन ता। महर्षि शुकदेव परीक्षित्से कहते हैं—

। कर्मनिर्हारो न ह्यात्यन्तिक इष्यते।
(श्रीमद्भा० ६। १। ११)

ु वही कर्म जब भगवदर्पित होता है, तब वह भावपूर्ण भक्ति बन जाता है, जिससे जीवको ी भगवत्प्राप्ति हो जाती है। इसीलिये उद्धवजीसे श्रीकृष्ण कहते हैं कि तबतक मनुष्य निरन्तर रता ही रहे, जबतक मेरे कथाकीर्तन आदिमें ा उत्पन्न न हो जाय अथवा स्वर्गादिसे वैराग्य ाय—

ं कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
ाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥
(श्रीमद्भा० ११। २०। ९)

बन्धनसे यदि छुटकारा पाना है तो समस्त र्मोंको भगवान्‌के चरणोंमें अर्पित करना ही ागा। जीवनकी यावन्मात्र क्रियाएँ हैं, उन सबको वल भावनात्मक मोड़ देनेकी आवश्यकता है। जब सुख और इन्द्रिय-तृप्तिकी भावना छोड़ करके स्वार्थरहित र निष्काम-भावनासे भगवदर्थ—'श्रीकृष्णार्पणमस्तु' ी—कल्याणकारी उत्तम भावनासे भावित होकर समस्त र्म किये जाते हैं तब वे भक्तिका रूप ले लेते हैं। उस य लौकिक दीखनेवाले कर्म भी भवबन्धनसे मुक्ति कर परात्पर परब्रह्म श्रीकृष्णके चरणोंमें बैठा देते हैं। यं भगवान्‌ने अपने श्रीमुखसे श्रीमद्भगवद्गीता (९। २६-७) में यही उद्घोष किया है—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥
यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

पवित्र बुद्धिवाले, निष्काम प्रेमीभक्तके प्रेमपूर्वक अर्पित किये हुए पत्र-पुष्प भी मेरे प्रीति-भोजन हो जाते हैं। इसलिये सकाम-निष्काम सभी कर्मोंको मुझे अर्पित करते चलो। श्रेष्ठ सकाम कर्म भी भगवदर्पण-बुद्धिसे सम्पन्न होनेपर 'पुण्य'की परिधिमें चले आते हैं और कल्याण-विधान करते हैं।

इसके विपरीत जो क्रियाभिमानमें लिप्त और कामनाओंसे आसक्त होकर विषयकी तृप्ति-कामनासे प्रेरित हुए अहर्निश सकाम कर्मोंमें लिप्त रहकर अपनी सक्रियता बनाये रखते हैं, उनका संसारके क्रिया-क्षेत्रमें पुनरागमन बना रहता है। अतएव ऐसे जीव भगवद्धामकी प्राप्ति नहीं कर पाते, प्रत्युत प्राकृत लोकोंमें ही उन्हें पुनः कर्म करनेका अवसर दिया जाता है। गीता आदि शास्त्रोंमें जो यज्ञादिका विधान है। **'सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा', 'देवान् भावयतानेन'**—(३। १०-११) वह तो देवताओं और मनुष्योंका परस्पर भावनात्मक आदान-प्रदान है। यज्ञादि कर्मोंसे प्रसन्न होकर देवता मानवकी आवश्यकताओंको पूर्ण करते हैं। इससे सकाम कर्मके फलकी प्राप्ति तो होती है, परंतु वह विशुद्ध भगवदीय न होनेसे प्रभुचरणारविन्दोंकी उपलब्धिमें सहायक (निष्काम-कर्म) नहीं होते। इसीलिये श्रीमद्भागवतमें व्यासजीके प्रति श्रीनारदजीका कथन है कि—'जिस कर्मका फल भगवान्‌को समर्पित नहीं किया जाता, वह कर्म कितना भी उत्तम क्यों न हो, शोभा नहीं पाता; क्योंकि अन्ततः वह परिणाममें दुःखदायी ही सिद्ध होगा। सर्वथा निष्काम एवं पूर्ण आत्मज्ञानी होते हुए भी यदि निष्काम भक्तिसे हीन हो तो वह जीवन्मुक्त भी शोभा नहीं पाता। अतः यह मानना पड़ेगा कि भक्तिहीन, निष्काम कर्म

भगवदर्पित कर्म ही निष्काम है

(लेखक—महामण्डलेश्वर श्रीरामदासजी शास्त्री)

हरिद्वारके गत कुम्भमेलाके अवसरपर दो सज्जन सड़कपर झाड़ूसे सफाई कर रहे थे। दर्शकोंकी भीड़मेंसे 'वाह! वाह!!' 'सच्चे सन्त', 'कर्मयोगी सन्त' आदि वाक्योंकी ध्वनि आ रही थी। हमने विचार किया यह कौन-सा कर्म है! निष्काम या सकाम! अकर्म, विकर्म अथवा सुकर्म! सम्भव है कि उन सन्तोंको अपने इस कर्मसे तथा-कथित जनसेवाकी सुखानुभूति हो रही हो, पर इस कर्मके दूरगामी परिणाम क्या होंगे! यह उनके विचारमें होगा, यह निःसंदिग्ध नहीं कहा जा सकता। अस्तु।

यह कर्म निष्काम तो इसलिये नहीं; क्योंकि लौकिक व्यवहारके सभी कर्म कामनाप्रेरित होते हैं और सकाम कर्मकी संज्ञा भी इसे कैसे दें! क्योंकि सकाम कर्म भी किसी सदुद्देश्यकी पूर्तिके लिये देवाराधन, इष्टोपासनायुक्त होता है। जीवनका उद्देश्य सड़ककी सफाईसे पूरा नहीं होता, अतः इसको विहित कर्म भी कैसे कहा जाय। यह वर्णाश्रमधर्मके स्वरूप-विचारसे अननुरूप आचरण है।

वैसे, 'गहना कर्मणो गतिः'—कर्मकी गतिको समझ पाना अत्यन्त कठिन है। क्या कर्म है, क्या अकर्म है—इस विषयमें बड़े-बड़े विद्वान् भी मोहित हैं—'किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः' (गीता ४।१६)। कर्म तो सभी हैं; हाथ-पैरोंका हिलाना भी कर्म है, पानीमें व्यर्थ लाठीका प्रहार भी एक कर्म है, एक नन्हे शिशुका हाथ-पैरोंका चलाना भी कर्म है। गीता (३।५)के अनुसार कर्म किये बिना कोई भी प्राणी एक क्षण भी नहीं रह सकता—

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।

… निरर्थक कर्मोंका फल क्या है! निष्फल… … प्राप्ति कभी नहीं होती। ये … कर्म शास्त्रीय-कर्मकी परिभाषामें नहीं … जीवमात्रमें होते हैं और स्वभाव-सिद्ध हैं।

सकाम-कर्मका फल तो निश्चित है, … बँधा है। फलकी समाप्तिपर फिर वही … है; इसीलिये शारीरसुख या इन्द्रियत… गये समस्त सकाम-कर्म भवबन्धनके है… जीव शारीरिक सुखकी वृद्धिके उद्दे… प्रवृत्त है, तबतक जन्म-मरण या देहान्तर… मिट नहीं सकता। इस प्रकार भवबन्धन… रहेगा। श्रीमद्भागवत (५।५।४-६)के … बात और भी अधिक सुस्पष्ट प्रमाणित हो ज…

> नूनं प्रमत्तः कुरुते विकर्म
> यदिन्द्रियप्रीतय आ…
> न साधु मन्ये यत आत्मनोऽय-
> मसन्नपि क्लेशद आस …
> पराभवस्तावदबोधजातो
> यावन्न जिज्ञासत आत्मतत्…
> यावत्क्रियास्तावदिदं मनो वै
> कर्मात्मकं येन शरीरब…
> एवं मनः कर्मवशं प्रयुङ्क्ते
> अविद्ययाऽऽत्मन्युपधीयमा…
> प्रीतिर्न यावन्मयि वासुदेवे
> न मुच्यते देहयोगेन ताव…

'साधारणतः लोग इन्द्रिय-तृप्तिके लिये उन्मत्त … हैं। वे नहीं जानते कि यह क्लेशमयी देह उनके पू… सकाम कर्मोंका ही फल है। यह देह नश्वर होने… साथ-साथ नित्य शत-शत कष्टदायिनी भी है। अ… इन्द्रिय-तृप्तिके लिये सकामकर्म करना कदापि श्रेयस्… नहीं है। आत्माको जबतक परमात्मतत्त्वकी जिज्ञासा न… होती, तबतक उसकी सर्वत्र पराजय होती है; क्यों… अज्ञानवश जबतक यह …

भवबन्धनका कारण है और भगवदर्पित सकाम कर्म—भगवत्प्रसन्नतार्थ किया गया कर्म—भी निष्काम है—

> नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं
> न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्।
> कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे
> न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम्॥
> (श्रीमद्भा० १। ५। १२)

भगवदर्पित निष्काम-कर्ममें निज सुख और निजेन्द्रिय सुखविषयक कामनाकी गन्धतक नहीं रहती। वह तो ठीक यन्त्रस्थ उपकरणके समान अपने परम प्रेमास्पद भगवान्‌के लिये कार्य करता रहता है। उसकी प्रत्येक क्रिया भगवदर्थ होती है। जिस प्रकार संयन्त्रके उपकरणको तेल आदिद्वारा परिमार्जन तथा शक्तिपूर्तिकी अपेक्षा रहती है, उसी प्रकार भगवच्चरणाश्रित एवं भगवद्भावनाभावित भक्त निष्काम-कर्मके द्वारा अपना पालन करता है, जिससे कि वह दिव्य भगवत्सेवाके लिये स्वस्थ रह सके। इस प्रकार वह भक्त-साधक सकाम प्रतीत होनेवाले कर्मफलसे सर्वथा असङ्ग रहता है। भगवत्-समर्पित जीवनवाले भक्तके पास इतना समय ही नहीं होता कि वह सकाम धर्मजन्य विषयोंमें स्वामीपनका मिथ्या अभिमान कर सके; यही कारण है कि वह कर्मबन्धनसे सदा नित्यमुक्त बना रहता है।

सर्वकारण-कारण जगन्नियन्ता परमात्माकी प्रसन्नताके लिये फलेच्छारहित शुभ-कर्म करनेका मानवको स्वभाव बनाना चाहिये। वस्तुतः वही कर्म सच्चा कर्म है, जो श्रीहरिकी प्रसन्नताके लिये किया जाय; वही सार्थक भी है। सच्ची विद्या भी वही है, जिसके द्वारा जीवकी मति प्रभुचरणोंमें संलग्न रहती है। एकमात्र श्रीहरि ही सबकी आत्मा हैं। वे ईश्वर और विश्वके नियामक हैं। सभी कर्म और विद्या, जो भगवत्प्रीत्यर्थ हैं, श्रीहरिकी निःस्वार्थ निष्काम-आराधनामें सहायक हैं। बस, वे ही होती है।

और वैसी क्रियाओंसे निष्पन्न कर्म ही निष्काम हैं; क्योंकि कर्ता प्रभुचरणोंमें समर्पित है।
(४। २९। ४९-५०) का कथन है—

> तत्कर्म हरितोषं यत्सा विद्या तन्मतिर्यया।
> हरिर्देहभृतामात्मा स्वयं प्रकृतिरीश्वरः॥

भगवदर्पित कर्म फिर सामान्य कर्म नहीं तो स्वाभाविक ही प्रभु-सेवा है। भगवान्‌के मन्दिरमें मार्जनी लगाना अपना परम सौभाग्य है, इस सेवाके आगे उसे मोक्षसुख भी तुच्छ है। इस कामना-वासना-रहित सेवासुखमें दिव्य आनन्दानुभूति मिलती है। इस आधारपर ही वह 'ब्रह्मपद' प्राप्त करता है; निष्काम है।

सड़ककी झाड़ू और मन्दिरोंकी झाड़ूमें रातका अन्तर है; एकके पीछे प्रतिष्ठा-पूजाकी निरन्तर कामना-पुञ्जोंमें वृद्धि करती है और स्वसुखके त्याग और वैराग्यके साथ दिव्य धारा प्रवाहित है, जो समस्त कामनाओंका तप्त काञ्चनकी भाँति देदीप्यमान आत्मा नित्य सुख प्रदान करती है। कर्म एक होनेपर भी भिन्नता है।

इसीलिये भक्त प्रार्थना करते हैं कि शरीर, इन्द्रिय और मन, बुद्धि आदिके द्वारा स्वभावतः मैं जिन कर्मोंका सम्पादन करूँ वे समस्त सदा एव श्रीनारायणके लिये ही हैं—इस भावसे समर्पित हों।

> कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
> बुद्ध्याऽऽत्मना वानुसृतस्वभावात्।
> करोमि यद् यत् सकलं परस्मै
> नारायणायेति समर्पयेत् तत्॥
> (श्रीमद्भा० ११। २। ३६)

निष्कामताकी भावनामें ...

र्म ही करता है। इसलिये वह मृत्युके बाद फिर को प्राप्त होता है। अतः फलकी अभिलाषा छोड़कर विधात्मा भगवान्‌को समर्पित कर जो वेदोक्तकर्मका अनुष्ठान करता है, उसे कर्मोंकी निवृत्तिसे प्राप्त वाली ज्ञानरूप सिद्धि मिल जाती है। जिनका चित्त में आसक्त है, तथापि कर्मबन्धनसे मुक्त होनेके लिये कुल है, ऐसे लोगोंको निष्काम-कर्मका अवलम्बन ना चाहिये। यह निष्काम-कर्मयोगकी साधना ही म-क्रिया कहलाती है। क्रियायोग तथा इस विषयकी ध साधनाओंकी आलोचना भगवान् श्रीकृष्णने गीताके ५, ६, ८ तथा १५वें अध्यायोंमें की है।

इस क्रियायोगकी साधना, क्या ज्ञानी, क्या भक्त और कर्मी—सबके लिये अत्यन्त ही आवश्यक साधना है। र्यतः यही कर्मयोग है, इस क्रियाके द्वारा ही सारे ं ब्रह्मार्पण किये जा सकते हैं। सुदीर्घकालतक योगका अभ्यास किये बिना आत्मविषयक ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। स्वकुलोचित कर्मोंको करते हुए यदि रमें निष्ठा बनी रहे, अर्थात् भगवत्प्राप्तिके लिये ही र्म किये जायँ तो मनुष्यको नरकका भय नहीं रहेगा। मेश्वरमें समर्पितकर या फलासक्तिका त्यागकर जो ं करता है, वह पापात्मक कर्मोंमें उसी प्रकार लिप्त ों होता, जिस प्रकार कमलपत्र जलसे लिप्त ीं होता—'पद्मपत्रमिवाम्भसा'। वर्तृत्वका भिमान रहनेपर कर्म-बन्धन अनिवार्य हो जाता है। र्मयोगमें जड़तासे सम्बन्ध छूट जानेपर अज्ञान ट हो जाता है। संचित कर्मको भी अपने लिये माननेसे उसका प्रभाव कर्मयोगीपर नहीं पड़ता। ः क्रियमाण-कर्मका फल नहीं चाहता। मानवद्वारा निष्काम-र्म तीन प्रकारसे अनुष्ठित होते हैं—(१) कर्ममें लासक्तिके त्यागसे, (२) अहंकार-शून्यतासे तथा ३) ईश्वरार्पण-बुद्धिसे भगवत्प्रेरित होकर कर्म करनेसे, जिससे फलाफलके लिये मनमें कोई उद्वेग न रहे। इस प्रकार कर्म करनेपर सारे कर्म ब्रह्मार्पित हो जाते हैं, परंतु मनमें समता हुए बिना इस प्रकार कर्म नहीं किये जा सकते।

भक्तिमें स्तुति तथा प्रार्थना भी आती है। स्तुतिमें प्रभुके गुणोंका ज्ञान उसके स्वरूपको समझनेमें अधिक सहायता देता है। अतः स्तुति (गुणकीर्तन) ज्ञान-काण्डके अन्तर्गत है। प्रार्थनामें प्रभुके साथ पाप-प्रक्षालन और पुण्यकी प्राप्तिके लिये याचना की जाती है। दानवताका दमन और दैवी विभूतियोंका विकास कर्मकी अपेक्षा रखते हैं। अनवरत कर्म, सतत अभ्यासके द्वारा ही उनकी सिद्धि सम्भव होती है। इस प्रकार अकेली भक्ति भी ज्ञान (स्तुति), कर्म (प्रार्थना) और उपासनाकी पावन त्रिवेणीके संगमरूपको धारण कर लेती है। इस प्रकार कर्मयोगका समावेश भक्तियोगमें है।

इस कलिकालमें जो साधन फलीभूत हो सकता है, उस सुलभ-सुखद और सच्चे साधनकी दुंदुभि बजायी गयी है। कर्मयोग और भक्तियोग इन दोनोंमें प्रयत्नकी आवश्यकता होती है। जैसे ज्ञानमार्ग श्रद्धा-विश्वास आदिसे रहित नहीं है, उसी प्रकार भक्तिमार्ग भी विवेक और वैराग्यसे शून्य नहीं है।

अस हरि भगति सुगम सुखदाई।
को अस मूढ़ न जाहि सोहाई॥

'कर्मयोग' स्वतन्त्र अवलम्बन नहीं है। जबतक स्वधर्मका पालन नहीं किया जायगा, तबतक वैराग्य उत्पन्न न होगा। जबतक वैराग्य न होगा, तबतक कर्मोंका फल-त्यागादि न होनेके कारण निष्काम-कर्मयोगका आचरण न हो सकेगा। जबतक निष्काम-कर्मयोग न होगा, तबतक ज्ञान उत्पन्न न होगा। जबतक ज्ञान न होगा, तबतक मोक्षकी प्राप्ति न हो सकेगी। हाँ, भक्तियोगके द्वारा भगवान् शीघ्र द्रवीभूत होकर भक्तोंके अधीन हो जाते हैं और इससे उसके सभी श्रेय सम्पन्न हो जाते हैं।

जातश्रद्धो मत्कथासु निर्विण्णः सर्वकर्मसु ।
वेद दुःखात्मकान् कामान् परित्यागेऽप्यनीश्वरः ॥
(श्रीमद्भा० ११)

'मेरी कथाओंमें जिसकी श्रद्धा उत्पन्न हो गयी है, सब कर्मोंमें विरक्ति है, कामोंको दुःखदायक समझता है, पर उनके त्यागमें समर्थ नहीं है।' जो मनुष्य न अत्यन्त विरक्त है और न अत्यन्त आसक्त, उसके लिये भक्तियोग सिद्धिप्रद होता है। इसके द्वारा ही इसकी प्राप्ति होती है—

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः ।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं च यदहैतुकम् ॥

भगवान्‌में भक्तियोगका प्रयोग करनेपर शीघ्र वैराग्य उत्पन्न होता है तथा उसके बाद अपने-आप ही ज्ञान उत्पन्न होता है। श्रीमद्भागवत एकादश स्कन्धके द्वितीय अध्यायके बयालीसवें श्लोकमें भक्तिके सम्बन्धमें इस प्रकार कहा गया है—

भक्तिः परेशानुभवो विरक्ति-
रन्यत्र चैष त्रिक एककालः ।
प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्यु-
स्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम् ॥

'जैसे भोजन करनेवालेको प्रत्येक ग्रासके साथ ही तुष्टि (तृप्ति अथवा सुख), पुष्टि (जीवन-शक्तिका संचार) और क्षुधा-निवृत्ति, ये तीनों एक साथ होते जाते हैं, वैसे ही जो मनुष्य भगवान्‌की शरण लेकर उनका भजन करने लगता है, उसे भगवान्‌के प्रति प्रेम, अपने प्रेमास्पद प्रभुके स्वरूपका अनुभव और उनके अतिरिक्त अन्य वस्तुओंमें वैराग्य—इन तीनोंकी एक साथ ही प्राप्ति होती जाती है।'

भगवान्‌की लीलाएँ अद्भुत हैं। उनके जन्म, कर्म और गुण दिव्य हैं। उन्हींका श्रवण, कीर्तन और ध्यान करना तथा शरीरसे ही जितनी चेष्टाएँ हों, सब भगवान्‌के लिये परम श्रेयस्कर हैं। पवन, न ... गदाधरका दर्शन और कीर्तन, ... श्रीकृष्णका, जो पुत्र आदिको प्रिय ... सब भगवान्‌के चरणोंमें निवेदित कर ... प्रकार साधन-भक्तिका अनुष्ठान करते-करते ... उदय हो जाता है। जब भगवान्‌के चरणारविन्दों... करनेकी इच्छा तीव्र भक्तियोग की जाती है ... भक्ति ही अग्निकी भाँति गुण और कर्मोंके ... जिसके सारे मलोंको जला डालती है। ... शुद्ध हो जाता है, तब आत्मतत्त्वका साक्षात्कार है। योगीन्द्र प्रबुद्धने कहा था—

स्मरन्तः स्मारयन्तश्च मिथोऽघौघहरं ...
भक्त्या संजातया भक्त्या बिभ्रत्युत्पुलकां त...
(श्रीमद्भा० ११।३।...)

भगवान् पापराशिको क्षणभरमें भस्म कर सक... सब उन्हींका स्मरण करें और एक-दूसरेको स्मरण क... इस प्रकार साधन-भक्तिका अनुष्ठान करते-करते ... भक्तिका उदय हो जाता है और वे प्रेमोद्रेकसे ... शरीर धारण करते हैं। भक्ति ह्लादिनी-शक्तिकी एक ... वृत्ति है। ह्लादिनी-शक्ति महाभावस्वरूपा है। अ... भावरूपा भक्ति चाहे साधनपूर्वक हो अथवा कृपापूर्वक ... वह वस्तुतः महाभावसे ही स्फुरित होती है।

जीव कर्म कर सकता है, परंतु भावको प्राप्त नहीं कर सकता; क्योंकि वह स्वरूपतः भावमय नहीं है। कर्म करते-करते भावजगत्‌से उसमें भावका अनुप्रवेश हुआ करता है। शास्त्रविहित कर्म ही कर्म हैं और निषिद्ध कर्म, अकर्म तथा कर्मका उल्लङ्घन करना विकर्म है। ये तीनों एक वेदके द्वारा ही जाने जाते हैं। इनकी व्याख्या लौकिकरीतिसे नहीं होती।

जिसके ज्ञान एवं इन्द्रियाँ वशमें नहीं हैं, वह यदि मनमाने ढंगसे वेदोक्त कर्मोंका परित्याग कर देता है तो वह विहितकर्मोंका आचरण ...

रहती है, वैसे ही भगवान्‌में भक्तके मनकी एकतान संतत गति*—यही निर्गुण-भक्ति है। इसमें भक्ति ही परम फल है, भक्तिका कोई इतर फल अनुसंधेय नहीं है। प्रेमलक्षणा भक्ति इसी निर्गुण-भक्तिका परिपाकरूप है।

स्पष्ट है कि भगवच्चरणोंमें कर्तव्यदृष्टिसे सचेष्ट कर्मार्पण प्राप्तव्य भगवत्प्रेमका सुदृढ सोपान है। गीतोक्त कर्मयोग प्रायेण यही है। इसके बाद उत्तर भूमिकामें कर्मयोगका स्वरूप कुछ और ही निखर जाता है। वह है—कर्मोंका भगवान्‌में ऐकात्म्य। यहाँ कर्मका पृथक् कोई अस्तित्व नहीं। वह तो मात्र प्रेमका कल्लोल है। श्रीमधुसूदन सरस्वतीपादने 'भक्ति' शब्दके ही व्युत्पत्ति-लभ्य दो अर्थ करके भक्तिको द्विधा विभाजित किया है। 'भज्यते अनया इति भक्तिः'—करणार्थक 'क्तिन्' प्रत्यय-द्वारा जिसके द्वारा भजन किया जाय, अर्थात्—साधन भक्ति; और 'भजनं भक्तिः—भावे क्तिन्' प्रत्ययद्वारा भजन साध्य-भक्ति है। यह साध्य-भक्ति है—विशुद्ध प्रेम, और साधन-भक्ति है—इस साध्य प्रेम-भक्तिकी प्राप्तिके लिये साधनरूपा। साधन-भक्तिके जिन अङ्गोंसे, जिन साधनोंसे साधक साध्य-भगवत्प्रेमकी सिद्धिके लिये अग्रसर होता है, वे स्वभावतः कर्म हैं। कर्म इन्द्रियोंसे होते हैं, इन्द्रियाँ कर्म करती हैं। प्रेमलक्षणा भक्तिमें ये सारे इन्द्रिय-कर्म तैल-धारावत् अविच्छिन्न भगवान्‌की ओर प्रवाहित होते हैं। पहले तो यह व्यापार सचेष्ट होता है साधनभक्तिके स्तरपर, फिर ज्यों-ज्यों साधक भक्त उत्तर भूमिकाओंमें पहुँचता है, ये कर्म-व्यापार श्वास-प्रश्वासकी भाँति स्वतः आप-ही-आप होने लगते हैं। यही है—सर्वेन्द्रियोंसे भगवदाराधन। मन, बुद्धि, अहंकारसमन्वित पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँचों कर्मेन्द्रियाँ, अधिष्ठित देवताओंसहित प्रेमरससे आप्लुत हो जाती हैं। मन, बुद्धि और अहंकार—तीनोंका अधिष्ठान एक ही है, हृदय। इनके देवता हैं—क्रमशः चन्द्रमा, ब्रह्मा और रुद्र। ज्ञानेन्द्रियोंका ज्ञान-साधनत्व विषय-ग्रहणरूपी कर्मके द्वारा ही है, इसलिये उनका कर्मसम्बन्ध अक्षुण्ण है। मनसहित सभी एकादश इन्द्रियोंसे संतत भगवदाराधनके ज्वलन्त निदर्शन हैं—महाभागवत राजर्षि अम्बरीष।

> स वै मनः कृष्णपदारविन्दयो-
> र्वचांसि वैकुण्ठगुणानुवर्णने।
> करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु
> श्रुतिं चकाराच्युतसत्कथोदये॥
> मुकुन्दलिङ्गालयदर्शने दृशौ
> तद्भृत्यगात्रस्पर्शेऽङ्गसंगमम्।
> घ्राणं च तत्पादसरोजसौरभे
> श्रीमत्तुलस्या रसनां तदर्पिते॥
> पादौ हरेः क्षेत्रपदानुसर्पणे
> शिरो हृषीकेशपदाभिवन्दने।
> कामं च दास्ये न तु कामकाम्यया
> यथोत्तमश्लोकजनाश्रया रतिः॥
>
> (श्रीमद्भा० ९। ४। १७-२०)

अम्बरीषका मन निरन्तर श्रीकृष्णचरणकमलोंमें लगा रहता था। उनकी वाणी अपने भगवान् नारायणका गुणगान करती रहती थी। हाथ श्रीहरि-मंदिरकी स्वच्छतामें संलग्न रहते थे, कान अच्युतके मधुर कथा-प्रसङ्गमें सदा लीन बने रहते थे। उनके नयन मुकुन्दकी श्रीमूर्तिको निहारते न अघाते थे, भगवद्भक्तोंके गात्रस्पर्शसे उन्हें अङ्गसङ्गका अनिर्वचनीय सुख मिलता था। नासिका श्रीकृष्ण-पादपद्मोंमें अर्पित तुलसीके अपूर्व सौरभसे उन्मत्त रहती थी, जिह्वा श्रीकृष्णार्पित नैवेद्यके रसास्वादनमें संलग्न

* मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये। मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ॥
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्। अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे॥
(श्रीमद्भा० ३। २९। ११-१२)

प्रेमलक्षणा भक्तिमें कर्मयोग

(लेखक—आचार्य श्रीसत्यव्रतजी शर्मा, 'सुजन' शास्त्री, एम्० ए० (द्वय), बी० एल०, साहित्यरत्न)

सृष्टिका मूल कारण कर्म है। सृष्टि पूर्णब्रह्मकी लीला-क्रिया है—लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्। (ब्रह्मसूत्र, २। १। ३३) यह लीला स्वफलानुसंधिपूर्विका नहीं; बल्कि स्वरूपानन्दका स्वाभाविक उद्रेक है, अतः इसमें बन्धन आदिका प्रश्न नहीं है। दूसरी ओर जीवका कर्म ऐसी अनाद्यन्त परम्परा है, जिसका विपाक उसे कभी कहीं चैन लेने नहीं देता। कालशक्ति-सहचरित जीवकी कर्म-वासनासे ही साम्यमें क्षोभ उत्पन्न होकर सृष्टिका उन्मेष होता है। जीव क्षणभर भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता और कर्मपाशकी गाँठ उसे कसती जाती है। इधर श्रीभगवान् अकारणकरुणामय हैं। इस दुरन्त बन्धसे उबरनेका उपाय भी उन्होंने सुलभ कर दिया है। उपेय एवं उपाय भी स्वयं वही हैं। किंतु जीवकी खुली आँखें तो बाहर ही देखती हैं। पलक गिर-गिरकर कहती है—उन्हें भीतर देख, कहाँ बाहर भ्रमित हो रहा है, किंतु जीव भीतर देखता ही नहीं, आँखें झट खोल देता है और पुनः बाहर खो जाता है। एक बार भी भीतर झाँक ले तो भीतर-बाहर सर्वत्र वे ही दीखने लगें और कर्मपाश छू-मंतर हो जाय।

समस्त देहियोंको अपनी आत्मा सबसे प्रिय है—पुत्र-कलत्र-वित्त आदि अन्य सभीसे प्रेयं[1]। फिर, भगवान् आत्माके भी आत्मा हैं—अतएव प्रियतमसे भी श्रेष्ठ हैं[2]। भगवान् प्रेमस्वरूप हैं, रसतम हैं, आनन्दघन हैं। मूलतः जीवका भी यही स्वरूप है। इसलिये प्रियतम भगवान्को पानेका मुख्य-मार्ग है—प्रेम, प्रेमा। किंतु यह सँकरी कँकरीली-पथरीली गली है। इसमें पैठते ही मनुष्य 'बाहर' हो जाता है। कभी नहीं सूखते। फिर भी इसकी मधुर सीमा नहीं। इस पथमें जो खो जाता है, उसे मिलते हैं। ऐसे प्रेमको काम कहें तो भी कोई नहीं पड़ता—

प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत् प्रथाम्

कामका एक नाम है—अनङ्ग। यहाँ तो प्रेमी ही हो जाता है, उसे अङ्गोंकी सुध ही कहाँ रह। भगवज्जन सर्वात्मना भगवन्मय होते हैं। वे कर्म नहीं, कर्म उनसे स्वयं छूट जाते हैं। उनके जो होते हैं, सादृश्यके कारण इन्हें कर्म भले ही कहें, वह सभी चिन्मय भगवन्मय ही होते हैं। प्रेमलक्षणा भक्तिमें योगके स्वरूपको हृदयंगम करनेके लिये हमें पहले भक्ति याथात्म्य समझना होगा। मोटे तौरपर भक्ति द्विविध है सगुण और निर्गुण। सगुण-भक्ति भी गुणभेदसे त्रि है—तामस, राजस और सात्त्विक। इन तीनोंमें स्वभा भक्ति ही भेददृष्टि है। हिंसा, दम्भ और मात्सर्य भगवान्में भाव करना तामस-भक्ति है। विषय, यश ऐश्वर्यके संकल्पसे प्रतिमा आदिमें भगवान्की पूजा-अर्चन करना राजस-भक्ति है। कर्मरूपके उद्देश्यसे अपने कर्म भगवान्को अर्पित करना, विधेय-दृष्टिसे भगवान्को अर्पित करते हुए सारे कर्म करना—यह सात्त्विक-भक्ति है[3]। फलानुसंधान-शून्य भेददर्शनरहित निर्गुण-भक्ति सबसे ऊपर है। जैसे गङ्गा सागरमें अविच्छिन्न निरी

१-तदेतत् प्रेयः पुत्रात् प्रेयो वित्तात् प्रेयोऽन्यस्मात् सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा। (बृहदारण्यकोपनिषद् १। ४। ८)

२-तस्मात् प्रियतमः स्वात्मा सर्वेषामपि देहिनाम्। तदर्थमेव सकलं जगदेतच्चराचरम्॥ कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्। (श्रीमद्भा० १०। १४। ५४-५५)

३-कर्मनिर्हारमुद्दिश्य परस्मिन् वा तदर्पणम्। यजेद् यष्टव्यमिति —

कर्म, अकर्म, विकर्म और कर्मयोग

(लेखक—पं० श्रीशम्भूशरणजी बाजपेयी)

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥
(गीता ४ । १७)

कर्म, अकर्म और विकर्म तीनोंका स्वरूप जानना चाहिये, क्योंकि कर्मकी गति दुर्बोध है। इन तीनोंको अच्छी तरह जाने बिना कर्मके बन्धनकारकत्वसे छुटकारा पाना कठिन है। कर्ममें कुशलता लाना, कर्मसे समत्व प्राप्त करना, कर्मको योगका रूप देना, योगस्थ होकर कर्म करना, कर्मद्वारा आत्मशुद्धि तथा कर्मद्वारा ज्ञान प्राप्त कर सब कर्मोंको भस्मसात् करते हुए मुक्ति प्राप्त करना सरल कार्य नहीं है। कर्मके वास्तविक रहस्यको जाने बिना कर्मयोगका अनुष्ठान उत्तम नहीं हो सकता।

अकर्म और विकर्म कर्मके ही रूपविशेष हैं, जिन्हें पहचानना, जिनका मर्म जानना कर्मयोगीके लिये वाञ्छनीय है; क्योंकि तब कर्मयोगके आचरणमें सुविधा होगी। असलमें केन्द्रस्थ है कर्म, जिसका मर्म जाने बिना कर्मयोगका साधक एक पग भी आगे नहीं बढ़ सकता। इसलिये मीमांसकोंने कर्मकी पर्याप्त चर्चा की है—'कर्मेति मीमांसकाः' की उक्ति प्रसिद्ध है। मीमांसक कहे जिस दृष्टिसे कर्मको देखें, संसारमें सदा कर्मका महत्त्व रहा है और रहेगा, क्योंकि कर्मपर ही आधारित है प्राणीका वर्तमान जीवन, कर्मपर ही अवलम्बित है हमारा उत्थान-पतन, विकास-ह्रास, बन्धन-मोक्ष। अतीत जीवनमें भी कर्म प्रधान था, आगामी जीवन भी कर्मका परिणाम होगा। अतएव कर्मका फल इस जीवनमें ही नहीं, आगेके जीवनमें भी भोगना पड़ेगा, जो जैसा बोयेगा, वैसा काटना पड़ेगा।

कर्मका क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। एक क्षण भी हम बिना कर्मके नहीं रह सकते, चाहे जगे रहें, स्वप्नमें रहें या सोये रहें। गीता (५ । ८-९ में) कहती है—

पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन् गच्छन्स्वपञ्श्वसन्॥
प्रलपन्विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।

अर्थात्—देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता तथा सूँघता हुआ, भोजन करता हुआ, जाता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता और बोलता हुआ, त्याग करता हुआ, ग्रहण करता हुआ, आँखोंको खोलता और मींचता हुआ भी प्राणी किसी-न-किसी प्रकारका कर्म ही कर रहा है, चाहे वह कर्म अपने-आप हो या किसी इन्द्रियद्वारा हो, ऐच्छिक हो या अनैच्छिक हो अथवा स्वतः संचालित (Reflection) हो। कर्म स्थूल-शरीरतक ही सीमित नहीं है, सूक्ष्म शरीर तथा कारण-शरीरतक इसका विस्तार है। जीवनमें ही नहीं, मरण-कालमें भी जो भाव प्राणीमें प्रबल हो उठता है, उसका प्रभाव उसपर पड़ता है।

कर्मकी गति इस तरह पेचीदी है और इतनी सूक्ष्म है कि दूरस्थ सूर्य और चन्द्रका ही नहीं, विश्वके किसी कोनेमें घटित किसी घटनाका, किसी कर्मका भी प्रभाव हमपर पड़ सकता है, पड़ता है। अतएव इन्द्रियोंद्वारा ऐच्छिक कर्मोंको छोड़कर यदि हम चुपचाप हाथपर हाथ धरे बैठे रहें तब भी वह कर्म त्याग नहीं समझा जायगा; क्योंकि वैसी हालतमें भी हमारा मन कुछ-न-कुछ सोचता ही रहेगा; मनका धर्म ही है संकल्प-विकल्प, और यह भी कर्म ही हुआ। पुनश्च, हमारे कर्म छोड़कर बैठे रहनेकी कोई निन्दा करेगा, कोई प्रशंसा करेगा। इस निन्दा या स्तुतिको सुननेका प्रभाव भी हमारे चित्तपर पड़ेगा ही। यह भी कर्म ही हुआ। अतएव कुछ हदतक स्वरूपतः कुछ कर्मोंको छोड़ देना अकर्म नहीं है।

कर्मका असली महत्त्व क्रियामें नहीं है। असली महत्त्व उसके द्वारा प्राणीके चित्तपर पड़े संस्कारका

ही गीता विकर्म कहती है। बाहरका स्वधर्मरूप सामान्य कर्म और यह आन्तरिक विशेष कर्म अर्थात् विकर्म अपनी-अपनी मानसिक आवश्यकताके अनुसार भिन्न-भिन्न होता है। विकर्मके ऐसे अनेक प्रकार, नमूनेके तौरपर चौथे अध्यायमें बताये गये हैं। उसीका विस्तार आगे छठे अध्यायमें किया गया है। इस विशेष कर्म (विकर्म)का इस मानसिक अनुसन्धानका योग जब हम करेंगे, तभी उसमें निष्कामता-की ज्योति जगेगी। कर्मके साथ जब विकर्म मिलता है तो फिर धीरे-धीरे निष्कामता हमारे अन्दर आती रहती है।.........कर्मके साथ जब आन्तरिक भावका मेल हो जाता है तो वह कर्म कुछ और ही हो जाता है। तेल और बत्तीके साथ जब ज्योतिका मेल होता है, तब प्रकाश उत्पन्न होता है। कर्मके साथ विकर्मका मेल हुआ तो निष्कामता आती है।.........स्वधर्माचरणकी अनन्त सामर्थ्य गुप्त रहती है। उसमें विकर्म(विशेष कर्म) को जोड़िये तो फिर देखिये कि कैसे-कैसे बनाव-बिगाड़ होते हैं। उसके स्फोटसे अहंकार, काम, क्रोधके प्राण उड़ जायँगे, उसमेंसे परम ज्ञानकी निष्पत्ति हो जायगी।

'कर्ममें विकर्म डाल देनेसे कर्म दिव्य दिखायी देने लगता है। माँ बच्चेकी पीठपर हाथ फेरती है। परंतु इस मामूली कर्मसे उन माँ-बच्चोंके मनमें जो भावनाएँ उठीं, उनका वर्णन कौन करेगा?......वह विकर्म उड़ेला हुआ है। इसीसे यह अपूर्व आनन्द प्राप्त होता है। कर्मके साथ जब विकर्म (विशेष कर्म-) का जोड़ मिल जाता है तो शक्ति-स्फोट होता है और उसमेंसे अकर्म निर्माण होता है। इस तरह अकर्ममें विकर्मकी ज्योति जला देनेसे अन्तमें अकर्म हो जाता है। कर्ममें विकर्म उड़ेलनेसे अकर्म होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि यह ज्ञात ही नहीं होता है कि कोई कर्म किया है। उस कर्मका बोझ नहीं मालूम होता; उसे करके भी अकर्ता होते हैं। गीता कहती है कि मारकर भी तुम मारते नहीं। विकर्मके कारण, मनकी शुद्धिके कारण कर्मका कर्मत्व उड़ जाता है। कर्ममें विकर्म डाल देनेसे वह अकर्म हो आता है, मानो कर्म करके फिर उसे पोंछ दिया हो'—(गीता-प्रवचन-पृष्ठ ४६—४९)।

दूसरे शब्दोंमें यदि सफल कर्मयोगी कर्मको अकर्म बनाकर क्रियमाण कर्मको सञ्चितकर्म नहीं होने देता है, चित्तपर कर्म-संस्कार नहीं पड़ने देता है तो विकर्म सञ्चितकर्म और प्रारब्धकर्मको भी पोंछ डालता है, भस्मसात् करता है। सम्पूर्ण कर्म ज्ञानमें शेष होते हैं, अर्थात् ज्ञान उनकी पराकाष्ठा है। इस ज्ञानाग्निमें सर्व कर्म—क्रियमाण, संचित और प्रारब्ध भस्मसात् हो जाते हैं, मिट जाते हैं, अशेष हो जाते हैं (गी० ४। ३७)। कर्मको यज्ञ समझकर चित्तकी विशुद्धता, तन-मनकी पवित्रताके साथ करनेसे (कर्ममें विकर्म उड़ेल देनेसे) सब कर्मोंका (त्रिविध कर्मोंका) पूर्णतः नाश हो जाता है (४। ३३)। फलस्वरूप जीव कर्म-बन्धनसे मुक्त हो जाता है। संस्कार-शून्य चित्तपर आत्माका प्रतिबिम्ब स्पष्ट दीख पड़ता है। आत्मस्वरूपका बोध हो जाता है।

निष्काम कर्मयोगकी साधना करते-करते सब आसक्ति मिट जाती है और फलाकाङ्क्षा या कोई कामना नहीं रह जाती। इससे समत्व आ जाता है और अपने सुखकी इच्छा बिल्कुल नहीं रह जाती। इन्द्रियाँ और मन वशमें आ जाते हैं, कर्मसे चित्त-शुद्धि हो जाती है और प्रत्येक नियत कर्म यज्ञके लिये होने लगता है। अन्तमें हृदयमें प्रेम उमड़ने लगता है और तब कर्ममें विकर्मके घोलके मिश्रणसे अकर्म निर्मित होकर कर्मबन्ध समाप्त हो जाता है। इससे तत्त्वज्ञान अत्यन्त दीप्त हो उठता है। ज्ञानके प्रकाशमें अज्ञान या मिथ्या

प्रभाव है; क्योंकि चित्त और मन ही वह विशाल दर्पण है, जिसपर विश्वेश्वरका—विराट् विश्वका प्रतिबिम्ब प्रतिक्षण पड़ता रहता है। जब उसपर संसारके मलका आवरण सघन हो जाता है, तब संसार-सारकी प्रतिच्छाया उसपर स्पष्ट नहीं दीखती है। यह मलका आवरण हमारे कर्मोंका परिणाम है। कर्म-योगका मुख्य उद्देश्य है चित्तपर कर्म-संस्कारको निर्मित नहीं होने देना, जन्मकालमें चित्त जैसा निर्मल कहा गया था वैसा ही निर्मल रखना, मेघके जलकी तरह स्वच्छ—निर्मल रखना। जैसे—'भूमि परत भा ढाबर पानी।' इसी तरह मनुष्यके संसारमें जन्म ग्रहण करते ही उसमें लोकाचिरण आकर मिल जाती है; चित्त-दर्पणपर कर्म-धूलका पर्दा धीरे-धीरे मोटा होता जाता है, आत्म-बोध छिपने लगता है, देह-बुद्धि ...

कि उसपर कोई दाग, कोई संस्कार नहीं प[ड़ता] है। न कर्मका संचय होने पाता है और न ... 'प्रारब्ध' ही बनने पाता है। कर्म चलते आते हैं ... है और वह कर्ताके चित्तपर कोई चिह्न नहीं छोड़[ता]। धन्य है इस युक्तिसे कर्म करनेवाला व्यक्ति। ...

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म[यः।]
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्म[कृत्॥]

जो कर्मोंमें अकर्म (कर्मोंका अभाव) अकर्म-(अज्ञानी पुरुषद्वारा किये हुए सम्पूर्ण ... तथाकथित त्याग-) में कर्म (संस्कारका ... बनना) देखता है, वह पुरुष मनुष्योंमें बुद्धि... वही यथार्थमें योगी है (गीता ४। १८)। वही ... कर्मोंका करनेवाला है। यहाँ अकर्मका अर्थ ...

को ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः (गीता ३।१९)। संक्षेपमें 'कर्मयोग' निःस्वार्थपरता और सत्कर्मद्वारा ...लाभ करनेका एक धर्म और साधन है। इसको ...से समझनेके लिये कर्मयोगीको कर्म-रहस्य अर्थात् कर्म किन कारणोंसे होता है, कर्म-प्रेरणाका स्रोत क्या कर्म-संग्रह क्या है, कर्मका सफल सम्पादन किन- पर निर्भर करता है, गुणों, इन्द्रियों, मन और चित्तका कर्मसे क्या सम्बन्ध है, कर्म विकर्म कैसे हो जाता है तथा कर्म अकर्ममें क्या भेद है—समझना चाहिये; क्योंकि इसके बिना निष्काम कर्मयोगकी सम्यक् साधना सम्भव नहीं है। इसीलिये गीतामें इसे गहन गतिके साथ ही 'बोधव्य' भी कहा गया है।

कर्मयोग-सम्बन्धी कतिपय भ्रान्तियोंका निराकरण

(लेखक—पं० श्रीश्रीरामजी शर्मा, आचार्य)

लोक-परलोकमें कल्याणके लिये शास्त्रों और मुख्यतः ...में मनुष्यमात्रको 'अनासक्त कर्मयोग' का उपदेश दिया है। निःसंदेह अनासक्त-कर्मयोग कल्याणका बहुत ...साधन है। यह एक ऐसा जीवन-दर्शन है, कर्म ...की ऐसी पद्धति है, जिसका अनुसरण करनेसे ...के लिये लोक अथवा परलोकमें कोई भय नहीं ...। किंतु इस अनासक्त योगके विषयमें बहुत-सी ...तियाँ और शंकाएँ सामने आती हैं। इनका समाधान किये बिना इस योगको न ठीकसे समझा जा सकता है और न उचित रीतिसे उसका अनुसरण ही किया जा सकता है। अस्तु; इस महत्त्वपूर्ण योगको ठीक-ठीक समझ लेना नितान्त आवश्यक है। प्रायः लोग इस अनासक्त कर्मयोगका आशय यह समझते हैं कि मनुष्यकी अपनी शक्ति-सामर्थ्य कुछ भी नहीं है। वह विश्व-ब्रह्माण्ड-की एक सामान्य इकाई है और मनुष्यके व्यक्त अथवा अव्यक्त किसी कर्मका हेतु, प्रेरक और संचालक केवल एक परमात्मा ही है। मनुष्यकी न तो अपनी कोई प्रेरणा है और न कर्म। उसके सारे कर्म और सारी क्रियाएँ उसकी इच्छा, प्रेरणा और शक्तिद्वारा सम्पादित होती हैं।

अनेक लोग कर्मोंके साथ अनासक्तका अर्थ यह लगाते हैं कि 'जो भी कार्य किये जायँ, असम्बद्ध एवं निरपेक्ष भावसे किये जायँ। वे किये तो जायँ, पर उनके और उनके परिणामसे कोई सम्बन्ध न रखा जाय। यन्त्र-प्रवृत्तिसे उनका प्रतिपादन कर दिया जाय।' कुछ लोग इससे थोड़ा आगे बढ़कर इस प्रकार मान लेते हैं कि अपना कर्तव्य तो करते चला जाय लेकिन उसके परिणामकी चिन्ता न की जाय। बहुतसे अतिवादी लोग तो यहाँतक बढ़ जाते हैं कि हम जो भी काम करते हैं, वह वास्तवमें हम नहीं करते। ये कर्म हमसे कराये जाते हैं और करानेवाला वह परमात्मा है। हमारेद्वारा होनेवाला काम अच्छा है या बुरा इसकी न तो हमें चिन्ता करनी चाहिये और न अपने ऊपर उत्तरदायित्व ही लेना चाहिये। उन सबका उत्तरदायी वह करानेवाला ईश्वर ही है। इस प्रकार अनासक्त-कर्मयोगके सम्बन्धमें न जाने कितनी भ्रान्तियाँ लोगोंके मस्तिष्कोंमें चला करती हैं। वस्तुतः अनासक्ति-योगके सम्बन्धमें ये सारी धारणाएँ भ्रान्तिपूर्ण हैं।

यह बात सत्य है कि मनुष्य इस विश्व-ब्रह्माण्डकी एक इकाई है और उस परमात्मा-रूप चेतन-सत्तासे संचालित होता है। फिर भी यह मानना कि मनुष्यका *प्रत्येक कार्य उसीकी प्रेरणासे होता है, उसका करानेवाला* वही है, मनुष्य तो एक यन्त्रमात्र है, जैसा संचालित कर दिया जाता है, वैसा चल पड़ता है, जिधर चला

कर्म नहीं रहता जाता है। ... फिर आता है, मनुष्य को मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

कर्मयोगकी सिद्धिके लिये, उसे पूर्ण निष्ठात्मा बनानेके लिये साधकको कर्मतत्त्व और कर्म-विधान दोनोंकी ओर समान ध्यान देना है। कर्म-विधान सर्वत्र एक है, समान है; लेकिन कर्म-शास्त्र पृथक्-पृथक् है। इस भिन्नताका कारण यह है कि प्रत्येक मजहब, प्रत्येक धर्म-संस्थापक, उपास्य-उपासकका कर्मोंके सम्बन्धमें भिन्न-भिन्न विचार हैं, मान्यताएँ हैं। जो कर्म एकके लिये निषिद्ध है, वही कर्म दूसरेके लिये कर्तव्य है, नियत है; जो एकके लिये निन्द्य है, वही दूसरेके लिये प्रशस्य है। राष्ट्रका भी अपना एक कर्म-विधान या कर्म-शास्त्र रहता है। कुछ कर्म समाजद्वारा भी त्याज्य अथवा कर्तव्य निर्धारित किये गये हैं।

पुनश्च, गुण और स्वभावके आधारपर, वर्णाश्रमके आधारपर भी कर्म निर्धारित किये गये हैं। एक ही कर्म, एक ही समाजमें, एक ही राष्ट्रमें जो एकके लिये विहित है, वह दूसरेके लिये निषिद्ध है। इतना ही नहीं एक ही कर्म, एक ही व्यक्तिके लिये एक आयुमें निषिद्ध है और दूसरी आयुमें विहित; किसीके साथ निषिद्ध है, किसीके साथ विहित। कालके अनुसार भी कर्मकी कर्तव्यता या त्याज्यतामें अन्तर आता है। सामान्यकालमें जो निषिद्ध है, वह आपत्तिकालमें निषिद्ध नहीं भी समझा जाता है; क्योंकि 'आपद्धर्म' सामान्यधर्मसे भिन्न होता है। इन कारणोंसे देश, काल, परिस्थितिके अनुसार कर्मकी गति और भी गहन हो उठती है। कर्मयोगीको सर्वप्रथम यह जानना है कि कब उसके लिये कौन-सा कर्म नियत-कर्म है, सहजकर्म है, स्वधर्म है और कौन-सा कर्म त्याज्य है, क्या परधर्म है। कर्मयोगीको देश, काल, समाज, परिस्थितिके अनुसार सदैव निर्धारितकर्म या नियतकर्म ही करना है। नियतकर्मकी अनुष्ठेयता गीता—(३। ८) से प्रमाणित है—

'नियतं कुरु कर्म त्वं ...'

कर्म-विधानका कर्मयोगीको ज्ञान हो ... सिद्धिके लिये गीता (१८। १४) में ... हेतुओंका वर्णन किस प्रकार किया है, देखिये—

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृ...
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैव...

अर्थात्—अधिष्ठान (जिसके आश्रयसे ... जायँ), कर्ता, करण (इन्द्रियादि और ... प्रकारकी चेष्टाएँ तथा दैवका कर्मकी सिद्धि... रूप, जितना अंशदान रहता है तथा इनमें ... मेल उत्तम रीतिसे कैसे बैठाया जाय—यह नि... आवश्यक होता है।

कर्मयोगीको 'कर्म चोदना' (कर्मके प्रेरक ज्ञान, ज्ञेय, परिज्ञाता तथा 'कर्म-संग्रह' यानी कर्म, करणका कर्म-निष्पादनमें क्या स्थान है, यह भी ... चाहिये। इन्द्रिय-मन-बुद्धि आत्माका परस्पर सम्बन्ध कर्ममें उनका कैसे सदुपयोग प्राप्त किया जाय, यह जानना चाहिये। सत्त्व-रज-तम तीनों गुण मनुष्य... किस तरह कर्मसे बाँधते हैं तथा आहार-विहार ... भावोंके साथ देही और कर्मका जो सम्बन्ध है, यह जानना चाहिये; क्योंकि ये सब कर्मकी गतिको जटि... बना देते हैं, दुर्बोध बना देते हैं। और, बिना इ... तत्त्वतः जाने कर्मगतिकी अवगति नहीं हो सकती।

जो कर्मयोगी नियतकर्म निष्कामभाव और सात्त्विक श्रद्धासे चित्तकी पवित्रताके साथ सात्त्विक भावापन्न हो, कर्मासक्ति और कर्म-फल त्यागकर निःस्वार्थ हो, पर-कल्याणके लिये सब कर्मोंको ईश्वरार्थ मानते हुए चित्त-शुद्धिके निमित्त करेगा, वह निष्काम कर्मयोगके अभ्याससे ज्ञान प्राप्तकर कर्ममें विकर्मका साथ देते हुए, अकर्मवत् कर्म करता हुआ, सब कर्मोंको ज्ञानाग्निसे भस्मसात् करते हुए ब्रह्मोपलब्धि करेगा ही; क्योंकि भगवान्‌ने कहा है कि—

ासक्तिका आशय है—राग न रखना। आप कोई तना ही बड़ा अथवा छोटा काम क्यों न करें, उसके ते अपनेपनकी भावना न जोड़िये। ऐसा न करनेसे उस र्यमें अहङ्कारका समावेश होगा। बार-बार यह चार आयेगा कि अमुक कार्य मैंने सम्पादित किया है, मैं एक कुशल कर्ता अथवा कर्तृत्वयुक्त व्यक्ति हूँ। अहंकारकी भावना क्या व्यक्ति और क्या समाज—दोनोंके लिये हानिकारक है। 'पाप मूल अभिमान'—अहंकारको सभी पापोंकी जड़ बतलाया गया है। जब किसी कार्यमें आसक्ति नहीं होगी, तब उसके प्रति अहंकार भी नहीं होगा। अहंकारकी उत्पत्ति आसक्तिसे ही होती है और आसक्ति वहीं होती है, जहाँ अपनेपनका भाव होता है। अस्तु, कर्मोंमें अकर्तापनका भाव रखना ही अनासक्ति है। यह एक आध्यात्मिक अनुशासन तथा नम्रता है।

निखिल ब्रह्माण्डकी चेतन-सत्ताके अधीन होनेसे हम सबकी सारी शक्ति, जिसके आधारपर हम कर्म करनेमें समर्थ हैं, उसीकी है; अतः अपने समर्पित कर्मोंका कर्ता अपनेको न मानकर उस मूल सत्ता परमात्माको मान लेनेमें जहाँ एक ओर अपना कल्याण है वहीं दूसरी ओर सत्यको स्वीकार करनेकी नैतिकता भी है।

दूसरा शब्द है 'कर्मयोग'। इसका स्पष्ट अर्थ स्वयं भगवान्ने गीतामें दिया है—'समत्वं योग उच्यते'—फल एवं सिद्धिमें कामनाका भाव ही योग है। सम वही हो सकता है, जो अच्छी तरहसे जानता हो कि योगमें ही लाभ है, जो योगकी स्थिति ही नहीं समझ सकता, वह योगी कैसा ? साथ ही योग शब्दके अन्तर्गत शिव, सत्य तथा सुन्दरका भी भाव प्रकाशित होता है। अतः कार्यकुशलताके क्षेत्रमें अशुभ कर्मोंके आनेका प्रश्न ही नहीं उठता। इसके अन्तर्गत सर्वथा कल्याणकारी काम ही आते हैं। गीताने उसे ही 'लोक-संग्रह'का व्यापक नाम दिया है।

कुशलताका अर्थ निपुणता भी है। कर्मयोगका तात्पर्य तभी पूरा हो सकता है, जब कोई भी कार्य आसक्तिपूर्वक किया जाय। निपुणता तबतक नहीं आ सकती, जबतक वह पूरी तन्मयता, शक्ति और एकाग्रतासे नहीं किया जायगा। इस प्रकार सम्पूर्ण योग्यताओंके साथ किये गये कार्यमें सफलताकी आशा की जा सकती है; असफलताकी नहीं। फिर भी पूर्ण प्रयत्नों तथा प्रतिभाओंके बावजूद भी प्रारब्ध, संयोग अथवा किसी परिस्थितिवश असफलता भी मिल सकती है, उसके लिये पुनः अनासक्तिका निर्देश प्रस्तुत है। कर्मयोगका यह सामान्य स्वरूप है।

अनासक्त-कर्मयोगका वास्तविक तात्पर्य यह है कि किसी भी कामको पूरी कुशलता (समता)के साथ, कर्तापनका अभिमान छोड़कर किया जाय और उसके फलसे निर्लिप्त, निस्पृह अथवा अनासक्त रहा जाय, जिससे न तो सफलताका अभिमान हो और न असफलतामें निराशा अथवा निरुत्साह। किन्तु सिद्धान्ततः यह ठीक होनेपर भी स्वभावतः प्रवृत्ति-प्रेरक न होनेसे लोक-संग्रह अथवा भगवदर्पणरूप आधार लेकर ही अनासक्त होकर निष्काम कर्म करना सम्भव है, अतः कर्मयोगके क्रियान्वयनमें लोक-संग्रह या भगवदर्पणको लक्ष्यबिन्दु रखना अनिवार्य तथ्य है। ज्ञातव्य है कि ये दोनों प्रेरक भाव हैं; पर स्वार्थता न होनेसे निष्काम कर्ममें परिगृहीत हैं। इसीलिये भगवद्वाक्य है—'लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि' और 'मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि।'

दिया जाता है वह पड़ता है उचित नहीं है । इस सम्बन्धमें साधारणतया दो बातें हैं एक तो यह कि वह सत्य, शिव और सुन्दर परमात्मा किसी मनुष्यसे कोई गलत काम नहीं करा सकता और यदि वह कराता है तो उसका दण्ड मनुष्यको नहीं मिलना चाहिये । लेकिन सत्य इसके विपरीत दृष्टिगोचर होता है । जो भी मनुष्य कोई गलत या बुरा काम करता है, उसे देर या सबेर उसका दण्ड भी मिलता ही है । यह बात किसी प्रकार भी समझमें आनेयोग्य नहीं है कि एक ओर तो वह परमात्मा गलत काम कराता है और दूसरी ओर दण्ड देता है या दिलाता है । परमात्मा जो कि इस समस्त जड़-चेतन संसारका पालक, संचालक और स्वामी है, ऐसा अन्याय-परायण नहीं हो सकता ।

दूसरी धारणा है—कर्म तो किये जायँ, पर असम्बद्ध या निरपेक्षभावसे । यह धारणा भी युक्त एवं भ्रान्तिपूर्ण है । जो कार्य असम्बद्धभावसे किया जायगा उसमें किसी प्रकारकी अभिरुचि अथवा तत्परता न रह सकेगी। जिस काममें अभिरुचि तथा तत्परता न रहेगी, वह ऊपरी मनसे यों ही असंलग्न प्रवृत्तिसे किया जायगा तो न ठीकसे किया जा सकता है और न उसका परिणाम ही उपयुक्त हो सकता है । ऊपरी मनसे अस्त-व्यस्त ढंगसे किये गये कार्यका परिणाम असफलताके रूपमें ही सामने आयेगा—जबकि संसारमें न तो कोई कार्य असफलताके लिये किया जाता है और न संसारका कार्य असफलताओंसे चल सकता है । सारे कार्य सफलताओंके लिये ही किये जाते हैं और [illegible]

कर्मयोगका दर्शन भी इस[illegible] [illegible] भी अकर्मण्यतावाद[illegible] करता है । इससे मनुष्यका दृष्टिकोण [illegible] [illegible] प्रति पूरा हो देता [illegible] [illegible] प्रवृत्तियें [illegible] है, जिससे संसारमें सर्वत्र अव्यवस्था [illegible] हो सकती है । किसी भी उच्चकोटिके [illegible] ऐसा नहीं की जा सकती । [illegible] भगवान् श्रीकृष्ण तथा अन्य ऋषि-मुनियोंने [illegible] उपदेश किया होगा—ऐसी कल्पना भी [illegible] जा सकती ।

कर्तव्यमें तत्परता और फलकी ओरसे उदा[illegible] अनासक्त कर्मयोगका ऐसा अर्थ लगानेवाले भी [illegible] माने जायँगे । सफलता-असफलता और इनके [illegible] दृष्टिकोण रखे बिना कर्मोंमें तत्परताकी बात [illegible] मनोवैज्ञानिक विरोध है । सफलताको लक्ष्य करके ही [illegible] कार्य किया जाता है और तभी उसमें तत्पर[illegible] आती है । जिन कर्मोंके फलोंसे कोई प्रयोजन न हो, वे कुशलतापूर्वक किये ही नहीं जा सकते । कर्म[illegible] सफलता तो मनुष्यका ध्येय होता ही है, असफल[illegible] भी निष्प्रयोजन नहीं रहा जा सकता । यदि ऐसा हो तो असफलताके कारण और उनको दूर करनेके उपायोंको खोजनेकी प्रवृत्ति ही न होगी, जिससे बार-बार असफलता ही हाथ आयेगी, जो किसी प्रकार भी वाञ्छनीय नहीं हो सकती ।

गीके लिये सम्मानको सबसे अधिक हानिकारक
या है। जो योगी अन्य मनुष्योंसे अपमानित
, वह शीघ्र ही सफल होता है—इस धारणासे
योगी ऐसा आचरण करते थे कि लोग उनका
 या अवहेलना करते थे।[1] योग-मार्गमें नारीके
आसक्तिको भी बाधक माना गया है। योगीकी
ओंके अनुसार नारी नरकका द्वार है। स्त्री
के लिये मृत्यु है। वह तृणसे ढके कूपकी भाँति
र पतनका कारण है।[2]

योगकी धार्मिक उपयोगिताका निरूपण किया गया
 इसके अनुसार योगमार्गसे हीनवर्गके पुरुष और
 भी परम गतिके अधिकारी हो जाते हैं।[3]
संस्कृतिमें योगकी प्रायः वैसी ही प्रतिष्ठा की
 है, जैसी पतञ्जलिके योगसूत्रमें मिलती है।
र्मिक योगमें जहाँतक चित्त और शरीरकी शुद्धिके
ये यम-नियम आदिकी योजना है, वह बौद्धसंस्कृतिके
 शिक्षापदों और स्वा स्मृति उपस्थानोंमें संगृहीत है।
णा, ध्यान और समाधि—इन तीनोंका अन्तर्भाव गौतम-
के द्वारा प्रवर्तित अष्टाङ्गमार्गकी समाधिमें हुआ है।

बौद्ध-संस्कृतिमें चित्तका वैज्ञानिक अध्ययन करके
सको संयमके द्वारा उपयोगी बनानेकी योजना प्रस्तुत
 गयी। चित्तके विषयमें कहा गया है कि यह चञ्चल
, चपल है, कठिनाईसे रक्षा करने योग्य है और दुर्निवार्य
। मेधावी इसको उसी प्रकार सीधा करे, जैसे बाण
नानेवाला बाणकी नोकको करता है। चित्तका दमन
करना श्रेयस्कर है। दमन किये जानेपर यह सुख देता
है। चित्त कठिनाईसे दिखायी देता है। यह अत्यन्त
निपुण होता है। इसकी गति यथेष्ट होती है। चित्त स्थिर
होनेपर प्रसन्न होता है और ऐसी स्थितिमें प्रज्ञा उत्पन्न
होती है। जिसका चित्त निर्मल, स्थिर और पाप-पुण्य-
विहीन होता है, उस जागरूक-पुरुषके लिये भय नहीं
है। अनासक्त होकर चित्तकी रक्षा करनी चाहिये।
कोई भी शत्रु मनुष्यकी उतनी हानि नहीं कर सकता,
जितनी हानि असत्प्रवृत्त चित्त करता है। माता-पिता
आदि सभी सम्बन्धी उतना काम नहीं कर सकते,
जितना सम्यक् प्रकारसे प्रणिहितचित्त।[4]

आष्टाङ्गिक मार्गमें जिस सम्यक्समाधिकी प्रतिष्ठा की
गयी है, उसके चार सोपान हैं। इन सोपानोंको ध्यान
कहते हैं। प्रथम ध्यानमें वितर्क, विचार, प्रीति, सुख
और एकाग्रता—चित्तकी ये पाँच वृत्तियाँ रहती हैं।
द्वितीय ध्यानमें प्रीति, सुख और एकाग्रता—ये तीन
वृत्तियाँ रह जाती हैं। तृतीय ध्यानमें केवल सुख और
एकाग्रताकी वृत्तियाँ रहती हैं। चतुर्थ ध्यानमें सुख नहीं
रह जाता, केवल उपेक्षा और एकाग्रता रहती है।
समाधिके लिये चार स्मृतिप्रस्थानोंको निमित्त और चार
सम्यक्प्रस्थानोंको परिष्कार-रूपमें ग्रहण किया जाता है।[5]

बौद्ध-संस्कृतिमें समाधिके लिये अरण्य, वृक्ष-मूल,
पर्वत, कन्दराएँ, पर्वतकी गुफाएँ, श्मशान, वन-प्रदेश,
खलिहान आदि उपयुक्त प्रदेश बतलाये गये हैं। गाँवोंसे
भिक्षा लेकर साधक ऐसे ही स्थानोंपर पहुँचता था और
आसन लगाकर समाधिमें लीन हो जाता था।[6]

१–विष्णुपुराण २।११।४२-४३। २–(क) भागवत ३।११।३९-४०। (ख) कालिदास कुमारसम्भव १।७४।
योगी शिवके विषयमें कहते हैं—स्त्रीसंनिकर्षं परिहर्तुमिच्छन्। ३–महाभारत शान्तिपर्व २३१।३२।
४–धम्मपदकी चित्तवग्गो। ५–दीघनिकायका महासतिपट्ठानसुत्त।
६–शरीरके प्रति जागरूक रहना, वेदनाओंके प्रति जागरूक रहना, चित्तके प्रति जागरूक रहना और धर्मोंके
प्रति जागरूक रहना—ये चार स्मृति-उपस्थान हैं। सद्गुणोंका संरक्षण, अलब्ध सद्गुणोंका उपार्जन, दुर्गुणोंका परित्याग और
उन दुर्गुणोंकी अनुत्पत्तिका प्रयत्न—चार सम्यक्प्रस्थान हैं। इनकी आसेवना, भावना और दृढ़ीकरण समाधिभावना है।
७–मज्झिम निकाय—चूळहत्थिपदोपमसुत्त।

कर्मयोगका 'कर्म' एवं 'योग' क्या है ?

(लेखक—श्रीगोरखनाथ सिंह, एम्० ए०)

ी देशका दर्शन उस देशकी सभ्यता-संस्कृतिकी
निधि है। भारतीय संस्कृतिके संसारमें बेजोड़
एक कारण यह भी है कि उसके षड्दर्शन जीवन और
की समस्याओंको सुलझानेमें आगे रहे हैं। मुक्तिकी
भारतीय मनीषाकी उपज और उसका समाधान
प्रज्ञाकी सफलता है। मुक्ति-साधनोंमें गीताका
ोग' अथवा 'निष्काम कर्मयोग' अद्वितीय है; क्योंकि
अभ्यास बड़ा सरल एवं व्यावहारिक है। इसका
न एक रिक्शाचालकके लिये उतना ही सरल है,
एक प्रोफेसरके लिये अथवा एक राजनैतिक
न्यासीके लिये। आजके युगके महान् कर्मयोगी
गाँधी थे। जिन्होंने संसारको अहिंसा तथा सत्या-
अस्त्र प्रदान किया। उनके जीवनका प्रेरणास्रोत
कर्मयोग रहा है। कर्मयोग क्या है, इसके
नके पहले हम 'योग'का विवेचन करेंगे; उसके
'कर्म'का।

ारतीय वाङ्मयमें आध्यात्मिक और धार्मिक संदर्भमें
शब्दोंका व्यापक प्रयोग हुआ है, उनमेंसे 'योग' भी
म है। वस्तुस्थिति यह है कि आत्मा, ब्रह्म, जीव,
निर्वाण, धर्म और ईश्वरकी भाँति 'योग'का भी
बहुत हुआ है। इस देशकी विचारधाराको तीन मुख्य
ओंमें विभक्त कर सकते हैं—(१) वैदिकधारा,
बौद्धधारा और (३) जैनधारा। इनमें सबसे प्राचीन
धारा है। इसे नैगम अथवा वेदमूलक कह सकते
उल्लेखनीय है कि वेद केवल संहिताओंको ही नहीं
प्रत्युत ब्राह्मणग्रन्थ भी इस नामके अधिकारी
इतना सुनिश्चित है कि वे सभी लोग, जिनको
' कहा जाता है, वेदको प्रमाणग्रन्थ मानते
वेद प्राचीन संस्कृतभाषा-(वैदिकभाषा-)में है एवं
वेदपर आधारित अन्य ग्रन्थ भी संस्कृतमें ही हैं; यथा—
रामायण, महाभारत, महापुराण, उपपुराण, स्मृतियाँ
प्रभृति। इन सबमेंसे बहुतोंमें योगसम्बन्धी चर्चाएँ भरी
पड़ी हैं; कहीं स्वतन्त्ररूपमें, कहीं आनुषङ्गिकरूपमें।

दूसरी दार्शनिकधारा 'बौद्धधारा' है। इसका उद्भव
बुद्धदेवके उपदेशोंसे होता है। बौद्धग्रन्थ पालिभाषामें
हैं। बौद्ध ग्रन्थ भी योग और योगियोंकी चर्चाओंसे भरे
पड़े हैं। भगवान् बुद्धका जीवन स्वतः इसका प्रतीक है।
जिस 'मध्यममार्ग'का उपदेश उन्होंने दिया था, वह
उनकी योगसाधनाकी बहुत बड़ी उपलब्धि थी। अर्हत्
पद, जहाँ पहुँचकर फिर जन्म नहीं लेना होता,
योगज समाधिका ही प्रतिफल है।

तीसरी धारा जैनदर्शनकी है। इसके संस्थापक
वर्द्धमान महावीर तथा उनके पूर्ववर्ती तीर्थंकर थे।
इनके भी मुख्य ग्रन्थ 'प्रामाणिकग्रन्थ' पालिभाषामें
हैं। इस सम्प्रदायमें योगकी जगह तपश्चर्याको दी गयी
है। इस कारण जैन वाङ्मयमें योग और योगियोंकी कम
चर्चा मिलती है।

इन तीन दार्शनिक धाराओंके अतिरिक्त एक चौथी धाराका
भी उदय हुआ है। ऐतिहासिक दृष्टिसे इसका भी महत्त्व
है। इसे तन्त्रशास्त्र कहते हैं। इसके दो भेद हैं (१) आगम
और (२) बौद्ध। तन्त्रका जो रूप वैदिक समाजमें प्रस्फुटित
हुआ उसे 'आगम' कहते हैं। वेद निगम हैं, तन्त्र आगम हैं।
वैसे आधुनिक जैन आगमोंकी संख्या शताधिक है। बौद्ध-तन्त्र
भी अनेक हैं। तन्त्रशास्त्रके दो भेद हैं—(१) शैव (२)
शाक्त। बौद्धतन्त्र और आगममें यह भेद है कि आगमके
लिये परमपुरुषार्थ मोक्ष है, परन्तु बौद्धतन्त्रमें चरमलक्ष्य
'निर्वाण' है। इसके अतिरिक्त आगमग्रन्थ वेदको प्रमाण

जैन-संस्कृतिके अनुसार तीर्थंकर महावीरने अपने जीवनमें समाधिके द्वारा स्वयं अपने चित्तको समाहित किया था। वे चार वर्ग-हाथ भूमिमें अपनी दृष्टि सीमित रखकर समाधि लगाते थे। वे तेरह वर्षोंतक दिन-रात मनोयोगपूर्वक निर्विघ्नरूपसे समाधिस्थ रहे। उन दिनोंमें वे बहुत कम सोते थे और पूर्णरूपसे निष्काम रहते थे। भिक्षा माँगते समय भ्रमण करते हुए भी वे चिन्तनमें ही निमग्न रहते थे। वे चलते हुए भी कहीं-कहीं अचल होकर समाधिस्थ हो जाते थे। इस प्रकार वे जीवन भर संयमपूर्वक रहे।[1]

परवर्ती धार्मिक साहित्यमें धर्म्य और शुक्ल ध्यानोंके द्वारा मोक्ष पानेकी योजना प्रस्तुत की गयी है। इन दोनों ध्यानोंमें शास्त्रीय निर्देश, विश्वकी रचना आदिका विचार तथा आध्यात्मिक विवेचन करनेकी रीति ही है। इनके परिणाम-स्वरूप आत्मामें सर्वथा लीन हो जानेकी कल्पना सिद्ध होती है[2]। पौराणिक युगमें ध्यानका महत्त्व बढ़ा और जैन-संस्कृतिमें योगके द्वारा व्यक्तित्वके सर्वोच्च विकासकी योजना बनी। इस युगमें ध्यानकी परिभाषा अधिक व्यापक दिखायी देती है। किसी एक वस्तुमें एकाग्रता-पूर्वक चित्तका निरोध ध्यान है। जिस ध्यानकी वृत्ति बुद्धिके द्वारा नियन्त्रित होती है, वही यथार्थ ध्यान है, अन्यथा वह अपध्यान है। ध्यानके पर्याय योग, समाधि, धीरोध, मनोनिग्रह, अन्तःसंलीनता आदि माने गये हैं[3]।

ध्यानके लिये निर्विघ्न स्थानका चुनाव होता था। ऐसे स्थानमें भूतलपर ही वीरासन या कायोत्सर्ग-आसनसे बैठकर हथेली, दाँत तथा शरीरके शेष भागोंके समुचित विन्यासका विधान होता था। फिर मनको नियोजित किया जाता था। योगके द्वारा व्यक्तित्वके अनुपम विकासकी सिद्धि मानी जाती थी। महापु- २३८)का वचन है—

अणिमादिगुणैर्युक्तमैश्वर्यं
भुक्त्वेहैव ...

'योगज्ञ मुनि इस लोकमें अणिमा आदि युक्त सर्वोत्कृष्ट अभ्युदय और ऐश्वर्यका ... या परिनिर्वाण पाता है। उपर्युक्त विवेचनसे ... है कि वैदिक, बौद्ध और जैन—तीनों ... योगको मानव व्यक्तित्वके सर्वोच्च विकासके ... साधन माना गया है। गीताके अनुसार तो ... ज्ञानी और कर्मी—तीनोंसे उत्तम है।

मानव अपने सुखके लिये जबतक अपने बाहरकी वस्तुओंपर अवलम्बित है, तबतक उसे ... हो सकती है। शरीरके जराजीर्ण होते हुए अ... न तो शाश्वत आनन्दके साधन हैं और न इन... आनन्दकी प्राप्ति हो सकती है। जिस प्रकार ... पदमें बाह्य वस्तुओंको छोड़कर केवल अपने ... आनन्दका साधन बनाया जा सकता है, ... शरीरका संन्यास करके आत्माको आनन्दके ... रूपमें सीमित कर लेना सफलताकी दिशामें दूस... है। जबतक व्यक्ति शरीरको आनन्द या सुखका ... बनाता है, तबतक मरणोत्तरकालमें वह शरीरी ... है। योगके द्वारा जब वह आत्माको ही आन... साधन-रूपमें सीमित कर लेता है तब वह म... पश्चात् शरीरी होता है। यही मुक्तिकी अवस्था है। आत्मरतिकी परमपद-प्राप्ति है। आत्माका आत्मामें रमण करना सर्वोच्च अनुभूति है। जैसे शरीर ... संसार संसारी जीवके आनन्द-निस्यन्द हैं, वैसे ही योगी... लिये आत्मा और ब्रह्म हैं। (अपूर्ण)

1—आचाराङ्गसूत्र (१।८।१।४)।

2—तत्त्वार्थसूत्र (१।२७।४४) उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन—तीनोंके साथ वस्तुओंके यथार्थ स्वरूपको ... कहते हैं। इन्हींका ध्यानधर्म्य है। कषायरूपी मलोंका दूरना शुक्ल है। यह ध्यानशोध्य है। महापुराण (२१। १११-११४)। 3—महापुराण (२१।९।१२)। 4—आसनोंके लिये महापुराणका योगाङ्क द्रष्टव्य है।

अपने अभिन्न मित्र एवं शिष्य अर्जुनको गृहस्थाश्रम
रा आदेश नहीं दिया । योगवासिष्ठके अनुसार
चन्द्रजीको वचपनमें वैराग्यहुआ, तथापि वे गृहस्था-
ही पड़े रहे । कबीर और नानक गृहस्थ थे । यह
ा कर्मयोग गृहस्थके लिये भी व्यावहारिक है ।
रिवार एवं गृहस्थी छोड़नेकी आवश्यकता नहीं है;
ः गृहस्थाश्रम छोड़नेका आशय यह नहीं है कि
ीने संसारको छोड़ दिया । संसार हमारे बाहरके
त्थर, वृक्ष, वनस्पति, मनुष्योंकी भीड़में नहीं है ।
ो हमारे भीतर है । मनुष्य जहाँ जाता है, अपना
: अपने साथ लिये जाता है । यह संसार, जैसा
हा जा चुका है—ईंट, पत्थर, वनस्पतियोंसे नहीं
ा हमारे अन्दरके काम-क्रोध, राग-द्वेषसे बना हुआ
कपड़ेको बदल लेनेसे ही संसारका परित्याग नहीं
। घर छोड़कर जंगलमें रहनेपर भी संसार
जाता है । किंतु कर्मयोगकी साधना करनेसे
य सांसारिक बन्धनोंसे छुटकारा पा जाता है ।
ृष्णने (गीता २ । ४८ में) इस कर्मयोगकी व्याख्या
वत् की है—

ोगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय ।
िद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥

'अर्जुन ! योगभावमें स्थित होकर कर्म
। । कर्मफलके प्रति मोह छोड़ दो और सफलता-
फलतामें समानभावसे रहो—कर्तव्यबुद्धिसे कर्म करो,
लकी लिप्सासे नहीं ।' इसी समत्वको योग कहते हैं ।

यह कर्मयोग-भारतीय दर्शनका प्राण है । तभी तो
की महिमाके सम्बन्धमें 'योगबीज'उपनिषद्में कहा
। है—

योगेन रक्ष्यते धर्मो विद्या योगेन रक्ष्यते ।
योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवतीश्वरि ॥
ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा धर्मज्ञोऽपि जितेन्द्रियः ।
विना योगेन देवोऽपि न मोक्षं लभते प्रिये ॥

कर्मके सम्बन्धमें गीतामें कहा गया है कि किसी भी क्षण मनुष्य बिना कर्मके नहीं बैठता है—'न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।' किंतु कर्म ही करते सौ वर्षोंतक जिया जाय—इस सम्बन्धमें ईशावास्योपनिषद्में कहा गया है कि—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

—'कर्म करता हुआ सौ वर्षोंतक यानी पूर्ण आयुभर जीनेकी इच्छा करे । मनुष्योंके लिये यही मार्ग है । इसपर चलनेसे मनुष्य कर्मसे लिप्त नहीं होता है ।' यहाँ अन्तिम वाक्य अधिक महत्त्वका है; क्योंकि कर्ममें बहुत बड़ा दोष यह है कि वह अनन्तचक्रको जन्म देता है । कर्मसे फल होता है और फलस्वरूप वासनाएँ होती हैं । वासनाओंसे फिर कर्म होते हैं । यह ताँता कभी टूटता नहीं है । मनुष्य सदा कर्ममें लिप्त रहता है । परंतु इसके विपरीत इस प्रकारसे भी कर्म किया जा सकता है कि मनुष्य कर्म करता जाय, किंतु उससे लिप्त न हो । उसके अच्छे-बुरे फलके प्रति आसक्ति न हो । किंतु यह सम्भव कैसे होगा ? इसका रहस्य इसके पहलेके मन्त्रमें है—'त्यक्तेन भुञ्जीथाः'—त्यागके द्वारा आत्मरक्षण करे । क्यों ? इसलिये कि मनुष्य सहस्रों दूसरे प्राणियोंका ऋणी है । यदि वह इस बातका निरंतर प्रयत्न करे कि दूसरोंका ऋण सतत हटता जाय तो वह अनायास ही दूसरोंकी सेवा करता रहे । परिणामतः वह कर्मके फलसे लिप्त न होगा । इसीको 'निष्काम-कर्म' कहा गया है । इस प्रकारके कर्ममें लगे रहनेको कर्मयोगकी संज्ञा दी गयी है । इसीको गाँधीजीने अनासक्ति योगका नाम दिया है । दो शब्दोंमें कर्मयोगका मूल सिद्धान्त यह है कि मनुष्य कर्मके फलमें आसक्ति न रखे । वह लोकसंग्रहके लिये काम करता जाय, परंतु उसके फलकी चिन्ता न करे । इसका आशय यह नहीं है कि कर्मयोगी पागलोंकी तरह होता है । जो भी कार्य सामने आ गया, उसे वह

निष्काम कर्म क्यों करें ?

(लेखक—श्री[illegible]पूर्णानन्दजी वर्मा)

वैदिकसाहित्यमें 'निष्काम' पदका प्रयोग मेरी जानकारीके अनुसार केवल 'शतपथब्राह्मण' तथा 'बृहदारण्यको-पनिषद्'में हुआ है। पौराणिक साहित्यमें गीताको छोड़कर 'कामनाओं इच्छारहित, तत्परतासे काम करनेके अर्थमें 'निष्कामकर्म'का प्रयोग मार्कण्डेयपुराणमें भी मिलता है। 'धम्मपद'में भी 'निक्कामुक' शब्द आया है, जिसका अर्थ है—सांसारिक इच्छाओंसे रहित। भारतीय वेदोंके विद्वानों तथा भारतीय इतिहासके लेखकोंने शतपथ-ब्राह्मणका समय ईसासे १४०० वर्ष पूर्व तथा बृहदारण्यकोपनिषद्का ईसासे १००० वर्षसे ६०० वर्ष पूर्वके भीतर माना है*। इस तरहसे निष्कामकर्मकी भावनाकी उपज आजसे न्यूनातिन्यून तीन सहस्र वर्ष पूर्वकी या वस्तुतः पाँच सहस्र वर्ष पूर्वकी मानी जानी चाहिये, जब कि संसारमें किसी कोनेमें ऐसी रचना तक न थी।

'मनोरथ'के अर्थमें 'काम' शब्दका उपयोग बहुत स्थानोंमें किया है। महाभारत (१३।१४९।४५)के विष्णुसहस्रनाममें इसका सुन्दर प्रयोग है—'कामहा कामकृत् कान्तः कामः कामप्रदः प्रभुः' महाकवि माघने 'कामं [illegible] शर्मा' (२।४३)में इसका बड़े सुन्दर ढंगसे प्रयोग किया है। पर यहाँ 'काम' अव्यय है और उसका अर्थ है—'चाहे या भले'—'निष्कामता' नहीं। कालिदासका समय यदि विक्रमीय संवत्से लिया जाय तो वह आजसे २०३७ वर्ष पूर्व होता है। इस प्रकार विचार करनेसे भी 'निष्काम' शब्द पर्याप्त पुराना है। डॉ० श्रीसम्पूर्णानन्दजीने गणित-ज्योतिषसे सिद्ध किया था कि वेदकाल ईसासे १०,००० वर्ष पूर्वका है। जर्मन विद्वान् मैक्समूलरका कथन है कि वेदोंकी रचना ईसासे ५००० वर्ष पहलेकी तो अवश्य है, पर उससे भी कितने पहलेकी है, यह निर्णय करना सम्भव नहीं है। अस्तु, हम इस विवादमें न पड़कर यही मानकर चलें कि हिन्दू-दर्शनने सर्वप्रथम निष्काम कर्मका प्रतिपादन आजसे प्रायः चार सहस्र वर्ष पूर्व किया था। पर किसी शब्दकी रचना आपसे आप नहीं हो जाती। 'ॐकार' शब्द नहीं है, नाद है। अक्षर क्षर नहीं होते। वे ब्रह्माण्डमें विचरते रहते हैं। कथन पाणिनिके कथनानुसार वे शंकरके डमरू-नादसे निकले और अ इ उ, ऋ लृ की ध्वनिसे ही अक्षर समाम्नायका प्रादुर्भाव हुआ; पर शब्दके रूपमें अक्षरोंको समाजने गूँथा था और सदा ही गूँथा करता है। अंग्रेजी भाषा इसलिये धनी होती जा रही है कि संसारके समाजके प्रत्येक अङ्गसे खींच-खींचकर उनके उपयोगी शब्दोंको वे अपनी भाषामें जोड़ लेते हैं, इसीलिये उनके शब्दकोषके हर नये संस्करणमें ४—५ हजार नये शब्द जुड़ जाते हैं। इसीलिये हमारे द्व, खादी, गुण्डा आदि भारतीय शब्द अब अंग्रेजी शब्द बन गये हैं। इनके पर्यायवाची अंग्रेजी भाषामें शब्द ही दूसरे नहीं हैं। इसी प्रकार कामसे निष्काम शब्दकी रचना तत्कालीन समाजकी सांसारिक विचारधाराको सही मार्गदर्शनके लिये हुआ होगा। अतः विचारणीय है कि निष्काम भावना कब उदित हुई।

निष्काम भावनाका उदय

अनुमान है कि निष्काम कर्मकी भावनाका उदय और विकास हमारे समाजमें तभी आवश्यक हुआ, जब मानवमें अहंभावकी वृद्धि हुई और मनुष्य अपनेको कर्ता-

* अभी हालमें जा 'The Age of Mahabharat war' में प्रायः पचासों विद्वानोंने निर्विवाद रूपसे प्रकाशित महाभारत युद्धकाल ३१३७ ई० पूर्व वर्ष माना है।

बैठता है; वरन् कर्मयोगी जो भी कार्य करता है, वह लोकसंग्रह अथवा लोकहितके लिये करता है। कर्म करते समय वह मैं कर्ता हूँ—इस भावनासे रहित होकर कार्य करता है। परिणामतः यदि कार्य सफल हुआ तो लोकहित हुआ; फिर भी उसमें गर्व और हर्षकी अनुभूति नहीं होनी चाहिये तथा असफल होनेपर उसमें विषादकी भी अनुभूति नहीं होनी चाहिये। कर्मयोगी तो कर्मको केवल इसलिये करता है कि लोकहित हो, उसका करना उसके लिये कर्तव्य है। इसलिये गीतामें कहा गया है—

'लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि।'

किंतु तुमको कर्म करनेका ही अधिकार है। फलका अन्वेषण करनेका नहीं*। अतः कर्मयोगी न तो कर्मफलके पीछे परेशान होता है और न तो कर्मका परित्याग ही करता है। वह तो सत्य और ऋतके भरोसे कर्म करता है। इस सम्बन्धमें उल्लेखनीय है कि ऋत भौतिक नियमोंके समुच्चयको कहते हैं, जिसका अध्ययन मुख्यरूपसे भौतिक-विज्ञान, रसायन-विज्ञान तथा गणितमें होता है। ऋतका आशय उन नियमोंसे है जिनके अनुसार कर्मोंके फल मिलते हैं। अमुक प्रकारके कर्मका अमुक प्रकारका फल मिलेगा—यह सत्य ज्ञान है। यह भी सत्य है कि ऋत और सत्यके अनुसार यह जगत् चल रहा है। इस सम्बन्धमें ऋग्वेदमें भी कहा गया है—

'ऋतं च सत्यं चाभिद्धात् ।'

अर्थात्—जब सृष्टिके आरम्भमें [illegible] किया तो उस तपसे ऋत और सत्य [illegible] प्रकार कर्मयोगका अभ्यास करनेका लक्ष्य [illegible] है कि मनुष्य सम्पूर्ण सांसारिक बन्धनों [illegible] है; यथा गीतामें कहा गया है—

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते [illegible]
कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा [illegible]
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्ति [illegible]
([illegible]

अर्थात् 'कर्मयोगी, जो समत्वदृष्टि [illegible] वह पाप-पुण्यको इस संसारमें ही छोड़ जाता [illegible] कर्मयोगका अभ्यास करना परमपुरुषार्थ है। [illegible] प्रकारके योगमें कुशलता प्राप्त करनी [illegible] प्रकारका योगी फलकी आसक्तिको त्यागकर, [illegible] बन्धनसे मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त करता है [illegible] वह सबके हितमें कर्म करनेमें लगा रहता है।'

निष्कर्ष यह है कि वह कर्म-बन्धनको आसक्ति [illegible] होकर तोड़ देता है और विश्व-व्यवस्था या लोक [illegible] भावनासे पावन कर्तव्यकर्मोंको करनेमें दत्तचित्त [illegible] संलग्न रहता है। उसका ऐसा कार्य ही लोकमें [illegible] जो भगवान्का निजी कर्तव्य है।

अनासक्त ही जीवन्मुक्त है

यो जागर्ति सुषुप्तस्थो यस्य जाग्रन्न विद्यते। यस्य निर्वासनो बोधो स जीवन्मुक्त उच्यते।
यस्य नाहंकृतो भावो यस्य बुद्धिर्न लिप्यते। कुर्वतोऽकुर्वतो वापि स जीवन्मुक्त उच्यते॥

जो निर्विकार आत्मामें सुषुप्तकी तरह स्थित रहता हुआ भी [illegible] रहता है, पर जो जाग्रत् भी नहीं है—[illegible] नहीं [illegible] और जिसका मन [illegible] है, [illegible]
कर्म करते हुए कर्तापनसे और कर्म न कर[illegible]

। पर निर्गुण-निराकार ब्रह्मकी भावनाकी बात, जो पासना तथा पूजा-पाठसे भी ऊपर है, किसीको न थी । 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'—इतनी दूरतक कोई हीं पहुँचा । हमारे सांख्यदर्शनने भी प्रकृतिको सगुण ानकर भी स्वतन्त्र तथा नित्य माना है । पर वेदान्ती स सिद्धान्तको नहीं मानते । वे कहते हैं कि सगुण स्तु अन्ततः नाशवान् होती है । अतएव सत्त्व, रज तथा म गुणत्रयविशिष्ट प्रधानको पुरुषसे स्वतन्त्र तथा नित्य वीकार करना युक्तिसंगत नहीं है । सांख्य पुरुषोंको क नहीं मानता । जन्म-मरण, अवस्था, मानसिक गुण दिके कारण वे भिन्न हैं । पर संस्कार तथा विकासके वेदान्तको माननेवालेको यह स्वीकार नहीं है । यदि ब्रह्म है तो रचना-जगत्में उससे भिन्न कुछ नहीं है और स्वर्ग-नरक तो अस्थायी स्थितियाँ हैं । अन्ततोगत्वा ब्रह्मं तो उसीमें विलीन होता है, जो संसारकी सब अवस्थाओंसे परे है । 'ईश्वर प्रणिधानाद्वा'की बात सही है, पर एक स्थिति ऐसी है, जो इसके भी ऊपर पहुँचा देती है । इसी स्थितिको प्राप्त करनेके लिये निवृत्ति-मार्गका सिद्धान्त हमारे उपनिषद्कालसे प्रारम्भ हुआ ।

समाजको जब गूढ़ रहस्योंके बीचमें खड़ाकर वैदिक सारको स्पष्ट करनेकी आवश्यकता हुई, तभी उपनिषदोंने निवृत्तिमार्गका उपदेश दिया था । इतनी ऊँचाईतक विश्वका कोई दर्शन नहीं पहुँचा है । इसका स्पष्ट विवेचन जर्मन विद्वान् मैक्समूलरने किया । वे लिखते हैं—'यदि मुझसे कोई पूछे कि आकाशके नीचे किस स्थानपर मानवकी बुद्धिने सबसे अधिक मूल्यवान् विकास किया, जीवनकी कठिनतम समस्याओंकी विवेचना वहाँ की गयी है, उनका कुछ ऐसा हल निकाला है, जिससे कुछको, (जिन्होंने प्लेटो और काण्ट जैसे दार्शनिकोंको पढ़ा है) प्राप्त होगा तो मैं कहूँगा—भारतमें । यदि मुझसे कोई पूछे कि किस साहित्यने हम यूरोपियनोंको जिन्होंने रोमन तथा यूनानी विचारधाराओंको सेमिटिक जातिके विचारोंको पढ़ा है ऐसा वैचारिक संतुलन प्रदान किया है, जिससे कि हम अपने आन्तरिक जीवनको अधिक पूर्णताके साथ, अधिक ठोस ढंगसे, अधिक व्यापक रूपसे या संक्षेपमें—अधिक मानवीढंगसे केवल इसी जीवनको नहीं; अपितु एक परिवर्तित, अनन्त जीवनको समझ सकें हैं तो मैं पुनः यही कहूँगा कि वह देश भारतवर्ष है ।'

वस्तुतः पाश्चात्य विद्वान् तो भारतकी ओर देखना चाहते हैं, पर हम स्वयं न अपनी ओर देखना चाहते हैं, न अपने दर्शन और साहित्यसे ही कुछ सीखना चाहते हैं । निवृत्ति-मार्गका प्रतिपादन तन्त्रशास्त्र या आगमोंने भी किया है । तन्त्रशास्त्रके विषयमें भी बड़ी भ्रान्ति है । लोग इसे पञ्चमकारात्मकतक ही समझते हैं । उनकी दृष्टिमें इसकी क्रियाएँ पञ्चतत्त्वमें ही आधारित हैं । किंतु 'कुलार्णव-तन्त्र'ने सात आचार बतलाये हैं, जो वेदाचारसे प्रारम्भ होकर कौलाचारमें समाप्त होते हैं । तन्त्र वामाचारमात्रसे ही सम्बद्ध नहीं है । वैष्णव, शैव, सौर, गाणपत्य आदि अनेक प्रकारकी तन्त्रोपासनाएँ हैं । वैसे बौद्ध, जैन-तन्त्र आदि भी अगणित हैं । कालान्तरमें भले ही उनकी क्रियाओंमें जो भी दूषण आ गये हों, पर भिन्न प्रकारके व्यक्तियों तथा भिन्न मानसिक उपासनाओं-के लिये इनकी दिशाओंमें चाहे जितने भी मोड़ हों, पर अन्ततोगत्वा लक्ष्य एक ही है—पूर्ण निवृत्ति । यह निष्काम कर्मको साध्य बनाये बिना नहीं चल सकता । हिन्दू-दर्शनमें अनेक पथ हैं, अनेक मत हैं, पर सबका आधार निवृत्तिमार्ग ही है । जिज्ञासु पाठकोंको इस सम्बन्धमें शैव-मतके दो ग्रन्थ—'विज्ञान-भैरव' (काश्मीर सं० सी०) तथा 'स्पन्दकारिका' (काश्मीर तथा विजयनगरसे प्रकाशित)को अवश्य देखना चाहिये ।

जितनी भी क्रियाएँ हैं, सबकी उपासनाका अन्तिम लक्ष्य है—'समाधिस्थ' हो जाना । 'समाधि' तभी हो सकती है, जब कर्म पीछे छूट जायँ । समाधि-

भर्ता समझने लग होगा। विष्णुमार्ग साधनमार्ग इसी सब दिशाओं ओर से आता है, जहाँसे मनुष्य अपने व्यावहारिक उद्देश्यकी ओर बढ़ता है, उनके साधन-समयमें ये सातरा इस प्रकार दिये हुए हैं—१-विवेक, २-व्यामोह (बुद्धिका मोहरहित होना), ३-अभ्यास, ४-क्रिया, ५-कल्याण (धर्मकार्य), ६-अनवसाद (क्षोभसे रहित) और ७-अनुद्धर्ष (हर्ष या उल्लाससे रहित)।

यदि ईश्वरको प्रत्येक प्राणीमें वर्तमान मान लें तो किसीके प्रति राग-द्वेष होना ईश्वरके प्रति राग-द्वेष होगा। अतएव सबसे प्रेम हो जानेपर फिर कर्ममें कोई आसक्ति नहीं रहती; मन केवल यन्त्रवत् कार्य करता है। इसीलिये विशिष्टाद्वैत सम्प्रदायने विशेषकर रामानुजने 'प्रपत्ति' आत्मसमर्पण अथवा भक्तिका मार्ग प्रतिपादित किया था। कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग—इन्हीं मार्गोंसे मुमुक्षुको—मोक्षके अभिलाषीको चलना होगा। जब जीवको ईश्वरसे तादात्म्यका भाव या आभास होगा तभी वह मोक्षके आनन्दको भी समझ सकेगा। मोक्ष अन्ततः है क्या?—ईश्वरके अनन्त प्रेममें डूब जाना। यहाँ प्रश्न होता है कि यदि एक भी (चाहे वह कितना ही छोटा या महान्) उद्देश्य ही क्यों न हो, उसे लेकर चला गया तो वह कार्य निष्काम कैसे हुआ? इसका उत्तर केवल एक है—प्रेमकी पराकाष्ठामें कामना शून्य हो जाती है। 'निष्काम कर्म करेंगे'—ऐसा सोचकर निष्काम कर्म नहीं होता। वह स्वतः आपसे-आप जाग्रत होता है। गीतामें जहाँ भी इसका उपदेश है, वह एक लक्ष्य-साध्य है। उसका यह अर्थ नहीं है कि निष्काम-कर्म कोई कामना करके नहीं किया जाता। वह लक्ष्य है—वह अन्तिम स्थिति है, जो रामानुजके कर्म-ज्ञान तथा अन्तमें भक्तियोगसे प्राप्त होती है। भक्त यदि भगवान्‌से लौकिक पदार्थोंकी याचनाके लिये उपासना करता है तो वह केवल ढोंग कर रहा है। देवताओंका इतना असली स्वरूप है कि वे शक्तियोंका ज्ञान कराते हैं। भूल नहीं तो और क्या है!

भक्ति-पथ

जीव जब अपने शरीरके प्रति अनुरक्तिसे मुक्त हो जाता है तब वह अपनी आत्मा और मेरुको पहचान जाता है। तब प्राकृतिक प्रपञ्च माया, भ्रम, मोह, माया समाप्त हो जाते हैं। कर्मयोग केवल ज्ञानयोगका साधन है। ज्ञानयोग, ज्ञानयोगसे मोक्षका द्वार खुलता है। इसी ओर ले जाती है। भक्तिमार्गका तर्क है कि ज्ञानयोगके जीवको कैवल्य तो प्राप्त होता है, पर कैवल्य केवल आत्मानक—अनैतिक सीमित रहता है। ईश्वरत्व अथवा ईश्वरके अनन्त प्रेमकी प्राप्तिके लिये आवश्यक है कि जीव-ज्ञानसे भक्ति-मार्गमें आ जाय, वह परम पुरुषके अनन्त प्रेममें विलीन हो जाय। अतः मोक्षके लिये भक्ति आवश्यक है।

भक्तिमार्गका सिद्धान्त कहता है कि अहंकारके नष्ट हुए बिना मोक्ष नहीं हो सकता। अहंकार भक्तिकी साधनासे ही नष्ट होता है। जब भक्त अपनेको प्रभुके चरणोंमें अर्पित कर देता है तब अहंकार भी विसर्जित हो जाता है। ऐसे आत्मविसर्जनसे ही निष्काम कर्मकी उत्पत्ति होती है। तभी जीव अपनेको प्रकृतिके बन्धनसे मुक्त कर आत्मामें तल्लीन हो ईश्वरीयता ईश्वरमें विलीन हो जाता है।

निवृत्ति-मार्ग

पर समस्या यहाँ भी हल नहीं हो पाती। ईश्वर जैसी कल्पना भारतीय दर्शनने की है, वैसी संसार किसी धर्म या दर्शनमें नहीं मिलती। अनेक धर्म ईश्वरको एक व्यक्ति, एक सत्ताके रूपमें मानकर जीवको उसकी उपासनासे उसके पास पहुँचनेका मार्ग दिखलाते

'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।'
(गीता ३ । २७)

प्रकृतिके गुण—सत्त्व-रज-तम ही सब कर्मोंको करते गुण ही मानो गुणोंमें रहते हैं, 'गुणाः गुणेषु वर्तन्ते ।' ी स्थितिमें यह कर्म मैंने किया—ऐसा विचारनेका न ही कहाँ रह जाता है । इस तरह साधकका र्तृत्वाभिमान क्षीण होते-होते मिट जाता है । उसके टते ही अहंकार या अहं भाव मिट जाता है । वह हंकार शून्य' हो जाता है ।

किंतु साधकको विचारके अनुरूप ही आचार भी ाना पड़ता है । इस अहंकारके मिटते-मिटते इन्द्रियोंपर । नहीं, अन्तःकरणपर भी, मन-बुद्धि-चित्त-अहंकारपर भी सकी विजय हो जाती है, उसका निग्रह हो जाता है, पूर्ण यन्त्रण हो जाता है । मन निष्काम होते-होते, कामनाहीन ते-होते निस्तरंग हो जाता है । इन्द्रियाँ बहिर्मुखी न रहकर न्तर्मुखी हो जाती हैं; वे स्थूल विषयोंकी ओर न दौड़ र अन्तःस्थित अक्षय सुख-स्रोतसे तृप्त होने लगती हैं, ात्मतृप्त होने लगती हैं । मन आत्मतत्त्वमें ही आराम ने लगता है, शान्ति पाने लगता है । वह आत्माराम े जाता है । बुद्धिकी सत्-असत् विवेकिनी-शक्ति दृढ़तर ो जाती है । चित्त आसक्ति और फलाशाके त्यागसे तना प्रसन्न, इतना स्वच्छ हो जाता है कि उसपर कर्म- ा संस्कार ही नहीं पड़ने पाता है । फलस्वरूप उसका र्म भी अकर्म हो जाता है, कर्मके होते रहनेपर भी चित्तमें कर्म नहीं हो रहे हैं—ऐसा विकारहीन हो जाता है— 'कर्म कि होहिं स्वरूपहिं चीन्हें ।' (मानस ७ । १११ । ३)

सकामके निष्काममें बदल जानेपर, स्वार्थके निःस्वार्थ- का रूप ले लेनेपर, अपने सुख-भोगका स्थान परहित- साधनके ले लेनेपर, इन्द्रियोंकी विषयासक्ति मिट जानेपर, मनकी चञ्चलता, उमंग किंवा लहरके शान्त हो जानेपर, चित्तकी पूर्ण शुद्धि हो जानेपर तथा अहंकारके शून्य हो जानेपर प्रकृतिका, मायाका आत्मापर हावी होना समाप्त हो जाता है । आत्मा प्रकृतिके बन्धनसे छूट-सा जाता है । प्रकृति और आत्मा पृथक्-पृथक् दोनों अपने-अपने स्वरूपमें दिखायी पड़ने लगते हैं । शरीर जो करता है, वह भोगता है; निष्क्रिय आत्मापर शरीरके कर्मका कोई प्रभाव होता ही नहीं है और न किसी प्रभावकी भ्रान्ति ही रह जाती है । आत्मा निष्क्रिय, निर्विकार, अपरिवर्तन- शील, मात्र ज्ञानस्वरूप, सत्-स्वरूप लक्षित होने लगता है । यही तत्त्वज्ञान है, यही है मुक्ति, यही है मोक्ष, यही है निर्वाण और यही है परमपद या परमधामकी प्राप्ति । यही है मानव-जीवनका लक्ष्य, उद्देश्य; इसीकी अनुभूतिमें है मानव-जीवनकी सार्थकता ।

व्यक्ति-विशेष, आत्मकल्याण और परमार्थके लिये ही नहीं, बल्कि समाजके लिये, राष्ट्रके लिये, मानव- मात्रके लिये, इहलौकिक अभ्युदयके लिये, विश्वकल्याण- के लिये भी निष्काम कर्मयोग सर्वश्रेष्ठ साधन है ।

आज संसारमें जितने कर्म हो रहे हैं, प्रायः सब कर्म मनुष्य अपने लिये, अपने पुत्र, पुत्री, पत्नी-प्रभृतिके लिये, परिवारके लिये करते हैं । परिवारकी परिधिसे जो बाहर जा पाते हैं, वे अपने समाज या राष्ट्रके लिये कर्म करते हैं । राष्ट्रियताके घेरेसे विरले ही पार जा पाते हैं । जो व्यक्ति राष्ट्रियतासे ऊपर उठकर विश्व-कल्याणके लिये कभी कर्म करते हैं, वे ही महात्मा समझे जाते हैं । संकीर्ण दायरेमें—परिवार, समाज या राष्ट्रियताकी परिधिके अन्दर ही कर्म होनेके कारण कर्म न तो निष्काम हो पाता है और न योग होकर ज्ञानका, आनन्दका, शान्तिका ही विस्तार कर पाता है । फलस्वरूप किसी व्यक्तिमें शान्ति नहीं है, किसी राष्ट्र या महादेशमें शान्ति नहीं है, विश्वमें शान्ति नहीं है । कहीं भी शान्ति नहीं है । सर्वत्र, गाँव-गाँवमें, नगर-नगरमें, देश-देशमें हिंसा है, अशान्ति है, द्वेष है, भ्रष्टाचार है, चोरी-डकैती है, छीना-

धर्ता समझने लगा होगा। वैष्णवोंका साधनसप्तक हमें उस दिशाकी ओर ले जाता है, जहाँसे मनुष्य अपने वास्तविक उद्देश्यकी ओर बढ़ता है, उनके साधन-सप्तकमें ये सातपग इस प्रकार दिये हुए हैं—१–विवेक, २–व्यामोह (बुद्धिका मोहरहित होना), ३–अभ्यास, ४–क्रिया, ५–कल्याण (धर्मकार्य), ६–अनवसाद (क्षोभसे रहित) और ७–अनुद्धर्ष (हर्ष या उल्लाससे रहित)।

यदि ईश्वरको प्रत्येक प्राणीमें वर्तमान मान लें तो किसीके प्रति राग-द्वेष होना ईश्वरके प्रति राग-द्वेष होगा। अतएव सबसे प्रेम हो जानेपर फिर कर्ममें कोई आसक्ति नहीं रहती; मन केवल यन्त्रवत् कार्य करता है। इसीलिये विशिष्टाद्वैत सम्प्रदायने विशेषकर रामानुजने 'प्रपत्ति' आत्मसमर्पण अथवा भक्तिका मार्ग प्रतिपादित किया था। कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग—इन्हीं मार्गोंसे मुमुक्षुको—मोक्षके अभिलाषीको चलना होगा। जब जीवको ईश्वरसे तादात्म्यका भाव या आभास होगा तभी वह मोक्षके आनन्दको भी समझ सकेगा। मोक्ष अन्ततः है क्या ?–ईश्वरके अनन्त प्रेममें डूब जाना। यहाँ प्रश्न होता है कि यदि एक भी (चाहे वह कितना ही छोटा या महान्) उद्देश्य ही क्यों न हो, उसे लेकर चला गया तो वह कार्य निष्काम कैसे हुआ ! इसका उत्तर केवल एक है—प्रेमकी पराकाष्ठामें कामना शून्य हो जाती है। 'निष्काम कर्म करेंगे'—ऐसा सोचकर निष्काम कर्म नहीं होता। वह स्वतः आपसे-आप जाग्रत होता है। गीतामें जहाँ भी इसका उपदेश है, वह एक लक्ष्य-साध्य है। इसका यह अर्थ नहीं है कि निष्काम-कर्म कोई कामना करके नहीं किया जाता। वह लक्ष्य है—यह अन्तिम स्थिति है, जो रामानुजके कर्म-ज्ञान तथा अन्तमें भक्तियोगसे प्राप्त होती है। भक्त भगवान्से लौकिक पदार्थोंकी याचनाके लिये

करता है तो वह केवल सौदा कर रहा है। देवताको इतना अज्ञानी समझना है, कठिनाइयोंका ज्ञान करानेपर जानकारी होगी। भूल नहीं तो और क्या है !

भक्ति-पथ

जीव जब अपने शरीरके प्रति [illegible] मुक्त हो जाता है तब वह अपनी आत्मा [illegible] भेदको पहचान जाता है। तब प्रकृतिद्वारा [illegible] भास, भ्रम, मोह, माया समाप्त हो [illegible] कर्मयोग केवल ज्ञानयोगका साधन है। ज्ञानयोग, ज्ञानयोगसे मोक्षका द्वार खुलता है। इसी ओर ले जाती है। भक्तिमार्गीय [illegible] ज्ञानयोगके जीवको कैवल्य तो प्राप्त होता है। कैवल्य केवल आत्मातक—अपनेतक सीमि[illegible] ईश्वरत्व अथवा ईश्वरके अनन्त प्रेमकी [illegible] आवश्यक है कि जीव-ज्ञानसे भक्ति-मार्गमें वह परम पुरुषके अनन्त प्रेममें विलीन हो [illegible] अतः मोक्षके लिये भक्ति आवश्यक है।

भक्तिमार्गका सिद्धान्त कहता है कि [illegible] नष्ट हुए बिना मोक्ष नहीं हो सकता। अहंकार[illegible] की साधनासे ही नष्ट होता है। जब भक्त अपने[illegible] चरणोंमें अर्पित कर देता है तब अहंकार[illegible] विसर्जित हो जाता है। ऐसे आत्मविसर्जनसे [illegible] कर्मकी उत्पत्ति होती है। तभी जीव [illegible] बन्धनसे मुक्त कर आत्मामें तल्लीन हो [illegible] ईश्वरमें विलीन हो जाता है।

निवृत्ति-मार्ग

...के परम निष्काम कर्मयोगको मुक्तिका मुख्य साधन ...का सुभग सोपान माना गया है, जिनमें केन्द्रीय स्थान ... है कर्मको—जो साधनद्वारा 'निष्काम' और योगरूपी ...ढ़ अटल शिलाओंपर प्रतिष्ठित है।

... कर्म मनुष्यकी जीवनमें करना ही है, करना पड़ता ... है। सब कर्मोंका स्वरूपतः निःशेष त्याग सम्भव ही ... है। यदि कोई सम्भव माने भी तो उसमें मानव-...नकी सार्थकता कदापि नहीं है; क्योंकि सर्वकर्म-...गसे यदि किसी प्रकार शरीर-यात्रा सम्भव भी मान ... जाय तो पुरुषार्थ-चतुष्टयकी सिद्धि नहीं हो सकेगी ...र यदि मानव-जीवनमें अज्ञानतासे, भ्रान्तिसे, मायासे, ...खोंसे, परतन्त्रतासे मोक्ष नहीं मिल सका तो महती ...हि; महान् हानि है। अतएव यदि वर्तमान मानव-...रीरसे मुक्ति प्राप्त करना है तो कर्म करना ही है और ...सी युक्तिसे, ऐसे कौशलसे कर्म करना है कि आत्माका ...ा परमात्मासे हो जाय, जीव सच्चिदानन्दस्वरूप हो ...य, अज्ञानान्धकारका अन्त हो, ज्ञानकी ज्योति जल उठे।

यह ज्ञान-ज्योति जलाना ही सर्वश्रेष्ठ कर्म है, पर है। ...त्यन्त दुष्कर कर्म किंतु उसके बिना परमपदकी प्राप्ति, ...वश्रेष्ठ धामकी प्राप्ति हो नहीं सकती है। योग ...र्मका पथ-प्रदर्शक है। योग आगे-आगे राह दिखाता ...एगा, कर्म उसका अनुसरण करता जायगा; तब ...नव निरापद हो मुक्ति-पथपर, परम धामके सोपानपर, ...पर उठता-उठता मोक्ष-मन्दिरमें प्रविष्ट हो जायगा—जहाँ ...न-ज्योतिके प्रकाशमें निराकारका साक्षात्कार कर लेगा, ...से पानेके बाद और कुछ पानेकी चाह नहीं रह जायगी ...र इसलिये जहाँ पहुँच जानेपर पुनः संसारमें जन्म ...नेकी आवश्यकता नहीं रहेगी, संसार समाप्त हो जायगा। ...नवजीवनकी लक्ष्यसिद्धि-सम्पन्न हो जायगी।

कर्मयोगका प्रथम सोपान है, 'निष्काम'; क्योंकि ...मना ही अखण्डको खण्डित करती है, असीमको सीमित करती है, शुभको अशुभ बनाती है, उदारताको संकीर्णतामें और सुखको दुःखमें बदल देती है। कामका सीधा-सादा अर्थ है—इच्छा, अपनेको सुख पहुँचाने, पदार्थोंके संग्रह और संयोग-जनित सुख पहुँचानेकी इच्छा; 'अपनेको'से तात्पर्य है—अपने शरीरको, नित्य परिवर्तनशीलको' सुख पहुँचाना।

कामनाके उदयसे अन्धकारका, अज्ञानताका, भ्रान्तिका, असत्यमें सत्यके भ्रमका श्रीगणेश होना है। कामनासे मनका संतुलन, मनकी एकाग्रता, मनकी शान्ति, मनकी निर्मलता नष्ट हो जाती है और मनकी अशेष शक्ति नष्ट होने लगती है; क्योंकि उसे नाना दिशाओंमें, अनेक प्राप्तव्योंको पानेके लिये दौड़ना पड़ता है। परिणाम होता है—श्रम, शक्ति-क्षय, अशान्ति और दुःख; क्योंकि जहाँ सब पदार्थ, सब कुछ (सिवाय एकके) परिवर्तित हो रहा है, प्रतिक्षण बदल रहा है, वहाँ किसी पदार्थका संयोग स्थिर कैसे रह सकता है, सुख स्थायी कैसे बन सकता है? संकीर्णतामें सुखकी अनुभूति हो भी कैसे सकती है? अतएव निष्काम कर्मयोगके साधकको चाहिये कि वह योगस्थ होकर निष्काम बननेका, निष्कामभावसे सब कर्म करनेका सतत प्रयत्न करे।

वैज्ञानिकोंकी धारणाके अनुसार जिस तरह संसारमें पदार्थ और ऊर्जाका योगफल सदैव बराबर रहता है, उसी तरह आध्यात्मिक दृष्टिसे संसारमें सुख-दुःखका, गुण-दोषका, पुण्य-पापका, कल्याण-अकल्याणका, स्वार्थ-परमार्थका योगफल सदैव बराबर रहता है। अतएव जिस अनुपातमें एक घटेगा उसी अनुपातमें दूसरा बढ़ेगा ताकि योगफल बराबर रहे। नौकेके पहाड़की भाँति ही संसारकी गति है, द्वन्द्वोंका योगफल सदैव नौ ही रहेगा, चाहे १+८=९ हो या ८+१=९ हो, ०+९=९ हो या ९+०=९ हो। एक घटेगा तो दूसरा बढ़ेगा, दूसरा घटेगा तो पहला बढ़ेगा। इस सिद्धान्तके अनुसार

कामना—स्व-सुख भोगेच्छाको घटानेके लिये, धीरे-धीरे शून्य करनेके लिये, पर-सुखेच्छाको बढ़ाना पड़ेगा, इसे पूर्ण ९ बनाना पड़ेगा। इस तरह निष्काम कर्मयोग-का साधक धीरे-धीरे स्वार्थको परमार्थमें रूपान्तरित करेगा और तब अपनेको पूर्णतः निष्काम बना सकेगा। प्रारम्भसे ही वह जो करेगा वह दूसरोंके उपकारके लिये; अपने निजी—तुच्छ स्वार्थके लिये वह कुछ भी नहीं करेगा। उसका प्राथमिक लक्ष्य होगा—लोकसंग्रह।

निष्कामता और योग दोनोंसे सम्पुष्टित कर नियत-कर्म करते हुए वह अपने कर्मोंको श्रेष्ठतर बनानेके लिये 'स्व' और 'पर', 'देह' और 'देही' का चिन्तन करेगा, दोनोंका अन्तर समझनेका प्रयास करेगा। ज्यों-ज्यों निष्काम कर्मोंद्वारा उसका चित्त शुद्ध होता जायगा, त्यों-त्यों वह और साफ-साफ देखने लगेगा कि दूसरोंके कल्याणमें ही उसका अपना कल्याण भी छिपा है तथा शरीर और आत्मा दोनों दो हैं, सर्वथा पृथक्। शरीर प्रकृतिनिर्मित है, परिवर्तनशील है, क्षण-क्षण बदलता रहता है, विनाशशील है। आत्मा चेतन है, ज्ञान है; इसका विनाश नहीं होता और इसमें कभी कोई परिवर्तन भी नहीं होता। शरीर तो आकृति है; क्योंकि यह प्रकृतिका अंश है। आत्मा निराकार है; क्योंकि यह कभी बदलता ही नहीं; साथ ही वह इतना सूक्ष्म है कि इसपर किसीका कोई प्रभाव, कोई विकार पड़ता ही नहीं है; वह सदा एक-जैसा रहता है। जिसकी आकृति है, उसीकी आकृति बदलती है, मिटती है, पुनः बनती है। आकृतिपर ही दूसरेका प्रभाव पड़ता है। शरीर और आत्माकी कुछ-कुछ समता पृथ्वी और आकाश-से की जाती है। पृथ्वीपर शीत और उष्णका, धूप और वृष्टिका प्रभाव प्रत्यक्ष दीख पड़ता है। इसमें ऋतु-परिवर्तनके अनुकूल अन्यान्य परिवर्तन होते हैं। इसके समुद्र-में ज्वार-भाटे बनते हैं। किंतु आकाशमें ऐसा कोई परिवर्तन [illegible] है—यद्यपि अज्ञानताके कारण इसमें परिवर्तनकी भ्रान्ति हो जाती है। पृथ्वीके उत्पातोंको कभी-कभी आकाशपर आरोपित [illegible] है। उसी तरह शरीरस्थ आत्मा यद्यपि शरीरमें रहते भी अनित्य; परिवर्तनोंसे, जरा-मरणसे, [illegible] सुख-दुःखसे सर्वथा मुक्त है तथापि अज्ञानताके कारण भ्रान्तिके कारण हम शरीरके, प्रकृतिके परिवर्तनोंके आत्मापर आरोपित कर देते हैं। निष्काम कर्मयोगके साधक इदंता (यह, मैं नहीं हूँ)से शरीरको, क्षेत्रको देखता है और वह जानता है कि शरीरमें होनेवाले परिवर्तनोंके बीच जो निर्विकार अपरिवर्तनशील बना रहता है वही आत्मा है; जो शरीरके सोनेपर भी जागता रहता है, जो शरीरके नष्ट होनेपर भी बना रहता है, जो एक शरीरको छोड़कर दूसरा शरीर धारण कर सकता है।

इतना ही नहीं, परहित कार्य करते-करते उसे यह भी ज्ञान हो जाता है कि सब शरीरोंमें, सब क्षेत्रोंमें जो एक क्षेत्रज्ञ है उन क्षेत्रज्ञोंमें भी एक और महाक्षेत्रज्ञ है। इसी 'सर्वक्षेत्रेषु क्षेत्रज्ञः'—'सर्व क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ'को महाक्षेत्रज्ञ अथवा परमात्मा (परम+आत्मा) कहते हैं। वह है—समष्टि-आत्मा। आत्मा एक शरीरका है। वह एक शरीरसे सम्बद्ध है, एक शरीरका संचालन करता है। परमात्मा समष्टि-आत्माका अथच समष्टि शरीरका, सम्पूर्ण विश्वका, जड़-चेतनका संचालन करता है। अद्वैतवादी सम्पूर्ण विश्वको उसी एक परमात्मा (समष्टि-आत्माका) प्रक्षेपण मानते हैं। इसको वे—'सूत्रे मणिगणा इव' मानते हैं। निष्काम कर्मयोगी भी निःस्वार्थभावसे कर्म करते-करते सब प्राणियोंमें अपनेको और अपनेमें सब प्राणियोंको देखने लगता है। जिसके साथ वह समरस हो जाता है। उसकी व्यष्टि समष्टिमें समाहित रहती है।

ऐसे ज्ञानका उदय होते ही उसका कर्तृत्वाभिमान [illegible] जाता है। उसे अनुभव होने लगता है—

...तेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।'
(गीता ३। २७)

...तिके गुण—सत्त्व-रज-तम ही सब कर्मोंको करते ... ही मानो गुणोंमें रहते हैं, 'गुणाः गुणेषु वर्तन्ते।' ...यतिमें यह कर्म मैंने किया—ऐसा विचारनेका ...ी कहाँ रह जाता है। इस तरह साधकका ...भिमान क्षीण होते-होते मिट जाता है। उसके ...ही अहंकार या अहं भाव मिट जाता है। वह ...र शून्य हो जाता है।

...िंतु साधकको विचारके अनुरूप ही आचार भी ...ी पड़ता है। इस अहंकारके मिटते-मिटते इन्द्रियोंपर ...ों, अन्तःकरणपर भी, मन-बुद्धि-चित्त-अहंकारपर भी जाता है। आत्मा प्रकृतिके बन्धनसे छूट-सा जाता है। प्रकृति और आत्मा पृथक्-पृथक् दोनों अपने-अपने स्वरूपमें दिखायी पड़ने लगते हैं। शरीर जो करता है, वह भोगता है; निष्क्रिय आत्मापर शरीरके कर्मका कोई प्रभाव होता ही नहीं है और न किसी प्रभावकी भ्रान्ति ही रह जाती है। आत्मा निष्क्रिय, निर्विकार, अपरिवर्तनशील, मात्र ज्ञानस्वरूप, सत्-स्वरूप लक्षित होने लगता है। यही तत्त्वज्ञान है, यही है मुक्ति, यही है मोक्ष, यही है निर्वाण और यही है परमपद या परमधामकी प्राप्ति। यही है मानव-जीवनका लक्ष्य, उद्देश्य; इसीकी अनुभूतिमें है मानव-जीवनकी सार्थकता।

/ सम्बद्ध अपरिहार्य क्रियाओंके साथ ही
ल्क क्रियाओंका भी संकेत किया है।
नकी अपरिहार्य क्रियाएँ—श्वास लेना, खाना-पीना,
मल परित्याग आदि कर्म जीवकी सत्तासे सम्बद्ध हैं,
विवेकमूलक क्रियाएँ जीवकी विशिष्टता (मुमुक्षा
से सम्बद्ध हैं। स्वाभाविक अपरिहार्य क्रियाओंको भी
अर्थात् शास्त्र-सदाचार-नियमित मर्यादाकी परिधिमें
या जाय तो उनमें निखार आकर एक तेजस्विता
ती है। इसी तेजस्विताको सुरक्षित रखनेकी स्थितिको
कहते हैं। आचार ही विश्वके समस्त प्रसिद्ध-
द्ध, विलीन या प्रचलित धर्मोंका मूल है[1]। यदि
न हो तो धर्म या धार्मिकताका उदय न हो।
बाह्य प्रत्यक्ष स्वरूप आचार है।
नीषियोंका अनुभव है कि साम्प्रतिक युगमें लोगोंमें
रता तेजीसे बढ़ती जा रही है। धर्महीनतासे
अनिश्चितता और अशान्ति होती है। धर्म ही
ऐसा तत्त्व है, जो व्यक्ति, कुल एवं देश-राष्ट्रको
तता और शान्ति दे सकता है[3]। धर्महीन मानव
तविक वृत्तियोंके अनुगमनसे पशु बन जाता है[4]।
पक्तिको वेदकी भाषामें 'अनद्धा पुरुष' कहते हैं।
'अनद्धा पुरुषों'का होना पतनकी सूचना है।
ऐसे पुरुषोंकी संख्या बढ़ गयी है।
आजकल धर्मके नामसे बहुत-से 'मत-मतान्तर'
त हैं। व्यक्ति परिस्थिति, वातावरण या बुद्धि-
से किसी मतको धर्म समझ बैठता है, मत धर्म
होते। धर्म तो वे हैं जो विश्वजनीन हैं, सर्वोपकारी
इसके दस प्रकार किये गये हैं, जिनका उल्लेख
तिमें स्पष्टतः यों है—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

'धैर्य, क्षमा, दम, चोरी न करना, पवित्रता, इन्द्रियोंका नियन्त्रण, विवेक, विद्या, सत्य और क्रोध न करना—ये दस धर्मके रूप हैं। इनका विस्तार-विश्लेषण श्रीमद्भागवतमें तीस तत्त्वोंसे किया गया है और उन तीस क्रियाओंको जीवनकी अपरिहार्य क्रियाओंकी भाँति अपनाना निष्काम-कर्मयोग है। इसी भावको ईशावास्योपनिषद्में इस प्रकार कहा गया है कि—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

'शास्त्रबोधित कर्म धर्मानुष्ठान करते हुए सौ वर्ष (अपनी पूरी आयु) तक जीनेकी इच्छा रखो। संसारके झँझटोंसे ऊबकर बीचमें अपने जीवनको निःसार समझकर उसे मत त्यागो। फलबुद्धिके लक्षणसे हीन त्रयीके अनुष्ठानसे वेद-प्रतिपादित कर्मोंके आचरणसे मनुष्यमें कर्मका लेप—जो पाप-पुण्य, नरक-स्वर्ग, सुख-दुःख भोगका कारण बनता है, वह—न होगा। इससे अतिरिक्त अन्य कोई कर्म-लेपके अभावका प्रशस्त पथ नहीं है। भगवान्ने श्रीमद्भगवद्गीतामें स्पष्ट शब्दोंमें इसी दिशामें चलनेके लिये कहा है—

'तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर'

अर्थात्—'कर्मफलमें आसक्ति न रखकर शास्त्र-निर्दिष्ट कर्तव्यकर्ममें लगे रहो। फलेच्छासे रहित होकर केवल कर्तव्यकर्ममात्र लोकसंग्रह अथवा भगवदर्पण-बुद्धिसे करनेपर कर्मोंका लेप नहीं होता—कर्मबन्धन नहीं होता। इसी पद्धतिको निष्काम-कर्मयोग कहा गया है, यह निश्चय ही मोक्षका द्वार है।

१-सर्वागमानामाचारः प्रथमं परिकल्पते। (विष्णुसहस्रनाम)
२-आचारप्रभवो धर्मः (विष्णुसहस्रनाम)। ३-धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा।—(नारायणोपनिषद्)
४-आहारनिद्राभयमैथुनं च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
... विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥ (हितोपदेश)

झपटी है, हाय-हाय है। आजका विश्व विभीषिकाओं, त्रासों और कलह-कोलाहलका भयंकर जंगल हो गया है।

ऐसी चिन्त्य स्थितिमें, कष्टमय स्थितिमें, दुःखपूर्ण-स्थितिमें यदि विचारशील व्यक्ति निष्काम कर्मयोगको अपना सकें, तत्त्वको समझ सकें या समझनेका प्रयास करें, यज्ञार्थ कर्म (परोपकार) करने लगें, पूरी तन्मयतासे अपना नियतकर्म अथवा निर्धारित कर्म निःस्वार्थ भावसे करने लगें, ऐसा समझने लगें कि यह शरीर या जो कुछ हमें मिला है संसारमें वह संसारके कल्याणार्थ ही अर्पित करना है तो क्या ही दिव्य हो उठे यह धराधाम! स्वर्ग उतर आये [illegible] क्या यह वाञ्छनीय नहीं है!

शायद इसी पुनीत उद्देश्यसे प्रेरि[illegible] अपने जीवनके ५४वें वर्षमें 'निष्काम [illegible] आपके समक्ष उपस्थित है, मानो [illegible] अनुरोध कर रहा है कि कलह-पूर्ण, [illegible] अशान्त विश्वको, हे सृष्टि-मुकुटमानव! तुम [illegible] कर्मयोगद्वारा सुख-समृद्धि-शान्तिमय बनाते [illegible] बना दो, सिञ्चित कर दो इसे प्रेम सुधासे, [illegible] ज्ञानकी ज्योति, जिसमें जलकर राख हो जाय [illegible] आसुरी वृत्तियाँ और गूँज उठें सर्वत्र [illegible] शिवोऽहम् शिवः केवलोऽहम्।'

निष्कामकर्मयोग मोक्षका द्वार

(लेखक—प्रो० डॉ० श्रीगोपालचन्द्रजी मिश्र, एम्० ए० वेद-धर्मशास्त्र-मीमांसा-दर्शनाचार्य)

संसार संसरणशील अर्थात् चञ्चल है। चञ्चलता क्रियासे उत्पन्न होती है। क्रियाके प्रादुर्भावमें त्रिपुटीका सन्निधान है। 'त्रिपुटी' शब्दका विभिन्न शास्त्रोंकी परिभाषामें विभिन्न अर्थ हैं। हमने यहाँ 'त्रिपुटी' शब्दका व्यवहार क्रियाके प्रादुर्भाव सम्बन्धी उन तीन भावात्मक जीवगत स्थितियोंके लिये किया है, जिनको दार्शनिक (१) जानाति, (२) इच्छति और (३) यतते—इन शब्दोंसे बताते हैं। जीव चाहे मानव हो या पशु-पक्षी या कीट-पतङ्ग सभी क्रिया करनेके पूर्व मनमें कुछ जानी या सुनी या कल्पित बातको विचारता है ...

... या समझमें आती है। अविकार तथा [illegible] विवेकसे रहित क्रिया फलवती अवश्य [illegible] उसका फल लाभप्रद ही हो यह निश्चित [illegible] ऐसी ही अविवेक-प्रयुक्त क्रिया हास्यास्पद व्यक्ति, कुल, देश, राष्ट्रको पतनोन्मुख बनाती [illegible]

विवेक-मूलक क्रिया बिगाड़ नहीं कर[illegible] किसी कार्य कारण-वश परिस्थितिके अनुकूल न बन सके। ऐसा होनेपर भी व्यक्तिका दूसरोंकी दृष्टिमें आत्मबल नहीं गिरता अर्थात्

सम्बद्ध अपरिहार्य क्रियाओंके साथ ही
एक क्रियाओंका भी संकेत किया है।
नकी अपरिहार्य क्रियाएँ—श्वास लेना, खाना-पीना,
त्याग परित्याग आदि कर्म जीवकी सत्तासे सम्बद्ध हैं,
विवेकमूलक क्रियाएँ जीवकी विशिष्टता (मुमुक्षा
से सम्बद्ध हैं। स्वाभाविक अपरिहार्य क्रियाओंको भी
अर्थात् शास्त्र-सदाचार-नियमित मर्यादाकी परिधिमें
या जाय तो उनमें निखार आकर एक तेजस्विता
ती है। इसी तेजस्विताको सुरक्षित रखनेकी स्थितिको
कहते हैं। आचार ही विश्वके समस्त प्रसिद्ध-
द, विलीन या प्रचलित धर्मोंका मूल है। यदि
न हो तो धर्म या धार्मिकताका उदय न हो।
बाह्य प्रकाश्य स्वरूप आचार है।
नीषियोंका अनुभव है कि साम्प्रतिक युगमें लोगोंमें

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयः शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

'धैर्य, क्षमा, दम, चोरी न करना, पवित्रता, इन्द्रियोंका नियन्त्रण, विवेक, विद्या, सत्य और क्रोध न करना—ये दस धर्मके रूप हैं। इनका विस्तार-विश्लेषण श्रीमद्भागवतमें तीस तत्त्वोंसे किया गया है और उन तीस क्रियाओंको जीवनकी अपरिहार्य क्रियाओंकी भाँति अपनाना निष्काम-कर्मयोग है। इसी भावको ईशावास्योपनिषद्में इस प्रकार कहा गया है कि—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

'शास्त्रबोधित कर्म धर्मानुष्ठान करते हुए सौ वर्ष (अपनी पूरी आयु) तक जीनेकी इच्छा रखो। संसारके झँझेरोंसे ऊबकर बीचमें अपने जीवनको

मानवको यन्त्रवत् कर्मका द्रष्टा न बनकर अपनी सत्ताके प्रति आस्था पुरुषार्थका सम्बल, दूसरोंके सौजन्यमें विश्वास और नैतिकतामें निष्ठाका सम्बल लेकर कर्म-पथपर बढ़ जाना चाहिये। ये कर्म आरम्भमें आत्म-सिद्धिके साधनके रूपमें भले ही लगें, पर अन्तमें 'भीतिर्विजयो भूतिः' आदि सिद्ध होंगे। इस प्रकार 'निर्योगक्षेम आत्मवान्' की स्थिति अपने-आप प्राप्त हो जायगी।

प्रायः शरीरधारी कोई भी प्राणी बिना कर्म किये क्षणमात्र भी नहीं रह पाता, फिर मानव तो सभी योनियोंमें भिन्न उपादान है। उसके कर्मोंमें भी अन्य प्राणियोंकी विशेषता स्वभावतः है। कर्म शब्दका पारिभाषिक अर्थ परिश्रम भले ही किया जाय, पर योगदृष्टिकोणसे केवल परिश्रम कर्म भले ही हो, कर्मयोग नहीं हो सकता। ज्ञान-साधिका बुद्धि और कर्म-साधक मनके अतिरिक्त भी इस देह-मन्दिरमें एक दिव्य वस्तु विद्यमान है, जिसे हृदय कहा जाता है। इसकी अर्के स्नेह, प्रेम और प्रभुभक्तिका सिंचन चाहती हैं। हृदयको मानवीय भावोंकी ओर फेरकर प्रभुकी ओर प्रवृत्त करना ही कर्म है और योगका सम्पूर्ण सार-तत्त्व इसीमें निहित है।

संसार माया है, भ्रमजाल है, इससे छुटकारा असम्भव है, कहकर न तो हम समस्याका समाधान ही कर पायेंगे और न तो विपत्तियोंसे छुटकारा पानेमें समर्थ ही बन पायेंगे। घटनाओंपर पर्दा डालना रोगका प्रतीकार नहीं है। श्वानके भयसे शशक-शावक जिस प्रकार टाँगोंमें अपने मुँहको छिपाकर सुरक्षितताका अनुभव करता है, उसी प्रकार हम भी करने लगें तो व्यासके परिश्रमको व्यर्थ करनेका उत्तरदायित्व भी हमपर ही रहेगा। महर्षि याज्ञवल्क्यने अत्यन्त ओज-पूर्ण भाषामें भारतीयवाङ्मयके सारभूत विचारोंके सूत्रबद्ध मन्त्रोंसे अनुस्यूत बृहदारण्यकोपनिषद्के माध्यमसे निष्काम, आप्तकाम और आत्मकामकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए कहा है—

'योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति।

(४।५)

—एक अगोचर शक्तिस्वरूप-द्रष्टा ही सर्वमय है। वही निरतिशय पूर्णानन्दस्वरूप है, जो तत्त्वज्ञानी इस 'सीयराम मय सब जग जानी'के रूपको हृदयंगम कर लेता है, उसके लिङ्गदेहरूप प्राणोंका उत्क्रमण शरीरान्तरके लिये नहीं होता। वह तत्त्ववेत्ता पुरुष ब्रह्मस्वरूप होता हुआ ही ब्रह्मको प्राप्त करता है।

मानव अपनी ही बुद्धिके चमत्कारोंमें द्विधाग्रस्त है। इधर दूसरी ओर वह उसका परित्याग भी नहीं कर पाता। आज भी उसकी प्रबुद्ध चेतावृत्ति भ्रान्तिका अनावरण कर मुक्त होनेको छटपटा रही है। स्वरूपानुभव अथवा तदुपलब्धिका क्रम, बुद्धिमन्थनसे विनिर्गत अहम्मन्यताका दायित्व, तमिस्र युगके बीच साकार दिव्य गौरव विराट् पौरुषके पुञ्जीभूत ज्वालाकी तपन-जैसे प्रश्नोंका एक ही समाधान है—'निष्काम-कर्मयोग'। अन्यथा—जो पुरुष दृष्टादृष्ट विषयोंके गुणोंका चिन्तन करता हुआ उसकी इच्छा करता है, वह उन कामनाओंके कारण उनकी प्राप्तिके लिये जहाँ-तहाँ जन्म लेता है। किंतु (परमार्थतत्त्वके विज्ञानसे) पूर्णकाम कृतकृत्य पुरुषकी सभी कामनाएँ इस लोकमें ही लीन हो जाती हैं—

कामान् यः कामयते मन्यमानः
स कामभिर्जायते तत्र तत्र।
पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्-
त्विहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः॥
(मुण्डकोपनिषद् ३।२।२)

जिस आत्मानन्द या कैवल्यानन्दके विषयमें ऊपर चर्चा की जा चुकी है तथा जो मानवमात्रका चरम लक्ष्य है और जिसे मोक्ष कहा जाता है, वह इन्द्रिय, वाणी और मनसे परे है—'न तत्र चक्षुर्गच्छति, न वाग्गच्छति, नो मनः।' यह वह रस है, जिसका आस्वादन अनिर्वचनीय है। श्रुतियाँ इसे 'रसो वै सः' कहती हैं। इस

पूर्वज ऋषि एवं शास्त्र मानवके प्रति तीन प्रकारके
ा दायित्व आरोपित करते आये हैं। वे तीन
हैं—(१) देव-ऋण, (२) ऋषि-ऋण और
पेतृ-ऋण। शारीरिक कर्म तो शरीरसम्बन्धी क्रियाओं-
को बनाये रखनेके लिये प्रकृतिके नियमानुसार
ाप बिना किसी प्रेरणाके होते ही हैं, किंतु
क्षेत्रके अन्य व्यवहार कर्म-संस्कारसे प्रेरित होकर
ो नवीन कर्म (पुरुषार्थ) करनेका सुअवसर
करते हैं। उनमें कुछ कर्म तो व्यक्तिगत हित
ारिक सुखभोगोंकी कामनासे प्रेरित होकर किये
और उनसे उत्कृष्ट कुछ कर्म समाज-हित, देशहित
वकल्याणके उद्देश्यसे सम्पादित किये जाते हैं।
र्मोंको श्रेयःकर्मोंकी संज्ञा दी गयी है तथा उनमें
रूपसे प्रवृत्त होनेके लिये मानवके प्रति उपर्युक्त
ारके ऋणोंका आरोपण किया गया है। हमारे
व्यावहारिक जीवनमें भी यह स्पष्ट देखनेमें आता
किसी भी कार्य अथवा व्यवसायका कर्ताके ऊपर
व आरोपण किये बिना सम्बद्ध कार्य सुव्यवस्थित-
.... संचालित नहीं होता है और न तो उस कार्यका
योजन ही सिद्ध होता है। कर्ताके प्रति दायित्वका
यह बन्धन कार्यके उद्देश्यको सफल बनानेमें पूर्णरूपेण
उहायक हुआ करता है।

कर्म करनेकी सामर्थ्य एवं शक्तिके साथ सृष्टिकर्ताने
मानवको विवेक-दृष्टि प्रदान करके उसको अपने कर्मकी
योग्यता, उपादेयता तथा समाज एवं विश्व-हितमें कर्तव्य-
परायणताका निर्वाह करते हुए श्रेयोमार्गपर अग्रसर होनेका
सुअवसर प्रदान किया है। भारतीय दर्शनकी इसी विशेषताने
कर्मबन्धनसे मुक्तिका मार्ग भी प्रशस्त किया है। बुद्धिमान्
मनुष्य कर्मक्षेत्रमें उतरनेसे पूर्व कर्मके पूर्वापर
परिणामोंपर विचार अवश्य कर लेता है; किंतु उसके
शुभाशुभ फल भोगनेमें वह सर्वथा ईश्वराधीन रहता है।

श्रीमद्भगवद्गीता (५। १२)में भगवान्ने कर्तव्य-कर्म करते
हुए उसके बन्धन-कारक परिणामसे बचनेके लिये
निर्देशित किया है कि—

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥

योगयुक्त कर्मोंके फलका त्याग करनेवाला कर्मबन्धनसे
मुक्त हो जाता है और इस निष्ठासे मिलनेवाली शान्ति
प्राप्त कर लेता है तथा अयुक्त मनमें कामना (वासना)
होनेके कारण फलमें आसक्त बुद्धिवाला
कर्मबन्धनमें बँध जाता है। इससे स्पष्ट ध्वनित होता
है कि कर्ममें आसक्ति एवं फलकी कामना ही कर्ताके
बन्धनका प्रधान कारण है। कर्ता अहंबुद्धिसे कर्ममें
प्रवृत्त होता है, आसक्तिपूर्वक कर्म करता है और
कर्मकी सिद्धिके लिये, फलके लिये लालायित भी रहता
है। साथ ही उसकी असिद्धिकी सम्भावनासे भी भयभीत
बना रहता है; अतः कर्मकी सिद्धि अथवा असिद्धि जो
भी परिणाम उसके सामने आता है, उसमें उसका सुखी
अथवा दुःखी होना स्वाभाविक हो जाता है। बस, कर्म-
बन्धन यहींसे प्रारम्भ हो जाता है। इसी हेतु भगवान्ने
अर्जुनको पूरी सावधानी बरतनेके लिये निर्देश दिया है
जो कर्मसिद्धान्तका मूलमन्त्र है कि—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥
(गीता २। ४७)

'अर्जुन! तेरा कर्म ... है,
फलकी प्राप्तिमें कदापि नहीं। तू ... बन
और न अकर्म (कर्म न ... रह,
व्यर्थमें अपनेको कर्ता मानकर
क्यों बनता है?' यहाँपर ...
कर्म बन्धनकारक किस ...
सार्वभौम ईश्वरीय ...
प्रकार सम्भव हो ...

स्वर्ग-नरकसे परे दिव्य धामकी प्राप्तिका उपाय बताते हुए भगवान् कृष्ण परम भक्त उद्धवजीसे कहते हैं—

स्वधर्मस्थो यजन् यज्ञैरनाशीःकाम उद्धव।
न याति स्वर्गनरकौ यद्यन्यन्न समाचरेत्॥
(श्रीमद्भा० ११।२०।१०)

ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्।
(श्रीमद्भा० ११।२०।६)

'उद्धव! मनुष्य अपने वर्ण एवं आश्रमके अनुकूल धर्ममें स्थिर रहकर यज्ञोंके द्वारा बिना किसी आशा और कामनाके, निष्कामभावसे मेरी आराधना करता रहे और निषिद्ध कर्मोंसे दूर रहकर विहित कर्मोंका आचरण करे तो उसे स्वर्ग या नरकमें नहीं जाना पड़ता। ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोगके अतिरिक्त मनुष्यके कल्याणके लिये अन्य कोई उपाय नहीं है।'

पाँच हजार वर्ष पूर्वका—'उद्धरेदात्मनात्मानम्'-का घण्टाघोष आज भी सजग प्रहरीके रूपमें विश्वके मानव-समाजको चेतावनी दे रहा है कि अपना उद्धार स्वयं करो, कोई दूसरा तुम्हारा उद्धार नहीं कर सकता। इसे दर्शनशास्त्र ही भारतमें न समझकर इसने यदि अनेक [illegible]

'[illegible] [illegible] [illegible] [illegible]' [illegible] ही [illegible] [illegible] तो इसने [illegible] [illegible] जिस कर्मके करनेसे बादमें खाटपर बैठकर पश्चात्ताप करना पड़े, उसे पहले ही आचरित नहीं करना चाहिये।

येन खट्वां समारूढः परितप्येत कर्मणा।
आदावेव न तत् कुर्यादध्रुवे जीविते सति॥
(विदुरनीति ७।३१)

मायाके मुक्कुत्सित आकर्षणको सत्य समझकर कहीं मोहवशताके रूप सेमर-वृक्षमें लगे फलको देखकर उसपर शुककी भाँति लुब्ध हो गया है। परंतु खाद लेने लगा तो रूई उड़ गयी। भोगोंकी निःसारता प्रकट हो गयी। न शान्ति मिली, न सुख और न संतोष। कुछ भी हाथ न लगा। अब पश्चात्ताप करनेसे क्या होगा! पापकर्मकी कमाईका भुगतान कौन करेगा! भजन न करनेपर सिर धुन-धुन कर पछताना ही तो रह जाता।

सूरदासजीने ठीक ही कहा है—

कहत सूर भगवंत भजन बिनु सिर धुनि-धुनि पछितैहो।

मुक्तिका सुगम पथ—निष्काम-कर्मयोग

(लेखक—पं० श्रीरघुनन्दनजी मिश्र)

श्रीमद्भगवद्गीताका निष्काम-कर्मयोग मनुष्यमात्रके लिये बड़ी ही सुगमतापूर्वक आचरण करनेयोग्य श्रेयोमार्ग है। जन्मसे लेकर मृत्युपर्यन्त मानवजीवन कर्म-योगका अनुष्ठान-क्षेत्र ही है। मनुष्य एक क्षणके लिये भी कर्म नहीं छोड़ सकता; क्योंकि मानव-जीवन ही कर्मसंस्काररूपी बीज लेकर हुआ है। जिस प्रकार घड़ीमें भरी चाबीके दबावके कारण घड़ी टिक-टिक ध्वनि करती हुई चलते रहनेके लिये बाध्य है, उसी प्रकार मानव-जीवन भी कर्म-संस्कारोंद्वारा प्रेरित-कर्म करनेके लिये विवश है। ऊपर जड़ पदार्थ घड़ीका उदाहरण एक अंशमें समझानेमात्रके लिये दिया गया है, किंतु मानवमें कर्म करनेकी स्वाभाविक स्फुरणाके साथ ही भगवान्ने बुद्धिके भीतर विवेकका प्रकाश भी दिया है, जिसके सहारे मानव कर्मके उचित, अनुचित, हेय-उपादेय आदिका निर्णय भी कर सकता है।

भारतीय दर्शन सृष्टिकी रचनाको निरुद्देश्य अथवा निष्प्रयोजन नहीं मानता है। वह [illegible] कि मानवकी उत्पत्ति कर्म करनेके [illegible] ! अपने स्वयंके कल्याणके [illegible] भावनासे ही [illegible]

रे पूर्वज ऋषि एवं शास्त्र मानवके प्रति तीन प्रकारके णोंका दायित्व आरोपित करते आये हैं। वे तीन ा हैं—(१) देव-ऋण, (२) ऋषि-ऋण और) पितृ-ऋण। शारीरिक कर्म तो शरीरसम्बन्धी क्रियाओं- सक्रिय बनाये रखनेके लिये प्रकृतिके नियमानुसार ने-आप बिना किसी प्रेरणाके होते ही हैं, किंतु न-क्षेत्रके अन्य व्यवहार कर्म-संस्कारसे प्रेरित होकर वको नवीन कर्म (पुरुषार्थ) करनेका सुअवसर न करते हैं। उनमें कुछ कर्म तो व्यक्तिगत हित सांसारिक सुखभोगोंकी कामनासे प्रेरित होकर किये ी हैं और उनसे उत्कृष्ट कुछ कर्म समाज-हित, देशहित विश्वकल्याणके उद्देश्यसे सम्पादित किये जाते हैं। कर्मोंको श्रेयःकर्मोंकी संज्ञा दी गयी है तथा उनमें ार्यरूपसे प्रवृत्त होनेके लिये मानवके प्रति उपर्युक्त प्रकारके ऋणोंका आरोपण किया गया है। हमारे

श्रीमद्भगवद्गीता (५। १२)में भगवान्‌ने कर्तव्य-कर्म करते हुए उसके बन्धन-कारक परिणामसे बचनेके लिये निर्देशित किया है कि—

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥

योगयुक्त कर्मोंके फलका त्याग करनेवाला कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाता है और इस निष्ठासे मिलनेवाली शान्ति प्राप्त कर लेता है तथा अयुक्त मनमें कामना (वासना) होनेके कारण फलमें आसक्त बुद्धिवाला कर्मबन्धनमें बँध जाता है। इससे स्पष्ट ध्वनित होता है कि कर्ममें आसक्ति एवं फलकी कामना ही कर्ताके बन्धनका प्रधान कारण है। कर्ता अहंबुद्धिसे कर्ममें प्रवृत्त होता है, आसक्तिपूर्वक कर्म करता है और कर्मकी सिद्धिके लिये, फलके लिये लालायित भी रहता है। साथ ही उसकी असिद्धिकी सम्भावनासे भी भयभीत

प्रकार भुने हुए बीजमें अङ्कुर होनेकी सामर्थ्य नहीं रह जाती, उसी प्रकार निःसंकल्प कर्मयोगी (ज्ञानी)के कर्म फल उत्पन्न करनेमें [illegible]ी रहते; क्योंकि कर्तृत्वके अभिमानसे रहित [illegible]रण उनमें फल देनेकी शक्ति नहीं रह जाती। [illegible]मित्तमात्र प्रारब्ध शेष रहनेपर्यन्त निष्काम-[illegible] कर्म एवं व्यवहार, जो लोकमें देखनेमें आते [illegible]के द्वारा सर्वथा उदासीनभावसे निष्पादित [illegible]। स्वयं भगवान्‌के निर्देशानुसार उस निष्काम-[illegible]गीकी स्थिति अधोलिखित गीताके (४। २२-२३) में और स्पष्ट कर दी गयी है—

[illegible]च्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
[illegible] सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते॥
गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥

'प्रारब्धानुसार प्राप्तमें संतुष्ट, निर्द्वन्द्व, ईर्ष्या-द्वेषादिसे रहित, कार्यकी सिद्धि या असिद्धिमें समभाव रखनेवाला निष्काम-कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी बन्धनमें नहीं पड़ता है। जिसकी बुद्धिमें आसक्ति नहीं रही, वह कर्म-बन्धनसे मुक्त हो गया। ज्ञानमें स्थित हो जानेके कारण निष्काम कर्मयोगीके सभी कर्म समाप्त ही हो जाते हैं। मुक्तिका ऐसा सुगम मार्ग श्रीमद्भगवद्गीताके अतिरिक्त अन्यत्र कहीं देखनेमें नहीं आता है; क्योंकि गीतामें सब उपनिषदोंका साररूप अमृत है, जिसका पान करके केवल भारतीय नहीं, अपितु विश्वके अन्य धर्मावलम्बी भी तृप्ति-लाभ कर रहे हैं। ऐसा मुक्तिका सुगम पथ—कर्मयोग गीताकी देन है।

निष्काम-कर्म एवं मोक्ष

(लेखक—पं० श्रीकामेश्वरजी उपाध्याय)

[illegible]रतीय सिद्धान्तोंकी यदि समालोचना की जाय [illegible]स्पष्ट हो जायगा कि मानव-जीवनकी सार्थकता [illegible]-चतुष्टयकी प्राप्तिमें ही है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष ही चार पुरुषार्थ हैं। भारतीय मनीषियोंकी प्रखर-[illegible] ज्योतिने किसे नहीं चमत्कृत किया! उसने [illegible]-सृष्टिके प्रत्य इन्हीं चार पुरुषार्थोंमें अन्तर्निहित [illegible]े हैं। इनमेंसे एकका भी त्याग नहीं किया जा [illegible]। मानवीय सहज प्रवृत्तियोंके साथ इनका शाश्वत [illegible] है। ये क्रमेण जीवको अपनी ओर खींचते हैं। एकका भी उल्लङ्घन मानवको श्रेय-च्युत कर [illegible]; अतएव ऋषियोंद्वारा कहा गया है कि—

[illegible]र्मार्थकामाः सममेव सेव्या
यो ह्येकसक्तो स नरो जघन्यः।

[illegible]तिशयिता अनर्थकारिणी होती है। एकमें ही [illegible]सक्तिका होना मानवकी तन्द्रा-अवस्थाको [illegible] द्योतित करता है। पुनः प्रश्न उठता है—अर्थ एवं काममें मानवीय प्रवृत्तियाँ अत्यधिक [illegible] होती हैं। ऐसी स्थितिमें अपरपुरुषार्थ—धर्म या मोक्षका ह्रास होना स्वाभाविक-सा हो जाता है। अतः ऐसे समयमें श्रेय क्या है? हेय क्या है? [illegible] विवेक अत्यन्त विलक्षण-धीके लोग भी नहीं कर पाते।

कर्म मानव-जीवनका मुख्याधार है। मोक्षस्वरूप कल्याणमय मंजिलको पानेके लिये विभिन्न पथपर भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियोंके साथ कर्मका पदप्रक्षेप करना पड़ता है। सहज बन्धनसे बँधा जीव मुक्त होनेकी [illegible] करता है। यद्यपि संसारियोंके लिये यह विशिष्ट (सांसारिक सम्बन्ध) जीवनका वरदान [illegible] तथापि योगिजन इसमें नहीं रमते। [illegible] अनुसार कर्मच्युत शरीरी गर्भसे मृत्युपर्यन्त [illegible] इस रज्जुसे आवृत रहता है। इस बन्धनका [illegible] ही मोक्ष है।

इसीको आगे (४ । २०)में और स्पष्ट करते हुए हते हैं—

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित् करोति सः॥

सांख्यशास्त्रके अनुसार जिस कर्ममें रागाभाव हो वह ष्कर्म हो जाता है । सामान्य राग भी निबन्धनका रण होता है । जो कर्म निबन्धनका कारण होता है ह निष्काम नहीं हो सकता । अतः कर्मके कर्तृत्वमें गकी सत्ता हेय एवं अवाञ्छित है ।

मूलतः सभी शास्त्रों एवं विचारकोंकी धारणा कर्मसे निर्लिप्त रहनेकी है—जैसे कमल जलसे रहता है ।

किंतु निष्काम-कर्म करते हुए भी तो फलकी प्राप्ति होगी ही ! फलावाप्तिका क्षय तभी होगा जब उसका उपभोग किया जाय । और, फलोपभोग करना सकाम-यात्राकी अभिलषित अट्टालिका है । तब हम फलासक्तिसे सर्वथा पृथक् कैसे रहें ! अनजानवश यदि कोई पुष्प-पुञ्जपर पतित हो जाय तो उससे मकरन्दके दो-चार रेणु अवश्य ही सट जायँगे, इसका दुकूल सुरभित होगा ही, न चाहते हुए भी वह मादकताका अनुभव करेगा; वह झूम उठेगा । दूसरी स्थितिमें यदि फलोपभोगका त्याग कर देनेका दावा किया जाय तो जन्म-मरणका चक्र टूट नहीं सकता । सामने दुर्लङ्घ्य पहाड़ है, पीछे अपार जलनिधि । प्रश्न अनिर्वचनीय है, स्थिति दारुण है, पथिक दिग्भ्रान्त है । क्या करे !

ज्ञानकी कौमुदीने जिस पुरुषपर आलोक फैलाया वह महान् हो जाता है, वह भवभूति हो जाता है । उसका मन महान् हो जाता है । उसकी विचारधारा असीम हो जाती है, वह लोककल्याणके लिये अग्रसर रहता है । सम्पूर्ण मानवीय पुरुषार्थके प्रति जागरूक रहना, अपनी कामनाकी तिलाञ्जलि दे देना निष्काम-कर्मके उज्ज्वल पक्षको प्रस्तुत करता है । जनकादिसे लेकर आजके लोकमान्य तिलक एवं महामना मदनमो मालवीय-जैसी विश्वविभूतियोंके मूलमें भी यही प भावना काम करती रही है । इन्होंने अपनी सम्प मनोभावनाओंका दमन एवं महत्त्वाकाङ्क्षाओंका उपशम कर विश्वके लिये जो उदात्त कर्म किये, औरोंके लिये त्याग किये—वे कर्म करते हुए भी कर्मसे पृथक् रहे यही समष्टि हित है, लोक-संग्रह है, निष्काम-कर्मयोग उदात्तचरित है और मानव-जीवनके लिये सब कुछ है ।

जिसने अपने ही लिये सब कुछ किया वह कामी जघन्य है । स्वार्थका जितना अंश जिसमें रहा, उस जघन्यता उतनी ही अधिक बढ़ती गयी । वह कर्मफल त्याग नहीं कर सका, अपितु मदोन्मत्त मधुपकी त मधुराशिमें गिर पड़ा; परिणाम·······! निष्काम क करनेकी कुछ पद्धतियाँ भी निर्देशित की गयी हैं; यथ काम्य निषिद्धादि कर्मोंका सर्वथा त्याग, सर्वभूतोंमें सम दृष्टिका रखना, सर्वकर्मफलत्याग आदि आदि····· श्रीगीता (१२ । १२)में योगेश्वर श्रीकृष्णने स निष्काम-कर्मकी प्रशस्ति की है । अपने कल्याणका सुगम साधनोंको बताते समय उत्तरोत्तर प्रशस्त कर्मों इङ्गित किया है—

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात् कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥

कर्मफलका त्याग करनेका अर्थ यह नहीं है फलको उठाकर इतस्ततः फेंक दिया जाय अथवा उस प्रति अनास्था रखी जाय; अपितु फलत्यागका स्पष्ट है—'भगवान्‌के प्रति फलका समर्पण करना ।' व्यक्ति फलका जितना ही निःस्वार्थभावसे, छल-छद्म रहित हो त्याग करता जायगा, बदलेमें उसे उतना ही मन एवं निदिध्यासन (अभ्यास)की शक्ति मिलती जायगी और, अन्तमें अनन्त परम मोक्षका भी स्वागत स्वतः परमश्च हो जायगा । वह भ्रममें नहीं भिड़ेगा, अ

चरन प्रिय पंकज जिन्हहीं। बिषय भोग बस करहिं कि तिन्हहीं॥
(मानस २।८३।४)

हा बिलासु राम अनुरागी। तजत बमन जिमि जन बड़भागी॥
(मानस २।३२३।४)

—के अनुसार रामभक्त तो कामविमुख ही होते हैं। क्योंकि साधकोंमें—'जहाँ राम तहँ काम नहिं, जहाँ काम नहिं राम॥' काम अछत सुख सपनेहुँ नाहीं।' 'राम प्रेम पथ देखिये, दिये विषय तन पीठि'की अत्यन्त प्रसिद्धि है। यही बात ज्ञान, भगवद्दर्शनादिकी है—'परं दृष्ट्वा निवर्तते।' (गीता २।५९)। शास्त्रोंके अनुसार कामीके सभी सत्कर्म ही निष्फल होते हैं या कुकर्ममें परिगणित होकर बलि आदिको प्राप्त होते हैं—

किं तज्जपेन तपसा मौनेन च व्रतेन च।
सुरार्चनेन दानेन स्त्रीभिर्यस्य मनो हृतम्॥
(भागवत ११।१४।३०, ११।२६।१३; महाभा० १३।३८।४०; नारदपुराण ७।८, ब्रह्मवैवर्त० १६।९०), मनुके २।९७ श्लोक

एवं उनके व्याख्याताओंका भी यही भाव है। कामनाके उत्पन्न होते ही ज्ञान-तेज, मन-प्राण, धर्म, बुद्धि, ह्री-श्री-स्मृति-धृति-सत्य, किमधिकं आत्मतत्त्वका नाश हो जाता है—'आत्मा धर्मो धृतिर्मतिः। ह्रीः श्रीस्तेजः स्मृतिः सत्यं यस्य नश्यन्ति जन्मना' (भागवत ७।१०।८)। इसके विपरीत उपर्युक्त सभी महान् गुण एवं श्रीभगवान् अकामीको तत्काल सुलभ हो जाते हैं (श्रीमद्भागवत ६।१६।३४), 'सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः' (श्रीमद्भा० ५।१८।१२) यही वास्तविक ब्रह्म-प्राप्ति या गीता २।५५–७२की ब्राह्मी स्थिति है। प्रह्लादके अनुसार साधक ज्यों ही पूर्ण निष्काम होता है, वह साक्षात् भगवान्का स्वरूप बन जाता है—

विमुञ्चति यदा कामान् मानवो मनसि स्थितान्।
तर्ह्येष पुण्डरीकाक्ष भगवत्त्वाय कल्पते॥
(श्रीमद्भा० ७।१०।९)

यमराज भी नचिकेतासे यही कहते हैं—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥
(कठोपनिषद् २।३।१४, बृहदा० ४।४।७, शाट्यायनी २५)

अतः विद्वान् व्यक्तिको निष्काम, निर्वासन मनसे बाँसुरीके[1] समान ही अनासक्त ध्वनि, स्वर एवं वाणीका प्रयोग तथा शरीरद्वारा क्रियाएँ करनी चाहिये। निष्कामभावको ही आगमभूषणोंने समाधि या सभी शङ्काओंका वास्तविक समाधान कहा है—

निरिच्छत्वं समाधानमाहुरागमभूषणाः।
(योगवासिष्ठ ६।२।३६।२३)

कामनाके उदयसे जो क्लेश होता है, वह नरकोंमें भी नहीं है। कामना ही चित्त है, उसकी शान्ति ही मोक्ष है—'तच्छान्तिर्मोक्ष उच्यते।' (योगवासिष्ठ ६।२।३६।२५) कामना-वृद्धि ही दुःख, चिन्ता एवं विष, अग्निकी ज्वाला है। इसकी ओषधि धीर पुरुषकी साधना या यत्न है, बाह्य ओषधि इंजेक्शन नहीं। इसका स्वल्पाभ्यास भी महान् भयसे त्राण करनेवाला है—

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।
(गीता २।४०)

इच्छोपशमनं कर्तुं यदि कृत्स्नं न शक्यते।
स्वल्पमप्यनुगन्तव्यं मार्गस्थो नावसीदति॥
(योगवासि० ६।२।३६।१०)

कामनामात्र ही संसार है, उसकी विस्मृति ही मोक्ष है। (वही ३३) कामना—इच्छाका अनुसंधान ही असम्प्रज्ञात या नित्य-समाधि है। जिसके लिये यह दुःसाध्य है, उसके लिये गुरु, उपदेश, शास्त्र-साधन, सत्सङ्ग आदि सब निरर्थक हैं (वही ३५)। कामना-विरसे विकृत चित्त ही समस्त आधि-व्याधियोंका मूल है, यही बन्धन है एवं निष्काम-भावना ही मोक्ष है। कामनाकाण्ड क्लेशवनमें दुःखद दारिद्र्यरूप दुर्बोध वृक्ष है। इसे कमरूपी प्रचण्ड अग्निसे दग्ध कर देना ही बुद्धिमत्ता है। जितनी-जितनी निष्कामता

१. निर्जीव बाँसुरी वादकके मनोऽनुसार बजती है, पर उसकी अपनी कोई कामना नहीं रहती। वैसे ही देह—ईश्वरः 'सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया' (१८।६१) से ईश्वरद्वारा संचालित रहती है—[illegible] नोऽनम् (योगवासिष्ठ ६।२।३६।२६)

काकभुशुण्डि आदिकी स्थिति ऐसी ही थी—

ते सकल बासना भागी। केवल राम चरन लय लागी॥
मगन मोहि कछु न सुहाई। × × ×
बिबिधि ईषना गाढ़ी। एक लालसा उर अति बाढ़ी॥
सरोम भ्रम कवन अभागी। खरी सेव सुरधेनुहि त्यागी॥
(रामच० उत्तर० ११० । १, ४, ७)

श्रीमद्भागवतके अनुसार कर्मयोगके अनुष्ठानके ... य उठनेवाली स्वल्प कामना भी भगवत्-प्राप्तिमें प्रबल प्रतिबन्धक है। यह भागवतोक्त नारदोपाख्यानसे स्पष्ट है। स्वयं नारदजीने ही श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासदेवको अपना पूर्व-चरित्र सुनाते हुए कहा था कि—'पूर्वजन्ममें मैं एक दासीका पुत्र था। जब मेरी माताका देहान्त हो गया, तब ऋषियोंके द्वारा दिये गये ज्ञानके अनुसार ही मैं साधनामें लग गया और एक दिन घोर अरण्यमें प्रविष्ट हुआ। वहाँ एक पीपलके वृक्षके नीचे बैठकर मैं भगवान्‌के चरणोंका ध्यान करने लगा। ध्यान करते-करते तल्लीनता ऐसी बढ़ गयी कि हृदय प्रेमसे भर आया, नेत्रोंमें आँसू आ गये, शरीर पुलकित हो उठा, मन संसारसे अत्यन्त निवृत्त-सा हो गया और मैं आनन्दके प्रवाहमें लीन हो गया। उसी समय हृदयमें धीरे-धीरे मनको अत्यन्त प्रिय लगनेवाले तथा समस्त शोकोंके अपनोदन करनेवाले साक्षात् भगवान् श्रीहरि हृदयमें आ गये। उस समय मुझे और कुछ भी नहीं दीखा। किंतु यह दशा क्षणिक ही थी। दूसरे ही क्षण वह परमप्रिय रूप हृदयसे तिरोहित हो गया। मैं अत्यन्त विकल हो उठा। मैंने उस रूपके दर्शनके लिये पुनः समाहित होकर प्रयत्न किया, किंतु वहाँ कुछ न दीखा। उसी समय सहसा आकाशवाणी हुई कि "मैं अपक्वकषाय कुयोगियोंके लिये दुर्दर्श हूँ। जिसका मन कामनाओंसे सर्वथा शून्य नहीं हुआ, जिनके मनसे मोहावरण—सकामभाव सर्वथा दूर नहीं हुए, मेरा दर्शन उन्हें दुर्लभ ही समझो। एक बार तुम्हें मैंने अपना यह रूप इसलिये दिखलाया, जिससे तुम मेरी ...ने सको। मेरी प्राप्तिकी इच्छावाला साधु ...मनाओंको धीरे-धीरे छोड़ देता है'—

अविपक्वकषायाणां दुर्दर्शोऽहं कुयोगिनाम्॥
सकृद् यद्दर्शितं रूपमेतत् कामाय तेऽनघ।
मत्कामः शनकैः साधुः सर्वान् मुञ्चति हृच्छयान्॥
(श्रीमद्भा० १ । ६ । २२-२३)

संतोंकी यह हार्दिक अनुभूति है कि यदि दसों इन्द्रियोंका संयम न किया जाय तो सारे साधन निष्फल एवं व्यर्थ हो जाते हैं और शार्ङ्गपाणि भगवान् नहीं मिलते। हृदयमें कामनाओं, भोगेच्छाओंके रहते हुए प्रभुकी प्राप्ति नहीं होती—

भाइहि भाउ प्रकृति-पर निरबिकार श्रीराम।
केहि प्रकार पाइय हरि, हृदय बसहिं बहु काम॥
इसइ दसहु कर संजम जो न करिय जिय जानि।
साधन बृथा होइ सब मिलहिं न सारँगपानि॥
(विनय० २०३। ९, ११)

इसलिये दृष्ट, श्रुत सभी भोगोंको असत् समझकर उन्हें मनसे सर्वथा भूल जाय, कभी उनका स्मरण भी नहीं करे; क्योंकि उनका स्मरण-उपसर्पण संसृतिप्रद तथा आत्मविनाशक है—

दृष्टं श्रुतमसद् बुद्ध्वा नानुध्यायेन्न संविशेत्।
संसृतिं चात्मनाशं च तत्र विद्वान् स आत्मदृक्॥
(श्रीमद्भा० ९ । १९ । २०)

विषयोंका दर्शन, श्रवण-स्मरण, उपसर्पण तथा ग्रहण यदि न हो तो मनुष्यका उनके प्रति कोई आकर्षण या राग नहीं होता—जैसे मदिरा न पीनेवालेके मनमें मदिरा-के प्रति या मांस न खानेवालेके मनमें मांसके प्रति कोई आकर्षण—अभिरुचि नहीं होती, अपितु घृणा ही होती है। महाभारत, शान्तिपर्वके शृगाल-काश्यप-संवादमें इसे अच्छी तरह समझाया गया है—

न [illegible] कामः कश्चन जायते।
संस्पर्शाद् दर्शनाद्वापि श्रवणाद् वापि जायते॥
न त्वं स्मरसि वारुण्या लट्वाकानां च पक्षिणाम्।
ताभ्यां चाभ्यधिको भक्ष्यो न कश्चिद् विद्यते क्वचित्॥
(१८० । ३०-३१)

होती है, उतनी ही मुक्तता होती है, अतः यथार्थक गति-मति, ज्ञान, वैराग्यादि साधनोंके सहारे शनैः-शनैः इस वासनाजाल—कामना-समूहका धीरतासे उन्मूलन करना चाहिये—

यतो यतो निरिच्छत्वं मुक्ततैव ततस्ततः।
यावद्गतिर्यथाप्राणं हन्याविच्छां समुत्थिताम्॥
(योगवासि० ६। २। ३६। ४०)

विवेकी सत्पुरुषके मनमें एक क्षण भी यदि कामनाका उदय हो गया, इच्छा-निरासमें असमर्थता हुई तो मानो उसका सर्वस्व लुट गया। ऐसे समयमें दस्युमुषित धनीजन—डाका पड़े घरवालोंके समान उसे तो बहुत देर रोना-विलाप-शोक करना ही चाहिये—

इच्छानिरासरहिते गते साधोः क्षणेऽपि च।
दस्युभिर्मुषितस्येव युक्तमाक्रन्दितुं चिरम्॥
(योगवासि० ६। २। ३६। ४२)

वस्तुतः कामनाओंके उदयका मूल कारण ही है—अज्ञान। यदि परमात्मासे भिन्न कोई वस्तु हो, तब तो उसकी कामना की जाय। पर जब सब कुछ परमात्मा ही है तो क्या चाहा जाय—'ईशावास्यमिदं सर्वम्', 'वासुदेवः सर्वमिति', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'किमिच्छन् कस्य कामाय' 'आप्तकाम हि सोऽप्यर्थो०' इत्यादिसे यही सिद्ध है। महर्षि वसिष्ठ भी कहते हैं—

आत्मनो व्यतिरिक्तं चेद् विद्यते तदिहेच्छया।
इष्यतामसति त्वेतत् त्वात्मन्यत्वं किमिष्यते॥
(योगवासिष्ठ ६। २। ३७। २)

कामना, तृष्णा आदिके कारण ही लोग सूत्रयन्त्रमें बँधे पक्षी-जैसे पराधीन होकर इधर-उधर भटकते हुए नष्ट हो रहे हैं। कामनाके समान वार्धक्य एवं मृत्यु भी दुःख-दायक नहीं हैं। कामना अमङ्गलमयी उद्गरी है। इसके कारण साक्षात् भगवान् विष्णुतकको वामनका रूप धारण करना पड़ा था—'कृदया भगवानेव विष्णु-र्वामनतां गतः।' विद्वान् पुरुषको कामनाको विषैली नागिनके समान दूरसे ही परित्याग कर देना चाहिये। बलवान् मनुष्य लोहेकी शृङ्खलाको तोड़कर मुक्त हो सकता है, पर कामनासे बँधे मनुष्यका छूट[illegible] राजर्षि जनक-जैसे अन्तः-शीतल-मन [illegible] कर्मयोगका अनुष्ठान करनेवाला प्राणी [illegible]

अन्तःशीतलया बुद्ध्या कुर्वन्‍तो लीलया क्रि[illegible]
तिष्ठति ध्येयसंत्यागी जीवन्मुक्तः स [illegible]
(योगवासिष्ठ ६। २। [illegible])

इसे ही विदेह-मुक्ति कहते हैं—

'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकाद[illegible]
(गीता ३)

जीवन्मुक्ता महात्मानः सुजना जनक[illegible]
विदेहमुक्तास्तिष्ठन्ति ब्रह्मण्येव परा[illegible]
(योगवासिष्ठ ५। ११।)

निष्कामभावसे श्रेष्ठ धर्म अथवा सहज स्वाभा[illegible] कर्मोंका अनुष्ठान करनेवाला भी जीवन्मुक्त ही है—

प्राकृतान्येव कर्माणि यथा वर्जितवाञ्छ[illegible]
क्रियन्ते तृष्णयेमानि तां जीवन्मुक्ततां विदुः।
(वही ५। १७। [illegible])

प्रायः प्राणीसे प्रतिक्षण कुछ कर्म होते हैं, पर उन[illegible] कर्मकरने-करानेवाले भी दूसरे हैं—'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।' 'नैव किंचित् करोमीति युक्तो मन्येत', 'अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्। विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥' (गीता १८। १४) 'अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता' आदिसे आत्मा तो साक्षीमात्र है, उसका कर्तृत्वाहंकार अज्ञान-के ही कारण है। अतः फलकी कामना अज्ञानमूलक एवं क्लेशकर है। वितृष्ण, निष्फल भावना ही [illegible] निर्दुःखावस्था है। एतावता राग-द्वेष एवं [illegible] रहित होकर भक्ति-स्वाध्याय, योग-यज्ञ, [illegible] ब्रह्मचर्य एवं सत्सङ्गादि नि[illegible] गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराज भी [illegible] इसी अभिप्रायको व्यक्त करते हुए मानस में कहते हैं—

बचन कर्म मन मोरि गति
तिन्ह के हृदय कमल महुँ करौं

निष्कामकर्मयोग—ज्ञान, भक्ति और कर्मकी अनन्त पूर्ति

(लेखक—प्रो० श्रीप्रफुल्लचन्द्रजी तायल, एम० ए०)

यह जगत् परमेश्वरद्वारा नियमबद्धरूपसे शासित होता रहा है । ब्रह्माण्डके कण-कणमें उस सर्वोच्च चाक्तकी सत्ताका भास है, जो आत्माके साथ तादात्म्य ापित करती है । इस सम्पूर्ण जगत्का स्रष्टा (सर्वोच्च क्ति-सम्पन्न) परब्रह्म परमात्मा या ईश्वर है। वह सब कारकी अनेकताओंके मूलमें एकरूपमें विद्यमान है।

वैदिकसिद्धान्तके अनुसार कर्मका फल जीवात्माको मिलता है और उसीके आधारपर उसके अगले न्म-कर्म होते हैं। हिन्दूसमाजव्यवस्थाके दो मुख्य आधार-स्तम्भ हैं—वर्णव्यवस्था और आश्रमव्यवस्था । हाभारतके 'अश्वमेधपर्व'के अनुगीता-प्रसङ्गमें निष्काम र्मोंकी पुनः विस्तृत व्याख्या की गयी है । हाभारतमें कहा गया है कि महाभारतरूपी अमृतका न्थन कर उस सारभूत 'गीतामृत'को भगवान् श्रीकृष्णने र्जुनके मुखमें होम (उडेल दिया) किया—

भारतामृतसर्वस्वं गीतार्थमथितस्य च।
सारमुद्धृत्य कृष्णेन अर्जुनस्य मुखे हुतम् ॥

सर्वेश्वरवादी रिचर्ड गार्वे एवं श्रीहोल्ट्जमन श्रीकृयेने षित किया है कि मूल गीताके मन्तव्योंमें चार सिद्धान्त ल्लेखनीय हैं । १—आत्माकी अमरता, २—विश्वरूप-र्शन, ३—नियतिवाद तथा ४—मनुष्यका ईश्वरके कार्योंका मित्त बनना । इन्हीं सिद्धान्तोंके आधारपर भगवान् कृष्णने अर्जुनसे कहा था कि तुम्हारा कल्याण युद्ध रनेमें ही है । इसे सबसे महत्त्वपूर्ण श्रुतिमेंसे एक माना ा है । इसीलिये अधिकतर दार्शनिकोंने इसकी वेचना की और इसके उपदेशमें अपने-अपने विचारोंकी ष्टि की । श्रीमद्भगवद्गीताका मुख्य उद्देश्य मोहित बुद्धि-े अर्जुनको निश्चित और स्पष्ट मार्ग बतलाकर उसके सम्मुख र्मयोगका महत्त्व स्पष्ट करना था । भगवान् श्रीकृष्णसे गीता सुननेके बाद अर्जुनने यह बात स्वीकार की कि उसके सभी संदेह और मायामोह दूर हो गये हैं। किंतु फिर भी निश्चितरूपसे ज्ञान, भक्ति अथवा कर्ममेंसे किसकी प्रधानता गीतामें है, यह कहना कठिन है । बल्कि निष्पक्षरूपसे तो यह कहा जा सकता है कि भगवान् श्रीकृष्णने गीताके द्वारा निष्कामकर्मयोगके नामसे एक ऐसा मार्ग उपस्थित किया है, जिसमें ज्ञान, भक्ति और कर्म, बुद्धि, भावना और संकल्प सभीकी अनन्त पूर्ति है । इस निष्कामकर्मयोगको ही गीताजीका मुख्य उपदेश और विषय माना जा सकता है । लेकिन निष्कामकर्मयोगका शाब्दिक, ऐ[illegible]क अर्थ क्या है, यह समझना कठिन है । इसके लिये आवश्यक है कि भारतीय दार्शनिकोंके विभिन्न मतोंपर गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय । जिसके मन्थनसे यह स्पष्ट हो जायगा कि श्रीहरिने किस उद्देश्यको प्रमुख मानकर श्रीमद्भगवद्गीताकी रचना की । दूसरेके समन्वयवादी (Fysthecic) आध्यात्मिक (Spiritual) दृष्टिकोणसे देखनेपर गीताके कुछ परस्पर विरुद्धसे लगने-वाले वाक्य परस्पर पूरक (Complimentary) दिखायी पड़ते हैं ।

वस्तुतः श्रीगीताजीके दर्शनको किसी दार्शनिक सम्प्रदायके अन्तर्गत नहीं रखना चाहिये, गीताको वेदान्त-का एक प्रस्थान व स्रोत माना जाता है । गीताके प्रत्येक अध्यायकी पुष्पिकाके अनुसार भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानोंने इसे एक उपनिषद् माना है । लोकमान्यतिलकके अनुसार 'कर्मयोग' ही गीताकी मुख्य शिक्षा है । श्रीमद्भगवद्गीता जीवनका अर्थ सुलझानेके लिये नहीं, बल्कि अपने कर्तव्यके ज्ञानके लिये तथा कर्मकी सहायतासे जीवनकी पहेलीपर अधिकार

निष्कामकर्मयोग—ज्ञान, भक्ति और कर्मकी अनन्त पूर्ति

(लेखक—प्रो० श्रीमफुल्लचन्द्रजी रायक, एम्० ए०)

यह जगत् परमेश्वरद्वारा नियमबद्धरूपसे शासित होता रहा है । ब्रह्माण्डके कण-कणमें उस सर्वोच्च ...रुनकी सत्ताका वास है, जो आत्माके साथ तादात्म्य ...पित करती है । इस सम्पूर्ण जगत्का स्रष्टा (सर्वोच्च ...के-सम्पन्न) परब्रह्म परमात्मा या ईश्वर है। वह सब ...रकी अनेकताओंके मूलमें एकरूपमें विद्यमान है।

वैदिकसिद्धान्तके अनुसार कर्मका फल जीवात्माको ...ता है और उसीके आधारपर उसके अगले ...न्म-कर्म होते हैं। हिन्दूसमाजव्यवस्थाके दो मुख्य ...धार-स्तम्भ हैं—वर्णव्यवस्था और आश्रमव्यवस्था । महाभारतके 'अश्वमेधपर्व'के अनुगीता-प्रसङ्गमें निष्काम ...र्मोंकी पुनः विस्तृत व्याख्या की गयी है । ...हाभारतमें कहा गया है कि महाभारतरूपी अमृतका ...न्थन कर उस सारभूत 'गीतामृत'को भगवान् श्रीकृष्णने ...र्जुनके मुखमें होम (उडेल दिया) किया—

भारतामृतसर्वस्वं गीतार्थमथितस्य च ।
सारमुद्धृत्य कृष्णेन अर्जुनस्य मुखे हुतम् ॥

सर्वेश्वरवादी रिचर्ड गार्बे एवं श्रीहोल्ट्जमन श्रीकृयेने ...थित किया है कि मूल गीताके मन्तव्योंमें चार सिद्धान्त ...ल्लेखनीय हैं । १—आत्माकी अमरता, २—विश्वरूप-...र्शन, ३—नियतिवाद तथा ४—मनुष्यका ईश्वरके कार्योंका ...मित्त बनना । इन्हीं सिद्धान्तोंके आधारपर भगवान् ...कृष्णने अर्जुनसे कहा था कि तुम्हारा कल्याण युद्ध ...रनेमें ही है । इसे सबसे महत्त्वपूर्ण श्रुतिमेंसे एक माना ...ा है । इसीलिये अधिकतर दार्शनिकोंने इसकी ...वेचना की और इसके उपदेशमें अपने-अपने विचारोंकी ...टि की । श्रीमद्भगवद्गीताका मुख्य उद्देश्य मोहित बुद्धि-...के अर्जुनको निश्चित और स्पष्ट मार्ग बतलाकर उसके सम्मुख ...र्मयोगका महत्त्व स्पष्ट करना था । भगवान् श्रीकृष्णसे गीता सुननेके बाद अर्जुनने यह बात स्वीकार की कि उसके सभी संदेह और मायामोह दूर हो गये हैं । किंतु फिर भी निश्चितरूपसे ज्ञान, भक्ति अथवा कर्ममेंसे किसकी प्रधानता गीतामें है, यह कहना कठिन है । बल्कि निष्पक्षरूपसे तो यह कहा जा सकता है कि भगवान् श्रीकृष्णने गीताके द्वारा निष्कामकर्मयोगके नामसे एक ऐसा मार्ग उपस्थित किया है, जिसमें ज्ञान, भक्ति और कर्म, बुद्धि, भावना और संकल्प सभीकी अनन्त पूर्ति है । इस निष्कामकर्मयोगको ही गीताजीका मुख्य उपदेश और विषय माना जा सकता है । लेकिन निष्कामकर्मयोगका शाब्दिक, ...यक अर्थ क्या है, यह समझना कठिन है । इसके लिये आवश्यक है कि भारतीय दार्शनिकोंके विभिन्न मतोंपर गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय । जिसके मन्थनसे यह स्पष्ट हो जायगा कि श्रीहरिने किस उद्देश्यको प्रमुख मानकर श्रीमद्भगवद्गीताकी रचना की । दूसरेके समन्वयवादी (Fysthecic) आध्यात्मिक (Spiritual) दृष्टिकोणसे देखनेपर गीताके कुछ परस्पर विरुद्धसे लगने-वाले वाक्य परस्पर पूरक (Complimentary) दिखलायी पड़ते हैं ।

वस्तुतः श्रीगीताजीके दर्शनको किसी दार्शनिक सम्प्रदायके अन्तर्गत नहीं रखना चाहिये, गीताको वेदान्त-का एक प्रस्थान व स्रोत माना जाता है । गीताके प्रत्येक अध्यायकी पुष्पिकाके अनुसार भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानोंने इसे एक उपनिषद् माना है । लोकमान्यतिलकके अनुसार 'कर्मयोग' ही गीताकी मुख्य शिक्षा है । श्रीमद्भगवद्गीता जीवनका अर्थ सुलझानेके लिये नहीं, बल्कि अपने कर्तव्यके ज्ञानके लिये तथा कर्मकी सहायतासे जीवनकी पहेलीपर अधिकार

निष्कामकर्मयोग—ज्ञान, भक्ति और कर्मकी अनन्त पूर्ति

(लेखक—प्रो० श्रीप्रफुल्लचन्द्रजी सायक, एम० ए०)

यह जगत् परमेश्वरद्वारा नियमबद्धरूपसे शासित होता रहा है । ब्रह्माण्डके कण-कणमें उस सर्वोच्च उनकी सत्ताका वास है, जो आत्माके साथ तादात्म्य पैदा करती है । इस सम्पूर्ण जगत्का स्रष्टा (सर्वोच्च गुण-सम्पन्न) परब्रह्म परमात्मा या ईश्वर है । वह सब प्रकारकी अनेकताओंके मूलमें एकरूपमें विद्यमान है ।

वैदिकसिद्धान्तके अनुसार कर्मका फल जीवात्माको मिलता है और उसीके आधारपर उसके अगले जन्म-कर्म होते हैं । हिन्दूसमाजव्यवस्थाके दो मुख्य आधार-स्तम्भ हैं—वर्णव्यवस्था और आश्रमव्यवस्था । महाभारतके 'अश्वमेधपर्व'के अनुगीता-प्रसङ्गमें निष्काम कर्मोंकी पुनः विस्तृत व्याख्या की गयी है । महाभारतमें कहा गया है कि महाभारतरूपी अमृतका मन्थन कर उस सारभूत 'गीतामृत'को भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनके मुखमें होम (उड़ेल दिया) किया—

भारतामृतसर्वस्वं गीतार्थमथितस्य च ।
सारमुद्धृत्य कृष्णेन अर्जुनस्य मुखे हुतम् ॥

सर्वेश्वरवादी रिचर्ड गार्बे एवं श्रीहोल्ट्जमन श्रीकृष्णने निश्चित किया है कि मूल गीताके मन्तव्योंमें चार सिद्धान्त उल्लेखनीय हैं । १—आत्माकी अमरता, २—विश्वरूप-दर्शन, ३—नियतिवाद तथा ४—मनुष्यका ईश्वरके कार्योंका निमित्त बनना । इन्हीं सिद्धान्तोंके आधारपर भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा था कि तुम्हारा कल्याण युद्ध करनेमें ही है । इसे सबसे महत्त्वपूर्ण श्रुतिमेंसे एक माना गया है । इसीलिये अधिकतर दार्शनिकोंने इसकी विवेचना की और इसके उपदेशमें अपने-अपने विचारोंकी पुष्टि की । श्रीमद्भगवद्गीताका मुख्य उद्देश्य मोहित बुद्धि-वाले अर्जुनको निश्चित और स्पष्ट मार्ग बतलाकर उसके सम्मुख कर्मयोगका ... करना था । भगवान् श्रीकृष्णसे गीता सुननेके बाद अर्जुनने यह बात स्वीकार की कि उसके सभी संदेह और मायामोह दूर हो गये हैं । किंतु फिर भी निश्चितरूपसे ज्ञान, भक्ति अथवा कर्ममेंसे किसकी प्रधानता गीतामें है, यह कहना कठिन है । बल्कि निष्पक्षरूपसे तो यह कहा जा सकता है कि भगवान् श्रीकृष्णने गीताके द्वारा निष्कामकर्मयोगके नामसे एक ऐसा मार्ग उपस्थित किया है, जिसमें ज्ञान, भक्ति और कर्म, बुद्धि, भावना और संकल्प सभीकी अनन्त पूर्ति है । इस निष्कामकर्मयोगको ही गीताजीका मुख्य उपदेश और विषय माना जा सकता है । लेकिन निष्कामकर्मयोगका शाब्दिक, ...यिक अर्थ क्या है, यह समझना कठिन है । इसके लिये आवश्यक है कि भारतीय दार्शनिकोंके विभिन्न मतोंपर गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय । जिसके मन्थनसे यह स्पष्ट हो जायगा कि श्रीहरिने किस उद्देश्यको प्रमुख मानकर श्रीमद्भगवद्गीताकी रचना की । दूसरे समन्वयवादी (Fysthecic) आध्यात्मिक (Spiritual) दृष्टिकोणसे देखनेपर गीताके कुछ परस्पर विरुद्धसे लगने-वाले वाक्य परस्पर पूरक (Complimentary) दिखायी पड़ते हैं ।

वस्तुतः श्रीगीताजीके दर्शनको किसी दार्शनिक सम्प्रदायके अन्तर्गत नहीं रखना चाहिये, गीताको वेदान्त-का एक प्रस्थान व स्रोत माना जाता है । गीताके प्रत्येक अध्यायकी पुष्पिकाके अनुसार भारतीय एवं पाश्चात्त्य विद्वानोंने इसे एक उपनिषद् माना है । लोकमान्यतिलकके अनुसार 'कर्मयोग' ही गीताकी मुख्य शिक्षा है । श्रीमद्भगवद्गीता जीवनका अर्थ सुलझानेके लिये नहीं, बल्कि अपने कर्तव्यके ज्ञानके लिये तथा कर्मकी सहायतासे जीवनकी पहेलीपर अधिकार

भावना तथा संकल्प सभीका समन्वय कर
े तादात्म्य करके अपने कर्म करते जाना आवश्यक
े कर्म, कर्मके लिये नहीं, बल्कि ईश्वरके लिये हैं।
ास्तवमें आध्यात्मिक दृष्टिकोण सदा ही पूर्ण और
स्वादी दृष्टिकोण होता है। उसमें विरोधी पूरक
। जाते हैं। प्रो० हिरियानाके शब्दोंमें गीताका
देश्य प्रवृत्ति और निवृत्ति, कर्म और ज्ञानके दो
ादर्शोंमेंसे स्वर्णिम माध्यम (Golden Midium)
ाकालना है। निष्काम-कर्मयोग-ज्ञान, भक्ति और कर्मका
ाध्यात्मिक समन्वय है। यह समन्वय इन तीनों पक्षोंका
यावहारिक समझौता है। यह अरस्तूके स्वर्णिम
ध्यम मार्गसे भिन्न है और इसमें अवयवी सम्बन्ध
Organic Relation) नहीं है। यह आध्यात्मिक
कताकी स्थिति है। बौद्धिक प्रयत्नोंसे इसे समझना
कठिन है। केवल यह कहा जा सकता है कि
समें संकल्प और भावना सभी एकरस (Homo-
geneous) तथा रूपान्तरित (Transformed) होकर
वी (Devinised) या दिव्य बन जाते हैं। डॉ०
धाकृष्णन्के अनुसार कर्ममार्ग हमें एक ऐसी अवस्थापर
े जाता है जहाँ भावना, ज्ञान और संकल्प सभी
पस्थित हैं।'

वेदान्तदर्शनमें कर्ममार्गसे समुचित ज्ञानमार्गकी
ान कही गयी है। सुरेश्वराचार्यके अनुसार
र्मसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है और इस लोकमें
भ्युदय और निःश्रेयस मिलते हैं। किंतु वेदान्ती
र्मको मोक्षका साधन नहीं मानते। आचार्य शंकर कहते
ि कि कर्म और ज्ञानमें महान् अन्तर है। कर्मका
ल अभ्युदय और ज्ञानका फल निःश्रेयस है। कर्म
रुष-व्यापार-तन्त्र है और ज्ञान वस्तु-तन्त्र है।
र्मका विषय भव्य है, पर वह ज्ञानकालमें नहीं रहता।
अनुष्ठानकी अपेक्षा है। ज्ञान अनुष्ठानसे निरपेक्ष
विकल्पज है और ज्ञान स्वप्रकाश। कर्मका
फल अपूर्व है और ज्ञानका फल नित्य सिद्ध है। कर्मका
फल उत्पाद्य, संस्कार्य, आप्य तथा विकार्य है और ज्ञानका
फल ऐसा नहीं है—

उत्पाद्यमाप्यं संस्कार्यं विकार्यं च क्रियाफलम्।
नैव मुक्तिर्यतस्तस्मात् कर्म तस्या न साधनम्॥
(नैष्कर्म्यसिद्धि १। ५३)

इन अन्तरोंके कारण कर्मसे ज्ञानका फल नहीं मिल सकता और कर्म तथा ज्ञानका यहाँ, समुच्चय या युगपद् मेल भी नहीं हो सकता। किंतु कर्म सर्वथा व्यर्थ नहीं है। लोकसंग्रह और अभ्युदयके लिये ये आवश्यक हैं। व्यावहारिक जीवनमें कर्मका मूल्य सबसे अधिक है। परमार्थमें भी वह चित्तशुद्धिके द्वारा ज्ञानमें हेतु है। अतः यह पारमार्थिक ज्ञानका कारण है। लोकमान्य तिलक-महोदयके मतमें निष्काम कर्म साक्षात् 'निःश्रेयसकर' है।

कर्म तीन प्रकारके होते हैं—नित्य, नैमित्तिक और काम्य। काम्यकर्म स्वर्गादिकी प्राप्तिके लिये किये जाते हैं। नैमित्तिक कार्य वे हैं—जो विशेष अवसरोंपर किये जाते हैं। नित्यकर्म वे हैं, जो प्रत्येक व्यक्तिके लिये नित्य कर्तव्य हैं। इनमेंसे काम्यकर्मके अतिरिक्त अन्य कर्मोंके पालनसे चित्त शुद्ध होता है और ज्ञानके जितने प्रतिबन्ध होते हैं, वे दूर हो जाते हैं। इसलिये गीतामें कहा गया है कि यज्ञ, दान और तप ज्ञानियोंको भी पवित्र करते हैं। नित्यकर्म न करनेसे प्रत्यवाय या पाप होता है। भगवत्पाद शंकराचार्य कहते हैं कि जो नित्यकर्म करता है, उसका अन्तःकरण संस्कृत तथा विशुद्ध होता है। फिर वह ज्ञानका अधिकारी हो जाता है। 'सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानोत्पत्ति-तन्निष्ठाहेतुत्वेन मोक्षकारणमिदम्' (गीता शांकरभाष्य १८। १०)। काम्यकर्मके अतिरिक्त अन्य सभी कर्म आत्मज्ञानोत्पत्तिके द्वार-कारण हैं और परम्परया मोक्षके साधन हैं—एवं काम्यवर्जितं सर्वमात्मज्ञानोत्पत्तिद्वारेण मोक्षसाधकत्वं प्रतिपद्यते। (आचार्य शंकरकृत बृहदारण्यक-उपनिषद्भाष्य)

प्राप्त करनेके लिये कही गयी है। जिनने गीताको कर्मयोग-प्रधान ग्रन्थ माना है। विवेकसे परम तत्त्वकी उपलब्धि होती है, इस बातको वेद, उपनिषद् और छहों दर्शनोंने स्वीकार किया है। भगवद्गीताके अनुसार इस विवेककी उपलब्धि चित्त-शुद्धिके बिना सम्भव नहीं है और चित्त-शुद्धिके लिये अनुष्ठानकी आवश्यकता है। अतः परमतत्त्वकी प्राप्तिके लिये सबसे बड़ा साधन कर्मानुष्ठान ही सिद्ध होता है। श्रीगीताजीका कहना है कि कर्मयोगीको पाप-पुण्य नहीं लगते। श्रीकृष्णने स्वयं ही अर्जुनसे कहा है, सुख-दुःख, लाभ-हानि और जय-पराजयको समान समझकर फिर युद्धमें प्रवृत्त होनेसे तुम पापके भागी न बनोगे।

निष्ठावान् कर्मयोगीके लिये भगवान् श्रीकृष्णने जो परमोच्चस्थान निर्धारित किया है, उसको जानकर सहज ही श्रीगीताके कर्मरत मार्गका रहस्य समझमें आ जाता है। भगवान् श्रीकृष्णने कहा है कि सब कर्मोंका फल मुझे समर्पितकर अनन्ययोगसे मेरा ही ध्यान करते हुए जो मेरी उपासना करते हैं, हे पार्थ! मुझमें आश्रित अपने उन भक्तोंको मैं शीघ्र ही मरणशील संसारसे पार कर देता हूँ। यह गीताके कर्मयोगकी विधि है और यही उसका फल है। यही कर्मयोग गीताका मुख्य विषय है, जिसको भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

'इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।'

वास्तवमें ईश्वर सब कुछ करते हुए भी किसी कर्म या वस्तुमें आसक्त नहीं रहता। वह तो कर्तव्यको करता है। इस तरह अनासक्त होकर जो कर्म किया जाता है, यही कर्म करनेका सच्चा ढंग है और यही
कर्मयोग है। निष्कामतासे सभी
और उनसे निर्लिप्त
भी है।
और कर्मयोग

पण्डित है। इसीका उपदेश श्रीकृष्णने दिया है। कर्मके महत्त्वको समझानेके लि
यही सूक्ष्मदृष्टिसे काम लिया गया है।
ब्रह्मविद्या है, क्योंकि यह सब
जिस साधनके द्वारा उस ब्रह्म-तत्त्वक
जा सकता है, उस योगका भी श्री
है। इसीलिये गीताके प्रत्येक अ
योगशास्त्रसे अभिहित किया गया है
योग तीन तरहसे कहा गया है—भक्ति
कर्मयोग। योगके ये तीन अंग ब्रह्मतत्त्व
लिये अभिन्न अंग हैं। इनका पारस्परिक ध

महान् दार्शनिक आचार्य शंकरके अ
मुख्य उपदेश ज्ञान है। वे कर्म और
लिये आवश्यक नहीं मानते और उनको वे
कोटिका साधन मानते हैं। उनके अनुसार
ज्ञानसे ही मोक्ष प्राप्त हो सकता है। श्रीम
भाष्यमें आचार्यपादने लिखा है—

केवलात् तत्त्वज्ञानादपि मोक्षप्राप्तिः न कर्मस

श्रीरामानुज और मध्वके अनुसार गी
उपदेश भक्ति है। श्रीवल्लभाचार्यजीका कथ
'ईश्वरके प्रति भक्ति मोक्ष-प्राप्तिका एकमात्र सा
श्रीनिम्बार्काचार्य भी इसी मतको मानते हैं। उप
दार्शनिकोंके मत सत्य एवं अनुभवपर ही आ
यद्यपि वे समन्वयवादी न होकर एकाङ्गी हैं। श्री
निश्चय ही कर्म भी करनेका उपदेश है, कि
निष्कामभावसे। निष्कामका अर्थ है—कामना
कर समभावसे कर्म कर
भग

ना भगवान् अपनी करुणाके कारण भक्तके ज्ञानको प्रदान करता है—

ं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
ं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

वान् श्रीरामका भी कथन है—

न कर्म मन मोरि गति भजनु करहिं निःकाम।
ह के हृदय कमल महुँ करउँ सदा बिश्राम॥
(रामचरित मा० ३। १६)

जीवन-दर्शनमें मोक्ष परम पुरुषार्थ है। इसके साधन तप, ज्ञानादि हैं। तपका अर्थ है—र्यसिद्धिके लिये निरन्तर यत्नमें संलग्न रहना। द्वारा चित्तकी शुद्धि होती है और तब बुद्धिका स होता है। बुद्धिका विकास ज्ञान-मार्गमें बढ़नेके लिये आवश्यक है। जब व्यक्ति मार्गमें सही ढंगसे चलने लगता है, तभी वह समझ ता है कि ईश्वर और जीव दोनों व्यावहारिक सत्य रंतु इसमें भी ईश्वर शासक है और जीव शासित। उपकारक है और जीव उपकार्य। दोनों ही ब्रह्मके हैं और दोनों ही शुद्ध चैतन्य हैं, दोनों ही र्थिक दृष्टिसे ब्रह्म ही हैं। जीवको ईश्वरका अंश है—'ईस्वर अंस जीव अबिनासी'—यद्यपि ईश्वर वमें निरवयव है। जगत् अनादि है, कर्म भी दि है। जो जैसा बीज बोता है, वह वैसा ही पाता है, अतः संसारमें जो दुःख, क्लेश, पाप दिखायी पड़ते हैं, उसका कारण ईश्वर नहीं, जीवोंके कर्मफल हैं। अतः ईश्वरके विरुद्ध नैतिक ा नहीं उठायी जा सकती और न स्रष्टा होनेके उसे अपूर्ण कहा जा सकता है। स्थूल, जड़ और तन जगत् अपने आदिकारण ईश्वरमें लौटकर इन विशेष गुणोंको छोड़कर पुनः बीजरूप धारण ता है। अतः उससे ईश्वरकी शुद्धतापर कोई नहीं पड़ता। जगत् बाह्यरूपमें ईश्वरसे सर्वथा भिन्न है। परन्तु मूलरूपमें वही है। अतः यह प्रश्न निरर्थक है कि चेतन ईश्वरसे जड़की उत्पत्ति कैसे हुई। मनुष्यकी जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओंके समान अविद्याके कारण जगत् भी अनेक रूपोंमें प्रकट होता रहता है। जगत् और जीवकी जड़ता तथा अन्य दोषोंसे ईश्वरपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता; क्योंकि आचार्य शंकर सत्कार्यवादी थे, परिणामवादी नहीं। जगत् ईश्वरका विवर्त है। अतः उनके मतसे जगत्के स्वभावसे ईश्वरपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। ईश्वर तो कर्मका नियामक है, कर्माध्यक्ष है। वह सर्वज्ञ है, उसका यह ज्ञान सहज, अपरोक्ष, अतीन्द्रिय और अविद्यासे परे है। वह जगत्का साक्षी है। वह विभिन्न जीवोंको उनके कर्मानुसार शरीर देता है और उन्हींके कर्मानुसार पदार्थोंकी उत्पत्ति करता है।

वस्तुतः संसृतिका कारण अविद्या है। परमात्म-साक्षात्कार करनेके लिये कर्मके बन्धनोंसे छूटना आवश्यक है। इसके लिये दो उपाय हैं—कर्म और ज्ञान। कर्मका तात्पर्य वर्णाश्रम-धर्मसे है। इस प्रकार मोक्षके जिज्ञासुओंको निष्कामभावसे अपने-अपने वर्ण और आश्रमधर्मोंका पालन करना चाहिये। इससे ज्ञान-मार्गमें बाधक पिछले संस्कार समाप्त हो जाते हैं। वास्तविक ज्ञान ईश्वरकी नव-नव-स्मृति अर्थात् लगातार ध्यान करना है। इसको ध्यान, उपासना और भक्ति कहा गया है। ध्यान तथा भक्तिसे अन्तमें करुणावरुणालय आनन्दकन्द भगवान्का दर्शन अथवा साक्षात्कार होगा। इससे समस्त अज्ञान और कर्मबन्धनोंका नाश हो जायगा। यह सब मनुष्योंके प्रयत्नोंसे नहीं हो सकता, उसको तो सब छोड़कर ईश्वरकी शरणमें जाना चाहिये और उसका बराबर ध्यान करते हुए सब कुछ उसीपर छोड़ देना चाहिये। यही निष्कामकर्मयोगका सिद्धान्त है जिसके द्वारा ईश्वरकी कृपासे ही साधकको मोक्ष प्राप्त होता है।

पापादाचार्यने 'विज्ञान-दीपिका'में कहा है कि कर्म-का नाश जहाँ योग-ध्यान, सत्सङ्ग, जप तथा ज्ञानसे होता है, वहीं उसका नाश स्वयं कर्मसे भी होता है—

कर्मतो योगतो ध्यानात् सत्सङ्गाज्जपतोऽर्थतः।
परिपाकावलोकाच्च कर्मनिर्हरणं जगुः॥
(विज्ञानदीपिका २२)

इस संदर्भमें कर्मके तीन भेद किये जा सकते हैं— संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण। प्रारब्धकर्म वे हैं, जिनका फल वर्तमान जीवन है और इस जीवनमें होने-वाले सभी कर्म फल हैं। क्रियमाणकर्म वे हैं, जो इस जीवनमें किये जाते हैं। संचितकर्म वे हैं, जो पूर्वजन्ममें किये गये हैं और जिनका फल मिलना अभी प्रारम्भ नहीं हुआ है। उनका फल भावी जीवनमें मिलेगा। ज्ञानसे संचित तथा क्रियमाणकर्म भी नष्ट हो जाते हैं। इनके नष्ट हो जानेसे ज्ञानीका पुनर्भव नहीं होता, वह यहाँ आना-जाना नहीं है, किंतु उसका भी प्रारब्धकर्म इस ज्ञानसे भी नष्ट नहीं होता। प्रारब्धकर्म तो भुक्त होनेपर ही नष्ट होता है। इस प्रकार प्रारब्धकर्मका समन्वय जीवन्मुक्तिसे हो जाता है। किंतु जीवन्मुक्तिमें ज्ञान और कर्मका पार्थक्य सुस्पष्ट है। मुक्तकी दृष्टिमें कर्म नहीं होते। वह जड़वत् आचार करता है। उसके कर्म अज्ञान-दृष्टिसे ही देखे जाते हैं। इस प्रकार भी कर्म और ज्ञानका समुच्चय असंभव है। चित्त-शुद्धिके द्वारा ज्ञानसे सम्बन्धित होनेके कारण कर्मका ज्ञानसे क्रम-समुच्चय ही शंकर देखता है— [illegible] कर्म और तत्पश्चात् भक्ति तथा अन्तमें ज्ञान।

निर्गुणवादियोंका [illegible] ईश्वरको ज्ञानस्वरूप मानते हैं। ज्ञानके अन्तर्गत कर्मके स्वरूपका ही [illegible] है। ज्ञान ज्योतिर्मय है और अमर है। कर्म [illegible] और अनित्य है। [illegible] कर्मकी [illegible] [illegible] उससे अछूता ही रहता है। कर्म [illegible] है। [illegible] दूर हो [illegible] ही [illegible] है। यह [illegible] है, इसलिये [illegible] यह

कहा गया है कि प्राणी कर्मसे बँधता है [illegible] होता है—'कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च प्रमुच्य[illegible]' कर्ममार्गपर प्रवृत्त होनेवाले व्यक्तिके मनसे परायेकी भावना मूलरूपसे नष्ट हो जाती है और अपने अन्तिम लक्ष्य मोक्षकी ओर अग्रसर हो जाता है। मोक्षकी प्राप्ति दो प्रकारसे सम्भव है—ज्ञान संन्याससे और निष्कामकर्मसे। इन दोनोंमें [illegible] माना गया है। गीताका कथन है कि क[illegible] अनुष्ठान करनेसे मोक्षकी उपलब्धि नहीं। वह तो ऐसे निष्कामसे प्राप्त होती है, जिसमें व्यक्तिगत लाभ या कल्याणका कोई स्वार्थ [illegible] हो। इसके सम्बन्धमें गीतामें कहा गया है—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाच[र]
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरु[षः]
(३।१[९])

गीताका कर्म हमें यह नहीं बताता कि उ[illegible] उससे मुक्त रहें; क्योंकि वह भी इस कर्मशृङ्खलसे [illegible] है। कर्माचरण अपने लिये तो मोक्षदायक है [illegible] दूसरेके लिये भी कल्याणकारी है। इससे लोक-[illegible] और लोक-संग्रह भी होता है। कर्मयोग मनुष्यका लिये एक-जैसा है। व्यावहारिक दृष्टिसे तो यह [illegible] सामने आती है कि कर्मके बिना जीवन-यापन असम्भव है। अतः भक्तिमार्गियोंने ईश्वर-प्राप्तिके जो उपाय बताये हैं, वे भी स्वयं कर्म ही हैं।

कर्मके द्वारा भक्तिकी प्राप्ति होती है और भक्ति ज्ञानकी ओर ले जाती है। रामानुजकी दृष्टिमें यह स्थिति संभव है। भक्ति भी ज्ञानका ही एक रूप है और कर्म इसकी आधारशिला। जिस प्रकार कोई बालक किसी कार्यको जब प्रथम बार करता है तो उसमें कई त्रुटियाँ रहती हैं, किंतु निरन्तर उसी कार्यको करते रहनेसे वह उसमें पारंगत हो जाता है, उसकी त्रुटियाँ [illegible] हो जाती हैं, ठीक इसी प्रकार भगवान्‌की अर्चना-वन्दना, पूजा-कीर्तन आदि कर्म जब निष्कामभावसे किये जाते हैं, तब भक्ति प्रकट हो जाती है और भक्तको आनन्दमें निमग्न

भगवान् अपनी करुणाके कारण भक्तके ज्ञानको
तन करता है—

कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

(श्रीरामका भी कथन है—
कर्म मन मोहि गति भजनु करहिं निःकाम।
के हृदय कमल महुँ करउँ सदा बिश्राम॥
(रामचरित मा० ३। १६)

क्न-दर्शनमें मोक्ष परम पुरुषार्थ है। इसके
न तप, ज्ञानादि हैं। तपका अर्थ है—
द्धिके लिये निरन्तर यत्नमें संलग्न रहना।
चित्तकी शुद्धि होती है और तब बुद्धिका
होता है। बुद्धिका विकास ज्ञान-मार्गमें
बढ़नेके लिये आवश्यक है। जब व्यक्ति
में सही ढंगसे चलने लगता है, तभी वह समझ
है कि ईश्वर और जीव दोनों व्यावहारिक सत्य
इसमें भी ईश्वर शासक है और जीव शासित।
कारक है और जीव उपकार्य। दोनों ही ब्रह्मके
और दोनों ही शुद्ध चैतन्य हैं, दोनों ही
क दृष्टिसे ब्रह्म ही हैं। जीवको ईश्वरका अंश
—'ईस्वर अंस जीव अबिनासी'—यद्यपि ईश्वर
वमें निरवयव है। जगत् अनादि है, कर्म भी
दि है। जो जैसा बीज बोता है, वह वैसा ही
पाता है, अतः संसारमें जो दुःख, क्लेश, पाप
ई दिखायी पड़ते हैं, उसका कारण ईश्वर नहीं,
तु जीवोंके कर्मफल हैं। अतः ईश्वरके विरुद्ध नैतिक
ा नहीं उठायी जा सकती और न सृष्टि होनेके
ा उसे अपूर्ण कहा जा सकता है। स्थूल, जड़ और
जित जगत् अपने आदिकारण ईश्वरमें लौटकर
इन विशेष गुणोंको छोड़कर पुनः बीजरूप धारण
लेता है। अतः उससे ईश्वरकी शुद्धतापर कोई
नहीं पड़ता। जगत् बाह्यरूपमें ईश्वरसे सर्वथा
भिन्न है। परन्तु मूलरूपमें वही है। अतः यह प्रश्न
निरर्थक है कि चेतन ईश्वरसे जड़की उत्पत्ति कैसे
हुई। मनुष्यकी जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओंके
समान अविद्याके कारण जगत् भी अनेक रूपोंमें प्रकट
होता रहता है। जगत् और जीवकी जड़ता तथा अन्य
दोषोंका ईश्वरपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता; क्योंकि आचार्य शंकर
सत्कार्यवादी थे, परिणामवादी नहीं। जगत् ईश्वरका
विवर्त है। अतः उनके मतसे जगत्के स्वभावसे ईश्वरपर कोई
प्रभाव नहीं पड़ता। ईश्वर तो कर्मका नियामक है,
कर्माध्यक्ष है। वह सर्वज्ञ है, उसका यह ज्ञान सहज,
अपरोक्ष, अतीन्द्रिय और अविद्यासे परे है। वह जगत्का
साक्षी है। वह विभिन्न जीवोंको उनके कर्मानुसार शरीर
देता है और उन्हींके कर्मानुसार पदार्थोंकी उत्पत्ति
करता है।

वस्तुतः संसृतिका कारण अविद्या है। परमात्म-
साक्षात्कार करनेके लिये कर्मके बन्धनोंसे छूटना आवश्यक
है। इसके लिये दो उपाय हैं—कर्म और ज्ञान। कर्मका
तात्पर्य वर्णाश्रम-धर्मसे है। इस प्रकार मोक्षके जिज्ञासुओंको
निष्कामभावसे अपने-अपने वर्ण और आश्रमधर्मोंका
पालन करना चाहिये। इससे ज्ञान-मार्गमें बाधक
पिछले संस्कार समाप्त हो जाते हैं। वास्तविक ज्ञान
ईश्वरकी नव-नव-स्मृति अर्थात् लगातार ध्यान करना
है। इसको ध्यान, उपासना और भक्ति कहा गया है।
ध्यान तथा भक्तिसे अन्तमें करुणावरुणालय आनन्दकन्द
भगवान्का दर्शन अथवा साक्षात्कार होगा। इससे
समस्त अज्ञान और कर्मबन्धनोंका नाश हो जायगा।
यह सब मनुष्योंके प्रयत्नोंसे नहीं हो सकता, उसको
तो सब छोड़कर ईश्वरकी शरणमें जाना चाहिये और
उसका बराबर ध्यान करते हुए सब कुछ उसीपर छोड़
देना चाहिये। यही निष्कामकर्मयोगका सिद्धान्त है
जिसके द्वारा ईश्वरकी कृपासे ही साधकको मोक्ष प्राप्त
होता है।

किये हैं। इसपर शास्त्रीय विवेचना भी होती है। यह विषय इतना गहन है कि सैद्धान्तिक और शरिक क्षेत्रमें विशाल अन्तर आ जाता है। ा प्रेरक उसके फलकी इच्छा होती है और गीता इच्छाको विष-दन्त समझकर उसे तोड़ देनेका ा करती है; फिर कर्म किया ही क्यों जाय? कहना जितना सरल है कि 'फलेच्छा-रहित होकर र्म करो' उतना ही यह व्यवहारमें असम्भव-सा । प्रतीत होता है। यद्यपि यह तो सर्वविदित के 'कर्म करनामात्र ही मनुष्यके वसकी है, फल तो सदा ईश्वराधीन ही है, फिर भी याका आवरण, अहंकारका जाल तथा मोहकी रज्जु तनी विस्तृत तथा सुदृढ़ है कि इससे निकलकर सुस्थितिपर आते-आते कोई भी भ्रमित हो जाता है।

व्यवहारमें प्रातःकाल उठनेसे लेकर रात्रिमें शयन-र्यन्त कोई भी काम निष्काम नहीं होता है। प्रत्येक ार्यका उद्देश्य होता है। उन्हीं उद्देश्योंके सभी विधेय । बुभुक्षा-निवारणके लिये भोजन, स्वास्थ्य एवं नोरञ्जनके लिये भ्रमण, पारिवारिक सुख और अपने ख-सुविधाके लिये भौतिक साधनोंका संचय—ये भी सकाम कर्म ही हैं; क्योंकि यहाँ प्रत्येकमें फलकी ामना है। इसीलिये किसी भी प्रक्रियामें यदि इच्छित लप्राप्ति नहीं होती है तो तुरंत उसे बदलकर दूसरी क्रिया अपनायी जाती है।

इन तथ्योंको कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता । ऐसी स्थितिमें निष्काम कर्म कैसे सम्भव है! सकी क्या पद्धति है, इत्यादि बड़ी गम्भीरताके ाथ चिन्तनीय हैं। यहाँ थोड़ी-सी गहराईमें जाकर खनेसे यह ज्ञात होगा कि प्राणिमात्र सदा ान्ति चाहता है। भीषण-से-भीषण व्यक्ति भी दिनभर हिंसा, हत्या, लूट-पाट करनेके बाद भी रात्रिमें या अन्तमें विश्राम या शान्तिके लिये ही निद्राकी शरण लेता है। वह गहरी नींदका प्रयास करता है और चाहता है एकान्त। हिंसक जन्तु भी ऐसी ही शान्ति चाहते हैं। यह शान्ति सकाम कर्ममें नहीं है। कामनाकी न कोई सीमा है और न उसका कहीं अन्त ही है। कामनाएँ—फलेच्छाएँ अनन्त हैं। जितनी फलप्राप्ति होगी उतनी इच्छा (वासना) बढ़ती जायगी—**'हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते'**। फलतः हमें देखना है कि कर्म तो करना ही है, वह करणीय भी है; लेकिन उसके परिणाममें अनासक्त रहना है। वहाँ हमें अपनेको तथा अपने कर्मोंको जो वास्तविक फलदायक है उस परमशक्तिमें समर्पित करना है। यह अनासक्तभाव अत्यन्त ही कठिन है। यह क्रमशः 'अभ्यास'से ही होगा। अभ्याससे 'भावना'को एक जगह दृढ़ करना होगा। तब यह क्रिया **'पद्मपत्र-मिवाम्भसा'** हो सकेगी।

भावना मानसिक विकार है। मन अत्यन्त सीमातीत चञ्चल है—**'मनो दुर्निग्रहं चलम्'**। यह अभ्यास एवं वैराग्यसे ही वशमें हो सकता है—**'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते'**। बिना अभ्यासके वैराग्य भी सम्भव नहीं है। अतएव कर्म करनेके समय उसे निष्ठा, दृढ़ता एवं तत्परतासे करनेका तो शुभ संकल्प रखना ही है, लेकिन उसी दृढ़ भावनासे उन कर्मोंके परिणामपर आसक्तिसे मुक्त होना है—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥

कर्मयोगकी सिद्धान्त-प्रतिपादिका भगवद्गीता इन्हीं रहस्यों-का उद्घाटन करती है, जिसकी पुनरावृत्ति अनावश्यक है। हम तो सांसारिक-सामाजिक प्राणी हैं, हमें यथार्थके धरातलपर ही खड़ा होकर कुछ करना है। यथार्थता-

से निवृत्त होकर केवल नैष्ठिक कर्मोंका उपदेश देना-मात्र पर्याप्त नहीं होगा। हमें जीवनमें उतारना होगा। जीवनमें उतारनेके लिये अभ्यास करना होगा। 'अभ्यास' से जीवनमें दृढ़ता आयेगी। यही दृढ़ता हमें दैहिक एवं भौतिक [illegible] ([illegible])से निवृत्त करेगी। तभी हम कर्म करते हुए भी निष्काम भावनासे अनासक्त होकर अशान्त होनेसे बचेंगे, जो जीवनका परम लक्ष्य है। यह 'निष्काम कर्मयोग'का मार्ग बड़ा ही कठिन है— जो सकाम कर्मके रोड़े, ईंट और पत्थरसे बना हुआ 'राजमार्ग' है। यह योगियोंके परमप्रत्ययीकरणकी तरह अगम्य है, अनिर्वचनीय है। आलङ्कारिकोंके साधारणीकरणकी तरह चामत्कारिक है। लेकिन है यह अत्यन्त कल्याणकारक और सुन्दर [illegible] भगवान्‌के कर्मयोगका दर्शन।

निष्कर्ष यह कि निष्काम कर्म [illegible] फल होते हैं। क्योंकि प्रवृत्ति [illegible] 'कामो हि धेनुधिगमः' कहकर [illegible] वेदोंका तात्पर्य बताया है। परंतु [illegible] रूप—बन्धन-कारक होते हैं। [illegible] कल्याण या परम लक्ष्य नहीं [illegible] कल्याणके लिये नैष्कर्म्य-सिद्धि [illegible] किंतु निष्कामतासे कर्ममार्ग—[illegible] (कल्याणप्रद) माना गया है। अतः [illegible] करते हुए निष्कामताकी दिशामें बढ़ना चाहिये [illegible] अभ्याससे और फलोंमें वैराग्य लानेसे क्रमशः [illegible]

जलमें जैसे कमल है रहता, जगमें वैसे रहना

(लेखक—श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

साठ साल पहलेकी बात है। उन दिनों हम बच्चे अपने गाँव कैथवा (इटावा)के पूरबवाले तालाबपर जाते और कमलोंके मनमोहक दर्शन-सुखके साथ-साथ घंटों खेलते उनके हरे-हरे कोमल पत्तोंके साथ। खेल कैसा !—पत्तोंपर पानी उछालनेका खेल।

पानी पत्तोंपर पड़ता। मोती बनते। एक-दो, तीन-चार, दस-बीस मोती बने कि पानीमें ढुलके। क्या मजाल कि कमलके पत्तोंपर पलभरको पानी ठहर तो जाय, चिपक तो जाय।

घंटों चलता यह खेल। कैसा बढ़िया खेल ! हम लाख कोशिश करते हैं। पानी ठहरता ही नहीं पद्मपत्रोंपर। हमें क्या पता था कि भगवान् कृष्ण हमारे इस खेलका स्वयं भी आनन्द ले चुके हैं, तभी न वे कुरुक्षेत्रके मैदानमें अर्जुनसे कहते हैं—

जलमें जैसे कमल है रहता, जगमें वैसे रहना।

क्या पता है तू कर्म-अकर्म-विकर्मके चक्कर [illegible] कृष्णार्पण करके, फलकी आसक्ति छोड़कर कर्म क[illegible] कर्म तो तुझे करना ही पड़ेगा, कर्म किये बिना रह नहीं सकता, तो अकलमंदी इसीमें है [illegible] कर, सो ब्रह्मार्पण कर दे। अनासक्त होकर क[illegible] फिर तू कर्मोंके फलसे उसी तरह निर्लिप्त रहे[illegible] जलमें रहते हुए कमल। यही तो गीता(५। [illegible]) कहते हैं—

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति य[ः।]
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥

क्या ही सटीक उदाहरण है कर्मकी निष्काम[ताका—] कमल ! कितने पर्याय हैं इसके। चाहे उसे [illegible] कहिये, चाहे जलज-अम्बुज कहिये, चाहे [illegible] वारिज कहिये, चाहे पङ्कज—सब नामोंसे एक ध्वनि निकलती है—पानीसे पैदा होनेवाला, प[ानीमें] बसनेवाला, पानीमें पलनेवाला।

पर ओह, कैसा निर्लिप्त रहता है कमल !

पैदा होता है पानीमें, बढ़ता-पनपता है पानीमें, विकसित होता है पानीमें, खिलता है पानीमें, आठ पहर चौंसठ घड़ी बसता है पानीमें; पर पानीसे सर्वथा अछूता !

पानी कमलपर टिकता नहीं, ठहरता नहीं। पानीको वह ठहरने नहीं देता, अपनेसे चिपकने नहीं देता; आया कि तुरंत उसने लुढ़काया, फेंका। कोई मुलाहिजा नहीं; कोई झिझक नहीं; कोई संकोच नहीं।

हमें भी कमलकी ही भाँति निर्लिप्त होकर संसारमें रहना है। हमें भी 'पद्मपत्रमिवाम्भसा' रहना है इस जगत्‌में। कर्म तो करने हैं। कर्म किये बिना हम एक क्षण नहीं रह सकते। पर कर्म सभी करने हैं कमलका आदर्श अपने सामने रखकर—**जलमें जैसे कमल है रहता, जगमें वैसे रहना।**

क्या बात हुई यह !

आप तुरंत कहेंगे—अजी, हम कोई कबीर हैं कि चादर ओढ़ेंगे, बिछायेंगे, प्रयोगमें लायेंगे, इस्तेमाल करेंगे और फिर भी चलते-चलते ताल ठोंककर कहते जायेंगे—

> सो चादर सुर नर मुनि ओढ़ी,
> ओढ़ि के मैली कीन्ही चदरिया।
> दास कबीर जतन तें ओढ़ी,
> ज्यों-की-त्यों धरि दीन्ही चदरिया॥

भला, बताइये तो कि आप कबीर क्यों नहीं बन सकते? आप क्यों नहीं—'ज्यों-की-त्यों धरि दीन्ही चदरिया' कह सकते? केवल 'जतन'से ओढ़ने भरकी तो बात है।

आप क्यों उस लजीली वधूकी मिसाल पकड़े हैं, जो वेदनामें डूबकर पुकार रही है—

> सुन्दर-सी साड़ी मोरी मइके में मलिन भई,
> का लेके जइबे गवनवाँ हाय राम।
> घूँघट खोलि पिया जब पुछिहैं,
> कहिबे सो कौन बहनवाँ हाय राम॥

होता क्या है ?

हमारे चारों ओर कर्मोंकी चादर फैली है। उसपर कभी राग-द्वेषके छींटे पड़ जाते हैं, कभी काम-क्रोधके। कभी उससे लोभ-मोहकी कालिख छू जाती है, कभी मद-मत्सरकी। इन दागोंको, इन धब्बोंको, इन छींटोंको, इस कालिखको देखकर हम सिहर उठते हैं—'हे भगवन् ! क्या हो गया यह ? जाना था पूरब, चले गये पश्चिम ! कामना की स्वर्गकी, पैर फँसा लिये नरकके दलदलमें। उम्मीदें बाँधीं मुक्तिकी, फँस गये जालमें बन्धनके।

> राही कहीं है, राह कहीं, राहबर कहीं।
> ऐसे भी कामयाब हुआ है सफर कहीं ?

हम कर्म करते हैं। रात-दिन करते हैं। पलभरको भी कर्मोंसे हमारा छुटकारा नहीं। बहुत-से कर्म हम करते हैं हाथ-पैरोंसे, बहुत-से शरीरके अन्य अङ्गोंसे। बहुत-से कर्म हम वाणीसे करते हैं, बोलकर करते हैं। पर सबसे ज्यादा कर्म हम करते हैं—मनसे। हमारे बहुत-से कर्म प्रकट रहते हैं, बहुत-से अप्रकट। अप्रकट कर्मोंको या तो हम जानते हैं या हमारे भीतर बैठा अन्तर्यामी। पर फल हमें भोगना पड़ता है—सभी कर्मोंका, फिर वे चाहे तनसे किये गये हों या वचनसे या मनसे। कर्मोंका फल देर-सबेर भोगना ही पड़ता है और भोगना पड़ता है दूसरेको नहीं, हमीको। बात ठीक भी है—शास्त्रोंका तो कहना है कि इस जन्ममें फलभोग न हुआ तो अगले जन्ममें खाता साफ करना पड़ता है।

× × ×

मजे तुमने उड़ाये हैं, मुसीबत कौन झेलेगा।

हम धर्मके बाजारमें बैठे हैं। यहाँ सभी कुछ है। देखना-सुनना हो या हँसना-बोलना, निन्दा...

हो या बाल-श्रृंगार करना, खाना-पीना हो या [illegible] करना। सब कुछ कर्म है। 'कर्म बिना [illegible]'।

कर्मयोगकी [illegible] हो या दूकानपर बैठकर दूकान-दारी, खेतमें हल जोतना हो या रेलगाड़ी चलाना, इंजिनमें कोयला झोंकना हो या [illegible] झंडी दिखाना, सिरपर बोझा लादना हो या जहाजका माल लादना, किताब पढ़ना हो या किताब लिखना, भाषण करना हो या बंदूक चलाना—कर्मोंकी श्रेणीमें सभी गिने जा रहे हैं। कर्मसे छूटना कठिन है, असम्भव है। इन्द्रियाँ हैं, इन्द्रियोंके व्यापार हैं—उनके सभी कार्य कर्मकी परिभाषामें आते हैं। स्वरूप भिन्न है, पर सब कर्म कर्म ही हैं। कोई पेटके लिये नाना प्रकारके कर्म करता है, कोई शौकके लिये। कोई नाना प्रकारकी कामनाओं, इच्छाओं, वासनाओंसे प्रेरित होकर कर्म करता है, कोई ऊपरसे मौन और शान्त दीखता है, पर भीतर-ही-भीतर जमीन-आसमानके कुलावे एकमें मिलाता है। नाना प्रकारकी उखाड़-पछाड़के मनसूबे बाँधता है। उन सबका फल भोगे बिना गति नहीं।

'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।'

अक्सर ऐसा लगता है कि हम नहीं चाहते, फिर भी हमसे अनेक कर्म हो जाते हैं—जैसे किसीने जबरन घसीटकर हमसे करा लिये हों। क्यों? गीता (३। ३६)में अर्जुन पूछते हैं कृष्णसे—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥

कृष्ण यहीं (३। ३७ में) उत्तर देते हैं—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥

यह है रजोगुणसे उत्पन्न काम। यही रूपान्तरित होकर क्रोध बन जाता है। बड़ा पेटू, बड़ा पापी। इसे अपना [illegible]

ये [illegible] हमें [illegible] हैं, ये कर्मोंसे उत्पन्न होते हैं। [illegible] नहीं [illegible]। इन्हें [illegible] है, [illegible] पड़ती है—

'जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्।'
(३। [illegible]

इन कामक्रोधसे कैसे पार [illegible]! जीतें इन्हें! इन्हें कैसे मारा जाय!

कोई कह सकता है कि हम गृहस्थीको [illegible] कर जोगी बन जाते हैं, तब तो न रहेगा [illegible] बजेगी बाँसुरी।' कर्मोंका चक्कर ही खतम हो [illegible] जी, ऐसा नहीं। नानक कहते हैं—'कोई इस धोखेमें मत रहिये। भस्म रमानेसे, गुदड़ी [illegible] लँगोटी लगानेसे जोग नहीं होता।' तब कैसे हो जोग? उसका उपाय है—

'अंजन माहिं निरंजन रहिये।'

संसारके बीच रहते हुए, प्रपञ्चोंके बीच रहते हुए उससे अलिप्त रहिये, तब होगा जोग; तब होगा [illegible] तब होगी साधना। घूम-फिरकर वही बात—

जलमें जैसे कमल है रहता, जगमें वैसे रहना।

महात्मा मोहनदास करमचन्द गाँधीने गीताका अनुवाद किया है—'अनासक्तियोग'के नामसे। उन्होंने 'गीताबोध' नामसे भी कुछ लेख लिखे हैं। और सबसे बड़ी बात वे जिये हैं—गीताके साथ। अनासक्ति उनकी शक्ति रही है। आइये उनसे पूछें कि कर्म करते हुए अनासक्त कैसे रहा जाय!

बापू कहते हैं—'एक ओरसे कर्ममात्र बन्धनकारक [illegible]

कर्म करता रहता है। शारीरिक या मानसिक सभी एँ कर्म हैं। तब कर्म करते हुए भी मनुष्य बन्धन-कैसे रहे? गीताका कहना है—'फलासक्ति छोड़ो कर्म करो', 'आशारहित होकर कर्म करो', काम होकर कर्म करो'—यह गीताकी वह ध्वनि ो भुलायी नहीं जा सकती। जो मनुष्य परिणामकी किये बिना साधनमें तन्मय रहता है, वह त्यागी है। विचित्र बात है! क्या बात है!

'गीताके फल-त्यागमें अपरिमित श्रद्धाकी परीक्षा है। मनुष्य परिणामका ध्यान करता रहता है, वह बार कर्मच्युत—कर्तव्यभ्रष्ट हो जाता है। उसे रता घेरती है, इससे वह क्रोधके वश हो जाता और फिर वह न करनेयोग्य करने लग जाता एक कर्ममेंसे दूसरेमें और दूसरेमेंसे तीसरेमें पड़ता ता है। परिणामकी चिन्ता करनेवालेकी स्थिति विषयान्धकी-सी हो जाती है।'

बापू आगे बताते हैं कि फलासक्त अन्तमें विषयीकी ति सारासारका, नीति-अनीतिका विवेक छोड़ देता है और फल प्राप्त करनेके लिये हर किसी साधनसे काम ता है। (कर्म कुकर्म हो जाता है—कार्य-प्रक्रिया बिगड़ जाती है।) एक कसौटी रख दी है बापूने हमारे सामने कि कौन कर्म किये जायँ, कौन नहीं। कहते हैं—

'गीताके मतानुसार जो कर्म ऐसे हैं कि आसक्तिके बिना हो ही न सकें, वे सभी त्याज्य हैं। ऐसा सुवर्ण-नियम मनुष्यको अनेक धर्म-संकटोंसे बचाता है। इस मतके अनुसार खून, झूठ, व्यभिचार आदि कर्म अपने-आप त्याज्य हो जाते हैं। मानव-जीवन सरल बनता है और सरलतामेंसे शान्ति उत्पन्न होती है। (शान्ति ही सुख है।)

इस विचार-श्रेणीके अनुसार मुझे ऐसा जान पड़ा है कि गीताकी शिक्षाको व्यवहारमें लानेवालेको अपने-आप सत्य और अहिंसाका पालन करना पड़ता है। फलासक्तिके बिना न तो मनुष्यको असत्य बोलनेका लालच होता है, न हिंसा करनेका। चाहे जिस हिंसा या असत्यके कार्यको हम लें, यह मालूम हो जायगा कि उसके पीछे परिणामकी इच्छा रहती है।

मतलब! हम आसक्ति रखकर कोई काम न करें। इससे अकरणीय कार्य स्वतः छूट जाते हैं। बाकी कार्य कर्तव्यबुद्धिसे करते हैं। जो परिणाम आये, अच्छा या बुरा, वह सिर-माथे—इन्शा अल्लाह! प्रभुकी मर्जी, उसे शिरोधार्य करें। फिर तो जीवनमें आनन्द-ही-आनन्द रहेगा। मस्ती-ही-मस्ती रहेगी। हमारा रोम-रोम पुकारेगा—

तेरे काँटोंसे भी प्यार,
तेरे फूलोंसे भी प्यार!
जो भी देना चाहे दे दे,
दुनियाके तारन-हार॥

फलासक्ति छोड़कर हम काम करें, जो फल आये उसकी आसक्ति न रखें, निर्लिप्तभावसे उसका करें तो हमारा सारा जीवनक्रम ही बदल आजके युगमें सर्वत्र फलाकाङ्क्षाका ही तो दौरदौरा रुपया, पैसा, पद, प्रतिष्ठा, मान-सम्मानके फलके सभी मुँह बाये फिर रहे हैं और उसका नतीजा सामने है। हम अपना जीवन नारकी बना रहे दूसरोंका भी। उपाय एक ही है—

जलमें जैसे कमल है रहता, जगमें वैसे रहना॥

हो जाती है; तब कर्म करनेमें कर्ताका दम घुटता है, वह कर्म करनेसे डरता है, कर्तव्य-भावनासे दबकर आजीवन दुःखी रहता है, वास्तविक लक्ष्यसे भटक जाता है और वह शाश्वत शान्तिके लिये तरसता ही रह जाता है—

स शान्तिमाप्नोति न कामकामी।

'कर्म भी करे और उसका लेप भी न हो'—यह विचार ठीक ऐसा ही है, जैसे कोई कहे—रोटी खानेपर भी पेट खाली है, पञ्चाग्नि-तप करनेपर भी शरीर शीतल है, काजलकी काली कोठरीमें रहकर भी शरीर काजलसे अछूता है, किंतु काजलकी कोठरीमें यदि कोई सयाना आदमी एक-दो घड़ी मात्र रहे तो सम्भव है कि अछूता रह जाय, परंतु जब कोई व्यक्ति काजलकी कोठरीमें ही जन्मे, उसीमें मरे, उसीमें खेले-खाये, उठे-बैठे, अपनी मस्तीमें काजलकी कोठरीके दुर्गुणोंको ही भूल जाय, ऐसे नासमझ आदमीका शरीर और वस्त्र ही काले न होंगे, अपितु उसका आत्मस्वरूप ही अन्यथा हो जायगा और उस अन्यथा स्वरूपको ही वह सत्य समझेगा। ऐसे व्यक्तिको महाभारत (१।७४।२७) आत्महन्ता कहता है—

योऽन्यथा संतमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते।
किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा॥

कर्म करते हुए भी कर्मके लेपसे बचनेका, उससे अछूता रहनेका एकमात्र उपाय है—फलासंगशून्यकर्म अर्थात् निष्काम कर्मयोगकी भूमिका। पर यह हो कैसे? —'न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।'—के अनुसार मनुष्यका कर्मसे बचना कठिन है, वह जीयेगा तो कर्म करना ही पड़ेगा; कर्म करेगा तो कर्मके फलका लेप अवश्य होगा; क्योंकि जीव तो कर्मकाजलकी कोठरीमें अनेक जन्मोंसे रह रहा है। अतः इससे अछूता रहनेके लिये निष्काम कर्मयोगकी प्रक्रिया ही महत्त्वपूर्ण है। निष्काम कर्मयोगकी प्रक्रियाकी प्रयोगशालामें निष्काम कर्मयोगी कर्ता नहीं बनता, बल्कि अभिनेताके रूपमें अभिनय करता है। यही समाधान है। अभिनयकी अन्तर्दशामें अभिनेतापर कृत कर्मका (लेप) नहीं होता। कर्तृत्व कर्मका लेप है, परंतु अभिनय लेपसे छिपाता है। कर्तृत्व सलेप है, अ निर्लेप है। अभिनेता गहरेमें नहीं घुसता, वह सत तैरता है; वह मनसे नहीं शरीरसे, अन्दरसे नहीं बा कर्म करता है। वह सब कुछ करके भी कुछ न कुछ करके भी सब कुछ करता है। अतः उसका अ कर्मसे अछूता है, उसपर कर्मका लेप नहीं होता। द दो अन्तर्बोध-उदाहरण अभीष्ट विषयको स्पष्ट करते हैं-

रामलीलामें पानवाला नत्थू रावणका पॉर्ट अ करता है। शूर्पणखाके विकृत होनेपर, लङ्काके दहन शोकावेगमें अन्धा होकर बड़बड़ाता है, उछलता है, कूद है। लङ्कादहनसे अपनी पराजय और सीताहरणपर अ विजयकी दुन्दुभि बजाता है। अभिनयकी समाप्ति नत्थू अपनी दूकानपर पान लगा रहा है, सिगरेट बे रहा है, ग्राहकोंसे विनोद कर रहा है। उसपर सोने लङ्का जलनेका, हाथी-घोड़े, धनजनकी हानिका, नाते पोतोंके हाहाकार-चीत्कारका कोई लेप नहीं; क्योंकि वह लीलामें कर्ता नहीं बना था, अभिनेता बना था।

अब दूसरा दृष्टान्त लें। कल्पना करें—मोहन दस कक्षाका छात्र है। वह रामलीलामें रामका अभिनय करत है। रिहर्सलके कारण अच्छा अभिनय करता है। सीता हरण, लक्ष्मणसंज्ञाहरणपर वह रोता है, आँसू टपकाता है बावला-सा बनकर तन-मनकी सुधि भी खो बैठता है। प्रला करता है, पशु-पक्षी और लताओंसे बातचीत करता है। उसके अभिनयमें तादात्म्य है। दर्शक भी साधारणीकरण-की दशामें आँसू बहाने लगते हैं। परंतु अभिनयकी समाप्तिपर वह छात्र है, अपने अध्ययनमें रत है, अब उसे न सीताकी, न भाई लक्ष्मणकी चिन्ता है। मोहनने कर्म तो राम-जैसे ही किये, परंतु निर्लेपभावसे, फलासक्त-शून्यवृत्तिसे, निष्कामकर्मकी प्रक्रियासे। अतः उसपर कर्मका लेप नहीं हो पाता। इसीलिये भगवान् श्रीकृष्णने कहा कि

आसक्त होकर कर्तव्य कर्म करो; इससे कर्मका लेप नहीं लगेगा और परमगति प्राप्त हो जायगी।

कर्ता और अभिनेतामें यही अन्तर है। कर्ता कर्तृत्वसे लिप्त और अभिनेता निर्लिप्त। कर्तृत्वमें बन्धन और अभिनेतृत्वमें मुक्ति अन्तर्निहित है। कर्ता बाँधता है, अभिनेता खोलता है। कर्तृत्व मनमें है, अभिनय शरीरमें है। नाटकीय अभिनेता हँसता है, रोता है, गाता है, सोता है, खाता है, दुनियादारीके सभी काम करता है; परंतु अहंकारयुक्त कर्तृत्व-भावनासे नहीं, अपितु अभिनयकी दृष्टिसे। तभी तो वह सुख-दुःखका भागी नहीं होता; उसकी अन्तरात्मा कर्मलेपसे अछूती रहती है; उसे कर्म पकड़ता नहीं। वह कर्तृत्वके भारसे दबता नहीं। वह तो सुख-दुःखमें, हानि-लाभमें, जय-पराजयमें, यश-अपयशमें, शत्रु-मित्रमें समबुद्धि रहता है। वह इस कलामें 'पण्डित' होता है, उसकी समदर्शिता विद्या-विनय-सम्पन्न ब्राह्मणसे लेकर कुत्तेमें समानरूपसे व्याप्त होती है।

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

निष्काम-कर्मयोगीको मैं नहीं, तू-ही-तू दिखते है। वह कर्म करता है, परंतु कर्ता-धर्ता परमा मानता है; उसे ही पूर्ण और सर्वशक्तिमान् मान अपनी कर्तृत्व-भावनाको परमात्माके चरणोंमें कर देता है। वह जो करता है, खाता है, तप करता दान देता है, सब कुछ भगवदर्पण बुद्धिसे, नैष्कर्म्य हेतु—'हरिः ॐ तत्सत् श्रीकृष्णार्पणमस्तु' ही है। वह प्रभुसे आत्मनिवेदन करता है—'प्रभो! मैं कु नहीं, तू ही सब कुछ है; मैं तो तेरे हाथकी कठपु हूँ, चाहे जैसे नचा दे। मैं तो तेरे खेलकी चाल हूँ, जिधर चला दे। मैं तो तेरे डोरीका पतङ्ग हूँ, चाहे उड़ा दे। मैं तो एक सूखा पत्ता हूँ, जहाँ चाहे उड़ाकर ले जा; मैं तो तेरे हाथकी चाबी हूँ, जैसे चाहे घुमा दे। तू चाहे जिता दे अथवा पराजित कर दे। मेरी जय पराजय कुछ नहीं। हार भी तेरी, जीत भी तेरी और यह भी तेरा, वह भी तेरा। यही भगवदर्पण-बुद्धि 'न कर्म लिप्यते नरे'—का मूल मन्त्र है; और, निष्काम-कर्मयोगकी सच्ची प्रक्रियाशाला अर्थात् प्रयोगशाला है।

निष्काम-कर्मयोग—एक व्यावहारिक विवेचन

(लेखक—डॉ० श्रीमोतीलालजी गुप्त, पी-एच्० डी०, डी० लिट्०)

सन् १९६५की बात है। मैं टोकियोकी विश्व-ध्वनिविज्ञान-काँग्रेसमें उपाध्यक्षके रूपमें आमन्त्रित किया गया था। आतिथ्य-प्रदाता थे जापान ध्वनिविज्ञान-परिषद्के अध्यक्ष प्रो० मासाओ ओनीशी। महासम्मेलनके पश्चात् प्रोफेसर ओनीशीने मुझे अपने घरपर भी आमन्त्रित किया। जापानी प्रायः घरपर नहीं बुलाते, जो कुछ अतिथि-सत्कार आदि करना होता है, होटलोंमें ही कर देते हैं। मैं इस नियममें भाग्यवान् रहा; क्योंकि उन्हीं ... हिन्दीके प्रोफेसर दोईजीने ... गौरव प्रदान किया। जब मैं प्रोफेसर ओनीशीके घर पहुँचा तो द्वारपर ही प्रोफेसर अपनी पत्नी तथा उभय पुत्रियोंसहित स्वागतार्थ उपस्थित थे। अभिवादनके रूपमें कई मिनटोंतक दोनों ओरसे झुकनेका क्रम चलता रहा और तब घरपर पहननेके चप्पल पेश किये गये, जिन्हें अपने जूते खोलनेके पश्चात् पहनकर घरमें प्रवेश करना था। घरमें एक कमरा तो यूरोपियन ढंगसे सजाया गया था, पर शेष सभी कक्ष पूर्णतः जापानी-पद्धतिसे अलंकृत थे और कुर्सी-टेबिल सोफोंके स्थानमें गद्दी-तकिए, चौकियाँ थीं। निर्मित भवनके बाहर ...

ैचा था जिसमें नदी, नाले, झरने, पुल, पर्वत, अपने ाकारमें लक्षित हो रहे थे। एक किनारेपर एक ा कमरा था जिसमें प्रवेश करनेहेतु हमें चप्पलें उतारनी पड़ीं। बताया गया—'यह मेरा ध्यान-कक्ष ।' यह पूछनेपर कि वे किसका ध्यान करते हैं? उत्तर ा—किसीका नहीं, 'शून्य' का। (भारतमें शून्यका ित, दर्शन, प्रतीक, विज्ञान आदिमें बहुत महत्त्वपूर्ण ान है)। एक और प्रश्न किया, 'ध्यानसे क्या कामना रते हैं?' उत्तर बड़ा तथ्यपूर्ण था—'कोई भी कामना हीं करते, क्या यह आपकी गीतामें प्रतिपादित ेष्कामकर्म'के अनुरूप नहीं है?' मैं चौंका; मैं प्रोफेसर ोनीशीको केवल ध्वनि-विशारदके रूपमें ही जानता था। िन्तु उनकी भारतीय दर्शनमें भी गम्भीर गति लक्षित हुई ौर साथ ही यह भी विदित हुआ कि भौतिक समृद्धिसे रिपूर्ण जापानके चिन्तक भी भारतीय दर्शनकी उच्चतासे कितने प्रभावित हैं। इस प्रसङ्गमें प्रोफेसर ओनीशीसे किया गया वार्तालाप बहुत उपयोगी प्रतीत हुआ। जापानमें क बात और देखी गयी। जापानी अपने घरमें पूर्णतः ापानी हैं, परम्पराओंका निर्वाह करनेवाले अपनी संस्कृतिका ालन करनेवाले हैं; किंतु घरसे बाहर भौतिक कर्मक्षेत्रमें यूरोपियन हैं—वेशभूषा, विचारधारा, कार्यक्षमता आदि उसी प्रकारकी है। किमोनो (जापानी वस्त्रविशेष) पहननेवाले या तो फैशन-शो, व्यवसायिक-वस्त्र प्रदर्शनीमें या बड़े स्टोरोंमें ग्राहकोंका सतत अभिवादन करते हुए दिखायी देते हैं अथवा जापानी होटलोंमें परिचारिकाओंके रूपमें। वहाँ जापानी परम्परा तथा आधुनिक भौतिक-वादका उपयोगी समन्वय मिलता है।

जापानके अनुरूप ही पश्चिमी देशोंमें कर्मक्षेत्रका महत्त्वपूर्ण स्थान है और बिना किसी बाह्य नियन्त्रणके अपने-अपने कार्योंमें संलग्न कर्तव्यक्षेत्री व्यक्ति देखे जाते हैं। प्रोफेसर ओनीशीने तो 'निष्कामकर्म'की बात कही, पर पश्चिमी कार्यरत व्यक्ति इस महान् सिद्धान्तसे इतना परिचित नहीं। हाँ, जहाँ भारतीय विद्याओंक शिक्षण होता है, पूर्वी तथा पश्चिमी दर्शनोंका तुलनात्म अध्ययन होता है, आध्यात्मिकताके विविध पक्षोंपर विचा विनिमय होता है, वहाँ शैक्षिक स्तरपर गीतामें प्रतिपादि 'निष्कामकर्म' पर भी विचार होता है। प्रायः भारतीयों आलसी, निष्क्रिय, कार्यदिशाहीन होने आदिका दोष लगा जाता है; उनके क्रिया-कलापमें शैथिल्यकी ही प्रधान बतायी जाती है तथा कार्यपद्धतिको अनुपयुक्त बता संवेदना प्रकट की जाती है। हमारे विचारसे यह दृ कोणका अन्तर है, वास्तविकताको न समझनेकी भ्रा है और कुछ लोगोंकी प्रमादमयी स्थितिका परिणाम है जहाँ श्रीमद्भगवद्गीता-जैसा कर्मयोगका अद्वितीय ग्र विद्यमान है, जिसका कर्मयोग विश्वचर्चित है और जो विश्व बौद्धिक स्तरपर अपना प्रमुख स्थापित कर चुका है, उ देशके निवासियोंको इस प्रकारके लाञ्छनसे दूषित करन भ्रान्त बुद्धिका ही परिणाम है या सच्चे मूल्योंको समझ पानेकी नासमझी है। यह हो सकता है कि ह अपने निर्धारित मार्गसे किंचित् हट गये हैं अथव परिस्थितियोंके कारण तथ्यको देख नहीं पाते, पर हमा सामने जो स्पष्ट निर्देश है, जिस मार्गके अनुसरणक अपेक्षा है तथा जिसमें हम पूर्ण विश्वास करते है सिद्धान्ततः वही हमारा अभीप्सित लक्ष्य है, वही हमार अनुकरणीय एवं प्रस्तावित मार्ग है।

कर्ममार्गमें प्रवृत्त करनेके लिये गीता विश्वक अद्वितीय ग्रन्थ है और इसकी विशेषता 'निष्कामकर्म है, जो यदि विचारसे देखा जाय तो एकमात्र मान सिद्धान्त है—यद्यपि उसकी उपलब्धि अभ्यास ए साधना-साध्य है। गीतामें निष्कामकर्मयोगका विद्वत्ता-पूर्ण हृदयग्राही एवं तथ्यपूर्ण विवेचन हुआ है—हो भी क्यों न, जब यह शब्द-राशि एक ऐसी विभूतिद्वारा उच्चरित है जिसकी मान्यता सम्पूर्ण विश्वमें व्याप्त है। गीताके विभिन्न

अध्यायोंको देखनेसे निष्काम कर्मयोगका विवरण इस प्रकार मिलता है—

अध्याय	श्लोक-सं०	विषय
२	३९	निष्काम कर्मयोगका महत्त्व,
	४०	निष्काम कर्मयोगका प्रभाव,
	५०	निष्काम कर्मयोगीकी पुण्य-पापसे निवृत्ति,
३	७	निष्काम कर्मयोगीकी विशेषता,
४	१९	कामनारहित आचरण करनेवालोंकी प्रशंसा,
	२०	फलासक्ति त्यागकर कर्म करनेवाला,
	२२	निष्काम कर्मयोगका साधक,
	२३	निष्काम योगमें स्थिति,
५	३	निष्काम कर्मयोगीकी विशेषता,
५	६	निष्काम कर्मयोगकी सरलता,
५	७	निष्काम कर्मयोगीकी अलिप्तता,
६	१	निष्काम कर्मी ही वास्तविक संन्यासी और योगी,
९	२२	निष्काम उपासनाका फल,
१८	५६	निष्काम कर्मयोगसे भगवत्-प्राप्ति और
१८	५७	निष्काम कर्मयोग-हेतु भगवान्‌की आज्ञा।

निष्काम कर्मयोगका महत्त्व अनेक प्रकारसे प्रतिपादित ...या गया है। गीताके निम्नाङ्कित श्लोकोंमें सार आ ... है—

...यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥
(गीता ३। ७)

...ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात् प्रमुच्यते॥
(गीता ५। ३)

...अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
...स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥
(गीता ६। १)

...सभी श्लोकोंमें इस बातका प्रतिपादन किया ...कि सच्चा कर्मयोगी किसी प्रकारकी कामना ...ा, उसकी कोई इच्छा नहीं, उसे किसी फल-...

...इस प्राप्तिकी चाह नहीं होती। वह कर्म करता है—कर्म करनेके लिये, फलकी आकाङ्क्षासे नहीं। इसी प्रकार अंग्रेजीकी कुछ पंक्तियाँ स्मृत हो रही हैं, जिन्हें ... गया है—'भविष्य कितना भी उज्ज्वल क्यों ... विश्वास न करो; अतीतको सदाके लिये विस्मृत ... वर्तमानमें ही केवल काम करो, बड़े उत्साहके साथ परमात्माके संरक्षणमें।' किंतु फलकी चाह न ... बड़ा ही कठिन कार्य है; एक प्रकारसे कार्य कर... पहले ही फलका स्वरूप निर्मित हो जाता है और ... क्रियाशीलतामें फल प्रायः सामने ही लक्षित होता ... है। उसीसे हमें कार्य करनेमें उत्साह मिलता है ... हम किसी परीक्षाकी तैयारी करते हैं तो सफलता-असफलताका भाव सदैव मनमें रहता है। किसी व्यापारमें लगे हुए हैं—हानि-लाभको भुला नहीं सकते। किसीके प्रति कुछ किया है—प्रत्युपकारकी भावना सामने रहती है। यात्रा कर रहे हैं—गन्तव्यपर निगाह लगी रहती है। परिवारमें परिवारका पालन कर रहे हैं—वृद्धावस्थामें पुत्रोंकी सेवाका विचार आ ही जाता है। भजन करते हैं—न जाने कितनी सुखमय कामनाएँ रूप धारणकर प्रत्यक्ष होती हैं। दर्शनार्थ जानेपर, भाषण करनेपर, अध्ययन करनेके पश्चात्, निमन्त्रण देते हुए, वस्त्राभूषणसे अलंकृत होनेपर, विवाह करते समय, पुत्र-पुत्रीके जन्मपर, भोजन करते समय—प्रा... अवसरोंपर परिणामको विस्मृत नहीं कर पाते ... विचित्र स्थिति है। विश्वास करना चाहते हैं निष्काम ... जानते भी हैं कि वास्तविकता इसीमें है, सुख इसी ... पर कामनारहित होकर कार्य करना कठिन होता ... इसे कुछ ही साधक जान सकते हैं—पर हम यह जानते ही हैं कि आदर्श कार्य-पद्धति यही है।

कार्य करनेकी प्रेरणा कई स्रोतोंसे मिल सकती है ... कोई कार्य प्रतिक्रियाके रूपमें प्रेरणा प्रदान करता है ...

...र्य करें। हम अपने विचार दूसरोंके प्रति व्यक्त ... चाहते हैं और अभिव्यक्ति क्रियामें संलग्न होते ...कभी-कभी स्वेच्छासे ही किसी कार्यमें प्रयुक्त हो ...हैं। प्रेरणाकी परिणति प्रयत्नमें होती है और ...के द्वारा कर्मका स्वरूप निर्मित होता है। प्रयत्नमें ... इन्द्रियाँ तथा मन सामान्यतः कार्य करते हैं— ... बुद्धि, चित्त, अहंकार आदि भी अपनी भूमिकाका ...तर निर्वाह करते रहते हैं। इन्द्रियोंके द्वारा अनेक ...एँ अवसरानुकूल सम्पादित होती हैं और कहीं-कहीं ...न मानसिकरूपमें ही रह जाता है; पर अधिक ...

आलंकारिक महत्त्व ही नहीं है, वरन् यह तथ्य सर्वथा स्पष्ट है—हम सोते हैं, जागते हैं, बैठते हैं, दूसरोंको दिखाई देनेवाले कुछ काम नहीं करनेपर भी हमारा शरीर सक्रिय रहता है—रुधिरका प्रवाह अविच्छिन्न गतिसे चलता रहता है, दिल बराबर अपना काम करता है, श्वास-उच्छ्वासकी क्रिया स्वतः सम्पादित होती रहती है; वैसे बैठना, जागना, सोना, आराम करना, सभी अपने-अपने ढंगसे क्रियाएँ हैं; पर सामान्यरूपसे इन्हें क्रिया न मानकर क्रियाहीनताकी कोटिमें लेते हैं। एक बात अवश्य प्रत्यक्ष होती है कि सोना-बैठना, आराम करना ...

४—निष्काम कर्मयोगी कर्मोंको करता हुआ परमपद पाता है (गीता १८ । ५६)।

कर्मको फलसे युक्त करना श्लाघ्य नहीं बताया गया है। हमें काम करना है और निरन्तर करते रहना है। गीताके तीसरे अध्यायके पाँचवें श्लोकमें भी यही बताया गया है कि कोई भी पुरुष किसी कालमें क्षणमात्र भी बिना कर्म किये नहीं रहता; निःसंदेह सभी व्यक्ति प्रकृतिसे उत्पन्न हुए गुणोंद्वारा परवश हुए कर्म करते रहते हैं। इस क्रिया-युक्त स्थितिमें सामान्य व्यक्ति फलका चिन्तन करते हैं, पर इन्द्रियोंको वशमें करनेवाले अनासक्त रहते हैं। सत्य तो यह है कि 'निष्कामभावना' अति कठिन होते हुए भी अत्यन्त व्यावहारिक और प्रेरणाप्रद है। इसके कुछ बिन्दुओंपर विचार करें—

(क)—निष्काम कर्मयोगी फलकी इच्छा नहीं करता, अतः विपरीत फल मिलनेपर भी उसे किसी प्रकारकी दुःखानुभूति नहीं होती। परीक्षामें असफल होनेपर, व्यापारमें अधिक हानि होनेपर कुछ लोग अवाञ्छनीय जघन्य पाप कर डालते हैं। यह सब इसलिये होता है कि कर्ममें निष्कामभावना तनिक भी नहीं रहती।

(ग)—निष्कामभावना परमात्मामें पूर्ण आस्थाको देनेवाली होती है। जब व्यक्ति फलकी इच्छा करता है, अपने कर्मका सुपरिणाम देखनेकी आकाङ्क्षा करता है तो उसका 'अहम्' जाग्रत् रहता है और जिस व्यक्तिमें 'अहम्' अथवा अहंकारका वास होता है, उसकी स्थिति [illegible] होती है। फलकी इच्छा न करनेवाला केवल यही सोचता है कि जिस कार्यमें प्रभुने लगा दिया है उसे कर्तव्य समझकर करता है, परिणाम जो हो, सो हो; [illegible] प्रभुमें पूर्ण आस्था [illegible] कर देता है और ऐसे [illegible] करते हुए भी निष्काम रहते हैं; [illegible]

और उसीके प्रेरणास्वरूप उसके अच्छे मार्गका अनुसरण करते हैं।

(ग)—जो व्यक्ति फलकी इच्छा करता है, व[illegible] सोचता बहुत है, फिर करूँ, न करूँके [illegible] जाता है, जिसका परिणाम अनेक स्थितियोंमें हो सकती है। यदि मैं करूँगा तो उलटा परिणाम होगा, या कोई भी लाभ नहीं [illegible] सोचकर वह कर्म करता ही नहीं, आलस्य [illegible] उसे घेरे रहते हैं, दृढ़ता नष्ट हो जाती है, [illegible] उठ जाता है। मानवीय जीवनका सम्पूर्ण [illegible] हो जाता है। ऐसे जीवनका क्या लाभ जो [illegible] मार्गपर चलता ही नहीं। सकाम व्यक्तिकी यही होती है। निष्काम-धारणामें फलका प्रश्न नहीं आता, कर्तव्यका ही ध्यान रहता है, अतः ऐसा हाथपर हाथ रखकर नहीं बैठता—कर्मपथपर बढ़ता ही है। यह प्रभु-प्रदत्त प्रेरणासे लाभ उठाता है, निष्क्रियताके अपराधसे अपनेको सहज ही बचा [illegible]

(घ)—मेरे विचारसे 'निष्काम-भावना' एक [illegible] है। हम कितने भी सजग-सचेष्ट, सावधान क्यों न [illegible] यह सम्भव नहीं कि फल हमारी कामनाके अनुकूल हो। यह कहना बहुत कठिन है कि कर्म और फलमें क्या सम्बन्ध है, अतः करनेकी बात यह है कि कर्म करें, फलकी चाह न करें', यही निष्कामकर्मकी [illegible] यही निष्काम कर्मयोगीका मूल-मन्त्र है। निष्कामता एक अत्यन्त सूक्ष्म एवं व्यावहारिक भावना है, [illegible] स्वीकार करनेमें कोई संदेह नहीं रह जाता। इसका परिणाम और जीवनमें संतुलन एक [illegible] है अतः, पर [illegible] कारण है कि कर्मयोगमें यही निष्काम [illegible]

वैराग्य नहीं, कर्मजीवन ही मुक्तिमार्ग है

(लेखक—डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्०ए०, पी-एच०डी०)

-से व्यक्ति सामाजिक, पारिवारिक एवं व्यवसाय- कठिनाइयोंसे शीघ्र ही उद्विग्न हो जाते हैं। वे धैर्य- ने आत्म-विश्वासको दृढ़ नहीं बना पाते; बल्कि कर कर्मजीवनसे भाग जाना चाहते हैं। मोहके पन्न हीनत्वकी भावना उन्हें अपने परिवार, देश और विश्वके प्रति कर्तव्य-पालनसे रोक देती हम हीनत्वकी भावना त्यागकर कठिनाइयोंका करना आरम्भ कर दें तो भय एवं नैराश्यकी उतने ही अंशोंमें दूर होती जायँगी। जो व्यक्ति कर्तव्यों, अपने परिवार या समाजके प्रति उत्तर-

कर लेनेके बाद ही संन्यास ग्रहण करनेकी आज्ञा दी है। जिसने अपने परिवार और समाजकी कुछ भी सेवा नहीं की या उसके विकासमें यथोचित योगदान भी नहीं दिया, वस्तुतः वह कायर है, कर्तव्य-कर्मसे च्युत ही है। इस कर्तव्य-शैथिल्य या कायरताका त्याग ही हितकर है। श्रीभगवान्‌ने गीतामें योगस्थ होकर कर्मरत रहनेका परामर्श दिया है।

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥
(२। ४८)

वैराग्य प्राप्त हो गया, वे धन्य हैं। परंतु वैसे ही पुण्य मनस्वी, [illegible], दुःखी जनोंमें तथा विश्व-कल्याणके पथ परिलक्षित किये जाते हैं। वे कभी [illegible] तरह समाजका त्याग नहीं करते, बल्कि अपना जीवन धर्म, नीति तथा देशकी रक्षामें अपनाकर दूसरोंके सामने कर्तव्य-कर्मोंका आदर्श उपस्थित करते हैं। संसार ऐसे ही कर्मठ पुरुषों, कर्मयोगियोंसे संचालित, रक्षित एवं संरक्षित होता रहा है।

सत्य तो यह है कि हमारा यह सामाजिक जीवन चिरन्तन संघर्ष तथा अनवरत कर्मोंद्वारा अपने परिवार, समाज एवं देशकी सेवा करनेका सोपान है। मानवजीवन ही नहीं, सम्पूर्ण राष्ट्र और विश्व, यहाँतककी मानवता भी वैरागियोंसे नहीं, अपितु कर्मयोगियोंसे जीवित है। आजकी सभ्यता-संस्कृति, कला, साहित्य, विज्ञान आदि—जिन्होंने जीवनको आधुनिक आरामदायक या सुख-सम्पन्न बनाया है, उन सबका [illegible] मनस्वियों और वैज्ञानिकोंके अथक [illegible] जिन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन [illegible] लगाये रख दिया। मानव-कल्याण [illegible] कर्मयोगियोंका चलती है। इसी संदर्भमें [illegible] दिया गया गीताका उपदेश सब [illegible] कर्तव्य-कर्मोंका पालन करनेके लिये [illegible]

धर्मोत्तम, कर्मठ मनुष्यता, एव [illegible] का निष्काम कर्मका यह—निधि है।

जीवनके हर क्षण, हर घड़ी, प्रत्ये[illegible] प्रति मास और प्रति वर्ष हमें कर्मक्षेत्र [illegible] भागकर नहीं, अपितु संघर्षरत होकर [illegible] निष्काम-कर्मकी यह कसौटी है—कर्तव्य[illegible] सम्पन्नता भी यही है।

निष्कामताका महत्त्व

(लेखक—डॉ० श्रीसुरेशचन्द्रजी सेठ, एम्० ए०, एम्० एड्०, पी-एच्० डी०)

शरीर और संसारसे जीवन्मुक्त होनेके लिये संतोंने तीन उपाय बताये हैं। सर्वप्रथम उन्होंने यह बताया है कि यह शरीर और संसार जो अनित्य है, क्षणभङ्गुर है, उससे असङ्ग हो जानेपर साधक जीवन्मुक्त हो सकता है। दूसरा, यदि असंगताका पथ कठिन लगता है तो साधक शरीर और संसारके अधिकारकी रक्षा करते हुए अपने कर्तव्य-पालनद्वारा जगत्‌की सेवा करते हुए ऋण-मुक्त होकर अकाम पद प्राप्त कर सकता है। और तीसरा, जिस संसारसे अपना जातीय सम्बन्ध नहीं है, उससे सम्बन्ध छोड़कर नित्य रहनेवालेसे सम्बन्ध जोड़ा जाय। पथ कोई भी हो, लेकिन परम सुहृद् प्रभुके हुए बिना साधकको चिर विश्राम कदापि नहीं मिले

नियम यह है कि मनुष्यको लक्ष्यकी किसी-न-किसी पथका अनुसरण अवश्य होगा। पथका नियमानुसार अनुसरण सफलता सम्भव होती है, किंतु साधकको [illegible] सामर्थ्यके अनुसार ही पथ चुनना होता है

साधकके जीवनका सबसे महत्त्वपूर्ण [illegible] कि यदि 'समत्वबुद्धि' अथवा 'तत्त्व-विचार' है तो गीताके तीसरे अध्यायमें स्वयं भगवा[illegible] अर्जुनको घोर कर्ममें प्रवृत्त क्यों कराते हैं? [illegible] है कि प्रत्येक व्यक्ति प्रारम्भसे ही इतना [illegible] विकसित नहीं होता है कि उसकी बुद्धिमें [illegible] भाव आ जाय। अतः स्वयं श्रीकृष्णने यह [illegible] कि तत्त्व-विवेकियोंको लक्ष्यकी प्राप्ति ज्ञान-योग[illegible] योगियोंको प्रभु-प्राप्ति कर्मयोगसे और भक्तोंको भ[illegible]

सम्भव है । इसीलिये उन्होंने कर्मरत साधकोंको इस
ार समझाया है—

(क) बिना कर्म किये साधक निष्कर्मभावको
नहीं हो सकता और न वह कर्मको नितान्त
देनेसे ही सिद्धिको प्राप्त कर सकता है; बिना कर्म
व्यक्ति क्षणभर भी संसारमें नहीं रह सकता है;
कि प्रकृतिके गुणोंसे विवश होकर प्राणीको कर्म
ा ही पड़ता है ।

(ख) बहुतसे व्यक्ति बाहरसे कर्मेन्द्रियोंपर नियन्त्रण
लेते हैं और ऊपरसे वे कर्मरहित अथवा निष्कर्मी
ायी देते हैं, किंतु मानसिक धरातलपर अनेक
करते रहते हैं । ऐसे व्यक्तियोंको गीतामें मिथ्याचारी
वा कपटी कहा गया है ।

(ग) जो व्यक्ति अथवा साधक अपनी ज्ञानेन्द्रियोंको
के वशमें करके कर्मेन्द्रियोंसे कर्म करते रहते हैं,
यक्ति निरासक्त अथवा वास्तवमें निष्कर्मी कहे जाते हैं ।
व्यक्तियोंको ही भगवान् श्रीकृष्णने महत्त्वपूर्ण माना है ।
लिये गीताकारने बार-बार नियत-कर्मोंको निष्कामभावसे
रेकी प्रेरणा दी है । अर्जुनसे वे यही कहते
कि यदि तू प्रत्येक कार्यको ईश्वरार्पणके पवित्र
से करेगा तो तू जीवन्मुक्त होकर लक्ष्यको अवश्य
कर लेगा ।

'निष्कामता' कहनेमात्रसे नहीं आ जाती; इसीलिये
ने यह भी कहा है कि अज्ञानी व्यक्ति आसक्त
र कर्म करते हैं और ज्ञानवान् प्राणका सदुपयोग
ोंकी भलाईके लिये निःस्वार्थ भावसे करते हैं ।
हली श्रेणी अपनेको कर्ता मानकर कार्य करते हैं,
किन निष्कामकर्मी योगी या अपनेको किसी कर्मीका
न्त्र मानकर निरासक्त भावसे कर्म करते हैं, वे प्राप्त
न्द्रियोंका सदुपयोग करते हैं । इसीलिये विवेकी

प्रभुको अर्पित करके कर्म करनेकी प्रेरणा दी गयी है ।
जो साधक निरासक्त होकर लोकोपकारकी दृष्टिसे
कर्तव्य कर्मोंको सर्वेश्वरको समर्पित करके निरन्तर
जीवनमें संलग्न रहते हैं, ऐसे व्यक्तियोंको उनके कर्म
कभी भी क्रियमाण नहीं करते अथवा बन्धनमें नहीं
बाँधते ।

संतोंने बताया है कि इन्द्रियाँ अति सूक्ष्म और
विषयोंसे परे हैं । इन्द्रियोंसे परे सूक्ष्म मन है, मनसे
परे सूक्ष्म बुद्धि है और बुद्धिसे परे सर्वाधार आत्मतत्त्व
है । इसीलिये विषयोंकी अपेक्षा ये इन्द्रियाँ अति प्रबल
हैं । इन्द्रियोंसे प्रबल मन है, मनसे अधिक प्रबल बुद्धि
है और बुद्धिसे अधिक प्रबल आत्मा है । जो साधक
इस सत्यको जानकर अपनेको काम-मुक्त करके समर्पित-
भावसे कर्म करते जाते हैं, ऐसे निष्काम कर्मयोगियोंको
स्वतः तथा सरलतासे लक्ष्यकी प्राप्ति हो जाती है ।
अतः गीता (३ । १९ में) कहती है—'अनासक्त
होकर कर्तव्य कर्म करो; क्योंकि अनासक्त होकर कर्म
करनेवाला पुरुष परम पदको पा लेता है'—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥

भगवान् श्रीकृष्ण यह भी कहते हैं कि जबतक
साधकको आत्म-साक्षात्कार नहीं होता, तबतक
वह भटकता ही रहता है । उसका मन उसे किसी-न-
किसी कर्ममें प्रवृत्त की रखता है । इसीसे वे
अपने प्रिय सुहृद् अर्जुनको यह सलाह देते हैं कि
परमानन्द अथवा आत्म-साक्षात्कारके इच्छुक साधकको
अपने समस्त विहित कर्तव्य कर्मोंको उनके फलकी
इच्छा और कर्तृत्वादि अहंकारसे रहित होकर निष्काम
भावसे करते रहना चाहिये । निष्काम-विधिसे कर्तव्य-
कर्म करनेवाले पुरुषको परमानन्द और कैवल्यपद प्राप्त
हो जाता है ।

एक बार एक महात्मासे यह पूछा गया कि 'महाराज ! निष्काम कर्म करना तो एक गृहस्थके लिये बहुत कठिन है, फिर हम लोग क्या करें ?' तो वे हँसकर कहने लगे कि भाई, सकामकी अपेक्षा निष्काम कर्म ही अधिक सुगम है और उससे लौकिक तथा पारलौकिक उन्नति भी होती है । जो मनुष्य दूसरोंसे कुछ लेना चाहता है, अपने सुखका आधार दूसरोंको मानता है और दूसरोंसे ही आशा लगाये रहता है, वह निश्चय ही वैभवशाली होकर भी दरिद्र ही है । कर्म करनेका विधान भी कर्मकी एवं संसारकी आसक्ति मिटानेके लिये है । अतः साधकको अपने स्वभाव और परिस्थितिके अनुरूप विधानसे जो कर्तव्यकर्म प्राप्त हुआ हो, उससे बदलेमें कुछ चाहना न रखते हुए जो सावधानी और उत्साहपूर्वक कर्म किया जाता है, वही निष्काम कर्म है ।

"व्यक्ति जब प्राप्त वस्तु, योग्यता, [illegible] द्वारा अर्जित मानकर उसपर अपना अ[illegible] है तो वह सकामी बन जाता है । यदि [illegible] समझ ले कि उसे जो प्राप्त है, वह प्रभुकी [illegible] है तो उसके सदुपयोगका अधिकार उसे [illegible] है और वास्तवमें 'मेरा कुछ नहीं है'—ऐसा [illegible] करते ही निष्कामता स्वतः आने लग जाती है। मेरा कुछ नहीं है और जो कुछ प्राप्त हुआ है [illegible] की, राष्ट्रकी या भगवान्‌की कृपासे मिला है [illegible] उसे निष्कामभावसे उन्हींके लिये सदुपयोग करें [illegible] क्यों ? ऐसा इसलिये भी आवश्यक है कि [illegible] आसक्ति मिटकर ज्ञानोत्पत्तिपूर्वक जीवन्मुक्ति [illegible] है । अतः मनुष्यका कर्तव्य है कि वह [illegible] बिना फलकी कामना रखे, शास्त्रविहित कर्मोंको [illegible] जीवन्मुक्त हो जाय ।"

आदर्श कर्मयोगी राजा जनक

(लेखक—संतोषचन्द्रजी सक्सेना, एम्० ए०, एम्० एड्०, एल्० एल्० बी०, [illegible])

विदेह-राज्यमें जनक-नामसे प्रसिद्ध एक पराक्रमी राजा राज्य करते थे । उनकी सारी विपत्तियाँ नष्ट हो गयी थीं और सम्पत्ति दिनों-दिन बढ़ रही थी । वे सदा सत्कर्म और न्याययुक्त होकर प्रजा-पालन करते थे । एक समय वे वसन्तऋतुमें किसी पर्वत-शिखरपर घूमने गये । वहाँ तमालवनके कुञ्जमें उन्होंने सिद्धोंकी गीता सुनी । वे लोग परस्पर परमतत्त्व (ब्रह्म)के ही विषयमें विचार एवं निर्णय कर रहे थे । कोई कहता कि संसार असत् है, भोग-विलास आदि क्षणभङ्गुर हैं—अतः मैं उस सनातन अक्षरपुरुष परमात्माकी समाधिद्वारा उपासना करता हूँ । कोई कहता कि दृश्य-दर्शन एवं द्रष्टारूपी त्रिपुटीको त्याग देनेपर जो विशुद्ध दर्शन एक ज्ञानरूप प्रकाशित होता है, उस विशुद्ध आत्माकी हम उपासना करते हैं । कोई कहता कि इन्द्रिय और

नास्ति इन दोनोंके [illegible] विद्यमान रहता है और [illegible] देनेवाला है, उस [illegible] एक अन्य सिद्ध कहता था—[illegible] यह सब है—जिसके लिये [illegible] द्वारा यह सब है—[illegible] की हम उपासना करते हैं । [illegible] जो अकारसे लेकर [illegible] उच्चरित होता है, [illegible] अन्यने कहा कि [illegible] [illegible]

। होता है । आठवें सिद्धने कहा—जो दुर्बुद्धि-प भोग-पदार्थोंकी अत्यन्त नीरसता जानकर भी र्वार मनकी भावनाको उनमें बाँधता है, वह पशु । नवें सिद्धका मत था—इन्द्रियरूपी सर्पोंको विवेक-ग्यरूपी लाठीसे मारकर परमानन्द परमेश्वर अर्थात् क्षयसुखका लाभ करना चाहिये । सिद्धगणोंकी गीता नकर राजा जनक अपने भवनमें वापस आकर एकान्तमें गेककी वर्तमान स्थितिपर विचार करने लगे ।

राजा जनकने विचार किया—'अहो ! बड़े दुःखकी बात है कि जन्म-जरा, रोग, मरण आदिके कारण समस्त लोकोंकी जो कष्टप्रद चञ्चल दशाएँ हैं, उन्हींमें मैं बलपूर्वक लोटपोट रहा हूँ और आवागमनके चक्रमें पड़ा हूँ । जिस कालका कभी अन्त नहीं होता, उसका एक अल्पतम अंश मेरा जीवन है, जिसमें मैं आसक्त हो रहा हूँ । केवल जीवनकालतक रहनेवाला यह राज्य कितना है ! कुछ भी तो नहीं; परंतु मैं इसीसे संतुष्ट होकर मूर्खोंके समान निश्चिन्त बैठा हूँ । इस मूढ़तापर मुझे क्यों दुःख नहीं होता ! इस जगत्की कोई वस्तु न सत्य है, न स्मरणीय; सभी क्षणिक हैं । आज जो देहादि सिरमौर बने हुए हैं, वे भी कुछ दिनोंमें धूलमें भी मिल सकते हैं । फिर मूर्ख मन ! तुम्हारी जगत्की महत्तामें क्यों इतनी दृढ़ आस्था है ! यह राज्य, ये कुटुम्बी, ये गजवाहन तथा अन्य भोग्यपदार्थ, सब मेरी मृत्युके पश्चात् मुझसे छूट जायँगे । इससे मैं अभी इनका परित्याग क्यों न कर दूँ ! मेरे मन भासते हैं । इनका मोह करना मेरी मूर्खता नहीं तो क्या है ! इन पदार्थोंमें अपनी आस्था बाँधना अपना नाश ही करना है—जैसे पतंग अग्निकी शिखाओंपर आसक्त होकर अपना जीवन नष्ट कर देता है । इस असत् संसारकी रमणीयतामें अब मैं रमण नहीं करूँगा । अज्ञानसे मोहित क्षुद्र प्राणी जन्म ले-लेकर बारंबार संसृतिको प्राप्त होकर मरते हैं । अब मैं ज्ञानद्वारा प्रबुद्ध हो गया हूँ । मैंने अपने पारमार्थिक धनको चुरानेवाले चोर (मन) को पहचान लिया है । यह मुझे पतनके गर्तमें डालना चाहता है । अतः अब मैं इसे मारनेकी चेष्टा करूँगा । परमात्मतत्त्वके यथार्थ ज्ञानद्वारा मैं अपने अज्ञानका छेदन करूँगा ।

इस प्रकार विचार दृढ़ कर राजा जनक धीर एवं स्थिर-बुद्धि हो गये । वे राजकाज तो सँभालते रहे, परंतु उनकी दृष्टि बदल गयी । उनके मनमें ममता, आसक्ति नहीं रही । फिर तो उनके लिये हर्ष-विषाद, इष्ट-अनिष्ट, सुख-दुःख सब समान हो गये । दृश्य जगत्को न तो उन्होंने मनसे ग्रहण किया, न उसका परित्याग ही । इस प्रकार आत्म-विवेकके अनुसंधानसे राजा जनकका परमात्म-विषयक पदार्थज्ञान अनन्त एवं अत्यन्त विशुद्ध हो गया और वे जीवन्मुक्त हो गये ।

अब वे राजकाज भी करते और सत्सङ्ग भी । बहुत-से साधु-संन्यासी उनके यहाँ रहते थे । महर्षि शुकदेव-जैसे अनेक तत्त्व-दर्शी ऋषि-महात्मा भी ज्ञान-चर्चाके लिये आया करते । एक समय उनके दरबारमें महर्षि वेदव्यास पधारे । आदर-सत्कारसहित उनको निवास दिया गया ।

हुआ । बीचमें ही महर्षि व्यासने अपने योगबलसे जनकपुरीमें आग लगा दी और सभामें चिल्लाकर बोले, 'भागिये ! आग लगी है, दौड़ो, दौड़ो; आग बुझाओ, नहीं तो यह राजभवनतक पहुँच जायगी ।' सुनकर सारा समाज उठ गया । कोई अपने कपड़े बचाता तो कोई पोथी-पत्रे । राजा जनक ज्यों-के-त्यों शान्त-चित्त बैठे रहे । व्यास बोले—'राजन् ! आग राजभवनतक पहुँच चुकी है; जाइये इसे बचाइये ।' राजा जनकने उत्तर दिया—'भगवन् ! जनकपुरीमें मेरा कुछ भी नहीं है—'मिथिलायां प्रदग्धायां न मे दह्यति किंचन ।' जिसकी जनकपुरी है, वह विधाता आग बुझानेमें स्वयं समर्थ है । फिर मैं क्यों भय करूँ ?' व्यासने अग्नि शान्त कर दी और जनकसे कहा—'राजन् ! तुमने अभयपद पा लिया । तुम उत्तम ज्ञानसे सम्पन्न हो । तुम्हारा सत्सङ्ग लोकसंग्रहके लिये है ।'

इसी बात जनकका प्रमाण देकर भ श्रीकृष्णने अर्जुनके प्रति कहा है—

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि ॥
(३।२०)

जनकादि ज्ञानी जन भी आसक्तिरहित कर्मद्वारा परम सिद्धिको प्राप्त हुए हैं । इसलिये तथा लोक देखता हुआ भी तू कर्म करनेके ही योग्य है पूर्वक, नित्य आसक्तिरहित—फलेच्छासे रहित कर्म करते जाना राजा जनकका आदर्श था । वे 'विदेह' कहे गये । जनक और श्रीकृष्ण कर्म महान् निदर्शन थे । दोनों उत्कृष्ट कोटिके ज्ञानी विषयविजयी थे, दोनोंने लोकसंग्रहका आदर्श उ किया । वस्तुतः लोकसंग्रह-बुद्धिसे निष्काम कर्तव्य करनेवाले ही 'कर्मयोगी' पदके भाजन होते

भक्त और ज्ञानी भी निष्काम कर्मयोगी होते हैं

(लेखक—श्रीमदनमोहनजी पाठक, एम्० ए० (हिन्दी-संस्कृत), बी० एड्०, साहित्यरत्न)

कुछ लोगोंकी मान्यता है कि निष्काम कर्मयोगसे मनका मलदोष दूर करके भक्तिसे विक्षेप-दोषका निवारण करते हुए ज्ञानकी शक्तिसे अविद्याके आवरणको दूर हटाकर जब मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है, तब उसे कर्म करनेकी आवश्यकता नहीं रहती । उनके मतानुसार कर्मयोग साधककी निम्नावस्था है । भक्ति मध्यम कक्षा है और ज्ञान उच्च श्रेणी है । ज्ञानकी उच्च श्रेणीमें पहुँचे हुए मनुष्यको कर्म शोभा नहीं देते, अर्थात् उसे कर्मके गोरख-धंधेमें नहीं पड़ना चाहिये । पर सच्ची बात यह है कि ज्ञान-प्राप्तिके बाद ही वास्तविक कर्म आरम्भ होता है । इससे पूर्व तो हम कर्मके नामपर अकर्म, कर्तव्यके नामपर अकर्तव्य, और परोपकारके नामपर अहंकी पुष्टि करते हैं ।

अतः कर्माचरणके लिये भी कर्तव्याकर्तव्यज्ञान अपे है । जब निरन्तर योग-साधना और भक्ति-साधन इच्छाओंका समूल नाश हो जाता है, तब मानव अप शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक शक्तियोंको केन्द्रित कर अपने आपको उस विराट् सत्तामें मिलाकर उसकी विरा सृष्टिको उसका रूप मानकर निरभिमानभावसे सबकी सेवा लग जाता है । उसके कर्मके पीछे आसक्तिका नाम नहीं रहता और उसमें कहीं भी उसके स्वार्थकी गन्ध नहीं आती । ज्ञानसे सुवासित उसका आत्मा प्राणिमात्रमें प्रभुके दर्शन करने लगता है । पीड़ित मानवताकी आहोंमें वह प्यारेकी आवाज सुनता है । दुखियोंकी सेवा ही उसकी ईश्वरीय आराधना होती है और अनाथोंके आँसू पोंछना उसकी सच्ची अर्चना होती है । उसके

र निहित सुदृढ़ एवं परिपक्व भक्ति-निष्ठा अथवा व्यक्त ज्ञाननिष्ठा उसके निष्काम कर्मयोग एवं सेवाके ध्यमसे व्यक्त रूप लेती है।

ज्ञान-प्राप्तिके बाद यदि कर्म समाप्त हो जाते तो ता-ज्ञान सुननेके बाद अर्जुन अन्याय और अनीतिके नन-हेतु युद्ध-जैसा कठोर एवं क्रूर कर्म न करते। यदि र्म निम्न श्रेणीका साधन होता तो तत्त्ववेत्ता योगेश्वर वान् श्रीकृष्ण स्वयं कभी पशुचारण, जूठी पत्तलें उठाने र रथ हाँकनेके कर्म न करते। यदि कर्म घटिया धन होता तो नित्य भक्तिरूपी गङ्गामें डुबकी लगाने- ले भक्त रैदास जूते सीनेका कर्म क्यों करते और म ज्ञानी कबीरदास चरखेके ताने-बानेपर तत्त्वज्ञानकी त्थियाँ कैसे सुलझाते। यदि कर्म छोड़ना इष्ट होता चौरासी लाख योनिको 'सीयराम मय' देखनेवाले कशिरोमणि एव परम आत्मज्ञानी तुलसीदास जीवनके न्तिम क्षणतक लोक-कल्याणार्थ साहित्य-सृजनका कर्म करते और आत्म-तत्त्ववेत्ता अद्वैतवादके प्रतिपादक चार्य शंकर आठ हजार फुटकी ऊँचाईपर ज्योतिर्मठमें ठ कर 'सर्वभूतहिते रताः' बने हुए ब्रह्मसूत्र और पनिषदोंके भाष्य न लिखते।

वस्तुतः भगवान् और भगवान्‌के नित्यावतार ऋषि- नि निःस्पृह और द्वन्द्वातीत अवस्थामें पहुँचनेके बाद कसंग्रहकी भावनासे यदि शास्त्रोक्त कर्म न करते तो आज सारको आदर्श जीवनकी प्रेरणा कहाँसे मिलती ! यदि गुण निराकार अव्यक्त परब्रह्म मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् घवेन्द्रके रूपमें कर्मक्षेत्रमें न अवतरित होता तो संसारको दर्श पितृ-सेवा, आदर्श मातृ-भक्ति, आदर्श प्रजापालन, दर्श भ्रातृ-प्रेम और आदर्श गुरु-भक्तिकी शिक्षा कैसे लती ! लिप्साओं, स्वार्थों और वासनाओंमें अन्धे बने र इस संसारके सम्मुख यदि त्याग, तपस्याका आदर्श रखा जाता तो संन्यासियों और गृहस्थोंको आदर्श निवृत्ति एवं प्रवृत्ति-मार्गकी प्रेरणा कहाँसे मिलती ! इसलिये लोकसंग्रहकी भावनासे भगवान् श्रीकृष्णने गीता (३ । २५)में समस्त भक्तों और ज्ञानियोंको भी संसारके सामने प्रशस्त मार्ग रखनेके लिये निरन्तर अनासक्तभावसे कर्म करनेकी आज्ञा दी है—

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद् विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्॥

उपर्युक्त श्लोकमें यद्यपि बाह्यरूपसे भगवान्‌ने अनासक्त ज्ञानीको भी आसक्त अज्ञानीकी भाँति निरन्तर कर्म करनेकी आज्ञा दी है, परंतु दोनोंके कर्मोंके मूलमें रहनेवाली भावनामें अन्तर रहता है। अज्ञानी जो भी कर्म करता है, अज्ञानपर आधारित होता है और उसके मूलमें फलकी आसक्ति काम करती है। परिणाम-स्वरूप फलकी प्राप्तिमें सुख और फल-प्राप्तिमें सहायक वस्तुओं एवं व्यक्तियोंके प्रति राग हो जाता है। दूसरी ओर फलकी अप्राप्तिमें दुःख और फलकी प्राप्तिमें बाधक व्यक्तियों एवं पदार्थोंके प्रति द्वेष हो जाता है। राग-द्वेषजनित अज्ञानान्धकारसे आच्छन्न अन्तःकरणसे विवेकशालिनी या व्यवसायात्मिका बुद्धि लुप्त हो जाती है और उस विवेक-शून्य मानवद्वारा शुभके नामपर अशुभ तथा धर्मके स्थान-पर अधर्म होने लग जाते हैं। यह कर्म-जाल उसके जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि आदि दुःखोंको जन्म देता है।

दूसरी ओर ज्ञानी ज्ञानाग्निमें अपनी सम्पूर्ण इच्छाओंको जला चुका रहता है एवं भक्त अपनी सम्पूर्ण इच्छाएँ भगवान्‌में समर्पित कर चुका होता है, अतः ज्ञानी या भक्तकी कोई व्यक्तिगत इच्छा या स्वार्थस्पृहा नहीं होती। ऐसी स्थितिमें उसका प्रत्येक कर्म ईश्वरेच्छासे, ईश्वर-प्रेरणासे, ईश्वरप्रस्तुत हेतुसे स्वतः घटता रहता है। ऐसे व्यक्ति-द्वारा अशुभ-कर्म होनेका तो प्रश्न ही नहीं उठता। जो शुभकर्म भी होते हैं, वे सर्वथा स्पृहा-विहीनता और अहंकार-शून्यतामें होते हैं। यही

कारण है कि उनके कर्मोंकी सिद्धि-असिद्धिमें न तो सुख-दुःखकी भावना रहती है और न उन कर्मोंकी फल-प्राप्तिके साधक-बाधक व्यक्तियोंके प्रति राग-द्वेष उदित होते हैं। ज्ञानी और अज्ञानीके कर्मके पीछे निहित भावकी विभिन्नताके कारण दोनोंके कर्मोंके स्वरूप भी भिन्न-भिन्न हो जाते हैं। अज्ञानीके कर्मका स्वरूप संकीर्ण, परिच्छिन्न एव सीमित होता है तथा व्यक्तिगत स्वार्थपर केन्द्रित रहता है। जब भी उसका व्यष्टि-हित समष्टि-हितसे टकराता है तो वह स्वार्थान्ध मानव समष्टिका अनिष्ट करता है अर्थात् समष्टि-रूप ईश्वरके प्रतिकूल जाता है। दूसरी ओर ज्ञानीका व्यष्टि-भाव समष्टिमें लीन होता है। अतः उसका प्रत्येक कर्म व्यापक 'स्व' या समष्टिके हितके लिये होता है या दूसरे शब्दोंमें समष्टि-रूप ईश्वरकी प्रसन्नता-हेतु होता है। इसलिये गीताके शब्दोंमें वही व्यक्ति सच्चे शब्दोंमें ज्ञानी और पण्डित है, जिसके समस्त कर्म एवं कर्म करनेकी इच्छाएँ तो ज्ञानकी अग्निमें भस्म हो चुकी हैं। फिर भी सम्पूर्ण शास्त्र-सम्मत कर्म उसके द्वारा स्पृहा-हीनता और कर्तृत्वाभिमान-शून्यतामें स्वतः होते रहते हैं। इस विषयमें गीता-(४।१९)का साक्ष्य सुस्पष्ट है—

> यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
> ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥

यद्यपि हम व्यवहार-जगत्‌में प्रत्यक्ष देखते हैं कि कामनाओंके बिना और संकल्प-विकल्पके अभावमें कर्मकी उत्पत्ति नहीं होती, परंतु स्थितबुद्धि निष्काम-कर्मयोगीपर यह सिद्धान्त घटित नहीं होता। इसके [illegible] अम्बर, संकल्पविकल्पकी निःशेषता और कर्तृत्वाभिमानकी शून्यताके साथ जनक, विदेह आदि ऋषि प्रवृत्ति-प्रधान [illegible] करते हुए निष्काम कर्म करते रहे; और, दूसरी ओर [illegible]

आदि मुनियोंने निवृत्ति-प्रधान [illegible] मार्गका एवं संन्यास-धर्मका प्रशस्त मार्ग [illegible] सामने रखा। सच तो यह है कि परम्परासे [illegible] निष्ठाएँ स्वतन्त्रतः श्रेयस्करी होती चली आयी हैं।

वस्तुतः कर्म, भक्ति और ज्ञान—ये सभी एक [illegible] पूरक हैं और न्यूनाधिक मात्रामें सब साधकोंमें [illegible] यह मानना भूल है कि भक्ति या ज्ञान कर्मको [illegible] देते हैं। कर्मको छोड़नेवाला भक्त या ज्ञानी [illegible] बनकर न तो वैयक्तिक उत्कर्ष करता है और न [illegible] लिये उपयोगी ही होता है।

भक्ति-कर्म-ज्ञान-समन्वय

भक्ति-मार्गमें जो सरसता, विनम्रता, [illegible] तल्लीनता, भावुकता और ईश्वरपरायणता रहती है, सब उसके गुण हैं। जब कर्म छोड़कर उसमें [illegible] भाग्यवादिता और आत्महीनताके भाव आ जाते हैं, ये उसके दोष हो जाते हैं। कर्मवादमें जो पुरुषार्थ-वृत्ति और प्रयत्नवादकी भावना है, ये उसके गुण हैं, परंतु भक्तिके अभावमें जब कर्ममें अहंकार और सकामता आ जाती है, तो ये उसकी अवगुण हो जाते हैं। यही कारण है कि कोरे कर्मवादी [illegible] निर्मम कर्मकाण्ड और अतिशय सर्वस्पृहासे [illegible] धर्मसे दूर पड़ गये और धर्मकी सात्त्विकता [illegible] गयी। कर्म धर्मके तत्त्वसे अलग होनेसे [illegible] साधन माना जाने लगा।

ज्ञानमार्गमें जो आत्मविश्वास और आत्मनिर्भरता-की भावना रहती है, वह उसका गुण है, परन्तु [illegible] ज्ञानमें जो शुष्कता और नीरसता आ जाती है [illegible] कर्महीन ज्ञानमें जो आलस्य और अकर्मण्यता आ जाती है, वह उसकी अवगुण है। यदि हम कर्म, भक्ति एवं ज्ञान—तीनोंको भिन्न दें तो सही धर्मका [illegible] हमारे सामने आ जाता है।

भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनके बहाने हमारे लिये र्मका रहस्य उद्घाटित किया तथा ज्ञान, भक्ति और र्मका समन्वयकर कर्मयोगका मार्ग प्रशस्त कर दिया। क्तिकी सरसता और विनम्रतासे क्रमशः ज्ञानकी नीरसता और कर्मकी कर्कशता समाप्त होती है। सच्चे ज्ञानके प्रकाशसे भक्तिकी संकीर्णता और कर्मकी अहंकार-वृत्ति दूर होती है। इसी तरह कर्मके प्रयत्नवादसे भक्तिकी भाग्यवादिता और लोकसेवा भावनासे कोरे ज्ञानकी अव्यावहारिकता दूर होती है; सच्ची भक्ति निःस्पृह होती है। सच्चा कर्म ममत्वहीन है और सच्चा ज्ञान निरहंकार होता है और तीनों गुणोंसे विभूषित सच्चा निष्काम कर्मयोगी **'निःस्पृहः निर्ममो निरहंकारः'** होता है तथा गीताके शब्दोंमें **'स शान्तिमधिगच्छति',**— वही शाश्वत शान्तिको प्राप्त करता है।

निष्काम-कर्मयोग सम्पूर्ण योगका मूल है

(लेखक—नागोराव बासरकर, एडवोकेट)

आजकल योगकी बहुत चर्चा चारों ओर चल रही है, परंतु जनसाधारण तो 'योग' आसन-प्राणायामकोही समझने लगा है। यह तो वैसा ही है, जैसे सूँड या दन्त या कान इत्यादिको ही हाथी समझा जाय। 'योग' शब्द बहुत व्यापक है। चित्तका एकाग्र करना, जोड़ना, एकत्र करना, कार्यकुशलता, समता आदि उसके अनेक अर्थ हैं। शरीरकी शक्ति, मनकी शक्ति और बुद्धिकी शक्ति—ये मानवप्राणीकी मुख्य शक्तियाँ हैं, मन और बुद्धि भी शरीर-में ही रहते हैं और **'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'**— शरीर, धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्षका साधन है। शरीर पञ्चमहाभूतोंसे बना है। उनमेंसे केवल तीन महाभूत अर्थात् अप, तेज अथवा वायुके प्रमाणमें न्यूनाधिक्यके कारण कफ, पित्त अथवा वातप्रकृति बनती है। उसीके कारण मनुष्य बुद्धिप्रधान, कर्मप्रधान अथवा भावना-प्रधान बन जाता है। परिणामस्वरूप उसे अपनी प्रकृतिके अनुसार अपने इष्ट-साधनके उपायोंमेंसे (और इष्ट साधनका उपाय योग होनेसे) अनुक्रमशः ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग सहजसाध्य और अनुकूल मालूम पड़ता है। योग तो एक ही है, परंतु साधककी इच्छा, प्रवृत्ति या स्वभावके अनुसार योगको ज्ञानयोग, कर्मयोग अथवा भक्तियोगका नाम दिया गया है। इन्हीं सारे अङ्गोंका विचार रखना 'सम्पूर्ण योग' है।

इतना ही नहीं, बल्कि मानव-जीवनके हर शाखामें उन्नतिके लिये अथवा मुक्ति, आत्म-साक्षात्कार या निर्वाण-प्राप्ति इत्यादिका जिन-जिन महापुरुषोंने और दार्शनिकोंने विविध प्रकारके उपाय और साधनोंका विचार किया, उन सबको योग कहा जा सकेगा। उदाहरणार्थ पूर्वमीमांसाको कर्मयोग, वेदान्तको ब्रह्मयोग, सांख्यदर्शनको सांख्य-योग, न्यायको बुद्धियोग, भागवतादि पुराणोंको भक्तियोगका शास्त्र कह सकेंगे। इस बातसे स्पष्ट होता है कि सारे आर्यशास्त्रोंका उद्देश्य सम्पूर्ण योगको बतलाना था, जो प्रत्येक मनुष्यके लिये, चाहे उसकी इष्टसिद्धि ऐहिक हो या पारलौकिक हो, मार्गदर्शक और सहायक बने। परंतु दुर्भाग्यवश कालके साथ-साथ आनेवाले आलस्य-के कारण या तो कुछ लोग साधनका त्याग करके केवल बोलते ही रह गये या उस ओर ध्यान देना ही छोड़ दिये अथवा एक-एक अङ्गको ही भिन्न-भिन्न योग समझकर अन्य अङ्गोंकी उपेक्षा कर गये। आज इस त्रुटिको दूर करना हमारा सर्वप्रथम कर्तव्य बन गया है। यह तो स्पष्ट है कि चाहे साधककी इच्छा किसी इहलौकिक सिद्धिकी हो या मोक्ष इत्यादि पारलौकिक सिद्धिसम्बन्धिनी हो, उसे साधना तो करनी ही पड़ेगी। वही कर्म है। इसी प्रकार भक्तियोग, ज्ञानयोग, राजयोग, हठयोग, लययोग, ध्यानयोग इत्यादिमें मानसिक या बौद्धिक-

धर्म आवश्यक है। अतः यह सिद्ध हुआ कि समस्त साधन-प्रकारोंका मूल धर्म ही है।

[देश तथा धर्मकी तपःस्थितिको ध्यानमें रखकर 'कल्याण'के संचालकोंने इसी कर्मयोगके रहस्यको सभी पाठकोंपर प्रकट करनेके विचारसे इस वर्ष 'निष्काम कर्मयोग' नामका विशेषाङ्क प्रकाशित करनेका निश्चय किया। यह वस्तुतः अत्यन्त योग्य, समयोचित, स्तुत्य और अभिनन्दनीय प्रयास है]

कोई मानव या प्राणी कर्म किये बिना क्षणभर भी नहीं रह सकता, चाहे उसका स्वरूप कर्म, अकर्म या विकर्म—इनमेंसे कोई भी क्यों न हो; **'न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्'** (गीता ३ । ५)। वैसे ही हर अल्पस्वरूप कर्म भी अपना परिणाम या फल दिये बिना नहीं रहता। यह भी सत्य है कि प्रयोजनके बिना कोई अल्प कर्म भी नहीं होता—**'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते'** कर्मकाण्डके नित्य-नैमित्तिक कर्म स्वर्गप्राप्ति या पुण्य-सम्पादनकी इच्छासे किये जाते हैं; परंतु उनसे मोक्ष-प्राप्ति या शाश्वत आनन्दकी प्राप्ति नहीं होती। अतः कर्मयोगका रहस्य यह रहा कि कर्मको निष्कामभावसे अर्थात् केवल ईश्वरार्पणबुद्धिसे किया जाय। यही निष्कामकर्म इहलोक अथवा परलोक-प्राप्ति और मोक्षका सर्वोत्तम साधन हो सकता है। फल-कामना-रहित कर्म ही 'निष्कामकर्म' है।

ऐसे निष्काम-कर्ममें भी उसे ईश्वरार्पण करके मोक्ष-प्राप्तिकी इच्छा तो होती ही है, फिर उसे निष्काम कैसे कहा जा सकेगा? सुविद्य, सशक्त, तरुण भी भोगैश्वर्यको त्यागकर, ब्रह्मचर्यव्रतको धारण करके, अहोरात्र देश-कल्याण, लोककल्याण, राष्ट्रसेवाके हेतु श्रम करते हैं; उनमें भी कल्याणेच्छारूप हेतु होता ही है। वृद्ध माता-पिताकी सेवा करनेमें, उन्हें आराम पहुँचानेकी इच्छा श्रवणकुमारमें देखी गयी। फिर निष्काम प्रकार शक्य हो सकता है? उद्देश्य तद्विष्ठाके बिना सम्भव नहीं हो सकते और कार्य मन्द भी नहीं करता है। अतः निष्काम बनती है?

इसके समाधानके लिये दो सीढ़ियाँ पड़ेंगी—(१) अपने शरीरका विचार आवश्यक है। संक्षेपमें वह इस प्रकार होगा स्वामीने पञ्चदशीग्रन्थके प्रथम प्रकरण— इसका उपदेश किया है। शरीरके पञ्च पञ्चकर्मेन्द्रियाँ इत्यादि सारे पञ्चक सभी आज्ञा हैं। इन सेवकोंमें अनेक सद्गुण बसे हैं प्रत्येकको केवल अपना ही एक काम करना जिससे उनको स्वयं अपना कोई लाभ उठा आता। अतः वे आपसमें नहीं लड़ सकते मालिक आत्मा एक ही है। उन्हें आदेश आत्माके सिवा कोई अन्य नहीं, मालिकके बतलाये सिवा वे कोई अन्य काम नहीं कर सकते। मिलनेपर इनमें देर करनेकी आदत भी नहीं।

इन सब सद्गुणी सेवकोंके तत्पर रहनेपर भी मालिक (जीवात्मा)को यह शिकायत रहती इच्छानुसार काम नहीं होता। इसका कारण यह आदेश देनेके बाद इन्द्रियोंद्वारा अपना काम पूर्ण व पूर्व ही मालिक उस आदेशको रद्द कर देता, या किसीको उस कामपर लगा देता है। परिणामतः काम इच्छानुरूप नहीं होता। मालिक आत्माको च कि वह अपने-आपको मालिक जानकर, आज्ञा करे उसे न बदले। प्रत्येक काम होकर रहेगा। उसे मालिक हूँ, यह निश्चय रहे।

(२) आत्मा सत्, चित्, आनन्दस्वरूप है। अ सत् होनेके कारण उसे डर नहीं। चित् होनेके कार

लस्य नहीं । आनन्द होनेसे, दुःख नहीं । इसी
ासे कोई वासना या इच्छा न होगी । भविष्यकाल-
। दुःख गतकाल-सम्बन्धी होता है और आलस्य
कालका है । इन तीनोंके भी न होनेके कारण
लातीत है; कोई अन्य वस्तु ही न हो तो चाहेंगे
अतः चित् शक्तिसे जो कोई उसका कार्य होगा
काम है । जिसको कोई चाह नहीं, उसका कार्य
कामका है ही । प्रत्येक जीवात्माका केवल इस
। किया हुआ कर्म—कर्तव्यकर्म, यज्ञकर्म,
रमेश्वर-प्रीत्यर्थकर्म निष्कामकर्म कहा जा सकता
कियोगी अथवा ज्ञानयोगी साधकोंका कर्म भी
परिनिर्दिष्ट निष्कामतासे किया जाता है, तब
भी 'निष्कामकर्मयोग' हो जाता है । इस
की गयी प्रत्येक योग-साधना 'सम्पूर्णयोग' है ।
दिये तलके स्पष्टीकरणार्थ यहाँ एक उदाहरण
ा होगा ।

ाम्बरधारी एक साधु-महात्मा, काषाय वस्त्र इत्यादि
किये हुए बड़े जोर-जोरसे 'अहं ब्रह्मास्मि,
ह्मास्मि' कहते हुए जङ्गलकी ओर जा रहे थे ।
जङ्गलकी ओरसे एक किसान, जो अगोचरीमुद्राका
ो वेष-भूषासे सामान्य जन-जैसा दिखायी देनेवाला)
ोगी पुरुष था, खेतमें काम करके अपनी बैलगाड़ीमें
जा रहा था । उस गाड़ीवानने जङ्गलमें रास्तेपर
क सोनेकी अशरफी देखी; परंतु उसने देखनेपर
उसे नहीं उठाया, आगे गाड़ी बढ़ा दी ।
ाते जब साधुजीकी 'अहं ब्रह्मास्मि' की रट सुनी
े विचार आया, ब्रह्मको 'मैं ब्रह्म हूँ'—कहनेकी
जरूरत है ! तब किसानने भी 'अहं गाड़ीवान
, अहं गाड़ीवान अस्मि' ऐसा कहना आरम्भ कर
। यह सुनकर साधुजीको आश्चर्य हुआ । समीप
आनेपर साधुने कहा—'ओ गँवार ! तू गाड़ीवान तो है ही,
फिर ऐसा क्यों पुकारता है !' किसानने उसे उत्तर
दिया—'तू स्वयं ब्रह्म है तो 'अहं ब्रह्मास्मि'का जप,
करना निरर्थक नहीं तो और क्या है !'

साधुजी कुछ सँभले और 'अहं ब्रह्मास्मि' कहना
छोड़कर दूसरे महावाक्य 'तत्त्वमसि' कहते हुए आगे
बढ़े । गाड़ीवान समझ गया कि उन्हें अभी पूरा ज्ञान
नहीं हुआ है । उसने साधुजीसे कहा—जङ्गलकी ओर
न जाइये, राहमें शेरनी बैठी है । उसे अनसुना करके
साधुजी आगे बढ़े । यह समझकर कि ब्रह्मस्वरूपको
डर किसका ! 'तत्त्वमसि' ।

गाड़ीवानने अपने रास्तेपर आगे बढ़ते हुए सोचा,—
साधुजीको मूलभूत उपदेशकी अभी आवश्यकता है ।
कुछ और आगे बढ़कर उसने गाड़ी-बैल एक वृक्षमें बाँध
दिये । आड़े रास्तेसे आकर तुरंत अशरफीके पास ही एक
झाड़की आड़में छिपकर बैठ गया । थोड़ी देर बाद साधुजी
'तत्त्वमसि' कहते-कहते अशरफीके स्थानपर आ गये ।
अशरफीको देखा । आगे-पीछे देखनेपर कोई मनुष्य न
दिखायी पड़ा । बस, धनकी लालचसे साधु अशरफीको
लेनेका प्रयत्न करने लगे । सहसा वहाँ गाड़ीवान प्रकट
हुआ और बोला—'बाबा ! बाघिन खा गयी !' साधु
ठिठक गये । कहा—'वह कैसे !' उत्तर मिला 'तत्त्वमसि'
वह तो तुम स्वयं ही हो, अपने-आपको क्या लोगे !'

साधुजी निस्तब्ध होकर सहम गये । कुछ देर बाद
वे होश सँभालकर बोले—'क्या इस अशरफीको
किसीको भी नहीं लेना चाहिये !' उत्तरमें गाड़ीवानने
कहा—'क्यों नहीं । इस अशरफीको प्रत्येक वह व्यक्ति ले
सकता है, जो स्वयं अपने लिये न ले रहा हो; बल्कि
प्रभुकार्यार्थ ले रहा हो; यह निष्कामकर्म होगा ।'

कर्मयोगसे पराभक्तिकी प्राप्ति

कर्मयोगका अनुष्ठान किये बिना चित्तशुद्धिका उपाय ा ही प्राप्त नहीं होता । श्रीधरस्वामीने भागवतकी में लिखा है—'अतः सम्यक् चित्तशुद्ध्या ोत्पत्तिपर्यन्तं वर्णाश्रमोचितानि कर्माणि व्यानि । अन्यथा चित्तशुद्ध्यभावेन ज्ञानानुत्पत्ति- ाह, न कर्मणामिति ।……न च चित्तशुद्धि ना दनात् संन्यसनाद् एव ज्ञानशून्यात् सिद्धिं सं समधिगच्छति प्राप्नोति ।' सम्यक् चित्तशुद्धि- रा ज्ञानोत्पत्तिपर्यन्त वर्णाश्रमोचित कर्मोंको अवश्य ना चाहिये; क्योंकि चित्तशुद्धिके बिना ज्ञानकी प्राप्ति ी होती और ज्ञानके बिना मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती— नं तत्साधनं कर्म सत्यत्वं च हि तत्फलम् । फलं ज्ञाननिष्ठेव॥' कर्मयोगका यही प्रधान उद्देश्य है। ज्यपाद आचार्य श्रीशंकर ज्ञानकर्मसमुच्चयको नहीं नते । कुछ आचार्योंने इससे विपरीत देहधारी संसारी योंके लिये कर्मके बिना शरीरयात्राके निर्वाह होनेकी त नहीं मानी । उनकी दृष्टिमें ज्ञानप्राप्तिके पूर्वतक वेद- हित कर्मोंका अनुष्ठान करना मनुष्यके लिये आवश्यक । इससे चित्तशुद्धि होती है । अतएव ज्ञान और क्तिकी प्राप्तिके लिये कर्मयोग साक्षात् कारण न होते ए भी गौण कारणके रूपमें अवश्य ही स्वीकार किया ा सकता है ।

परंतु एकमात्र कर्मयोगका आश्रय लेकर ही सारे ीवनको बिता देना वेदका उद्देश्य नहीं है । वेदान्त- ास्त्रने मोक्ष या भगवत्प्राप्तिका भी उपदेश दिया है था भगवत्प्राप्तिको ही जीवका वास्तविक उद्देश्य निश्चय िया है । गीताशास्त्रमें इन तीनों मार्गोंका अति सुन्दर मन्वय किया गया है और अन्तमें पराभक्तिकी प्रशंसा ी गयी है—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥
(१८ । ५४-५५)

'ब्रह्मभावमें स्थित प्रसन्नात्मा पुरुष किसी विषयके लिये शोक नहीं करता तथा किसी विषयकी आकाङ्क्षा भी नहीं करता । सब प्राणियोंमें वह एक भाव रखता है । तत्पश्चात् वह मेरी परा भक्तिको प्राप्त करता है । पराभक्तिके द्वारा मैं (परमात्मा) किस प्रकारका हूँ तथा मेरा यथार्थ स्वरूप क्या है, इस विषयमें तत्त्वपूर्वक पूर्णरूपसे जान लेता है । इस प्रकारतत्त्वतः मुझको जानकर अन्तमें वह मुझमें ही प्रविष्ट होता है ।'

पराभक्तिकी प्राप्तिके पहले सब प्रकारकी विषय- वासनासे चित्तको विशुद्ध करना होगा । पातञ्जलयोगदर्शन- में जो प्रकृतिसे पुरुषकी पूर्णरूपेण असङ्गताकी प्राप्तिका उपदेश दिया गया है, भगवद्गीतामें वही सांख्यज्ञानके उपदेशके रूपमें कहा गया है । इसके द्वारा चित्त जन्म-जन्मान्तरके संस्कारोंसे विच्छिन्न हो जाता है । इस अवस्थाके पश्चात् जो आनन्दकी प्राप्ति होती है, वही वेदान्तका मोक्ष है । इसी अवस्थाको हम ब्रह्मभूता वस्था कह सकते हैं । ज्ञानयोगकी साधनाकी यह चरमावस्था है । परंतु भक्तोंकी साधनाका अन्त यहाँ नहीं होता । इस समदर्शन और ब्रह्मदर्शनके बाद उनकी श्रीभगवान्‌में पराभक्तिका आरम्भ होता है । इस पराभक्तिकी प्राप्तिका फल होता है—साक्षात् भगवत्प्राप्ति । श्रीभगवान् केवल आनन्दमय, प्रेममय और रसमय हैं, इसकी अनुभूति पराभक्तिके साधकको ही प्राप्त होती है । तैत्तिरीय उपनिषद्‌में कहा गया है—'आनन्दं ब्रह्म' । 'आनन्दं ब्रह्म ।' फिर सबके अन्तमें कहा गया है— 'रसो वै सः । 'रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दीभवति ।' अतएव रस-ब्रह्मकी अनुभूति ही मनुष्यकी साधनाका

[illegible]

निष्काम-कर्मकी सार्थकता

(लेखक—पण्डित श्री[illegible] शास्त्री)

संसारमें जितने भी प्राणी उत्पन्न होते हैं, उन सबका जन्म स्वकर्मानुसार ही होकर कर्म करनेके लिये होता है। कृतनाश (किये गये कर्मोंका नाश) तथा अकृताभ्यागम (नहीं किये गये कर्मोंके फलकी प्रसक्ति) दोष न हों; अतः कर्मफल, पुनर्जन्म आदि अवश्यमेव मान्य हैं। कुछ जीव तो इस संसारमें ही इस योनिसे उस योनिमें जन्म लेकर विविध कर्मोंके फलोंका उपभोग करते रहते हैं। वे—'योनिमन्येऽनुसंयान्ति यथा कर्म यथाश्रुतम्'के अनुसार 'यथा कर्म यथा-श्रुत' कर्मजनित वासनाओंके अनुसार यहीं ही विविध योनियोंमें विचरते हैं। अन्य कुछ जीव कर्मफल-भोगार्थ नीच योनियोंमें आकर भी क्रमशः स्वकर्मानुसार शनैः-शनैः उन्नत योनियोंमें चढ़ते चले जाते हैं। इस प्रकार वे अपने, दूषित कर्मोंका उपभोगकर क्रमशः मनुष्य-योनिमें भी पहुँच जाते हैं। पर मनुष्ययोनि कर्मयोनि है। श्वान्, शूकर, कीट, मर्कटादिकी भाँति यह केवल भोगयोनि मात्र नहीं है। मनुष्यको कर्मानुष्ठानका विशेष अधिकार है। मनुष्य यदि अपने शास्त्र-विहित कर्मोंका यथाविधि अधिकारके अनुसार अनुष्ठान करता है तो अवश्यमेव भगवत्प्राप्तिके मार्गका अधिकारी बन क्रमशः उन्हें प्राप्तकर कृतार्थ हो जाता है। [illegible] रचना मनुष्योंको लेकर ही है। पशु [illegible] करते हैं। उन्हें शास्त्र नियन्त्रित नहीं करता।

अपने अधिकारके अनुसार मनुष्य ही उनमें अधिकृत है—'मनुष्याधिकारत्वाच्छास्त्रस्य'। कर्मविधि फलोंका विधान मनुष्ययोनिको लेकर ही निर्णीत होता है। मनुष्य-योनिको छोड़कर सारी योनियाँ भोग-योनियाँ ही हैं। उनके लिये शास्त्र विधि-निषेध नहीं करते।

मनुष्ययोनि ही कर्मयोनि है। धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप, सदाचार-दुराचार, दण्ड आदिका विधान मनुष्य-योनिको लेकर ही है। शासनका विधान मनुष्यके कर्मोंको लेकर ही है। इन सब बातोंको लेकर ही मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र है। केवल उसके वास्तविक कल्याणके लिये शास्त्र उसे नियम-नियन्त्रित करता है। शास्त्रानुसार मनुष्यके लिये विहित कर्म ही उसके कल्याणकारक हैं, स्वेच्छया किये गये कर्म नहीं। कर्मोंके न करनेसे

कर्मता नहीं आती—'**न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।**' (गीता ३ । ४) और गभर कभी कोई भी मनुष्य बिना कर्मके स्थित नहीं ता। प्राकृत गुण स्वयमेव उसे विवश कर कर्मोंमें प्रवृत्त रा देते हैं।

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥
(गीता ३ । ५)

जैसे पक्षीको पक्ष स्वयं ही छोड़ देते हैं, पक्षी नहीं; जैसे केंचुल स्वयं सर्पसे छूट जाती है, सर्प उसे नहीं छोड़ता है, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुषके कर्म स्वयमेव छूट जाते हैं—'**न कर्माणि त्यजेद् योगी कर्मभिः त्यज्यते ह्यसौ।**' कर्म बन्धनकारक तभी होता है, जब उसमें आसक्ति एवं फलानुसंधान हो। आसक्ति और फलाशासे रहित कृत-कर्म निर्विष सर्पकी भाँति साधककी साधनामें विघातक न बनकर उसकी अन्तःशुद्धि कर शीघ्र ही उसमें भगवत्-प्राप्तिकी योग्यता ला देता है। अतः कर्म करनेकी दशामें मनुष्यको सदा सावधान रहना चाहिये। मनुष्य स्ववर्णानुसार अपने अधिकारके अनुसार आसक्तिरहित होकर वेद-शास्त्रोक्त कर्मका आचरण करता हुआ उसे ईश्वरमें अर्पित कर निष्कर्मता-सिद्धि पा लेता है। पुनः उसका जीवन कृतकृत्य हो जाता है। कर्मोंकी फलश्रुति तो केवल मनुष्योंको फल-श्रवणसे कर्मोंकी ओर प्रवृत्त करनेके लिये है, आकर्षित करनेके लिये है—

वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसङ्गोऽर्पितमीश्वरे।
नैष्कर्म्यां लभते सिद्धिं रोचनार्था फलश्रुतिः॥
(श्रीमद्भा० ११ । ३ । ४६)

अतः कर्म करते हुए आसक्ति और फलाशाका निःशेषतया परित्याग करना आत्म-कल्याणके लिये परमावश्यक है। इस प्रकार निष्काम होकर कर्मानुष्ठानसे मानवका मानस विशुद्ध होकर भगवत्प्राप्तिकी परमता पा जाता है। पुनः वह काम-क्रोधादि द्वन्द्वोंसे हटकर भगवत्कृपा-प्राप्तिकी योग्यता पा लेता है। भगवत्प्रीत्यर्थ क्रियमाण कर्म उसकी अन्तःशुद्धिकर भगवत्प्राप्तिके हेतु बन जाते हैं। इस प्रकार मानव-जन्मकी सफलता निश्चित है।

श्रीभगवान्‌का निरन्तर स्मरण करते हुए स्वकर्तव्य पालनमें दृढ़ रहना चाहिये—'**मामनुस्मर युध्य च।**' भगवदादेशका पालन उचित कर्तव्य है। सुतरां इससे निष्कामता आ जाती है जो कर्म-बन्धनसे मानवको अलगकर कल्याण प्रदान करती है।

सुख-शान्तिका परम रहस्य—निष्कामकर्म

(लेखक—डॉ० श्रीलक्ष्मीप्रसादजी दीक्षित वैज्ञानिक)

सुखकी लालसामें सुखाभास—प्रत्येक मनुष्यकी यह परम आकाङ्क्षा होती है कि वह सदा सुखी बना रहे। वह अपने विचारसे वही कर्म करता है, जिससे उसे परोक्ष या प्रत्यक्षमें सुख-प्राप्तिकी सम्भावना होती है। धनके संचयमें लोभीको, विषय-भोगमें कामीको और अन्य लोगोंकी अपेक्षा अपनी प्रभुताके दर्शनमें अहङ्कारीको सुखका आभास होता है और इसीको वह सुख समझता है। यह अनुभूति या आभास अत्यन्त अल्पावधिका होता है। यह सुखानुभूति विद्युत्-चमकके समान न जाने कहाँ तुरत विलीन हो जाती है। मनुष्य पुनः उसे पानेकी चेष्टामें तत्पर हो जाता है। इसी मृग-तृष्णा-रूपी सुख-शान्ति-प्राप्तिके प्रयासमें वह अपने जीवनको निःशेष कर डालता है। लेकिन उसे वाञ्छित सुखका लाभ कभी होता ही नहीं। हो भी तो कैसे? संसार द्वन्द्वोंसे निर्मित है। अतः जहाँ सुख दिखायी पड़ता है वहाँ उसका सहोदर दुःख भी है। दुःखरहित सुख इस संसारमें केवल कल्पनामात्र है, वास्तविकता नहीं। अधिकतर व्यक्तियोंको इस तथ्यका ज्ञान आजीवन होता ही

नहीं है। मायमें अभाव और अभावमें भाव देखना ही तो वास्तविक दृष्टि-दोष है। यही है—योगेश्वरकी योगमायाका प्रभाव। उसी मायाका परिवार संसारमें सर्वत्र है—

> ब्यापि रहेउ संसार महुँ माया कटक प्रचंड।
> सेनापति कामादि भट दंभ कपट पाषंड॥
> (मानस ७। ७१ क)

सुख कहाँ है ?—जैसा कि हम सभीका अनुभव है, मनुष्य स्पर्शादि इन्द्रियभोगों तथा कामादि मानसिक विकारोंकी क्षणिक पूर्तिको ही सुख समझता है। वह इन सुखके क्षणोंको अगणित कर सदा सुखी बनना चाहता है। परंतु यह उसकी भूल है। सुख विषयोंमें है ही नहीं। उसके स्थायित्वकी बात तो फिर और ही व्यर्थ है।

आधुनिक संस्कृति भौतिकवादी है। सुखकी अपनी अवधारणाके अनुसार आधुनिक व्यक्ति भौतिक-सम्पन्नता तथा इन्द्रिय-विषयभोगोंमें ही सुखको खोज रहा है। अभीतक उसे वह मिला नहीं। शायद, मिलेगा भी नहीं। एक उदाहरण लीजिये। अमरीका सबसे अधिक सम्पन्न देश है। वहाँ प्रायः प्रत्येक भौतिकी सुविधाप्राप्त है। परंतु वह फिर भी अभावका अनुभव कर अशान्त है। कैसी विडम्बना है। उसका विज्ञान एक ओर परमाणुबिजली दे रहा है तो दूसरी ओर उसने परमाणु-बम देकर व्यक्तिको अहर्निश चिन्तित कर दिया है। फिर शान्ति है कहाँ ? सुख तो शान्तिसे ही मिलता है।

सुख और शान्ति प्रपञ्चमें नहीं है—यह विवेकी तथा आत्मज्ञ संतोंका अनुभव है। स्वयं भगवान् शंकर कहते हैं—मैं अनुभवसे कहता हूँ कि भगवद्भजन ही सत्य है, जगत् तो स्वप्नवत् है—असत्य है—

> उमा कहउँ मैं अनुभव अपना।
> सत हरि भजन जगत सब सपना॥

जिस जगत्‌का अपना कोई अस्तित्व ही नहीं है, जो मात्र प्रतीति है, उसमें क्या सुखकी प्राप्ति हो सकती है ? कदापि नहीं; क्योंकि संसारका प्र[...] व्यक्ति भी चिन्तित पाया जाता है। [...] भय घेरे रहते हैं। यह जगत् काम, क्रोध, म[...] ही धाम है। ये ही मायाके महान् अस्त्र हैं[...] ये ही मनुष्यके वास्तविक शत्रु हैं। इन्होंने [...] शान्तिको छीन लिया है। प्रातःस्मरणीय श्रीगु[...] इसी तथ्यको अपने श्रीरामचरितमानस (५। [...] प्रतिध्वनित करते हैं—

> काम क्रोध मद लोभ सब नाथ नरक के पंथ।
> सब परिहरि रघुबीरहि भजहु भजहिं जेहि संत।

सत्यके दर्शनमें ही सुख-शान्ति निहित है। ज[ब] [...] मनुष्य 'सत्यकी प्रतीति' को सत्य समझता रहे[गा] [...] वह दुःखी बना रहेगा। व्यक्तिके चारों ओर [...] प्रपञ्च उसके मनमें जबरदस्ती घुस जाता है [...] तो उसकी सहायक ही हैं; क्योंकि वे स्वभाव[...] हैं। प्रपञ्च उन्हींके सहयोगसे मनतक आसा[नीसे पहुँच] जाता है। मनमें पहुँचते ही वह उसे विक[ारोंकी] तरङ्गोंसे तरंगित कर देता है। फिर व्यक्ति[...] कैसी और शान्तिके अभावमें सुख कहाँ। जीव [...] ही सुखकी खान है। इसका प्रमाण मानस तथा [...] सद्ग्रन्थोंमें उपलब्ध है—

> ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरा[सी॥]

फिर यह दुःखी क्यों ? जैसा कि हम ऊपर [कह] चुके हैं, इसकी शान्ति तथा सुखको प्रपञ्चने [...] डाल दिया है। प्रपञ्चने इसमें मल, मृत्युभय और ज[...] आदि विपरीत गुणोंका आरोपण कर दिया है। [...] छुटकारा पानेके लिये ही वह तड़प रहा है। इस[...] मानस—(१। ११६। ५-६)में प्रमाण देखिये।

> जब ते जीव भयउ संसारी। छूट न ग्रंथि न होइ सुखारी॥
> श्रुति पुरान बहु कहेउ उपाई। छूट न अधिक अधिक अरुझाई॥

इस छूटी उलझी ग्रन्थिको सुलझानेका परम रहस्य है निष्काम बनना। इस रहस्यको समझना कठिन नहीं है।

...ोंमें इसे बताना अत्यधिक कठिन है। निष्काम ...र हम शाहनशाह बन जाते हैं—

...ह गई चिंता मिटी मनुआ बेपरवाह।
...को कछू न चाहिए वे शाहन के शाह॥

...ये इन्द्रियोंको विषयरूपी रिश्वत देकर मनको ...रतन्त्रतामें जकड़े रहता है। जीवके वास्तविक ...हैं—काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह और मत्सर। ...पी जलाशयमें वृत्तियाँरूपी असंख्य लहरें अनवरत ..., जीवको अशान्त किये रहते हैं। कामादि ...के रहते व्यक्ति कभी सुखी नहीं हो सकता। मानस (५। १६)का साक्ष्य—

...गे कुशल न जीव कहुँ सपनेहुँ मन बिश्राम।
...गे भजत न राम कहुँ सोक धाम तजि काम॥

...तो जड़ताकी ओर ले जायगी। कर्म ही मनुष्यको बन्धनमें बाँधते हैं। फिर व्यक्ति कैसे बन्धनमुक्त हो सकता है? यही समस्या जीवके सामने है। संतोंने अनेक उपाय बताये हैं, किंतु इन सबकी जड़ है निष्काम कर्म करना। निष्काम कर्म यथार्थके दर्शनान्तर स्वतः होने लगते हैं। किंतु सभीके लिये सत्यका ज्ञान अत्यन्त कठिन है। निश्छल मनसे प्रभुके चरणोंमें समर्पण भी नहीं होता है। जीव अपनी निशानी भी नहीं खोना चाहता। इन सभी बातोंको ध्यानमें रखकर भगवान् कृष्णने गीता-(२। ४७)में व्यक्तिको अनासक्त होकर कर्म करनेको कहा है—'तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।' कर्मफलसे अनासक्त रहकर कर्तव्यकर्म करना ही मानवका अधिकार है। व्यक्तिके हाथमें फल रहता भी नहीं है। अतः फलासक्तिका त्याग कर देना

आसक्ति तथा संस्कार—आसक्ति आत्मको दूषित करनेवाला भयानक है। आसक्ति [illegible] अशान्तिका प्रमुख कारण है। आसक्ति [illegible] ही करती है। विचारनेसे ज्ञात होता है कि आसक्ति स्वभावसे बहिर्मुख है। यह अपनी इन्द्रियों और मनके क्रमशः बाह्य तथा आन्तर विषयोंके सम्पर्कमें आता है। यह सम्पर्क व्यक्तिको विषयोंके प्रति आसक्ति विरक्ति या उदासीन कर देता है। फलतः वह राग-द्वेषका शिकार हो जाता है और न चाहते हुए भी वस्तुकी राग-द्वेषकी अदृश्य रस्सीसे बँध जाता है। प्रिय वस्तुको सदैव अपना बनाये रखनेके लिये वह अनेक योजनाएँ बनाने लगता है। एकके बाद दूसरी, फिर तीसरी कल्पनाका जन्म होने लगता है। मन इन कामनाओंसे अतिशय आन्दोलित हो उठता है। उसकी शान्ति भङ्ग हो जाती है। ऐसा ही क्रम अप्रिय वस्तु या व्यक्तिसे उत्पन्न होता है। संक्षेपमें—राग तथा द्वेष दोनों ही अनन्त कामनाओंको जन्म देकर जीवको प्रपञ्च-पचड़ेमें डाल देते हैं। व्यक्तिका सहज सुख कर्पूरकी भाँति कामनाओंके झंझावातके साथ ही उड़ जाता है। काम व्यक्तिके अन्य बलवान् शत्रुओंको भी बुला लेता है।

भगवान् श्रीकृष्णने गीता-(२ । ६२)में इस तारतम्यका बड़ा ही सुन्दर निरूपण किया है। विषयोंका चिन्तन करनेवाले पुरुषकी उन विषयोंमें आसक्ति हो जाती है और आसक्तिसे कामना उत्पन्न होती है। कामना-(में विघ्न पड़ने-)से क्रोध उत्पन्न होता है।' संसारमें रहकर विषयोंसे सम्पर्क न हो, यह सम्भव नहीं। कोई कर्म ही न करे, यह भी असम्भव है। अतः बुद्धि-चातुर्य इसीमें है कि कर्म भी करे, विषयभोग भी करे, फिर भी कर्म-बन्धनमें न पड़े। हम अनासक्त बने रहें। तात्पर्य यह कि हम निष्काम कर्मयोगी बनें। यही मार्ग श्रीकृष्णने-(गीता २। ४८ में) सुझाया है—

हे अर्जुन ! आसक्तिको [illegible]
[illegible] दुर्लभ होता है [illegible]
[illegible] । यह [illegible]

आसक्तिको छुड़ाना [illegible] परोपकार करना। दूसरोंकी सेवा करने [illegible] —दोनोंमें आसक्ति करने लगे। [illegible] सारे भगवान्‌का कार्य समझकर करे तो फल भी भगवान्‌को ही अर्पण होगा। इस [illegible] उसीको परमार्थ है—ऐसा मन निष्कामकर्म करनेसे ही सफल सिद्ध होता है। स्वार्थ ही तो सबसे बड़ा कारण है। स्वार्थको समूल नष्ट करनेमें सेवा कारगर सिद्ध हुआ है। यही कारण है कि [illegible] परहितको श्रेष्ठ धर्म कहा है—

परहित सरिस धरम नहिं भाई। परपीड़ा सम नहिं [illegible]

चित्तशुद्धि तथा परमशान्ति

समाजकी सुख-शान्ति उसकी इकाई व्यक्ति [illegible] व्यक्तिकी सुख-शान्ति उसके मनपर निर्भर करती है। मनमें काम, क्रोध, लोभ, मोहादि विकार भरे हैं। ये व्यक्तिको शान्त नहीं रहने देते हैं। जबतक ये [illegible] निवास करेंगे, तबतक जीव स्वप्नमें भी सुखी नहीं [illegible] सकता—यह हमारे ऋषियोंका स्पष्ट घोषणा। इनको मनसे निकालनेका उपाय है—निष्कामकर्म करना। इन कामादि विकारोंका मनमें अभाव होना ही मनकी पवित्रता है, इसीको चित्तशुद्धि भी कहते हैं। पवित्र मन ही स्थिर रह सकता है, पवित्र मन ही सुख और शान्तिका दाता है।

सकामकर्म चित्तमें संस्कारके रूपमें संचित हो जाता है। ये संस्कार ही व्यक्तिको अच्छे या बुरे कर्मोंमें प्रवृत्त कराते हैं। बाह्य विषयोंके अभावमें भी विचार-श्रृङ्खलाका समाप्त न होना, अन्यान्य विचारोंकी स्फुरणाका अबाधगतिसे होते रहना आदि [illegible]

…का कार्य है। स्वप्नकी घटनाओंका सम्बन्ध भी …स्कारोंसे है। अतः जबतक ये संस्कार मनमें …रही हैं, तबतक व्यक्ति स्वतन्त्र नहीं हो सकता …र, फिर सुख-शान्ति नहीं मिल सकती है। …को सुख कहाँ—

'पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं'

…ह आप्तपुरुषोंका वचन है। व्यवहारमें भी ऐसा ही …को मिलता है। संस्कार व्यक्तिको बलपूर्वक उन … लगा देते हैं जिनको वह करना भी नहीं …ा है। अतः संस्कारोंसे मुक्ति पाना परमावश्यक है। …निष्काम कर्मोंसे ही सम्भव है। कामादि विकारोंको परिष्कृत कर दिया जाय, उन्हें धर्म्य बना दिया जाय … शत्रु न रहकर मित्र बन जाते हैं। निष्काममावसे …कार करते रहनेसे मन हल्का तथा पवित्र होने … है। उसकी शक्ति विकसित होने लगती है। जब …की सेवामें सुखकी अनुभूति होने लगे, तब समझना …सीसे सेवाके …म-भाव है।

लिये प्रेरित करती है। अतः बिना फलेच्छाके कर्मका सम्पादन सम्भव नहीं है। कुछ लोगोंका कहना है कि जब कर्म-फल-प्राप्तिसे मतलब ही नहीं है तब कर्म करनेकी आवश्यकता ही क्या है? अन्य निष्काम कर्मका अर्थ प्रयोजनरहित कर्म मानते हैं। ये प्रश्न विचारणीय हैं और तर्क-संगत भी हैं। केवल दृष्टिकोणमें भूल है। निष्कामकर्मका भी प्रयोजन होता है, उसमें भी फलेच्छा प्रेरणादायिका होती है, किंतु सकाम कर्मके समान कर्मफलमें आसक्ति नहीं होती और कामना उदात्त होती है; क्योंकि स्वार्थरहित होती है। अतः सकाम तथा निष्काम कर्मोंमें बड़ा ही सूक्ष्म अन्तर है। सकाम कर्मोंमें व्यक्ति स्वयं केन्द्र होता है, जबकि निष्काम कर्मोंकी धुरी विश्व-व्यवस्था होती है। सकाम कर्मका फल कर्ता स्वयं चाहता है, निष्काम कर्मका फल प्रायः दूसरोंकी सेवा या परमात्माके चरणोंमें समर्पित किया जाता है। अतः सकाम तथा निष्काम कर्मोंमें दृष्टि-कोणका महान् अन्तर है। निष्काम कर्मके प्रेरक तत्त्व हैं—लोकसंग्रह, प्रभुप्रीति और स्वकर्तव्य-पालनकी कर्तव्यनिष्ठा। ये अपने आपमें पूर्ण हैं। ये तत्त्व कामनाके

आधुनिक विश्वने जिस भौतिक सम्पन्नताको जुटानेमें जीवन गँवा दिया, वही मुँह बाये उसे खानेको खड़ी है। यह दुर्दशा कर्मफलासक्तिका ही कुफल है। अधिकारी अपने अधिकारोंका दुरुपयोग करनेमें ही अपनी बुद्धिमत्ता समझता है; व्यापारी ग्राहकको चूस लेनेमें ही अपनी सफलता मानता है, राजनीतिज्ञ मात्र नारोंको ही सुनीति मानने लगे हैं। धार्मिक दम्भ तथा पाखण्डकी आड़में शिकार खेलनेको ही धर्म-प्रवीणता मानने लगे हैं। ऐसी अधम बुद्धिका कारण है निष्काम कर्मका अभाव। हमें शरीर, वाणी और मन प्रभुसे प्राप्त हुए हैं। इनको उन्हींकी सेवामें लगाना चाहिये। यही निष्कामभावकी सच्ची निष्ठा है। यह विश्व प्रभुका विराट् अथवा द्वितीय सगुण रूप है। तभी तो मानसमें महात्मा तुलसीदासने उसे दोनों हाथ जोड़कर प्रेमसे प्रणाम किया है—

सीयराम मय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥

प्रभु-प्रदत्त शक्ति तथा उपकरणोंका उपयोग हमें परोपकारार्थ ही करना चाहिये। वैसे ऐसे प्रयासोंके प्रति [illegible] जागरूकता अवश्य है, पर निष्कामकर्मोंके [illegible] कारण उसकी योजनाएँ सफल नहीं हो [illegible] काटनेसे भी समाप्त होते नहीं दीखते। उन्हें तो [illegible] मिल जायँगे, उसे वरदान देनेवाले अनेक 'शिव' [illegible] हैं। अतः इस अनर्थकारी रावणको मारनेके लिये [illegible] अमृतसे पूर्ण नाभिको बेधना होगा। इन अनर्थोंका [illegible] कारण है व्यक्तिकी फलेच्छापर आसक्ति। वह फल [illegible] करेगा ही, चाहे उसे कोई भी मार्ग अपनाना पड़े। [illegible] समाजसे इन जघन्य बुराइयोंका सफाया करनेके लिये निष्काम कर्मके रहस्यको व्यक्ति-व्यक्तिके मनमें बैठाना होगा; तभी समाजका शुद्धिकरण होगा, समाजपर सुख-चैनकी वर्षा होगी। स्मरण रहे—निष्काम कर्मके [illegible] अभावमें कोई भी नीति सफल नहीं हो सकती।

आजकल कुछ ऐसी घटनाएँ घट रही हैं, जिनमें [illegible] कार्यकी पराकाष्ठाका दर्शन होता है। दाम्पत्य-जीवनकी पाश्चात्य अवधारणा है कि विवाह एक समझौता है। [illegible] भारतीय अवधारणा है कि यह दो आत्माओंका सम्मिलन है। कितना अन्तर है इन दृष्टिकोणोंमें। यही कारण है कि भारतने सीता, सावित्री-जैसी महान् पवित्र नारियाँ उत्पन्न की हैं। आधुनिक अवधारणाका [illegible] है और भारतीयका [illegible]

निष्काम-कर्म-विवेचन

(लेखक—श्रीशिवनाथजी दूबे, एम्० काम०, एम्० ए०, साहित्यरत्न)

कर्म प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फल चाखा॥

[जग]त्में रहनेवाला कोई भी व्यक्ति बिना कर्म [किये न]हीं रह सकता। भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको [उपदेश] करते हुए गीता (३। ५)में कहा है—

[न हि] कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
[कार्यते] ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥

[कर्]मोंका स्वरूपसे त्याग सम्भव नहीं; क्योंकि कोई [भी व्यक्ति] किसी कालमें क्षणमात्र भी जागते-सोते, [खाने-पी]ने-जैसे साधारण कर्मोंके किये बिना कैसे रह [सकता] है? सभी व्यक्ति प्रकृतिसे उत्पन्न हुए गुणोंद्वारा [विवश हुए] कर्म करते रहते हैं।' इस कर्मक्षेत्रमें सृष्टिके [...] भी कर्म करनेमें निरन्तर संलग्न हैं—यद्यपि वे [...]मि एवं कर्मभूमि-क्षेत्र भारतसे बाहर हैं। इसी [...] परमात्मा भी रजोगुणका आश्रय कर ब्रह्माके रूपमें [सृ]ष्टिकी उत्पत्तिमें, सद्गुणका आश्रयकर विष्णुके रूपमें [...] संरक्षणमें एवं तमोगुणका आश्रयकर रुद्रके रूपमें [...] संहारमें संलग्न हैं। इसीसे संसारमें सदैव जन्मस्थिति [...] विनाश होते रहते हैं (भाग० ११। ४। ५)।

[...] शास्त्रोंमें कर्म तीन प्रकारके कहे गये हैं—प्रारब्ध, [संचि]त एवं क्रियमाण। पूर्वजन्मोंमें किये हुए कर्मोंको [प्रार]ब्ध कर्म कहा जाता है। इन्हींके फलस्वरूप मानवके [...]

प्रारब्ध कर्म ही प्रधान है। 'विगत जन्मोंसे संचित कर्म, जिनका भोग अभीतक आरम्भ ही नहीं हुआ है, ऐसे कर्मोंको सञ्चित कर्म कहते हैं। मनुष्यको तत्त्व-ज्ञान (ब्रह्मज्ञान)की उपलब्धि हो जानेपर उसके संचित कर्मों—पुण्यों एवं सभी पापोंका नाश हो जाता है। ध्यानमें अवस्थित मन कर्ममयी वासनाको धीरे-धीरे त्याग देता है (श्रीमद्भा० ११। ९। १२)। इस प्रकार उपासना-ध्यान और ज्ञान-विज्ञानसे सञ्चित कर्म विनष्ट हो जाते हैं और उन्हें बिना भोगे ही मिटाया जा सकता है; पर प्रारब्ध कर्म बिना भोगे मिटाये नहीं जा सकते।

उपलब्ध देहसे जो कर्म सम्पादित किये जाते हैं, उनको क्रियमाण कर्म कहते हैं। फल प्राप्त करनेकी इच्छासे किये जानेवाले कर्म अगले जन्मकी देहके लिये प्रारब्ध कर्म तथा संचित कर्म होते हैं। इस प्रकार जीव कर्मोंके चक्करमें पड़कर आवागमनके बन्धनसे छुटकारा नहीं पाता है। जन्मके पश्चात् मृत्यु और मृत्युके पश्चात् जन्मका क्रम निरन्तर चलता रहता है। जीव अपनी ही देहसे कृतकर्मोंके अधीन जन्म और मृत्युको प्राप्त होता है। उत्तम कर्म करनेवाला उत्तम योनियों एवं अशुभ [...]ोनिको प्राप्त होता है।

आधुनिक विश्वने जिस भौतिक सम्पन्नताको जुटानेमें जीवन गँवा दिया, वही मुँह बाये उसे खानेको खड़ी है। यह दुर्दशा कर्मफलासक्तिका ही कुफल है। अधिकारी अपने अधिकारोंका दुरुपयोग करनेमें ही अपनी बुद्धिमत्ता समझता है; व्यापारी ग्राहकोंको चूस लेनेमें ही अपनी सफलता मानता है, राजनीतिज्ञ मात्र नारोंको ही सुनीति मानने लगे हैं। धार्मिक दम्भ तथा पाखण्डकी आड़में शिकार खेलनेको ही धर्म-प्रवीणता मानने लगे हैं। ऐसी अधम बुद्धिका कारण है निष्काम कर्मका अभाव। हमें शरीर, वाणी और मन प्रभुसे प्राप्त हुए हैं। इनको उन्हींकी सेवामें लगाना चाहिये। यही निष्कामभावकी सच्ची निष्ठा है। यह विश्व प्रभुका विराट् अथवा द्वितीय सगुण रूप है। तभी तो मानसमें महात्मा तुलसीदासने उसे दोनों हाथ जोड़कर प्रेमसे प्रणाम किया है—

सीयराम मय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥

प्रभु-प्रदत्त शक्ति तथा उपकरणोंका उपयोग हमें परोपकारार्थ ही करना चाहिये। वैसे ऐसे प्रयासोंके प्रति समाजमें जागरूकता अवश्य है, पर निष्कामकर्ममें निष्ठाभावके कारण उसकी योजनाएँ सफल नहीं हो पाती हैं। जन-सेवा, दैन्यदूरीकरण, सद्गुण-प्रसार-प्रचारके आकर्षक नारे गुञ्जित हो रहे हैं। किंतु निष्काम कर्म इनमें नहीं दीखता। फिर यह विडम्बना नहीं तो और क्या है!

मुद्रास्फीति, खाद्य पदार्थोंमें अखाद्य वस्तुओंकी मिलावट, कालाबाजारी, जमाखोरी, जीवनोपयोगी वस्तुओंका कृत्रिम अभाव आदि अनेकानेक समस्याओंसे निपटनेके लिये बाह्य कारणोंपर तो कुठाराघात किया जा रहा है, परंतु दसों दिशाओंमें व्याप्त ये रावणके सिर काटनेसे भी समाप्त होते नहीं दीखते। उसे तो सिर पुनः मिल जायँगे, उसे वरदान देनेवाले अनेक 'शिव' आगरूक हैं। अतः इस अनर्थकारी रावणको मारनेके लिये उसकी अमृतसे पूर्ण नाभिको बेधना होगा। इन अनर्थोंका मूल कारण है व्यक्तिकी फलेच्छापर आसक्ति। वह फल प्राप्त करेगा ही, चाहे उसे कोई भी मार्ग अपनाना पड़े। अतः समाजसे इन जघन्य बुराइयोंका सफाया करनेके लिये निष्काम कर्मके रहस्यको व्यक्ति-व्यक्तिके मनमें बैठाना होगा, तभी समाजका शुद्धिकरण होगा, समाजपर सुख-चैनकी वर्षा होगी। स्मरण रहे—निष्काम कर्ममें निष्ठाके अभावमें कोई भी नीति सफल नहीं हो सकती।

आजकल कुछ ऐसी घटनाएँ घट रही हैं, जिनमें स्वार्थकी पराकाष्ठाका दर्शन होता है। दाम्पत्य-जीवनकी पाश्चात्य अवधारणा है कि विवाह एक समझौता है। भारतीय अवधारणा है कि यह दो आत्माओंका सम्मिलन है। कितना अन्तर है इन दृष्टिकोणोंमें। यही कारण है कि भारतने सीता, सावित्री-जैसी महान् पवित्र नारियाँ उत्पन्न की हैं। आधुनिक अवधारणाका मूल सकामभाव है और भारतीयका निष्कामभाव। आजके अधमतम कुकर्मोंकी जड़ है कर्मफलासक्ति। व्यक्तिका दोष नहीं है, दोष है समाजमें फैली या फैलायी जा रही गलत स्वार्थपूर्ण अवधारणाओंका। अनर्थ-मूल है कामना, महत्त्वाकाङ्क्षा और तज्जन्य आसक्ति। इनके त्यागके बिना सुख-शान्तिके दर्शन नहीं हो सकते।

अपनी खोयी हुई सुख-शान्तिको प्राप्त करनेका एकमात्र उपाय है निष्काम कर्ममें निष्ठाकी पुनः स्थापना। प्राणिमात्र ही नहीं, जड़-जगत् भी प्रभुका सगुण रूप है। अतः सभीकी सेवा ही हमारा व्रत होना चाहिये। इसीसे निष्काम कर्म करनेकी प्रेरणा मिलेगी।

तालाब-कुएँ आदि खोदवाना, वन-बाग, उपवन-वाटिका आदि लगवाना, अतिथि-स्वागत, तप, सत्यका पालन करना इत्यादि भी काम्यकर्मोंके अन्तर्गत आते हैं। ये कर्म प्रायः स्वर्गादिक उत्तम लोकोंकी प्राप्तिमें सहायक सिद्ध होते हैं। वेदों, पुराणों, शास्त्रों और पूज्य संतोंद्वारा परिवर्जित एवं त्याज्य कहे गये कर्म निषिद्ध कर्म हैं। उदाहरणार्थ — बेईमानी, धनापहरण इत्यादि । फल-प्राप्तिकी भावनासे रहित, मात्र कर्तव्य बुद्धिसे किये गये कर्मोंको निष्काम कर्म कहते हैं। भगवान् श्रीकृष्णने श्रीमद्भगवद्गीतामें फल-प्राप्तिकी भावनाके त्याग एवं कृष्णार्पणकी भावनापर अत्यन्त अधिक बल दिया है (गीता २ । ४७)।

कर्मोंकी शुद्धि-हेतु भक्ति और ज्ञान अपेक्षित होते हैं। भक्तिसे कर्ममें कृष्णार्पणकी भावनाका सृजन होता है एवं ज्ञानके द्वारा वह कर्तव्यके रूपमें प्रतिष्ठित हो जाता है। अतः फलासक्तिके त्यागके लिये भक्ति और ज्ञानकी प्राप्ति अनिवार्य है। भगवान् श्रीकृष्णने श्रीमद्भग निष्कामकर्म करनेके लिये उपदेश दिया है। परंतु भी निर्वाण-पदकी प्राप्तिकी कामनाका अवसान सन्नि

निष्कर्षतः इस जगत्की कोटि-कोटि काम परित्यागसे कर्मयोगीके पावन हृदयकी परिसीमितता हो जाती है (जिसमें वह सीमित होते हुए भी असीमि और असमरित होता है) मूलतः यही निष्काम करनेके उपदेशका मर्म है।' निष्काम कर्म बन्धन- होते हैं। आध्यात्मिक दृष्टिसे बन्धन ही कर्मका स बड़ा दुर्गुण है। बन्धनके कारण ही जीव इस ज आवागमनके चक्करमें पड़ा रहता है। निष्काम-क करनेकी प्रारम्भिक अवस्थामें अत्यन्त अधिक परेशानी अनुभव होता है, परंतु शनैः-शनैः प्रयास करते र कृष्णार्पणकी भावनासे कर्म करते रहनेपर निष्कामक स्थिति सुदृढ़ हो जाती है, इसमें संदेह नहीं।

निष्काम-कर्मयोग—एक विहंगम दृष्टि

(लेखक—पं० श्रीकृष्णकिशोरजी मिश्र)

भेदसे अभेद, पृथक्त्वसे एकत्व सर्वदा शक्तिशाली रहा है और रहेगा। निष्कामता, कर्म और योग शब्दोंकी पृथक्-पृथक् जो भी सामर्थ्य हो, तीनोंके सम्यक् सम्मिलनसे—पुनीत त्रिवेणी-सङ्गमसे 'निष्कामकर्मयोग'में एक ऐसी विश्व-विजयिनी अपरिमित शक्ति समुद्भूत होती है, जो कोटि-कोटि-जन्म-सञ्चित [illegible] भी [illegible] एक अजस्र [illegible] प्रवाहित कर देती है। इससे मानव [illegible] मुँह मोड़कर दुर्गतिसे [illegible] और [illegible] होने लगता है। [illegible] कर्म अन्तर्मुखी [illegible] होने लगता है; [illegible], स्थूल और सूक्ष्म शरीर—[illegible], लिंग, [illegible] और [illegible]—विलीन होने लगते हैं और [illegible] रहते हुए भी [illegible] सिद्ध हो जाता है। [illegible] कर्म, [illegible]

आसक्ति, फलाशा और कर्तृत्वाभिमानसे शून्य होकर अपने युग-युगके कर्म-संस्कारोंको ज्ञानाग्निद्वारा भस्मसात् करते हुए भोगको भी योगमें परिणत करते हुए, असत्से सत्की ओर पाँव बढ़ाते हुए, समदृष्टि तथा स्थितप्रज्ञताकी सहायतासे शुद्ध सच्चिदानन्दके समक्ष आ उपस्थित होता है। निष्काम कर्मयोगी त्रिभुवन[illegible] भी उपेक्षा कर 'परमगति' प्राप्त कर लेता है।

[illegible] शक्तिकी उपासनामें [illegible] तादात्म्यभाव स्थापित करनेवाली है जिसे [illegible] उद्गार —'अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः।'··· अथवा 'यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि। तमृषिं तं सुमेधाम्'की तरह हृदयंगम नहीं कर सकता; क्योंकि

स्थितप्रज्ञता, मानसिक संतुलन, समत्वदृष्टि और समदर्शन। काम-क्रोध-लोभसे, इन परिस्थितियोंसे, नरकके निश्चित द्वारसे बचे रहनेके लिये आवश्यक है कि साधक आसक्ति और कर्म-फलेच्छाका यत्नपूर्वक त्याग करता रहे।

कर्मयोगमें सिद्धिके लिये जिस तरह कामना, आसक्ति और फलेच्छाका त्याग आवश्यक है, उसी तरह 'कर्ताहम्'की भावनाका, कर्तृत्वाभिमानका, अहंकारका सर्वथा त्याग आवश्यक है; क्योंकि 'अहम्' जीवको विश्वके सुविस्तृत परिधिसे पृथक्‌कर संकीर्णतामें आबद्ध कर देता है, मानो सु (विस्तृत)+ख (आकाश) से उसे दुः (दुर्=दुष्ट, संकीर्ण)+ख (आकाश)में ला देता है। यह अहं इतना सूक्ष्म है कि इसकी तृप्ति सिर्फ कर्तृत्व-भावनासे ही नहीं होती है, अनेकानेक सूक्ष्मभाव, सूक्ष्मातिसूक्ष्म रसिक कर इसे जीवित रखता है, जिनमें अपरोक्ष-से-अपरोक्ष स्तुति भी किसीका मात्र मौन नमन भी एक है। जबतक अहंकारका अस्तित्व है, तबतक कोई-न-कोई शरीर बना ही रहता है, चाहे वह स्थूल शरीर हो, सूक्ष्म शरीर हो या कारण शरीर। और शरीर ही जीवका वास्तविक बन्धन है। अतः बन्धनके रहते मुक्ति कैसे आ सकती है।

इन्द्रिय-मन-बुद्धिपर विजय पाना आसान नहीं है। कर्मके लिये कामना-आसक्ति-फलेच्छाका त्याग भी उतना आसान नहीं। फिर वृत्तिका निरोध, कर्मका संस्कार चित्तपर नहीं पड़ने देना उतना कठिन नहीं है, जितना दुष्कर है अहंकारका लय; क्योंकि सृष्टिके क्रममें गुण-वैषम्यके कारण प्रकृतिसे महत्तत्त्व और उससे अहंकार उद्भूत होता है। माया अहंकाररूपमें ही जीवके जन्म ग्रहण करते ही उससे जा लिपटती है। अतएव अहंकारके मिटते ही जीव मायासे मुक्त हो जाता है, गुणातीत हो जाता है, निस्त्रैगुण्यावस्थामें आ जाता है और यही है योगकी चरमसिद्धि। यही है समाधि, यही है 'निर्दोष सम ब्रह्म'के साथ साक्षात्कार, और यही है ·

सब धर्मोंका गन्तव्यस्थल,
भी यही है और यही है ...
सृष्टिकी प्रलयावस्था या अनेकताका ...
इसे ही विशुद्ध अद्वैतावस्था कहते हैं। यही है ...
बुद्धिसे मुक्ति, सब विकारोंसे मुक्ति, सब दोषोंसे
सब पापोंसे मुक्ति, सब शुभाशुभोंसे मुक्ति, ...
मुक्ति, सब नाम-रूपोंसे मुक्ति, सब ...
सब सीमितताओंसे मुक्ति और जन्म-मरणसे ...

आज इस विज्ञानके युगमें भी निष्काम कर्मयोग सर्वथा अनुष्ठेय है; क्योंकि यह पूर्णतः वैज्ञानिक प्रणाली है। युग-युगसे इसपर सफल-प्रयोग—परीक्षण होते आये हैं। वर्द्धमान महावीर, गौतमबुद्ध, आचार्य शंकर, रामानुज, चैतन्य एवं अन्यान्य धर्मसम्प्रदायप्रवर्तक अनेक ऋषि-महर्षि इसी श्रेणीके हैं। महात्मा गाँधी हों या कोई अन्य महापुरुष संसारमें महान् इसलिये हो सके कि उन्होंने अपना जीवन एक निष्काम कर्मयोगीकी तरह लोक-सेवामें विनियोजित कर दिया। लोक-कल्याणार्थ जीवन धारण करके ही वे जीवनमुक्त हो गये।

अतः हमें जीवनमें शरीर, शक्ति, सम्पत्ति, शिक्षा जो कुछ भी प्रजापतिसे प्राप्त हो सका है उन सबको प्रजाकी सेवामें, प्राणीकी सेवामें, संसारकी सेवामें, प्रजापतिकी सेवामें सहर्ष निःस्वार्थभावसे समर्पित कर इसी जीवनमें पुरुषार्थ-चतुष्टयकी सिद्धि कर लें; जिससे महती विनष्टिसे—महान् नाशसे हमारी रक्षा हो सके, इन 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म'को हृदयंगम कर निष्काम कर्मयोगका व्रत लेकर सुखपूर्वक सब बन्धनोंसे मुक्त हो जायँ, भव-सागरसे तर जायँ, महान् भय—जन्म-मृत्युके भयसे सर्वथा मुक्त हो जायँ, बस, एतदर्थ ही दृढ़ प्रयत्न-कर्म करें।

बढ़ानेवाली वृत्तियोंको जागृतकर ईश्वरसे दूर करनेवाली वृत्तियोंको घटाती है । इसलिये दैवी सम्पदाओंके अर्जनके लिये तथा अपनेमें उनको अधिकाधिक स्थान देनेके लिये कामनाका [illegible] अनिवार्य है; क्योंकि इसके बिना निष्कामता नहीं पनप सकती; फलासक्ति-मुक्ति नहीं हो सकती और निष्कामताके बिना कर्मयोग सिद्ध नहीं हो सकता ।

'जड़ चेतन गुन दोष मय बिस्व कीन्ह करतार'

विज्ञान भी स्वीकार करता है कि संसारमें जड़-चेतनता, गुण-दोषता, पदार्थ-ऊर्जाका योगफल सदैव बराबर रहता है । ऊर्जाकी मात्रा जितनी बढ़ती है, उतने ही अनुपातमें पदार्थकी मात्रा घटती है । उसी तरह गुण उसी अनुपातमें बढ़ेगा, जिस अनुपातमें दोष घटेगा । अतएव गुण-वृद्धिके लिये दोष दूर करना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है । जिस अनुपातमें कामना दूर होगी उसी अनुपातमें निष्कामता अपना स्थान ग्रहण करेगी । अतः परार्थ, लोककल्याणार्थ, यज्ञार्थ, ईश्वरार्थकी भावनाद्वारा स्वार्थको, कामनाको, स्व-सुख-भोगेच्छाको शोधित करना है, क्षीणीकृत करना है । कर्मके विषयमें निष्काम कर्मयोगके लिये सर्वाधिक उपादेय सिद्धान्त है—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।

इन्हीं कारणोंसे साधकको योगका आश्रय लेना चाहिये । 'योगसूत्र'में महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—'योगश्चित्तवृत्ति-निरोधः' । चित्तवृत्तियोंका निरोध ही योग है । चित्तमें जो विचार-सरणी प्रवाहित होती है उसे बंद कर देना, चित्तपर कर्मका संस्कार नहीं पड़ने देना ही योग है । श्रीमद्भगवद्गीतामें योगकी तीन परिभाषाएँ हैं—

(क) 'योगः कर्मसु कौशलम्'—कर्म-फलमें समता ही योग है । यही उस कर्मबन्धनसे मुक्ति कौशल है । कर्मको बन्धनकारक नहीं होने देना ही योग है ।

(ख) 'दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्'—दुःखके संयोगका वियोग ही योग है अर्थात् ऐसी युक्ति है जिससे दुःखका अन्त सदाके लिये हो जाय ।

(ग) 'समत्वं योग उच्यते'—समताको ही योग कहा जाता है । वैषम्य ही सृष्टि है और समत्व ही मुक्तिरूप है । साम्यावस्थाका ही नाम ब्रह्म है,—'निर्दोषं हि समं ब्रह्म' ब्रह्म सम है, निर्दोष है, दोषहीन है, उसे कोई त्रुटि है ही नहीं । जय-पराजयमें, हानि-लाभ-हानिमें समान रहना ही योग है, दोनों वृत्तियोंसे सर्वथा मुक्त होना ही योग है । निष्काम कर्मयोगका साधक सर्वक्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञको एक ही देखता है, जिससे धीरे-धीरे साधक सब प्राणियोंमें सब पदार्थोंमें अपनेको और अपनेमें सबको देखता है । वह 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भावनासे इस संयम रहता है कि वह 'आत्मतुष्ट','आत्मारामी' अपनेमें ही संतुष्ट रहनेवाला, किसी वस्तुकी चाह नहीं करनेवाला और अपनेमें ही आराम, विश्राम या शान्तिका अनुभव करनेवाला हो जाता है । वह शान्तिके लिये कहीं दौड़ता नहीं फिरता, परमुखापेक्षी नहीं रहता ।

निष्काम कर्मयोगकी साधनामें सफलताके लिये साधकको श्रेय-प्राप्तिकी इच्छाकी प्रबलताके अनुपातमें ही कामनाके साथ-ही-साथ कर्मासक्ति तथा फलासक्तिका भी त्याग करना पड़ता है; क्योंकि कर्मयोगकी सिद्धिमें ये दोनों बहुत बड़े बाधक हैं, योगपथसे भ्रष्ट करनेवाले हैं—'सङ्गात् संजायते कामः' । आसक्तिसे काम उत्पन्न होता है । कामसे म[illegible] चञ्चलता, क्रोधसे लोभ और तब [illegible] होती है, जिसका अन्त बुद्धिन[illegible] है, जबकि योगकी सिद्धिमें [illegible]

(१) विध्यात्मक-लक्षणा—शुद्ध चैतन्य एवं अहंकारमें अविवेकवशात् तादात्म्यबोध हो जानेके कारण जागतिक पदार्थोंमें स्पृहा होना और (२) निषेधात्मक-लक्षणा—आत्मा एवं अन्तःकरणमें भेद-बोध हो जानेके पश्चात् पदार्थस्पृहा होनेपर भी उस कामनाकी कामना संज्ञा न पड़ना। पञ्चदशीमें कहा गया है।

अहंकारचिदात्मानावेकीकृत्याविवेकतः।
इदं मे स्यादिदं न स्यादितीच्छाः कामशब्दिताः॥
अप्रवेश्य चिदात्मानं पृथक् पश्यन्नहंकृतिम्।
इच्छंस्तु कोटिवस्तूनि न बाधो ग्रन्थिभेदतः॥
(पञ्चद० ६। २६१-६२)

इस प्रकार हम देखते हैं कि कामनासे शून्य कर्म एवं भगवदर्पित कर्म 'कर्म'की परिधिमें नहीं आते। 'मोक्ष' कूटस्थ आत्मस्वरूप है। आत्मारूपी मोक्ष प्रत्येक जीवको नित्य प्राप्त है। आत्मा मोक्षरूप है, अतः मोक्ष-कामना भी कामना नहीं है। फलतः मोक्ष-कामनासे सम्पादित कर्म भी कर्म नहीं है।

पदार्थोंमें अन्तःकरणकी व्याप्तिरूप वृत्ति 'व्याप्ति' अन्तःकरणकी वृत्तिमें चिदाभासकी स्थिति-रूप 'फल' एवं आभासकी पदार्थोंमें व्याप्तिरूप 'फलव्याप्ति'से उपहित विषयकारित वृत्ति ही 'कामना'की परिधिमें आती है, किंतु इन व्याप्तियोंके भगवदुन्मुखी होनेपर ये व्याप्तियाँ भी कामनाकी परिधिमें नहीं आतीं।

'शिवस्तोत्रावली'में श्रीमदुत्पलदेशाचार्य कहते हैं—

सरसि नाथ कदाचिदपीहितं विषय-
सौख्यमथापि मयार्थितम्।
सततमेव भवद्वपुरीक्षणामृत-
मभीष्टमलं मम देहि तत्॥
येन मनागपि भवच्चरणाम्बुजोद्भूत-
सौरभलवेन विमृष्टा।
तेषु विषमिव भाति
भोगजातममरैरपि

'स्वामिन्! क्या आपको स्मरण ... भी विषयसुखकी चेष्टा की है या ... मुझे तो केवल आपके स्वरूपका ... ही सदैव अत्यन्त प्रिय है; वही मुझे ... स्वामिन्! जो भक्तजन आपके ... निःसृत सौरभके लेशमात्रका स्पर्श प्राप्त करते हैं देवोंके लिये भी वाञ्छनीय समस्त भोग-समूह दुर्गन्धपूर्ण प्रतीत होते हैं।'

इन दोनों उदाहरणोंसे यही प्रमाणित ... साधक विषयासक्तिसे कोसों दूर रहकर भी ... तो कर सकता है किंतु यह कामना कामगत नहीं प्रत्युत कामातीत होती है। यह कामातीत कामना ही निष्काम-कर्मयोग है। इस निष्काम-कर्मयोगमें साधक समस्त कर्मोंमें परमात्माकी ही अभिव्यक्ति करता है—'सर्व कर्मे तव शक्ति एई जेने सारा करि ब सकल कर्मे तोमार प्रचार।' —इस योगमें साधक अपने अहंको मिटा देता है; क्योंकि 'अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।' अर्थात् अहंकार-विमूढ व्यक्ति ही अपनेको कर्ता मानता है, न कि ज्ञानी या योगी। योगी तो 'मैं'को परमात्माको समर्पित कर देनेमें ही उसकी कृतार्थता मानता है—

तोमार आमार प्रभु करे राखि,
आमार आमि सेई टुकु थाक बाकि।
तोमाय आमि हेरि सकल दिसि,
सकल दिये तोमार माझे मिशि॥
इच्छा आमार सेई टुकु थाक बाकि,
तोमाय आमार प्रभु करे राखि।
तोमाय आमि कोथाओ नाहि ढाकि,
केवल आमार सेई टुकु थाक बाकि॥*

* रवीन्द्रनाथ टैगोर कृत 'नैवेद्य'से।

निष्काम-कर्मयोग—एक विहंगमावलोकन

(लेखक—डॉ० श्रीश्यामाकान्तजी द्विवेदी, 'आनन्द')

कर्म करनेकी वह यौगिक पद्धति, जिसमें कर्म करनेके उपरान्त भी कर्मशील कर्मकी बन्धन-शृङ्खलाको तोड़कर मुक्तिके साकेतमें प्रवेश कर जाता है 'निष्काम-कर्मयोग' कहलाता है। चिकीर्षामें अनासक्ति-भाव या रागका अभाव ही 'निष्काम-कर्मयोग'की नींव है। उसके स्वरूपके परिचयके लिये कहना चाहिये कि 'निष्काम-कर्मयोग' अनासक्ति-योगका पर्याय है। 'कर्मकौशल'—योगः कर्मसु कौशलम् एवं 'समत्वयोग' समत्वं योग उच्यते—से अनुविद्ध कर्तव्यकर्म ही निष्काम-कर्मयोग है। विश्वके समस्त धर्मोंमें यह योग-प्रक्रिया किसी-न-किसी रूपमें अवश्य उपलब्ध होती है। यह योगकी वह समन्वयात्मक पद्धति है जिसमें प्रवृत्ति एवं निवृत्ति, कर्म एवं अकर्म ज्ञान एवं योग, योग एवं भक्ति तथा प्रेम एवं अनासक्तिमें मणि-काञ्चन-योग प्रस्तुत किया गया है। सांख्ययोग एवं कर्मयोग—इन दो निष्ठाओंका वर्णन भगवान् श्रीकृष्णने गीता (५ । ७)में किया है। वे दोनोंको ही निःश्रेयस्कर मानते हैं—

'संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ'

तथापि गीताकारके मतमें सांख्यमार्गसे श्रेष्ठतर निष्काम कर्मयोगमार्ग ही है। गीताकारकी दृष्टिका वैशिष्ट्य—भारतके प्रायः सभी महान् दार्शनिकोंने (मुख्यतया वेदान्तियोंने) मीमांसकोंके कर्ममार्गका प्रत्याख्यान किया है और उनके स्थानपर ज्ञान या भक्तिको प्रतिष्ठित किया है। किंतु गीताकारने कर्मयोगका ही पुष्कल प्रतिपादन किया है। यह भी द्रष्टव्य है कि सभी कर्मवाद-विरोधी दार्शनिकोंने 'गीता'का आश्रय लेकर ही अपने मतोंकी पुष्टि की है। उनमें वेदान्तवादी दार्शनिक प्रमुख हैं।

गीताकारने ज्ञानियों एवं भक्तोंकी कर्म-वि[illegible] खण्डन तो नहीं किया है, किंतु कर्मवादक[illegible] एक नयी दिशा अवश्य प्रदान की है। [illegible] गीताकार कर्मवादी होते हुए भी कर्मवादके [illegible] तथा कर्मवादके विरोधी होते हुए भी कर्मवादके [illegible] हैं। मीमांसाके कर्मवादमें कुछ कामनाका पङ्क[illegible] स्वार्थकी दुर्गन्ध है, कुछ अहंताका मल [illegible] कुछ तृष्णाका भी कालुष्य है, जबकि गीताके क[illegible] निःस्वार्थताका परिमल है, अनासक्तिकी निर्मल[illegible] अहंशून्यताकी मधुरता है एवं कामनाराहित्यकी प[illegible] है। इसीलिये जहाँ मीमांसकोंका कर्मवाद मात्र [illegible] प्रदायक है, वहीं गीताका कर्मवाद मोक्षका विधायक[illegible]

क्या निष्काम कर्म सम्भव है ?

'कामना'के कर्मका मूल उत्स होनेके कारण का[illegible] शून्य कर्मकी सम्भावना ही प्रतीत नहीं होती; त[illegible] कामना-शून्य कर्म सम्भाव्य है। इसी सम्भाव्यता [illegible] तदनुकूल आचरणकी प्रामाणिकताकी नींवपर ही निष्क[illegible] कर्मयोगका प्रासाद प्रतिष्ठित है। ईश्वरार्पणबुद्धिसे मोक्ष[illegible] भक्तिकी कामनासे सम्पादित कर्म न तो 'कर्म' ही कहला[illegible] है और न तो उनके करनेकी कामना 'कामना' ही [illegible] कहलाती है। कामनाके रहते हुए भी जब उसकी उन्मुखता भगवान्के प्रति या मोक्षके प्रति होती है तब वह कामना 'कामना' नहीं रह जाती है। वह सकामना भी निष्कामनामें [illegible] जाती है। सांसारिक आसक्तिसे

भक्तियोग एवं निष्काम कर्मयोग—निष्काम भक्ति, त्मिका भक्ति, पराभक्ति एवं प्रपत्तिका निष्काम कर्म- से अपृथक् सम्बन्ध है; क्योंकि इस योग-प्रक्रियाका करण किये बिना इन भक्तिप्रक्रियाओंका अस्तित्व भी ास्पद हो जायगा। औपनिषदिक ब्रह्म-ज्ञानमार्ग एवं शांकर- ार्ग भी निष्काम कर्मको अत्यधिक महत्त्व देते हैं। इसका ा है, कर्मका सम्बन्ध शरीरसे है आत्मासे नहीं। को (अविद्यावश) आत्मासे सम्बद्ध मान लिया जाता है। कारण जीवत्वकी उपाधि चलती रहती है। यदि सक्तिपूर्वक कर्म किये जायँ तो आत्माके चतुर्दिक् स्थित कोशोंके—जो आत्माको सभी ओर घेरे हुए हैं और के आवरणोंको न भेद पानेके कारण प्राणी आत्म- नहीं कर पाता, उन दुर्भेद्य आवरण-कवचोंका विनाश -आप हो जाय और आत्मदर्शन या ब्रह्मसाक्षात्कार- ाप्ति हो जाय। यदि सकाम कर्म किये जायँ तो रादिकमें आत्मबुद्धिका उदय हो जानेके कारण नोदय हो और न आत्मसाक्षात्कार ही। इसी कारण गी कर्मोंकी निष्कामताका ही समर्थन करते हैं न सकामताका। 'गुणाः गुणेषु वर्तन्ते'की धारणा म कर्मयोगके भी मूलमें है तथा ज्ञानयोगके भी। : बहुत थोड़ा है।

बृहदारण्यकोपनिषद् एवं निष्कामकर्मयोग— रण्यक श्रुतिमें कामनाको ही संसारका मूल मानकर के त्याग करनेका विधान किया गया है। उसमें कहा है कि—'पुरुष काममय है। वह जैसी कामनावाला है, वैसा ही संकल्प करता है। वह जिस रका संकल्पवाला होता है, वैसा ही कर्म करता है वैसा कर्म करता है, वैसा ही फल प्राप्त करता ' 'जिस समय इसके हृदयमें आश्रित सम्पूर्ण नाओंका नाश हो जाता है, उस समय यह मरणधर्मा मृत हो जाता है और यहीं उसे ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है। जिस प्रकार सर्प-केंचुली सर्पद्वारा त्यक्तरूपमें पड़ी रहती है, भी पड़ा रहता है; और यह अशरीर 'प्राणीका मन जिसमें अत्यन्तासक्त होता फलको यह साभिलाष होकर कर्मपूर्वक प्राप्त करता इस लोकमें यह जो कुछ करता है, उस कर्मका प्राप्त करके उस लोकसे कर्म करनेके लिये पुनः लोकमें आ जाता है।' 'जो अकाम, निष्काम, आप्तकाम एवं आत्मकाम होता है, उसके प्राणोंका उत्क्रमण नहीं होता। वह ब्रह्म ही रहकर ब्रह्मको प्राप्त होता है।'

सारांश यह है कि संसरणका मूल कर्म है। कर्मके बन्धत्वका मूल आसक्ति है। अतः यदि आसक्ति-शून्य कर्म किया जाय तो कर्मोंके कारण बन्धन नहीं, प्रत्युत मोक्षकी प्राप्ति होगी।

ईसाई-धर्ममें भी निष्काम कर्मका प्रतिपादन किया गया है। ईसाके समस्त उपदेशोंमें निष्काम कर्मयोगके विभिन्न मूलभूत उपादानोंका आत्मीकरण किया गया है यथा—(१) अहंताका त्याग, (२) निःस्वार्थ बलिदान, (३) परमात्मेच्छामात्रका अनुवर्तन एवं स्वेच्छाका प्रतिषेध, (४) मानापमान, लाभ-हानि, जय-पराजयके साथ ही मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार-ऐन्द्रियकामना इत्यादि सभीसे ऊपर उठकर निष्काम सेवा एवं कर्तव्य कर्म करना, (५) समस्त कर्मोंका परमात्माके श्रीचरणोंमें समर्पण और (६) परमात्माके प्रति अनन्य भक्ति।

जैनधर्म एवं बौद्धधर्म तथा निष्काम कर्मयोग—

जैन एवं बौद्धधर्म निवृत्तिप्रधान धर्म हैं, अतः इनमें आसक्तिके त्यागपर अत्यधिक जोर दिया गया है। जैनदर्शनियोंका मत है कि जिस किसी भी वस्तु या विषयका आसक्तिपूर्वक अनुसरण किया जाता है, उसके

योग और निष्काम कर्मयोग—

निष्कामकर्मयोग गीताका प्राण ही योग है। गीताका [illegible] पूर्ण किया है। निष्काम कर्मयोगका मूल तत्त्व कामनाओंका अपसारण नहीं है—प्रत्युत नहीं है, प्रत्युत कर्मका दिव्यता और उन्नयीकरण है। अपनी क्रिया-शक्तिका भगवान्‌को पूर्ण समर्पण है। अपनी निष्ठाका भगवद्गुणी प्रसाद है। विशुद्ध कर्तव्य बुद्धिका दृढ़ाभ्यास है। कामना-पङ्ककी अवमानना करते हुए आत्माके निर्मलीकरण करनेकी प्रक्रियाका अङ्गीकरण है। कर्म करते हुए भी कर्मसे लिप्यमान न होनेकी पद्धति है। अनासक्ति योगकी साधना है। अनासक्ति ही कर्मयोगकी भित्ति है।

गीताके निष्काम कर्मयोगकी कतिपय शाश्वतिक मान्यताएँ हैं, जो निम्न हैं—१–आत्मा अमर है। २–शरीर अनित्य है। ३–अहंका त्याग आवश्यक है। ४–कर्मको परमात्माको समर्पित करो। ५–परमात्माके प्रति भक्तिभाव रखो—अपनेको भगवदर्पित करो। ६–निष्कामकर्म करते हुए आत्मशुद्धि करो। ७–कर्ममें फलाकाङ्क्षा मत रखो। ८–कर्मसम्पादनके समय एवं अन्य स्थितियोंमें भी जगत्‌में 'पद्मपत्रमिवाम्भसा' रहो। ९–जय-पराजय, लाभ-हानि, सुख-दुःख, मान-अपमान इत्यादि सभीमें समत्वबुद्धि रखो। १०–कर्ममें अकर्म एवं अकर्ममें कर्म देखो। ११–फल-निराकाङ्क्षी होकर कार्य करो। भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें १८ योगोंकी मीमांसा की है। किंतु इन सभी योगोंमें भी 'निष्काम कर्मयोग'को महत्तम योग प्रतिपादित किया है।

सांख्ययोग एवं निष्कामकर्मयोग—

भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें दो निष्ठाओं—सांख्य एवं योगकी चर्चा की है। उन्होंने इन्हें पृथक् रूपमें निर्दिष्ट करते हुए भी एक माना है—

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता
मयानघ। ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगि
सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न प
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स प
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि ग
(गीता

कर्मयोगी देखता हुआ, सुनता हुआ, सूँघ
अन्य ऐन्द्रिय कर्म करता हुआ भी यही सम
कुछ भी नहीं कर रहा हूँ; प्रत्युत इन्द्रि
व्यवहार कर रही हैं—

नैव किंचित् करोमीति······श्वसन् ॥
प्रलपन्विसृजन्········धारयन् ॥ (

निष्काम कर्मयोगीकी दृष्टि इसमें कदाचि
यदि 'सांख्ययोग'में कर्म-संन्यासपर बल दिया
'कर्मयोग'में क्रियाओंके भगवद्गुणीकरणपर ब
गया है। फलस्पृहाका त्याग एवं अनासक्ति दोनों
निष्ठाएँ हैं। सांख्य-दर्शन चित्त-वृत्तियोंके नि
अनात्मतत्त्वमें आत्मबुद्धिके त्यागका उपदेश दे
कर्मयोग निःशेष कर्त्तव्य कर्मोंको भगवदर्पित
(फलस्पृहासे मुक्त रहकर) अनासक्तिपूर्वक
करनेका उपदेश देता है। सांख्य-निष्ठा सर्वारम्भप
से अधिक सम्बद्ध है तो कर्मयोग निःशेष कर्मानुष्ठा
इसीलिये कहा गया है—'कर्म ज्यायो ह्यकर्मण
कर्मत्यागकी अपेक्षा निष्काम कर्म करना श्रेयस्कर
'न निरग्निर्न चाक्रियः'–यज्ञादि कर्मोंके त्यागी
क्रियाशून्य व्यक्तिको योगी नहीं कहते, प्रत्युत यो
लक्षण निम्न है—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥

योगी 'कृत्स्नकर्मकृत्' होता है, किंतु वह 'समत्वभा
एवं कर्मकौशलसे आपन्न कर्मोंका प्रयोक्ता होता है,
कि निष्कर्मी। उसके लिये उपदेश है—'मा ते
सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।'

है कि कर्मफल कर्मद्वारा ही प्रेरित रहता है, जैसे पेड़ और उसका फल। जो कर्म करनेका अधिकारी है, वही कर्मफलका भी अधिकारी हो जायगा।

श्लोकके द्वितीय चरणमें कहा गया है कि 'फलमें तुम्हारा अधिकार नहीं है।' अर्थात्—मनमें फलकी आशा कभी नहीं करनी चाहिये। किंतु कर्म और कर्मफल दोनों एक साथ चलते हैं। इसलिये फलकी आशाके साथ कर्मको नहीं छोड़नेके लिये भगवान्ने उपदेश दिया कि 'कर्मफल छोड़कर कर्तव्यभावनासे कर्म अवश्य करना चाहिये—'त्यागो न युक्तफलकर्मसु मापि रागः।' फललाभ अपने वशमें नहीं है। इसलिये और अनेक विषयोंका आनुकूल्य आवश्यक होता है।

'हिंदूधर्म-प्रवेशिका' के रचयिता स्वामी श्रीविष्णु-शिवानन्दगिरि महाराजने लिखा है कि गीताका यह कथन कि 'केवल कर्ममें ही तुम्हारा अधिकार है, फलमें नहीं, भगवान्की अमोघ वाणी है। फल-अफल जो हो उसमें कर्मफलासक्तिरहित होकर हमें केवल कर्म करना चाहिये। इस प्रकारके ज्ञानसे कर्तव्य-कर्म करनेसे फिर कर्मफलकी आशा नहीं रहती। फलाकाङ्क्षा छोड़ देनेका यहाँ अर्थ है कि कामनाका मूलोच्छेदन (जड़से काट कर निर्मूल) कर दिया जाय। परमेश्वरकी सृष्टिका विधान विशाल है। शुभ-अशुभ जो कुछ हो रहा है, वह सब भगवान्की प्रेरणासे, भगवान्की लीला हो रही है। वे ही स्वयं कर रहे या करा रहे हैं। मानव तो क्षुद्र जीव है। परमेश्वरकी वह लीला अनुभव करनेकी शक्ति हमारेमें नहीं है। हमलोग तो भगवान्के सूत्र-संचालित हैं। हम जिस घटनाको अशुभ सोच रहे हैं, उसीमें भगवद्-विधानानुसार एक सत्संकल्प—शुभ कल्पना निहित है। पर हमारी तुच्छ बुद्धिसे ऐसी अवधारणा होना जल्दी सम्भव नहीं हो पाता। जीवको जो कुछ दुःख-कष्ट भोगनी पड़ती है, उसे परमेश्वरका दान माननेसे ही फलासक्ति (कर्मफल) से ...

कर्मयोगका अन्तिम सोपान

भोग करनेकी आशा न रखनेसे पुनः ...

होनेकी सम्भावना नष्ट हो जाती है। ... बन्धन है। वह आसक्तिसे निवृत्त न होनेके कारण संसार-बन्धनकी ओर बढ़ता जाता है। ... उपायके रूपमें गीतामें निर्ममत्व, ... समर्पण और आत्म-समर्पणके साधन बताये ...

सकाम साधकोंकी दुर्दशाके विषयमें भर्तृहरिने कहा है—

> भ्रान्तं देशमनेकदुर्गविषमं प्राप्तं न किंचित् फलं
> त्यक्त्वा जातिकुलाभिमानमुचितं सेवा कृता निष्फला।
> मन्त्राराधनतत्परेण मनसा नीताः श्मशाने निशाः
> सम्प्राप्तः कपर्दकोऽपि न मया तृष्णेऽधुना मुञ्च माम्॥
> (भर्तृहरिकृत वैराग्यशतक)

'फल-तृष्णाके लोभमें अनेक देश घूमने, शव-साधनादि कर्म एवं नीच-से-नीच सेवाकार्य करनेसे भी क्या मिलता है?, तृष्णा और फलेच्छाके कारण हुई ऐसी दुर्दशा किसीकी भी हो सकती है।' वस्तुतः हम सब तो यन्त्र हैं और भगवान् हैं यन्त्री। वे जैसा चाहते हैं हमारा संचालन करते हैं। हमें भी उनकी इच्छानुसार ही संचालित होना चाहिये। ऐसा भाव मनमें दृढ़तापूर्वक कर लिया जाय तो स्वयं भगवान् ही बाँह पकड़कर जीवको मङ्गलपथपर ले चलेंगे। फलेच्छारहित शरणागतभावसे भावित हो प्रत्येक कर्म करना कल्याणकामी पुरुषका कर्तव्य है। हमें सब फलाफल भगवान्के हाथमें सौंप देने चाहिये। यहाँतक कि अपने कल्याण या मुक्तिकी भी चाह न करें, सर्वथा चाहरहित हो जाय—मा फलेषु कदाचन। अतः, श्रीभगवान्के इन वचनोंको सदा स्मरण रखते हुए कर्मक्षेत्रमें संचरण करना रहे, इससे निश्चित ही श्रेयकी प्राप्ति होगी।

कर्मपुद्गल आत्मद्रव्यके साथ उसी प्रकार खिंचकर चिपक जाते हैं जिस प्रकार कि तेल लगी वस्तुसे धूलके कण चिपक जाते हैं। यह पुद्गल-संयोग ही 'योग' है। इस आस्रवको बंद करनेके लिये ही जैनयोगियोंने 'संवर' एवं 'निर्जरा' का विधान किया है।

भगवान् तथागतने भवचक्रकी द्वादश शृङ्खलाओंमें 'तृष्णा' (आसक्तिपूर्ण इच्छा) को अत्यधिक महत्त्व दिया है। दुःखोंका कारण 'तृष्णा' है, जो त्रिविधात्मक है—(१) भोगतृष्णा, (२) भवतृष्णा, (३) विभवतृष्णा।

आसक्ति ही जागतिक नश्वर जीवनका मू... आसक्तिके कारण ही तृष्णा होती है। आसक्तिके ... होनेपर तथाकथित 'तृष्णा' तृष्णा नहीं रह जाती। ... एवं उपादानसे मुक्त प्राणी सांसारिक प्राणी नहीं, ... एक योगी माना जाता है। इसीलिये तृष्णा-क्षयको ... धर्ममें सर्वाधिक महत्त्व है। तृष्णाका आसक्तिसे ... सम्बन्ध है। तृष्णाका क्षय हो जानेपर आसक्तिका ... स्वयमेव हो जाता है। कर्मयोगमें इसी आसक्तिका ... सर्वोपरि आवश्यक विधान है।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन

(लेखक—श्रीव्योमकेश भट्टाचार्य)

भगवान् श्रीकृष्ण अपने एकान्त भक्त अर्जुनको उपदेश देते हुए कहते हैं—कर्ममें ही तुम्हारा अधिकार है, कर्म-फलमें नहीं*। पर यह उपदेश सर्वसाधारण व्यक्तिके लिये बोधगम्य नहीं है। इस विषयपर गीताके विभिन्न टीकाकार मनीषियोंके साधनालब्ध अनुभूति क्या हैं? हमलोगोंको इसे यहाँ देखना चाहिये।

श्रीमद्भगवद्गीताके एक अपेक्षाकृत अर्वाचीन व्याख्याता स्वामी श्रीजगदीश्वरानन्दजी लिखते हैं—'कर्ममें मानवका अधिकार है, फलमें नहीं।' अतः (वर्णाश्रमादिके अनुसार) कर्म करना ही मानवका कर्तव्य है। पर कर्मफलमें आसक्त किसीको नहीं होना चाहिये। कारण, कर्मफल-की तृष्णा ही कर्मफलप्राप्तिका हेतु होती है। आध्यात्मिक दृष्टिकोणसे सकामकर्म करना कथमपि ठीक नहीं, किंतु कर्म छोड़नेकी प्रवृत्ति भी नहीं होनी चाहिये।

स्वामी श्रीचिद्घनानन्दजी महाराजने आचार्य शंकरके भाष्यकी प्रतिध्वनि करते हुए इसकी व्याख्यामें लिखा है कि 'अर्जुन! कर्म करनेमें ही तुम्हारा अधिकार है, फलमें कभी नहीं। कर्म फलके हेतुसे कभी नहीं करना ... फिर कर्म छोड़नेकी इच्छा भी नहीं होनी ...'

श्रीनीलकान्त गोस्वामीने तो अपनी गीताकी टीकामें ... है कि 'प्रायः किसी भी दोमंजिले घरमें ऊपर चढ़ने ... नीचे उतरनेके लिये दो अलग-अलग सीढ़ियाँ नहीं ... ऊपर चढ़नेकी सीढ़ीसे ही लोगोंको नीचे भी उ... पड़ता है। ऊर्ध्वमुखी होकर ऊपर उठना और अधो... होकर नीचे उतरना। जो कर्म अपने देह ... सृजनके लिये पोषकभावसे भगवत्-प्रीत्यर्थ कि... जाते हैं, उन्हींसे मानवको परमशान्ति प्राप्त होती है।'

लोकमान्य-बालगङ्गाधर तिलकने गीताकी टीकामें ... भाव इस प्रकार व्यक्त किया है—'अर्जुन! तुम्हारा केवल कर्म (स्ववर्णानुसार युद्ध) ही करनेका अधिकार है। कर्मफल मिल जायगा अथवा नहीं, यह सोचना तुम्हारा कार्य नहीं है। परंतु कर्मत्याग कभी करना नहीं चाहिये।' इसे कर्मयोगकी चतुःसूत्री भी कहते हैं। तुम्हारा ... 'कर्म करनेका केवल अधिकार है'—इसपर संदेह हो ...

* गीतामें सांख्य (ज्ञानयोग) निष्ठा और कर्म (योग—) निष्ठा—ये दो मार्ग भगवान्द्वारा विभिन्न अधिकारियोंके लिये उपदिष्ट हैं। अर्जुनको भगवान् सांख्यज्ञाननिष्ठाका अधिकारी न मानकर कर्मानुचरणका आदेश दे रहे हैं। (गीता द्वि॰ अ॰)

ते हैं और जूते-चप्पल आदिके प्रयोगसे अपनी
करते हैं। सामान्य कष्टकोंसे बचनेकी अनेक
यों हमने खोज निकाली हैं, तो क्या कर्मोंके
बन्धनसे बचनेकी भी कोई युक्ति या उपाय हमारे
ोंने आविष्कृत किया है ? जहाँ-जहाँ खतरा होता
ा है, मानव बराबर उस खतरेके निदानका हल भी
ता रहा है। कर्मबन्धनके साथ ही कर्म-
की भी युक्ति हमारे पुराण पुरुषोंने, शास्त्रोंने
शित की है। कर्म करनेकी एक ऐसी ही प्रणाली
ो कर्ताको कर्मोंके शुभाशुभ फलोंकी प्राप्तिसे वञ्चित
के उसे कर्मोंके बन्धनसे मुक्त कराती है। यहाँ
स्पष्ट कर देना उचित होगा कि मानव कर्मोंसे
नेका कितना भी प्रयत्न क्यों न करे, वह कभी
क्षणके लिये भी कर्म करनेसे बच नहीं सकता।
प्राणी स्वभावतः कर्म करनेके लिये अत्यन्त विवश
मनुष्य कर्मोंके बन्धनसे बचनेके लिये यदि कहे कि
कर्म ही नहीं करेगा तो बँधेगा कैसे ! तो उसका यह
कर्मक्षेत्रमें दुर्बलतम तर्क सिद्ध होता है। यदि हम
चाप भी बैठे हैं तो भी कुछ-न-कुछ करते ही रहते हैं।
चाप बैठना भी कर्म ही है। अस्तु।

कर्मके प्रकारोंमें कायिक, वाचिक और मानसिक—
तीन भेद किये गये हैं। पुनः उन्हें हम नित्य,
त्तिक और काम्य तीन तरहसे विभक्त कर सकते हैं।
के अतिरिक्त न करनेयोग्य कर्म जिन्हें हम त्याज्य कर्म,
िद्ध कर्मकी संज्ञा देते हैं—ये सभी कर्मके स्वरूप
यह बात बिलकुल स्पष्ट है कि कर्मोंका निषेध
तः कर्मबन्धनसे बचावकी युक्ति कदापि नहीं
ा जा सकता है। फिर जिज्ञासा होती है कि
ोंके करते हुए और उसके शुभाशुभ परिणामोंसे
निका उपाय है क्या ?

कर्म-बन्धनसे मुक्तिकी विधियाँ

कर्तृत्वभावसे रहित होकर कर्म करो; क्योंकि '...
इति अहंकारः'—मैं करनेवाला हूँ, इस प्रकारका
कर्तृत्वाभिमान (Egotism) ही मानव-बन्धनका मूल
हेतु है। यह बात कह देना अत्यन्त सरल जान पड़ता है
कि अपने मनमें कर्ताभाव मत लाओ, पर इसका ...
करना बहुत कठिन होता है। इसका कारण यह है कि
हमने अनेक जन्मोंके संस्कारोंसे अपनेको शरीर मान लिया
है, जब कि प्रत्यक्षतः हम देखते हैं कि हम शरीर नहीं
हैं। हम शरीरसे पृथक् हैं, इस भावका उदय होनेपर ही
शरीरसे होनेवाली क्रियाओंसे हम अपनेको अलग मान
सकेंगे। किसीने सुन्दर चित्रका निर्माण किया और यदि
वह चित्र नुमाइशमें प्रथम आ गया तो चित्रकार-
का अहंभाव बढ़ जाता है। यदि कोई चित्रकार
समझदार है तो वह अपनेको इसका कर्ता न मानकर
अपने अंदर बैठे साक्षी चैतन्यको, जो सब जगह सर्वत्र
समान है, धन्यवाद देकर चुप रहेगा। व्यावहारिक
क्षेत्रमें छोटे-से-छोटे और बड़े-से-बड़े कार्योंतकके लिये
हम अपने अच्छे, भले या बुरे कर्मोंसे अपनेको इतना
लिप्त करते रहते हैं कि कर्तृत्वके कुसंस्कार हमसे
नित्यप्रति अधिक-अधिक परिपुष्ट होते रहते हैं।
हनुमान्‌जीने लङ्का जला डाली। सभी राक्षसोंको अकेले
ही छका दिया। किंतु जब उनकी प्रशंसा की गयी तो
उन्होंने इसका श्रेय स्वयंको न देकर 'श्रीरघुनाथजीका ही
प्रताप है, इसमें मेरी कुछ भी बड़ाई नहीं है'—कहा।
साधारणजन यदि किसी उत्कृष्ट कर्मको सम्पादित कर
पाता है तो वह अपनेको उसका हेतु मानकर उस
कर्मका अपनेपर आरोपण कर बैठता है। इस कर्तृत्वभाव-
को ही (गीता १८। १८ में) कर्म-बन्धनका, कर्म-
संग्रहका प्रधान हेतु बताया गया है।

१—१ कपि रावन पालित लंका। केहि बिधि दहेउ दुर्ग अति बंका॥ (मानस ५। ३३। ३)
सो सब तव प्रताप रघुराई। नाथ न कछू मोरि प्रभुताई॥ (मानस ५। ३३। ५)

योगः कर्मसु कौशलम्

(लेखक—डॉ० श्रीभवानीशंकरजी पंचारिया, एम० ए०, पी-एच० डी०)

मानव-योनिको दुर्लभ बताया गया है । अनेक जन्मोंके शुभ कर्म और परम सौभाग्यकी सिद्धिपर सौभाग्यशालियोंको ही 'मानव-तनकी प्राप्ति होती है'; कारण कि देवयोनि यद्यपि जीवकी ऊर्ध्वगामी स्थिति कही जाती है, किंतु वह भोगयोनि होनेसे पुण्यक्षीणतापर पुनरावृत्तिकी हेतु होती है । मानव-योनिकी श्रेष्ठता इस बातमें निहित है कि मानवयोनिधारी अपने इच्छानुसार कर्म करनेके लिये अधिकृत है; जबकि श्रेष्ठ देवगण तथा नेष्ट पशु-पक्षी, कूकर-सूकर आदिको यह कर्म-स्वातन्त्र्य-स्थिति अप्राप्त है । जिस प्रकार देवयोनिधारी अपने शुभाशुभ कर्मोंका भोग करके पुनः इस मृत्युलोकमें भेजे जाते हैं, उसी तरह निकृष्ट योनियोंको उनके शुभाशुभ कर्मोंके अनुसार भव-कारागारमें परतन्त्रतापूर्वक अपने किये कर्मको भोगना होता है । देवगण मानव-तनकी उत्कृष्ट कामना प्रायः इसलिये किया करते हैं कि वे स्वर्गीय भोग-पदार्थोंसे ऊब जाते हैं । किंतु दुर्योगकी विडम्बना यह है कि जिस भोगको देवगण भी भवरोग समझते हैं, जीव उसीके कुचक्रमें फँसकर मकड़ीके जालेके समान इस योनिमें भी भोगोंको महत्त्व देकर अपने जीवनको व्यर्थ ही खो बैठता है और चौरासी लाख योनियोंमें परिभ्रमणकी जालें बुन लेता है । इस अवसरको खोकर फिर कभी कालको, कभी कर्मको और कभी ईश्वरको दोषी मानते हैं[2] । लेकिन मनुष्य अपनी ही जड़ता और दुर्भाग्यवश मानव-तनकी सार्थकताके बारे कुछ न करनेकी वजहसे भोग-पदार्थोंका दास बना है, वे सुखस्वरूप मानते हैं, किंतु वे वस्तुतः दुःखके कारण होते हैं । यदि मानव अपने दुर्लभ तनकी उपादेयता समझे और अपने ही पुरुषार्थका आश्रय लेकर चले तो इसी जीवनमें कर्मोंके बन्धनसे छूटकर जीवन्मुक्त हो सकता है । आवश्यकता इस बातकी है कि मनुष्य अपने जीवन-लक्ष्योंको भलीभाँति जानकर निर्धारित लक्ष्योंकी सिद्धिहेतु सदैव तत्परतासे चले।

मानव-लक्ष्य

१–असतो मा सद्गमय—हे प्रभु मेरे प्राण ! तुम मुझे असत्से सत्की ओर ले जाओ।

२–तमसो मा ज्योतिर्गमय—हे नित्य ज्योति प्राण ! तुम मुझे अज्ञानान्धकारसे उबार कर प्रकाशसे प्रकाशित कर दो ।

३–मृत्योर्माऽमृतं गमय—हे अमृतस्वरूप प्रभु ! मुझे मृत्युसे उबारकर अमृतत्वकी ओर ले चलो ।

'अयं लोकः कर्मबन्धनः'—यह समस्त संसार समुदाय कर्मोंसे बँधा है । अब यहाँ प्रश्न उठता है कि बन्धनके कारण क्या हैं ? क्या कर्म अर्थात् क्या क्रिया बाँधती है ? कौन-सा ऐसा तत्त्व है जो हमें बाँधता है ? सही-सही वस्तुका कारण ज्ञात हो जाता है तो उससे अपना बचाव कर सकते हैं । यदि पैरमें काँटा गड़ जाता है तो देखकर उसे हम सुईसे निकाल

१–नर तन सम नहिं कवनिउ देही । जीव चराचर जाचत तेही ॥ बड़े भाग मानुष तनु पावा । सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा ॥ (मानस ७ । ४३ । ४)

२–सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ । कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोष लगाइ ॥ (मानस ७ । ४३)

३–काँच किरिच बदले ते लेहीं । कर ते डारि परस मनि देहीं ॥ गुंजा ग्रहइ परस मनि खोई । इत्यादि । ४–द्रष्टव्य । (बृहदा० १ । ३ । २८)

कहा है। मैं अपने इस देहको तुम्हारी तृप्तिके लिये ऐसे ही दे दूँगा; क्योंकि प्रभुसे दूरीका यही अब एकमात्र कारण रह गया है। अतः देवेन्द्र! तुम शीघ्रता करो। मेरे शरीरमें प्रवेश कर जल्दी ही इस देहका भ्रम नाश कर दो।' धन्य हैं अनासक्तभावके ऐसे उपासक, जिन्होंने स्वर्गीय भोगोंका निरादरकर आत्मतत्त्वके साक्षात्कार-हेतु अपनी देहका प्रयोग जप-तप, स्वाध्याय और लोकहितार्थमें उत्सर्ग कर दिया!

भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा था—मेरी कर्म करनेकी यही विधि है कि मैं निष्कामभावसे प्रत्येक कर्म करता हूँ। आत्मतत्त्वोपासक हमेशा अनासक्तभावसे कर्म करता है। शरीरोपासकके लिये ऐसा सम्भव नहीं होता। भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे निष्काम कर्मकी विधि गीता-(२। ४७)में बतायी—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥

इसका निष्कृष्ट तात्पर्य है कि जीवको नवीन कर्म करनेकी स्वतन्त्रता है, यदि वह चाहे तो अनासक्तभावसे कर्म करता हुआ अपने लक्ष्यकी सिद्धि प्राप्त कर सकता है—मनुष्यका कर्म करनेमें ही अधिकार है और वह कर्मको स्वरूपतः त्याग भी नहीं सकता; क्योंकि प्रकृति उसे कर्म करनेको विवश कर देगी। फिर भी जीवको संसृति-बन्धनसे मुक्ति-हेतु अधिकार दिया है कि वह जीवन्मुक्त हो सकता है। यदि वह जीवनका प्रयोग अन्य कार्यमें करेगा, भोगादिमें फँसेगा तो दण्डित किया जायगा। उसे कर्म करनेका ही अधिकार दिया गया है। उसके फलका निर्धारण करनेका अधिकार तो अन्यको है। कर्मोंके फलका निश्चय प्रभुके विधानके अनुसार होता है। इस दृष्टिसे भी मानवको कर्मोंमें आसक्ति नहीं रखनी चाहिये। आसक्तिका प्रत्यक्ष फल भी वह यहीं देखता है। मान लीजिये, आपने पुत्रका पालन इस दृष्टिसे किया कि यह पुत्र भी आपकी सेवा करेगा, परंतु पुत्रने आपकी सेवा नहीं की; होना पड़ेगा; किंतु यदि अनासक्तभावसे . पालन-पोषण किया है—पिताके दायित्वका . किया है, कर्मके लिये कर्म किया है, तो दुखी कोई बात नहीं होगी। अतः आशा ... करना सर्वोत्तम सिद्धान्त है। सचमुच ... या सङ्ग ही हमें कर्मोंके जालमें फँसाता है ... भावमें श्रद्धा और विश्वास करते हुए हृदयमें दृढ़-भावना करनी चाहिये कि— 'करी सब गोपालकी होय।' सन्त दादूने भी सचेत करते हुए यही कहा है—

दादू तू कर्ता नहीं कर्ता जन है कोय।
कर्ता है सो करेगा तू जनि कर्ता होय॥

समस्त कर्मोंके गुण-विभाग और कर्म-विभागके अन्तर्गत सम्पादित होनेका गीतामें उल्लेख है। आत्माका उससे कोई सरोकार नहीं होता है; वह तो नित्य, निर्विकार, ज्ञानस्वरूप और स्वयं अकर्ता ही है। उससे कर्म कैसे हो सकते हैं!

कर्मको अकर्ममें बदलना महान् पुरुषार्थ है— गीतामें भगवान्ने कर्मोंके बन्धनसे मुक्तिकी दो सनातन विधियाँ बतायी हैं। इन्हें उन्होंने कर्मयोग और कर्मसंन्यास अर्थात्–प्रवृत्ति-मार्ग और निवृत्ति-मार्गकी संज्ञा दी है। दोनों ही विधियोंमें स्वरूपतः कर्म किये जाते हैं, किंतु कर्मयोगके अन्तर्गत अपने मन, शरीर और इन्द्रियादिसे होनेवाली क्रियाओंका स्वरूपतः पालन करते हुए उन्हें भगवदर्पण कर दिया जाता है और इस प्रकार जो भी नित्यप्रति क्रियाएँ सम्पन्न होती हैं उन सबको ब्रह्मार्पण किया जाता है। साथ ही चूँकि वे सब कर्म भगवान्को अर्पित किये जाते हैं, अतः फलकी आकाङ्क्षा भी नहीं रहती और कर्ताभावसे उत्पन्न अहंसे रक्षा हो जाती है। इसी तरह अन्य विधि कर्म-संन्यास है। इसमें यह भाव दृढ़ किया जाता

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः॥

स्पष्ट है कि ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय—ये तीन कर्मके प्रेरक हैं और कर्ता, करण तथा क्रिया—ये तीन, कर्म-संग्रह करानेवाले होते हैं। प्रत्येक कर्मको यदि कर्ताभाव-से सम्बद्ध किया गया तो उसके तीन प्रकारोंमेंसे कोई भी फल होगा---शुभ कर्मका फल अच्छा, अशुभका बुरा और शुभाशुभका मिश्रित—अच्छा और बुरा मिला हुआ।'

यहाँ हम यदि एक युक्तिका सहारा लेकर अपनेको किसी कर्ममें कर्तृत्वभावसे रहित बनानेमें कुशलता प्राप्त कर लें तो निःसंदेह उसके अच्छे-बुरे या दोनों प्रकारके परिणामसे भी अपनेको मुक्त कर सकते हैं। इस तरह यह स्पष्ट होता है कि क्रियाका त्याग न करके कर्तृत्वा-भिमानका निषेध ही कर्मयोगकी विधि है। भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा— तू मेरी तरह कर्म कर। जिस तरह मैं अपने कर्मोंसे अलिप्त हूँ, तू भी वैसे ही अपनेको अलिप्त रख सकता है। [illegible]

व्यापारमें सर्वप्रथम स्वार्थ पहुँचती है, [illegible] व्यापारके पीछे लाभके प्रलोभनका प्रभुत्व रहता है। क्योंकि आसक्तिकी जंजीर ही वह बन्धन है जो मनुष्यको भव-सागरके दुःखमें डालनेका हेतु है। आसक्तिका माध्यम बन आज सभी मानव प्राणियोंमें [illegible] कर रहा है। माता सीता और कञ्चनमृगकी कहानी [illegible] आँख खोल सकती है। जगत्-जननी पृथ्वी-सुता [illegible] ने पञ्चवटीमें श्रीरामसे उस कनकमृगके [illegible] आकृष्ट होकर उसकी इच्छा की, तो परिणाममें उन्हें [illegible] लंकाकी अशोकवाटिकामें पूरे एक वर्षका बन्दी [illegible] व्यतीत करना पड़ा। आज सारे राष्ट्रिय जीवनको कलुषित करनेमें यदि किसीका हाथ है तो इस भावका ही है। हमने अपने कर्म करनेकी विधिको, निष्काम कर्मको भुला दिया और उस सकाम कर्मको अङ्गीकृत कर लिया। यह सकाम कर्मबन्धनका सबसे बड़ा कारण बनाया [illegible]

निष्कर्ष यह कि मानव दो नावोंपर सवार व्यक्तिके समान है। एक ओर देह है और दूसरी ओर देही। एकसे लोक-सिद्धि है, दूसरेसे परलोक-परमार्थकी सिद्धि। एक हमें अनात्मघाटकी ओर ले जाती है तो दूसरी आत्मघाटकी ओर। कुशल यात्री वही है जो दोनों ही—लौकिक और पारलौकिक—जीवनकी सिद्धि कुशलतापूर्वक कर ले। कर्मकी यही कुशलता या चतुराई है कि वह कर्मको अपने पुरुषार्थद्वारा अकर्ममें बदल दे। कर्मके कुशलतापूर्वक संचालनकी विधिका हमें सत्सङ्ग, सत्-शास्त्रों और सद्भावोंकी जागर्तिसे सिद्धि हो सकती है।

है कि मैं द्रष्टा, साक्षी स्वयं ब्रह्मस्वरूप चैतन्य हूँ और समस्त क्रियाएँ मेरे द्वारा न होकर इन्द्रियों, मन, बुद्धि और शरीरसे सम्बद्ध हैं, जिनसे मेरा कोई तात्त्विक लगाव नहीं है। यहाँ कर्तृभावका अपनेमें आरोपण न करते हुए आत्म-तत्त्वका बोध नित्यप्रति जाग्रत् रखा जाता है। इन दोनों विधियोंमें कर्मका पालन भी होता है और उनके बीजस्वरूप संस्कारोंसे रक्षा होती है। जिस तरह बीजको भुन दिया जाय तो उसमें उर्वरा शक्तिका अभाव हो जाता है उसी प्रकार कर्मसंन्यासमें भी ज्ञानाग्निसे कर्मोंके संस्कारोंको विनष्ट कर दिया जाता है।

कर्मसंन्यससे कर्मयोगकी विशेषता

(लेखक—श्रीफतहबहादुरजी सक्सेना)

हमारे भारतमें प्राचीनकालसे ही कर्मसंन्यास एवं कर्मयोग—ये साधनाके दोनों मार्ग चले आ रहे हैं। सृष्टिके आरम्भमें भगवान्ने जब ब्रह्माजीको सृष्टि रचनेकी आज्ञा दी, तब उन्होंने तप करके मरीचि आदि सात मानस-पुत्रोंको उत्पन्न किया जिन्होंने सृष्टिको भलीभाँति चलानेके लिये कर्ममय प्रवृत्तिमार्गका अवलम्बन लिया। ब्रह्माजीके सनत्कुमार आदि मानस-पुत्रोंने प्रारम्भसे ही निवृत्तिमार्ग अपनाया था, जो कपिलमुनिके प्रचारसे सांख्य या कर्मसंन्यासमार्ग कहलाया। ब्रह्माजीने मरीचि आदि ऋषियोंद्वारा जो प्रवृत्तिमार्ग चलाया था, उसीसे आगे चलकर कर्मयोगका प्रसार हुआ। महाभारत आदि शास्त्र-ग्रन्थोंने कर्मसंन्यास और कर्मयोग दोनों मार्गोंको मोक्षप्रद तथा स्वतन्त्र बतलाया है। किंतु इनमें अन्तर यह है कि कर्मसंन्यास या सांख्यमतवाले प्रारम्भसे ही संन्यास-आश्रममें जाकर सांसारिक सब कर्मोंको त्यागकर एकान्त वनमें जाकर ब्रह्मकी प्राप्तिमें लगे रहनेका उपदेश देते हैं, जबकि कर्मयोगी भगवान्की प्राप्तिके साधन करते हुए भी निष्काम-कर्म लोक-संग्रहकी भावनासे करते रहनेका निर्देश करते हैं।

वेदोंके अन्तमें ज्ञानकाण्डका भी वर्णन है; किंतु अधिकांश कर्मकाण्ड होनेसे वैदिकधर्मका प्राचीन स्वरूप कर्मकाण्डमय ही था। उपनिषदोंके ज्ञानके प्रचारसे संन्यासियोंके लिये त्रेतायुगमें कर्मत्यागरूपी संन्यास-मार्गका प्रचलन हुआ; किंतु उस समय भी ज्ञानका कर्मसे संयोग करके जनक आदि ज्ञानी पुरुष आजन्म निष्काम-कर्म करते रहे। इसके पश्चात् स्मृतियोंमें आश्रम-व्यवस्थाके अनुसार ब्रह्मचर्य, गृहस्थाश्रम और वानप्रस्थ-आश्रमके बाद कर्म-त्यागरूपी संन्यासको ग्रहण करनेपर बल दिया गया है। गीतामें जनकके समान ज्ञानयुक्त कर्मयोगीकी भी बहुत महत्ता बतलायी है। मनुस्मृति आदि तथा वेदसंहिता और ब्राह्मण आदि ग्रन्थोंमें गृहस्थाश्रमको श्रेष्ठ बतलाकर इसीमें निष्कामकर्म करते रहनेसे मोक्ष मिलना बताया है। याज्ञवल्क्यजीने यद्यपि ज्ञानकी महत्ता बतलायी, किंतु जनक महाराजको निष्काम-कर्मोंका त्याग, संन्यास लेनेका उपदेश नहीं दिया। वेदव्यासजीने तो अपने ज्ञानी पुत्र शुकदेवजीको जनकजीके पास शिक्षा प्राप्त करनेके लिये भेजा था। देवल आदिके धर्मसूत्रोंमें वर्णन है कि मनुष्य, जितेन्द्रिय रहकर जन्मसे ही तीन ऋण रखते हैं, जिनको चुकानेके

साधकोंकी दृष्टिसे भी कर्म-संन्यासकी अपेक्षा कर्म-
से ही भगवान् या मोक्षकी प्राप्ति सरल होती है।
के लिये मन एवं इन्द्रियोंको वशमें करके सब कर्मोंको
कर निर्गुण ब्रह्मकी उपासना करना अति कठिन
। पूर्ण ज्ञानी महात्मा ही इन्द्रियोंसे कुछ भी न कर
ती आत्मशक्तिसे सब कुछ कर सकते हैं; किंतु
धारण साधकोंको इन्द्रियोंसे कुछ न करके मनको
वशमें कर परमात्माकी उपासनामें लगाना सम्भव नहीं
ता। गीताके बारहवें अध्यायके पाँचवें श्लोकमें इस
साधनको अत्यन्त क्लेशकर बताया है। साधकोंके लिये तो
सभी इन्द्रियोंको भगवान्की पूजा या भक्तों, निर्धनों तथा
रोगियों आदिकी सेवामें लगाकर मनको एकाग्र करना सरल
होता है। निषिद्ध-कर्मोंको त्याग निष्कामतासे किसी भी
परोपकारके कर्ममें लीन हो जानेसे इन्द्रियाँ और मन अपने-
आप वशमें हो जाते हैं और अन्तःकरण शुद्ध होकर
कुछ ही समयकी साधनासे ही उन्हें भगवान्की प्राप्ति
हो जाती है। इस प्रकार कर्मयोग साधन और साध्य
दोनों है, जब कि कर्म-संन्यास केवल साध्य ही है।

कर्मयोग और कर्मसंन्यास दोनोंमें ज्ञानकी प्रमुखता है,
किंतु कर्मसंन्यासीको यदि ज्ञानकी प्राप्ति न हो तो उसकी
सब साधना व्यर्थ जाती है; पर कर्मयोगीको परोपकार
आदि निष्काम-कर्मोंसे ज्ञान न भी हो तो भी उसके
द्वारा दूसरोंके कल्याण होनेसे मृत्युके पश्चात् उसे कम-
से-कम स्वर्गकी प्राप्ति तो अवश्य ही होती है; क्योंकि
दुराचार या निषिद्ध कर्म उससे होते ही नहीं हैं।

कर्म-संन्यासी कहते हैं कि गृहस्थ और सांसारिक
कर्मोंको त्यागकर एकान्त वनमें जाकर ही निर्गुण साधनासे
ब्रह्म या मोक्षकी प्राप्ति होती है। किंतु प्रायः देखा जाता
है कि जिनका मन गृहस्थ-जीवनमें एकान्त स्थानकी
साधनामें नहीं लगता, उनका मन कर्म त्यागकर वनमें भी
नहीं लगता। वनमें भी उन्हें धन या परिवारकी चिन्ता
लगी रहती है और वहाँ भी कुटिया व
की आसक्ति होने व अन्य संन्यासियोंकी
होनेसे उनको आत्मज्ञान नहीं हो पाता। जैसे-
वनके एकान्तमें मनको एकाग्र भी कर
यह ज्ञात ही नहीं हो पाता कि
क्रोध आदि विकार दूर हुए या
कभी बस्तीमें आते हैं तो तनिकसे उद्वेगसे वे
क्रोध आदिके शिकार हो जाते हैं।

पुराणोंमें एक कर्म-संन्यासी ब्राह्मणकी कथा है।
ज्ञान प्राप्त होनेपर जब वह तपस्वी भिक्षाके लिये निकला तो प्रथम
बस्तीके निकट एक वृक्षके नीचे बैठ गया। किसी पक्षीने
वहाँ उसपर बीट कर दिया तो उसने क्रोधसे उसकी ओर
देखा, जिससे वह पक्षी भस्म हो गया। अपनी इस सिद्धिके
अभिमानसे वशीभूत हो जब वही तपस्वी किसी पतिव्रता
स्त्रीके घर भिक्षा माँगने गया। पतिकी सेवामें लगी होनेके
कारण उसे भिक्षा देनेमें कुछ देर हो गयी तो उस स्त्रीपर भी
वह क्रुद्ध हो उठा। इसपर उस पतिव्रताने नम्रतासे कह दिया
कि आपका क्रोध एक पक्षीपर सफल हो जानेकी तरह
निष्काम सेवा करनेवाली एक पतिव्रता स्त्रीपर प्रभावी नहीं हो
सकता। आपको यदि निष्काम कर्मयोगकी अधिक महत्ता
जाननी हो तो दूसरी बस्तीमें एक व्याधके पास जाइये
जो मांस बेचता है। पतिव्रता स्त्रीके घर-बैठे ही अपने
द्वारा पक्षीके भस्म हो जानेकी बात जान लेनेपर ब्राह्मण-
को बड़ा आश्चर्य हुआ और वह इसी जिज्ञासासे दूसरी
बस्तीमें व्याधके पास गया। व्याधने उस ब्राह्मणको
देखते ही कहा कि आपको क्या उस पतिव्रता स्त्रीने
भेजा है ? आप तनिक समय ठहरिये। मैं अपने
ग्राहकोंको निबटाकर घर चलकर भिक्षा दूँगा और आप-
की जिज्ञासाका भी समाधान करनेका प्रयत्न करूँगा।
तब ब्राह्मण आश्चर्यसे मौन हो थोड़ी देरमें उस व्याधके
साथ उसके घर गया। वहाँ माता-पिताकी सेवा करनेके
पश्चात् व्याधने उस कर्म-संन्यासीको उसके योग्य भिक्षा

श्रीकृष्णने गीताके २-३-४ अध्यायोंमें उसे सांख्य (कर्मसंन्यास) तथा कर्मयोग दोनोंके सिद्धान्त विशद रूपसे समझाये। दूसरे अध्यायमें श्लोक ४६में कहा कि ज्ञानीको कर्मकी आवश्यकता नहीं रहती और अन्तमें स्थितप्रज्ञताको श्रेष्ठ बताया। फिर तीसरे अध्यायमें कर्मयोगको श्रेष्ठ बताया। चौथे अध्यायमें द्रव्यमय यज्ञकी अपेक्षा ज्ञानयज्ञको अच्छा कहकर यह भी बताया कि ज्ञानसे सब कर्म भस्म हो जाते हैं (४ । ३३—३७)। किंतु अन्तमें ज्ञानयुक्त कर्म करनेको कहकर युद्ध करनेको कहा। इसपर पाँचवें अध्यायके प्रथम श्लोकमें अर्जुन श्रीकृष्णसे निवेदन करते हैं कि आप कभी ज्ञान यानी कर्म-संन्यासको और कभी कर्मयोगको श्रेष्ठ बतलाते हैं। इससे मुझे आप अब स्पष्ट बतलाइये कि इन दोनों मार्गोंमें कौन-सा मार्ग श्रेष्ठ है। तब श्रीकृष्णभगवान् दूसरे श्लोकमें स्पष्टरूपसे कहते हैं कि—

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते॥

कर्म-संन्यास एवं कर्मयोग दोनोंसे यद्यपि मोक्षकी प्राप्ति हो सकती है, किंतु इन दोनों मार्गोंमें कर्मसंन्याससे कर्मयोगकी विशेष योग्यता है। आगे वे कहते हैं कि मोक्ष-प्राप्तिकी दृष्टिसे तो सांख्य (कर्मसंन्यास) तथा कर्मयोग दोनों समान हैं, किंतु कर्मयोगका आचरण किये बिना संन्यास प्राप्त करना कठिन है। इस कारण कर्मयोगके व्यवहारके साथ-साथ साधना करनेसे भगवान्‌को शीघ्र एवं सरलतासे प्राप्त किया जा सकता है।

गीतामें श्रीकृष्णभगवान्‌ने किसी भी साधनाके मार्गका विरोध नहीं किया है। इसी कारण प्रत्येक सम्प्रदायके लोग इसे अपना शास्त्र मानते हैं। भगवान् गीतामें कर्मसंन्यासको भी बुरा नहीं बताते, किंतु व्यवहार और लोकसंग्रहकी ही दृष्टिसे कर्मयोगको कर्म-संन्याससे श्रेष्ठ बतलाते हैं। तीसरे अध्यायमें वे कहते हैं कि सांख्यमार्गी जो मोक्षके लिये सब कर्मोंका त्याग करनेको कहते हैं, वह ठीक नहीं है। कर्मोंका त्याग किसी भी देहधारीके लिये सम्भव नहीं है; प्रकृतिके गुण सदैव किसी-न-किसी कर्ममें लगाये रहते हैं। उठना-बैठना, खाना-पीना, या भिक्षा माँगने आदिके कर्म जो कर्म-संन्यासियोंको भी करने पड़ते हैं, वे भी कर्मकी श्रेणीमें ही आते हैं। किंतु जो कर्मेन्द्रियोंसे अन्य कर्म न करके मनसे विषयोंका चिन्तन करते रहते हैं, उनको न ज्ञानकी प्राप्ति होती है और न मोक्षकी। अतः जो मन एवं इन्द्रियोंको वशमें करके अनासक्तबुद्धिसे अपने स्वधर्मको कर्तव्य समझ करके फलत्यागपूर्वक जीवन-पर्यन्त अनुष्ठित करता रहता है, वही कर्मयोगी श्रेष्ठ माना जाता है। कर्म-संन्यासी जो यह कहते हैं कि कर्मोंसे बन्धन होता है और उनके त्यागसे ही मोक्ष होता है, वह भी ठीक नहीं है। केवल कर्मोंके त्यागसे ही उन्हें मोक्ष नहीं होता, किंतु साधना-द्वारा ज्ञान प्राप्त होनेपर ही मोक्ष सम्भव है। फिर मनुष्य कर्म न करे तो शरीर एवं जीवनका निर्वाह भी नहीं हो सकता। इसीसे ब्रह्माजीने सृष्टिकी रचना करके प्रवृत्तिमय यज्ञ-चक्र भी चलाया, जिससे मनुष्य और देवता आपसी सहयोगसे एक दूसरेका कल्याण करते रहें। यज्ञसे बचा हुआ अन्न ही ग्रहण करनेसे मनुष्य पापोंसे मुक्त होता है। चौथे अध्यायमें श्रीकृष्णने जैमिनि आदि मीमांसकोंके इस कथनका भी निष्कामताका योगकर समर्थन किया है कि जप, यज्ञ, दान, तप आदि कर्मोंको भी जो निष्काम बुद्धिसे फलाशा त्यागकर करते हैं, उन्हें उनसे बन्धन नहीं होता और निष्कामतासे अन्तः-करण निर्मल होकर मोक्ष भी मिल जाता है। ऐसे ही निष्काम-कर्मोंके निष्ठागत होनेपर कर्मयोग सम्पन्न होता है, जिसको कर्म-संन्याससे श्रेष्ठ माना जाता है।

...वीवन-निर्वाहके लिये गृहस्थलोगोंपर ही निर्भर ...ता है। अतः गृहस्थोंके इस आभारसे उऋण ...लिये कर्म-संन्यासियोंको उनके हित एवं कल्याणके ...छ कर्म करना आवश्यक है; वरना वे शास्त्रानुसार ...के भागी होते हैं। अतः संन्यास-आश्रममें भी ज्ञान प्राप्त होनेके पश्चात् गीताके अनुसार काम्य कर्मोंको त्याग लोक-कल्याणके ... लगना योग्य माना जाता है। अतः गीताके पाँचवें अध्यायके दूसरे ... कर्मयोगको श्रेष्ठ बतलाया है।

निष्काम कर्म-साधन-पद्धतिकी महिमा

(लेखक—पं० श्रीनारायणदासजी पहाड़ा)

...कुछ पानेके लिये सिर देनेकी बात तो सभी जानते ... वीरोंके इतिहासोंमें इसकी कमी नहीं है। पर ...म सेवाभावसे विद्यादानार्थ सिर देनेकी बात सबको ...र्यजनक प्रतीत होगी। पर है यह एक तथ्य। ...कार श्रीचादिवेद कहते हैं—

...प्णोऽपि कर्तनं सह्यं विद्यां दातुं प्रबुद्धिभिः।
...ध्यङ् मधुप्रदानार्थं तत्याज शिरसो द्वयम्॥
(नीतिमञ्जरी ४३)

'अर्थात् प्रबुद्ध पुरुषको अपनी विद्या सिखलानेके ...ये, सत्पात्र शिष्यमें उसका आधान करनेके लिये यदि ...र भी कटाना पड़े तो हँसते-हँसते सह लेना चाहिये। ...थर्वज दध्यङ् ऋषिने अश्विनीकुमार-जैसे सत्पात्रको ...धुविद्याका दान करनेके लिये एक बार सिर कटाकर ...ड़ेका सिर लगाये, पुनः भी कटाये और अपने पूर्व ...रको जुड़ाये।'

...धर्मारण्यक्षेत्रमें साभ्रमती (साबरमती) नदीके ...टपर एकान्त भवनमें दध्यङ् ऋषि-(दधीचि मुनि-) ...का गुरुकुल प्रतिष्ठित था। वहाँ देशके कोने-कोनेसे ...कितने ही साधनचतुष्टयसम्पन्न अधिकारी जिज्ञासु ...मधुविद्या' सीखनेके लिये आया करते थे। अभीतक ...ऋषिसे यह विद्या सीखकर ... आज भी कितने ही ...पा रहे थे। वहाँका निर्मल और आप्यायक था कि पृथ्वीके दूसरे किसी छोरपर खोजनेपर भी बहुत कठिनाईसे ही मिल सकता था। प्रकृति भी मानो आश्रमकी सेवाके लिये सदैव हाथ जोड़े खड़ी रहती थी। जिस समय जिस ऋतुकी विशेष वस्तु अपेक्षित हो, असमयमें वह वहाँ सुलभ कर देती थी। तीनों ओर वनराजियोंसे घिरे उस आश्रममें तरह-तरहके वृक्ष सुमधुर फलों एवं सुवासित पुष्पोंसे लदे दिखायी पड़ते। एक ओर निर्मल-सलिला साभ्रमती अपना कल-कल निनाद करती बहती थी। आश्रममें चारों ओर गाय और शेर साथ-साथ पानी पीते और ऋषिके समभावकी साक्षी दिया करते थे। आश्रममें एक ओर ऋषिका निवास और उसीके सटी उनकी अग्निशाला थी तो दूसरी ओर गुरुकुलके शिक्षार्थियोंके सात्त्विक आवास। आश्रमके बीच बहुत बड़ी पर्णशालामें ऋषि अपने शिष्योंको मधुविद्याका उपदेश देते।

एक दिन इन्द्रने उनसे आकर कहा—'मैं देवराज इन्द्र हूँ। ज्ञात हुआ है कि आप मधुविद्याका उपदेश करते हैं, जिससे प्राणी सर्वदुःख-निर्मुक्त हो जाता है। स्वर्गमें कहीं भी वह सुलभ न होनेसे जगदीश्वर मुझे आपके पास आना पड़ा। आप मुझे वह विद्या सिखा दें।'

ऋषि अध्ययनार्थ उपस्थित शिष्योंसे यह कहकर कि आज अतिथिके आगमनसे अनध्याय है—'शिष्टागमनेऽनध्यायः,' अतः आपलोग अन्य कार्य करें, और

देकर कहा कि हम अपढ़लोग तो अपने माता-पिताकी केवल कर्तव्य-भावनासे सेवा करते हैं और स्वधर्मका निष्कामतासे पालनकर सबके साथ ममताका व्यवहार करते हैं। इसीसे भगवान् हमको सब कुछ प्रदान कर देते हैं। यह जानकर वह ब्राह्मण कर्मयोगकी महत्ता समझकर अपनी कुटियामें साधनाके लिये चला गया। अतः मनके छिपे हुए विकारोंको दूर करनेके लिये कर्मयोग कर्म-संन्याससे श्रेष्ठ है; क्योंकि गृहस्थी व संसारमें रहकर स्वधर्मका पालन करनेसे मनकी दशाका साधकको शीघ्र पता चल जाता है; जिससे वह अपने सब विकारोंको धीरे-धीरे दूरकर अपने मनको निर्मल बना सकता है। निर्मल मन ही शीघ्र एकाग्र हो मोक्ष या भगवान्‌की प्राप्ति कराता है; जैसा कि 'मानस'के भगवान् श्रीरामने कहा है—'निर्मल मन जन सो मोहि पावा।'

श्रीकृष्णभगवान्‌ने गीताके अठारहवें अध्यायमें जो संन्यास और त्यागके विषयमें अर्जुनको समझाया है, वहाँ भी संन्यासको ज्ञानीलोगोंद्वारा सब या काम्य-कर्मोंको छोड़ देना और त्यागको कर्मयोग (यानी फलाशात्यागरूपी निष्काम बुद्धिसे आजीवन लोक-कल्याणके कर्म करते रहना) बताया है। संन्यासीके तो विवेक व वैराग्यसे राग-द्वेष व आसक्ति आदि दोष दूर हो जाते हैं और उनको लोक-कल्याणकी चिन्ता ही नहीं रहती; क्योंकि वे संसारको मिथ्या समझते हैं। किंतु कर्मयोगीमें प्रारम्भमें ज्ञान-वैराग्य तो उतना होता नहीं, वह तो निष्काम सेवा करते-करते यह समझने लगता है कि भगवान्‌ने जो मुझे यह धन, सम्पत्ति, योग्यता आदि दिये हैं, वे दूसरोंके कल्याण करनेके लिये दिये हैं। यह शरीर भी मुझे प्राणिमात्रकी सेवाके लिये मिला है। ऐसी समझ-बन्ध होनेसे और सबोंकी सेवामें कर्तव्य-भावनाका विवेक आ जानेसे उसके सब कर्म भक्तियुक्त अकेला होने लगते हैं। उसके किसी कामसें स्वार्थकी भावना तो होती ही नहीं। वह शरीर एवं भोग्य पदार्थोंको भी अपना नहीं मानता; अपने सब कर्मोंको सेवा-भावनासे ही करते रहनेसे राग-द्वेष-आसक्ति व फलाशा और कर्तव्य अभिमान स्वयं सुतराम् त्याग हो जाता है, जिनके लिये कर्म-संन्यासीको कठिन साधना करनी पड़ती है। कर्मयोगीमें न होनेसे वह निषिद्ध कर्म तो करता ही नहीं। अपने सब कर्म शास्त्रोंके धर्मानुसार करता है, जिससे उसमें वैराग्य-भावना स्वतः आ जाती है; जैसा तुलसीदासजी मानस (३ । १५) में कहते हैं—'धर्म ते बिरति जोग ते ग्याना'। वह समदृष्टिसे सब सुख-सम्पत्तिका त्यागकर लोक-कल्याणके कर्म फलाशारहित होकर किया करता है। अतः गीता-(१२ । १२) के अनुसार कर्मयोगीको कर्मफलके त्यागसे शीघ्र ही शान्ति प्राप्त हो जाती है। निष्कामतासे उसका मन एवं इन्द्रियाँ वशमें रहती हैं, जिससे राग-द्वेष-रहित कर्तव्य-पालन एवं फलासक्तिके त्यागसे उसे गीता-(२ । ६४)के अनुसार आनन्द भी मिलता है। इस प्रकार कर्मयोगीके सब दुःख दूर होकर मनके अपार सुख एवं शान्तिसे उसे स्वतः ही जीवन्मुक्त अवस्थाका अनुभव सरलतासे हो जाता है (गीता २ । ६५)।

कर्मयोगी सब प्राणियोंमें भगवान्‌की ही भावना रखता है और जीवन्मुक्त अवस्थामें भी वह जनककी भाँति संसारमें रहकर भी निष्कामतासे लोकसंग्रहके लिये सब कर्म करता रहता है जिससे जन-साधारण उसके दिव्य आचरणोंका अनुकरण करके उसके समान बननेका प्रयत्न करते रहते हैं; जबकि कर्मसंन्यासियोंसे उन्हें मनुष्योंको अपने आचरण सुधारनेका न अवसर मिलता है और न प्रेरणा ही। प्राचीनकालकी भाँति आजकल वनोंमें तो उन्हें कन्दमूल, फल आदि मिलते नहीं, जिससे संन्यासी अपनी क्षुधाको भी शान्त कर सकें। इससे

देकर कहा कि हम आपलोग तो अपने मता-पिताकी केवल कर्तव्य-भावनासे सेवा करते हैं और स्वधर्मका निष्कामतासे पालनकर सबके साथ ममतापूर्ण व्यवहार करते हैं। इसीसे भगवान् हमको सब कुछ प्रदान कर देते हैं। यह जानकर वह ब्राह्मण कर्मयोगकी महत्ता समझकर अपनी कुटियामें साधनाके लिये चला गया। अतः मनके छिपे हुए विकारोंको दूर करनेके लिये कर्मयोग कर्म-संन्याससे श्रेष्ठ है; क्योंकि गृहस्थी व संसारमें रह-कर स्वधर्मका पालन करनेसे मनकी दशाका साधकको शीघ्र पता चल जाता है; जिससे वह अपने सब विकारों-को धीरे-धीरे दूरकर अपने मनको निर्मल बना सकता है। निर्मल मन ही शीघ्र एकाग्र हो मोक्ष या भगवान्-की प्राप्ति कराता है; जैसा कि 'मानस'के भगवान् श्रीराम-ने कहा है—'निर्मल मन जन सो मोहि पावा।'

श्रीकृष्णभगवान्‌ने गीताके अठारहवें अध्यायमें जो संन्यास और त्यागके विषयमें अर्जुनको समझाया है, वहाँ भी संन्यासको ज्ञानीलोगोंद्वारा सब या काम्य-कर्मोंको छोड़ देना और त्यागको कर्मयोग (यानी फलाशात्याग-रूपी निष्काम बुद्धिसे आजीवन लोक-कल्याणके कर्म करते रहना) बताया है। सन्यासीके तो विवेक व वैराग्यसे राग-द्वेष व आसक्ति आदि दोष दूर हो जाते हैं और उनको लोक-कल्याणकी चिन्ता ही नहीं रहती; क्योंकि वे संसारको मिथ्या समझते हैं। किंतु कर्मयोगी-में प्रारम्भमें ज्ञानवैराग्य तो उतना होता नहीं, वह तो निष्काम सेवा करते-करते यह समझने लगता है कि भगवान्‌ने जो मुझे यह धन, सम्पत्ति, योग्यता आदि दिये हैं, वे दूसरोंको कल्याण करनेके लिये दिये हैं। यह शरीर भी मुझे प्राणिमात्रकी सेवाके लिये मिला है। ऐसी परमात्म-भावना होनेसे और संतोंकी सेवासे कर्तव्य-अकर्तव्यका विवेक आ जानेसे उसके सब कर्म भक्ति-ज्ञानयुक्त अपने-आप होने लगते हैं। उसके किसी

कर्ममें स्वार्थकी भावना तो होती ही नहीं। व[illegible] शरीर एवं भोग्य पदार्थोंको भी अपना नहीं [illegible] अपने सब कर्मोंको सेवा-भावनासे ही करते [illegible] राग-द्वेष-आसक्ति व फलाशा और कर्तव्य [illegible] क्रम सुगमतासे त्याग हो जाता है, जिनके लिये कर्म[illegible] को कठिन साधना करनी पड़ती है। कर्मोंमें [illegible] न होनेसे वह निषिद्ध कर्म तो करता ही नहीं। अपने सब कर्म शास्त्रोंके धर्मानुसार करता है, [illegible] उसमें वैराग्य-भावना स्वतः आ जाती है; जैसा [illegible] तुलसीदासजी मानस (३ । १५) में कहते हैं— 'धर्म ते बिरति जोग ते ग्याना'। वह स्वार्थके [illegible] सब सुख-सम्पत्तिका त्यागकर लोक-कल्याणके [illegible] फलाशारहित होकर क्रिया करता है। अतः गीता-([illegible] १२) के अनुसार कर्मयोगीको कर्मफलके त्यागसे शीघ्र शान्ति प्राप्त हो जाती है। निष्कामतासे उसका मन [illegible] इन्द्रियाँ वशमें रहती हैं, जिससे राग-द्वेष-रहित कर्तव्य[illegible] एवं फलासक्तिके त्यागसे उसे गीता-(२ । ६४)के [illegible] आनन्द भी मिलता है। इस प्रकार कर्मयोगीके [illegible] दुःख दूर होकर मनके अपार सुख एवं शान्ति[illegible] उसे स्वतः ही जीवन्मुक्त अवस्थाका अनुभव [illegible] हो जाता है (गीता २ । ६५)।

कर्मयोगी सब प्राणियोंमें भगवान्‌को ही [illegible] रखता है और जीवन्मुक्त अवस्थामें भी वह [illegible] भाँति संसारमें रहकर भी निष्कामतासे लोकसंग्रहके लिये सब कर्म करता रहता है जिससे जन-साधारण [illegible] दिव्य आचरणोंका अनुकरण करके उसके समान [illegible] प्रयत्न करते रहते हैं; जबकि कर्मसन्यासियोंसे मनुष्योंको अपने आचरण सुधारनेका न अवसर [illegible] और न प्रेरणा ही। प्राचीनकालकी भाँति आजकल तो इतने कन्दमूल, फल आदि मिलते नहीं, [illegible] संन्यासी अपनी क्षुधाको भी शान्त कर सकें।

गोंके देखते-देखते ऋषिके उस अश्व-सिरको धड़से र दिया। अज्ञात प्रदेशमें उछलकर वह अन्तर्धान हो उन्होंने देखा, गुरुने सिर कटाकर शिष्यको विद्या र सब एक क्षणमें हो गया । सर्वत्र हाहाकार ा।.

मारोंने सबको शान्त करते हुए कहा—शान्त ब ठीक हो जायगा। पुनः यवनिका-पतन हुआ और क्षणमें ही पटपरिवर्तन हो गया । लोगोंने देखा कि की शल्य-चिकित्साकी कुशलतासे पुनः ऋषिका क सिर उनके धड़से पूर्ववत् प्राकृतिक रूपमें जुट । दोनों कुमार गुरुदेवके पावन चरणकमलोंपर क थे।

ोगोंका आश्चर्य तो तब और बढ़ गया, जब कुछ ही क्षणों बाद देवराज इन्द्र ऋषि दध्यङ्के र लोट रहे थे। वे हाथ जोड़कर कहने लगे— ! देवराजके अनन्त अपराध क्षमा करें। दुर्लभतम या देकर उसे ठीकसे सँभालनेकी सलाह देते हुए आपका यह क्षुद्र शिष्य क्रुद्ध हो उठा और उसने अपना क्रोध अपने वज्रसे आपका वध किया। ऐसे पापीके लिये गुरुदेवकी अद्भुत कृपा देख गड़ा जा रहा हूँ। गुरुदेव! मुझे दें । मेरे वज्रद्वारा कटा आपका वह अश्व-सिर पर्वतके सरोवरमें गिर पड़ा है। वह जलसे ऊपर उठकर प्राणिमात्रको विविध वरदान देगा और युगपर्यन्त उसी जलमें पड़ा रहेगा।

ऋषि दध्यङ्ने कहा—देवराज ! रोष मुझे न था और न अब ही है। क्या अपने पुत्र-कल्प शिष्यपर कभी गुरु विनाशकारी क्रोध कर सकता है? क्रान्तदर्शी ऋषिने कहा—'आपद्वारा काटा गया मेरा वह अश्व-सिर आगे वृत्रवधके समय आपके काम आयेगा और विश्व-मङ्गलका साधक बनेगा। देवेन्द्र और अश्विनीकुमार प्रणाम कर चले गये और साध्वी ऋषि-पत्नी ऋषिका हाथ पकड़कर मध्याह्न-कृत्यके लिये आश्रमकी ओर मुड़ी।

एतदर्थ निष्कामकर्म कर ऋषि दध्यङ् संसारमें अपनी कीर्तिका सूर्य उदित कर गये, जो युग-युगतक सदैव देदीप्यमान होता रहेगा।

कर्मयोगके आलोकमें कर्मतत्त्व

जीव कर्मोंके बन्धनमें बँधा हुआ है। वास्तवमें जीवकी क्रमोन्नतिके मार्गमें सहायक उसके अपने र्म हैं। कर्मके तीन भेद हैं—(१) सञ्चित, (२) क्रियमाण और (३) प्रारब्ध। जन्मान्तरमें किये कर्मोंके समूहको सञ्चितकर्म कहा जाता है। जो कर्म वर्तमानमें किये जाते हैं, उनका नाम क्रियमाण है। जीवके जन्मान्तरमें कृत (सञ्चित) कर्मोंमेंसे जितना भोग इस जन्मके लिये छँटकर आरम्भ ाता है—वह प्रारब्ध है। (फलोन्मुख सञ्चितकर्म ही प्रारब्धकर्म कहा जाता है।) प्रारब्धका भोग ाये भुगतना ही पड़ता है—'*प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षयः।*' किंतु सञ्चितकर्म, चाहे कितने ही पर्व के समान हों, ज्ञान प्राप्त होनेपर ज्ञानाग्निमें दग्ध हो जाते हैं—'*ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन*'। ब्धकर्म वर्तमान शरीरके रहनेतक रहते हैं। रहा क्रियमाण-कर्म तो इस सम्बन्धमें शास्त्रका ादेश यही है कि स्वार्थबुद्धिसे कोई कर्म नहीं करना चाहिये। यही निष्काम कर्मोंकी जड़ होकर कर्मयोगकी दिशामें मोड़ देता है। विश्व-कल्याण त्याग, परोपकारसे प्रारम्भ होकर अहंकारके विलीनीकरणमें कर्तव्य बन जाता है—जहाँ कर्मयोगका दिव्य प्रकाश फैल जाता है। 'निःश्रेयस' तो कर्मयोगीके धर्म्य कर्तव्यका स्वाभाविक, अमित परिणाम है—कामनामूलक फल नहीं।

वे देवराजको साथ ले उन्हें उपदेशार्थ अग्निशालामें ले आये। उपदेश ग्रहणकर चलते समय इन्द्रने इसे किसी अनधिकारीको न देनेकी प्रार्थना कर विदा ली।

एक दिन ऋषि दध्यङ् विचारमुद्रामें बैठे थे कि लोकोत्तर सौन्दर्यशाली दो युवक उनके निकट आये और भक्तिभावसे प्रणाम कर बैठ गये। ऋषिने उनका परिचय पूछा। आगन्तुकोंने कहा—'ऋषे! हम अश्विनीकुमार हैं। अबतक हमलोग कभी असत्य नहीं बोले और न किसी तरहकी पीड़ा किसीको दी है, हिंसा करना तो दूर रहा, जहाँतक बना प्राणिमात्रकी सेवा, उपकार करनेमें कोई कसर नहीं उठा रखी। हमें चिकित्साशास्त्र आता है। स्वर्गसे लेकर मर्त्यलोकतक जो भी पीड़ित स्मरण करते हैं, हम तत्काल पहुँच जाते हैं और सेवा-चिकित्साद्वारा उन्हें स्वस्थ बना देते हैं। अश्वियोंने आगे कहा—'ब्रह्मन्! हमारी यह मानव-सुलभ सर्वसाधारणकी सेवा-प्रवृत्ति देख देवराज देवजाति होनेपर भी हमें हेय दृष्टिसे देखते और अभीतक यज्ञमें भाग नहीं देते हैं। आपको पता ही होगा कि कुछ दिन पूर्व हमलोगोंने च्यवन ऋषिको वृद्धसे नवयुवक बना दिया तो ऋषिने कृतज्ञतावश हमें 'सोमपायी' बनाया। तब देवराजको भी विवशतः इसे मानना पड़ा। पर ऋषे! इतना सब होते हुए भी आत्मविद्याका ज्ञान न होनेसे हमें अपने देवत्वमें भारी न्यूनताका अनुभव हो रहा है। पता चला कि आप 'मधुविद्या'के आचार्य हैं। हम विनीत शिष्य आपकी शरण आये हैं, हमें यह ज्ञान प्राप्त कराकर कृतार्थ करें।' ऋषिको यह निश्चय हो गया कि आजतक मेरी इस विद्याको ग्रहण करनेवाला इनसे बढ़कर कोई पात्र नहीं मिला। यह देख उन्हें प्रसन्नता हुई। वे जानते थे कि सत्पात्रमें अर्पित विद्या सुक्षेत्रमें बोये गये बीजोंकी तरह शत-सहस्रगुणित होकर फलती है।

इसपर ऋषिने सखेद अश्विनीकुमारोंके समक्ष अपनी विवशता व्यक्त की। कुमारोंने कहा—'ऋषे! हमें घटनाका हमें भी पता है। पर हम वैद्य हैं। आपका सिर काटकर अलग रख देंगे और उसके स्थानपर अश्वका सिर लगा देंगे। आप उसी अश्व-सिरसे हमें मधुविद्याका उपदेश दें। यदि इन्द्रने क्रोधवश उसे काट दिया तो हम पुनः आपका वास्तविक सिर जोड़ देंगे।'

फिर अश्विनीकुमार एक अश्वका सिर लेकर पहुँचे। कुछ ही क्षणोंमें ऋषिके धड़पर अश्वका सिर शोभित होने लगा! दर्शक यह देख अवाक् रह गये। दोनों अश्वमुखसे कुमारोंके लिये आशीर्वादके शब्द सुने। कुमारोंने अपनी शल्यक्रियासे उसका ऐसा संयोजन कर दिया कि लगता ही न था कि सिर जोड़ा गया है।

त्वष्टाके एकान्त गृहमें ऋषि अश्विशिष्योंको मधुविद्याका रहस्य समझाने लगे—'स्थूलसे सूक्ष्म समस्त जागतिक पदार्थ परस्पर उपकार्य-उपकारक-भावसे एक दूसरेमें अनुस्यूत हैं। पृथ्वी प्राणिमात्रके लिये मधु है तो प्राणिमात्र पृथ्वीके लिये। पृथ्वीमें तेजोमय, अमृतमय पुरुष है और दोनों समस्त पदार्थोंके उपकारक हैं, अतएव वे समस्त पदार्थोंके लिये मधु हैं और इनके लिये वे पदार्थ मधु हैं। जल, अग्नि, वायु, आदित्य, दिशा, चन्द्र, विद्युत्, मेघ सबके लिये ये नियम लागू हैं। धर्म और सत्य भी इसी प्रकार जगत्‌के परस्पर उपकारक होनेसे परस्परके लिये मधु हैं। धर्म और समग्र वर्गोंके बीच परस्पर उपकार्य-उपकारक भाव परस्पर मधुत्व है तो सत्य और सूर्य-चन्द्रादि समस्त भूमण्डल तथा तदन्तर्गत प्राणिमात्रके बीच भी पारस्परिक मधुत्व है।

ऋषि दध्यङ्की स्वानुभूति-विद्या अश्विनीकुमारोंके विशुद्ध अन्तःकरणमें सर्वांशतः प्रतिफलित हो उठी और वे कृतकृत्य हो गये। पर ज्यों ही अश्विनीकुमारोंको मधुविद्याका उपदेश हुआ त्यों ही उधरसे इन्द्रका छोड़ा वज्र आ

देखते-देखते ऋषिके उस अश्व-सिरको धड़से
या। अज्ञात प्रदेशमें उछलकर वह अन्तर्धान हो
ने देखा, गुरुने सिर कटाकर शिष्यको विद्या
व एक क्षणमें हो गया। सर्वत्र हाहाकार
।

सबको शान्त करते हुए कहा—शान्त
क हो जायगा। पुनः यवनिका-पतन हुआ और
ही पटपरिवर्तन हो गया। लोगोंने देखा कि
शल्य-चिकित्साकी कुशलतासे पुनः ऋषिका
र उनके धड़से पूर्ववत् प्राकृतिक रूपमें जुट
नों कुमार गुरुदेवके पावन चरणकमलोंपर
े।

आश्चर्य तो तब और बढ़ गया, जब
ही क्षणों बाद देवराज इन्द्र ऋषि दध्यङ्के
नेट रहे थे। वे हाथ जोड़कर कहने लगे—
वराजके अनन्त अपराध क्षमा करें। दुर्लभतम
कर उसे ठीकसे सँभालनेकी सलाह देते हुए
ब यह क्षुद्र शिष्य क्रुद्ध हो उठा और उसने
अपना क्रोध अपने वज्रसे आपका
किया। ऐसे पापीके लिये गुरुदेवकी
कृपा देख गड़ा जा रहा हूँ। गुरुदेव!
दें। मेरे वज्रद्वारा कटा आपका वह अश्व-सिर
पर्वतके सरोवरमें गिर पड़ा है। वह जलसे ऊपर
प्राणिमात्रको विविध वरदान देगा और युगपर्यन्त उसी
जलमें पड़ा रहेगा।

ऋषि दध्यङ्ने कहा—देवराज! रोष मुझे न
था और न अब ही है। क्या अपने पुत्र-वत्सल शिष्यपर
कभी गुरु विनाशकारी क्रोध कर सकता है? क्रान्तदर्शी
ऋषिने कहा—'आपद्वारा काटा गया मेरा वह अश्व-सिर
आगे वृत्रवधके समय आपके काम आयेगा और विश्व-
मङ्गलका साधक बनेगा। देवेन्द्र और अश्विनीकुमार प्रणाम
कर चले गये और साध्वी ऋषि-पत्नी ऋषिका हाथ
पकड़कर मध्याह्न-कृत्यके लिये आश्रमकी ओर मुड़ी।

एतदर्थ निष्कामकर्म कर ऋषि दध्यङ् संसारमें अपनी
कीर्तिका सूर्य उदित कर गये, जो युग-युगतक सदैव
देदीप्यमान होता रहेगा।

वे देवराजको साथ ले उन्हें उपदेशार्थ अग्निशालामें ले आये। उपदेश ग्रहणकर चलते समय इन्द्रने इसे किसी अनधिकारीको न देनेकी प्रार्थना कर विदा ली।

एक दिन ऋषि दध्यङ् विचारमुद्रामें बैठे थे कि लोकोत्तर सौन्दर्यशाली दो युवक उनके निकट आये और भक्तिभावसे प्रणाम कर बैठ गये। ऋषिने उनका परिचय पूछा। आगन्तुकोंने कहा—'ऋषे! हम अश्विनीकुमार हैं। अबतक हमलोग कभी असत्य नहीं बोले और न किसी तरहकी पीड़ा किसीको दी है, हिंसा करना तो दूर रहा, जहाँतक बना प्राणिमात्रकी सेवा, उपकार करनेमें कोई कसर नहीं उठा रखी। हमें चिकित्साशास्त्र आता है। स्वर्गसे लेकर मर्त्यलोकतक जो भी पीड़ित स्मरण करते हैं, हम तत्काल पहुँच जाते हैं और सेवा-चिकित्साद्वारा उन्हें स्वस्थ बना देते हैं।' अश्वियोंने आगे कहा—'ब्रह्मन्! हमारी यह मानव-सुलभ सर्वसाधारणकी सेवा-प्रवृत्ति देख देवराज देवजाति होनेपर भी हमें हेय दृष्टिसे देखते और अभीतक यज्ञमें भाग नहीं देते हैं। आपको पता ही होगा कि कुछ दिन पूर्व हमलोगोंने च्यवन ऋषिको वृद्धसे नवयुवक बना दिया तो ऋषिने कृतज्ञतावश हमें 'सोमपायी' बनाया। तब देवराजको भी विवशतः इसे मानना पड़ा। पर ऋषे! इतना सब होते हुए भी आत्मविद्याका ज्ञान न होनेसे हमें अपने देवत्वमें भारी न्यूनताका अनुभव हो रहा है। ज्ञात हुआ कि आप 'मधुविद्या'के आचार्य हैं। हम विनीत शिष्य आपकी शरण आये हैं, हमें यह ब्रह्म ज्ञान बताकर कृतार्थ करें।' ऋषिको यह विश्वास हो गया कि अबतक मेरी इस विद्याको ग्रहण करनेवाला इनसे बढ़कर कोई पात्र नहीं मिला। पर [illegible] उन्हें [illegible] हुई। वे जानते थे कि [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] तरह [illegible] [illegible] होकर चलते हैं।

इसपर ऋषिने सखेद अश्विनीकुमारोंके [illegible] विवशता व्यक्त की। कुमारोंने कहा—'ऋषे! [illegible] घटनाका हमें भी पता है। पर हम वैद्य हैं। [illegible] सिर काटकर अलग रख देंगे और उसके [illegible] अश्वका सिर लगा देंगे। आप उसी अश्व-सिरसे मधुविद्याका उपदेश दें। यदि इन्द्रने कोपवश उसे [illegible] दिया तो हम पुनः आपका वास्तविक सिर जोड़ देंगे।'

फिर अश्विनीकुमार एक अश्वका सिर लेकर [illegible] कुछ ही क्षणोंमें ऋषिके धड़पर अश्वका सिर [illegible] होने लगा। दर्शक यह देख अवाक् रह गये। [illegible] अश्वमुखसे कुमारोंके लिये आशीर्वादके शब्द [illegible] कुमारोंने अपनी शल्यक्रियासे उसका ऐसा [illegible] दिया कि लगता ही न था कि सिर जोड़ा गया है।

त्वष्टाके एकान्त गृहमें ऋषि अश्विनियोंको मधुविद्याका रहस्य समझाने लगे—'स्थूलसे सूक्ष्म समस्त [illegible] पदार्थ परस्पर उपकार्य-उपकारक-भावसे एक [illegible] अनुस्यूत हैं। पृथ्वी प्राणिमात्रके लिये मधु है [illegible] मात्र पृथ्वीके लिये। पृथ्वीमें तेजोमय, अमृतमय [illegible] और दोनों समस्त पदार्थोंके उपकारक हैं, [illegible] समस्त पदार्थोंके लिये मधु हैं और इनके लिये [illegible] मधु हैं। जल, अग्नि, वायु, आदित्य, दिशा, चन्द्र, [illegible] मेघ सबके लिये ये नियम लागू हैं। धर्म और [illegible] भी इसी प्रकार जगत्के परस्पर उपकारक [illegible] परस्परके लिये मधु हैं। धर्म और [illegible] बीच परस्पर उपकार्य-उपकारक भाव [illegible] है तो सत्य और सूर्य-चन्द्रादि समस्त [illegible] तदन्तर्गत प्राणिमात्रके बीच भी पारस्परिक [illegible]

'है कर्मयोगके सूत्रमें बँधी समस्त स[illegible]

नयन मनुजके सदा सफलता-मुख अवलोकें।
दोनों कर बन परम कान्त सुरतरु-फल लोकें॥
उसको बहती मिले मरु-अवनिमें रसधारा।
वह पाता ही रहे, अमरपुरका सुख सारा॥
कैसे ? किस साधनके किये ? तो उत्तर होगा यही।
सब दिनों कर्मरत जो रहा, सिद्धि पा सका है वही॥

उषा-रागको लसित कर्म अनुराग . .
कर्म-सूत्रमें बँधा दिवाकर है दिखलाता
रजनी-रञ्जन कर्म-कान्त बन छवि है पाता।
अवनीतलपर सरस सुधा-रस है बरसाता॥
है करती रहती विश्वको विदित कर्मकी माधुरी।
हो तारकावलीसे कलित प्रतिदिन रजनी सुन्दरी॥

परम पवित्र हृदय मेरु प्रवाहित निर्झर द्वारा।
प्रस्तर-संकुल अवनि-मध्यगत सरिता-धारा॥
फलसे विलसे विटप रंग लातीं लतिकाएँ।
सौरभ-भरे प्रसून विकच बनतीं कलिकाएँ॥
देती हैं भवको कर्मकी अनुपमताकी सूचना।
है कर्म परम पावन सरस सुन्दर भावोंसे सना॥

कैसे मिलते रत्न उदधि-मन्थन क्यों होता।
कैसे कार्य-कलाप बीज फल-कृतिके बोता॥
कैसे जड़ता-मध्य जीवनी-धारा बहती।
कैसे वाञ्छित-सिद्धि साधना-करमें रहती॥
कैसे हो वारिद-वृन्द बर, वारि बरस पाते कहीं।
जो कर्म न होता तो रसा, सरसा हो पाती नहीं॥

गृहका त्याग न त्याग कर्मका है कहलाता।
बुरे भावका त्याग त्याग है माना जाता॥
किसी कालमें कर्मत्याग तब होगा कैसे।
बने रहेंगे जब दृगादि जैसे-के-तैसे॥
तबतक थीं बातें त्यागकी जबतक मल धोती नहीं।
भव-कर्मरता सब इन्द्रियाँ कर्मरहित होती नहीं॥

कर्महीनता मरण, कर्म-कौशल है जीवन।
सौरभ-रहित सुमन समान है कर्महीन जन॥
तिमिर-भरित अपुनीत इन्द्रियोंका घर रवि है।
कर्म परम पापाणभूत मानसका पवि है॥
है कर्म-त्यागकी रगोंमें परिपूरित निर्जीवता।
है कर्मयोगके सूत्रमें बँधी समस्त सजीवता॥

—[illegible] हरिऔधजी

कहा है अर्थात् वह समाजसे द्रोह करता है। ऐसे व्यक्तिके लिये यह लोक भी नहीं है, फिर परलोकके विषयमें तो सोचना ही व्यर्थ है—

'नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम !'

गीताके अनुसार इसके अतिरिक्त कर्मका और कोई स्वरूप नहीं है। हाँ, उसके भेद अवश्य हैं, जिनका वर्णन अनेक स्थलोंपर हुआ है और वह भी 'कर्म' शब्दके सही स्वरूपको ही समझाने लिये गया है। उदाहरणार्थ; मुख्यरूपसे इसे नित्य और काम्यकर्म दो भेद कर उन्हें सूक्ष्मतासे समझानेके लिये और भी कतिपय विशेषणोंका प्रयोग किया। यही भाव निष्काम कर्मयोगके रूपमें उभर कर आया। इसीमें समता फूलती-फलती है। यही योगका दर्शन और मोक्षका द्वार है।

निष्कामताकी साधनामें तीन बातें

तीन बातोंका ध्यान रखकर कर्तव्यकर्म करो—(१) ईश्वरका स्मरण, (२) दूसरोंका सम्मान और (३) अपने दोषोंको देखना।

तीन बातें सदा सोचो—(१) भगवान्‌का प्रेम कैसे प्राप्त हो ! (२) दुखियोंका दुःख कैसे दूर हो ! और (३) हृदय पापशून्य कैसे हो !

तीन बातपर सदा अमल करो—(१) सत्य, (२) अहिंसा और (३) भगवान्‌के नाम-जपपर।

तीनपर सदा दया करो—(१) अबला एवं दीन-दुखियोंपर, (२) पागलपर और (३) राह भूले हुएपर।

तीनको सदा वशमें रखो—(१) मन, (२) उपस्थ इन्द्रिय और (३) जीभको।

तीनके वशमें सदा रहो—(१) भगवान्‌के, (२) धर्मके और (३) शुद्ध सत्कुलाचारके।

तीनसे सदा मुक्त रहो—(१) अहंकारसे, (२) ममतासे और (३) आसक्तिसे।

तीनसे सदा सच्चे रहो—(१) धनसे, (२) काछसे और (३) वचनसे।

तीनपर ममता करो—(१) ईश्वरपर, (२) सदाचारपर और (३) गरीबोंपर।

तीनसे सदा डरते रहो—(१) अभिमानसे, (२) दम्भसे और (३) लोभसे।

तीनके सामने सदा नम्र रहो—(१) गुरु, (२) माता और (३) पिताके।

तीनसे सदा प्रेम करो—(१) ईश्वर, (२) धर्म और (३) देशसे।

तीनको सदा हृदयमें रखो—(१) दया, (२) क्षमा और (३) विनयको।

तीनका सदा सेवन करो—(१) संत, (२) सत्-शास्त्र और (३) पवित्र भूमि-(तीर्थ आदि-)का।

तीनका भरण-पोषण करो—(१) माता-पिता, (२) स्त्री-बच्चों और (३) दीन-दुखियोंका।

तीन व्रतोंका पालन करो—(१) परस्त्री-संसर्गेच्छाका त्याग, (२) परधनकी आकांक्षाका त्याग और (३) असहायोंकी सेवा।

तीनकी आवश्यकताओंपर विशेष ध्यान दो—(१) मुक्त प्राणीकी, (२) संसारत्यागी संन्यासीकी और (३) कुछ भी न माँगनेवाले अतिथिकी।

तीन कामोंमें खूब जल्दी करो—(१) भजनमें, (२) दानमें और (३) शास्त्रके अभ्यासमें।

तीनका सम्मान करो—(१) वृद्धका, (२) बालकका और (३) निर्धनका। (क्रमशः)

'है कर्मयोगके सूत्रमें बँधी समस्त सजीवता'

नयन मनुजके सदा सफलता-मुख अवलोकें।
दोनों कर बन परम कान्त सुरतरु-फल लोकें॥
उसको बहती मिले मरु-अवनिमें रसधारा।
वह पाता ही रहे, अमरपुरका सुख सारा॥
कैसे ! किस साधनके किये ? तो उत्तर होगा यही।
सब दिनों कर्मरत जो रहा, सिद्धि पा सका है वही॥

उषा-रागको लसित
कर्म-सूत्रमें बँधा दिवाकर
रजनी-रञ्जन कर्म-कान्त बन
अवनीतलपर सरस सुधा-रस है
है करती रहती विश्वको विदित कर्मकी
हो तारकावलीसे कलित प्रतिदिन रजनी

परम पवित्र हृदय मेरु प्रवाहित निर्झर द्वारा।
प्रस्तर-संकुल अवनि-मध्यगत सरिता-धारा॥
फलसे विलसे विटप रंग लातीं लतिकाएँ।
सौरभ-भरे प्रसून विकच बनतीं कलिकाएँ॥
देती हैं भवको कर्मकी अनुपमताकी सूचना।
है कर्म परम पावन सरस सुन्दर भावोंसे सना॥

कैसे मिलते रत्न उदधि-मन्थन क्यों होता।
कैसे कार्य-कलाप बीज फल-कृतिके बोता॥
कैसे जड़ता-मध्य जीवनी-धारा बहती।
कैसे वाञ्छित-सिद्धि साधना-करमें रहती॥
हो वारिद-वृन्द घर, वारि बरस पाते कहीं।
कर्म न होता तो रसा, सरसा हो पाती नहीं॥

है कहलाता।

अनासक्त कर्मयोगी—भीष्म पितामह

द्वापरयुगके अन्तमें तीन महापुरुष—जगद्गुरु श्रीकृष्ण, विशालबुद्धि व्यास और शौर्यशाली भीष्मपितामह आदर्श कर्मयोगी हुए। इनके लोक-संग्रहके कार्य धर्म्य और अनुकरणीय थे। इनमें अपने धर्मके प्रति अनन्यनिष्ठा और दृढ़ताके प्रतीक पितामह भीष्म तो क्षत्रियोंके समस्त स्वाभाविक गुणोंके मानो मूर्तिमान् अवतार ही थे। उन्होंने पिताके हेतु सदाके लिये कामिनी-काञ्चनका त्याग कर दिया था। कामनाके त्यागका यह उदात्त उदाहरण उनकी निष्कामताका ज्वलन्त उदाहरण है।

क्षात्रधर्म—शूरताके तो वे सीमान्त थे। जिस समय काशिराजकी कन्या अम्बाके लिये शस्त्र-गुरु परशुरामजीने युद्धकी धमकी देकर अम्बाको स्वीकार करनेके लिये भीष्मसे आग्रह किया था, उस समय निष्काम भीष्मने बड़ी नम्रतापूर्वक गुरुका पूर्ण सम्मान करते हुए भी अपनी स्वाभाविक शूरता (क्षात्रधर्म) और तेजस्विताका परिचय दिया—

न भयान्नाप्यनुक्रोशान्नार्थलोभान्न काम्यया।
क्षात्रं धर्ममहं जह्यामिति मे व्रतमाहितम्॥
(महाभा०, उद्योगपर्व १७८। ३८)

'भय, दया, धनके लोभ और कामनासे मैं कभी क्षात्रधर्मका त्याग नहीं कर सकता, यह मेरा सदाका व्रत है।' उनके लिये कामनाका कोई मूल्य नहीं था। बहुत समझानेपर भी जब परशुरामजी नहीं माने और धमकी-पर-धमकी देने लगे, तब भीष्मको क्षात्रधर्मके नाते लगातार तेईस दिनोंतक भयानक युद्ध करना पड़ा। परशुरामजी भीष्मको परास्त नहीं कर सके। ऋषियों और देवताओंने आकर दोनोंको समझाया, परंतु 'युद्धे चाप्यपलायनम्'—इस क्षात्र धर्मके अनुसार भीष्मने शस्त्रोंका परित्याग नहीं किया और यह उद्घोषित किया कि—

नाहं लोभान्न कार्पण्यान्न भयान्नार्थकारणात्।
त्यजेयं शाश्वतं धर्ममिति मे निश्चिता मतिः॥
(महाभा०, उद्योगपर्व ...)

'लोभ, दीनता, भय और अर्थ आदि किसी प्रकार भी मैं अपना सनातनधर्म नहीं छोड़ सकता, यह दृढ़ निश्चय है।' धर्मकी निष्काम निष्ठाका यह ... है। अन्तमें परशुरामजीको हार माननी पड़ी। ... है भीष्मका क्षात्रधर्म तथा अद्वितीय शौर्य। शौर्यशाली स्वधर्मसे विकम्पित नहीं होते।

भीष्म ज्ञानी कर्मयोगी थे। उन्होंने धर्मराजके राजसूय-यज्ञमें परम निर्भयता और धीरतासे कर्मयोगके उपदेष्टा श्रीकृष्णकी अग्रपूजाका समर्थन किया। महाभारत-युद्धमें भगवान् श्रीकृष्ण शस्त्र-ग्रहण न करनेकी प्रतिज्ञाकर सारथ्यमें प्रवृत्त हुए थे। अपनी भक्तवत्सलताके कारण वे अपने सखा—भक्त अर्जुनके रथ हाँकनेका काम कर रहे थे। बीचमें एक दिन भीष्मने ही यह प्रण कर लिया कि आज मैं श्रीकृष्णसे शस्त्र-ग्रहण कराकर दम लूँगा। भीष्मकी उक्त प्रतिज्ञाका मार्मिक चित्र सूरदासजी-द्वारा वर्णित पदमें देखिये—

आजु जो हरिहिं न सस्त्र गहाऊँ।
तो लाजौं गंगाजननीको, सांतनु सुत न कहाऊँ॥
स्यन्दन खंडि महारथ खंडौं, कपिध्वज सहित डुलाऊँ।
इती न करौं सपथ मोहिं हरिकी, क्षत्रिय गतिहिं न पाऊँ॥
पाण्डव दल सन्मुख ह्वै धाऊँ, सरिता रुधिर बहाऊँ।
सूरदास रनभूमि बिजय बिन, जियत न पीठ दिखाऊँ॥

भीष्मने यही किया; भगवान्‌को अपनी प्रतिज्ञा तोड़नी पड़ी। श्रीकृष्ण बार-बार सिंहनाद करते हुए हाथमें रथका टूटा चक्का लेकर भीष्मकी ओर ऐसे दौड़े, जैसे ... हुआ ... उत्तम गजराज ... दौड़ता है। भगवान्‌ ... [illegible]

अनासक्त कर्मयोगी—भीष्म पितामह

द्वापरयुगके अन्तमें तीन महापुरुष—जगद्गुरु श्रीकृष्ण, विशालबुद्धि व्यास और दूरदर्शी भीष्मपितामह आदर्श कर्मयोगी हुए। इनके लोक-संग्रहके कार्य धर्म्य और अनुकरणीय थे। इनमें अपने धर्मके प्रति अनन्यनिष्ठा और दृढ़ताके प्रतीक पितामह भीष्म तो क्षत्रियोंके समस्त स्वाभाविक गुणोंके मानो मूर्तिमान् अवतार ही थे। उन्होंने पिताके हेतु सदाके लिये कामिनी-कांचनका त्याग कर दिया था। कामनाके त्यागका यह उदात्त उदाहरण उनकी निष्कामताका ज्वलन्त उदाहरण है। क्षात्रधर्म—शूरताके तो वे सीमान्त थे। जिस समय काशिराजकी कन्या अम्बाके लिये शस्त्र-गुरु परशुरामजीने युद्धकी धमकी देकर अम्बाको स्वीकार करनेके लिये भीष्मसे आग्रह किया था, उस समय निष्काम भीष्मने बड़ी नम्रतापूर्वक गुरुका पूर्ण सम्मान करते हुए भी अपनी स्वाभाविक शूरता (क्षात्रधर्म) और तेजस्विताका परिचय दिया—

न भयान्नाप्यनुक्रोशान्नार्थलोभान्न काम्यया।
क्षात्रं धर्ममहं जह्यामिति मे व्रतमाहितम्॥
(महाभा०, उद्योगपर्व १७८। ३४)

'भय, दया, धनके लोभ और कामनासे मैं कभी क्षात्रधर्मका त्याग नहीं कर सकता, यह मेरा सदाका व्रत है।' उनके लिये कामनाका कोई मूल्य नहीं था। बहुत समझानेपर भी जब परशुरामजी नहीं माने और धमकी-पर-धमकी देने लगे, तब भीष्मको क्षात्रधर्मके नाते लगातार तेईस दिनोंतक भयानक युद्ध करना पड़ा। परशुरामजी भीष्मको परास्त नहीं कर सके। ऋषियों और देवताओंने आकर दोनोंको समझाया, परंतु 'युद्धे चाप्यपलायनम्'—इस क्षात्र धर्मके अनुसार भीष्मने शस्त्रोंका परित्याग नहीं किया और यह उद्घोषित किया कि—

नाहं लोभान्न कार्पण्यान्न भयान्नार्थकारणात्।
त्यजेयं शाश्वतं धर्ममिति मे निश्चिता मतिः॥
(महाभा०, उद्योग...)

'लोभ, दीनता, भय और अर्थ आदि किसी भी कारणसे मैं अपना सनातनधर्म नहीं छोड़ सकता, यह मेरा दृढ़ निश्चय है।' धर्मकी निष्काम निष्ठा यह ही है। अन्तमें परशुरामजीको हार माननी पड़ी। है भीष्मका क्षात्रधर्म तथा अद्वितीय शौर्य। शौर्यशाली स्वधर्मसे विचलित नहीं होते।

भीष्म ज्ञानी कर्मयोगी थे। उन्होंने ... राजसूय-यज्ञमें परम निर्भयता और धीरतासे ... उपदेश श्रीकृष्णकी अग्रपूजाका समर्थन किया ... महाभारत-युद्धमें भगवान् श्रीकृष्ण शस्त्र-ग्रहण न करनेकी प्रतिज्ञाकर सारथ्यमें प्रवृत्त हुए थे। ... भक्तवत्सलताके कारण ... ने अपने सखा—भक्त अर्जुनके ... हाँकनेका काम कर रहे थे। बीचमें एक दिन भीष्मने यह प्रण कर लिया कि आज मैं श्रीकृष्णको शस्त्र-ग्रहण करवा कर दम लूँगा। भीष्मकी उक्त प्रतिज्ञाका मार्मिक चित्र सूरदासजी-द्वारा वर्णित पदमें देखिये—

आजु जो हरिहिं न शस्त्र गहाऊँ।
तो लाजौं गंगाजननीको, शांतनु सुत न कहाऊँ।
स्यन्दन खंडि महारथ खंडौं, कपिध्वज सहित डुलाऊँ।
इती न करौं सपथ मोहिं हरिकी, क्षत्रिय गतिहिं न पाऊँ।
पाण्डव दल सन्मुख ह्वै धाऊँ, सरिता रुधिर बहाऊँ।
सूरदास रनभूमि विजय बिन, जियत न पीठ दिखाऊँ।

भीष्मने यही किया; भगवान्को अपनी प्रतिज्ञा तोड़नी पड़ी। श्रीकृष्ण बार-बार सिंहनाद करते हुए हाथमें रथका टूटा चक्का लेकर भीष्मकी ओर ऐसे दौड़े, जैसे गरजता हुआ वनराज सिंह उत्तम गजराजकी ओर दौड़ता है। भगवान्का पीताम्बर कंधेसे गिर पड़ा, पृथ्वी काँपने लगी, सर्वत्र हाहाकार मच गया। सेना पुकार उठी

मारे गये, भीष्म मारे गये!' किंतु उस समय भीष्मको असीम आनन्द हुआ, उसका वर्णन कर सकना शक्तिके बाहरकी बात है। भगवान्‌की भक्तवत्सलतापर मुग्ध हुए भीष्म उनका स्वागत करते हुए बोले—

> एह्येहि पुण्डरीकाक्ष देवदेव नमोऽस्तु ते।
> मामद्य सात्वतश्रेष्ठ पातयस्व महाहवे॥
> त्वया हि देव संग्रामे हतस्यापि ममाऽनघ।
> श्रेय एव परं कृष्ण लोके भवति सर्वतः॥
> सम्भावितोऽस्मि गोविन्द त्रैलोक्येनाद्य संयुगे।
> प्रहरस्व यथेष्टं वै दासोऽस्मि तव चाऽनघ॥

'पुण्डरीकाक्ष! आइये, आइये! देवदेव! आपको मेरा प्रणाम है! हे पुरुषोत्तम! इस महायुद्धमें आप मेरा वध करें! हे परमात्मन्! हे कृष्ण! हे गोविन्द! आपके हाथसे मरनेपर मेरा अवश्य ही कल्याण होगा। मैं आज त्रैलोक्यमें सम्मानित हूँ। हे पापरहित! आप मुझपर इच्छानुसार प्रहार करें, मैं आपका दास हूँ।'

यहाँ शूरताके साथ शालीनता और धर्मके साथ कर्तव्य-परायणताका समन्वय देखते ही बनता है।

× × ×

दस दिनोंतक महाभारतका भयंकर युद्ध करनेके बाद एक दिन अर्जुनके सामने शिखण्डीके रहनेसे अपने शौर्य-धर्मके अनुसार उसपर बाण न चलानेकी अपनी प्रतिज्ञाके कारण अर्जुनके बाणोंसे विद्ध होकर अन्तमें भीष्म शरशय्यापर गिर पड़े। भीष्म वीरोचित शय्यापर सोये थे। उनके सारे शरीरमें बाण बिंधे थे। फिर भी वे अन्तर्दृष्टि-मूलक धर्मानुभूतिमें मग्न थे। वे जानते थे—

> द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ।
> परिव्राड्योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः॥

अर्थात्—'सूर्यमण्डलको पारकर दो पुरुष परमपद प्राप्त करते हैं—(१) योगयुक्त संन्यासी (कर्म-योगी) और (२) जो रणमें अभिमुख होकर मृत्यु प्राप्त करते हैं।'

वे जीवनकी धर्म्यसिद्धि—'स्वधर्मे निधनं श्रेयः'के आनन्दमें मग्न थे, धीरवीर तो थे ही। शर-शय्यापर लेटे हुए भीष्मजीका सिर नीचे लटक रहा था। उन्होंने तकिया माँगा तब लोग दौड़कर नरम-नरम तकिये लाये। इसपर भीष्मने अर्जुनसे कहा—'बस! मेरा सिर नीचे लटक रहा है, मेरे लिये अनुरूप तकियेकी व्यवस्था करो।' अर्जुनने वीरवर पितामहकी आज्ञा मानकर उनके मनोऽनुकूल तीन बाण मस्तकके नीचे तकियेके स्थानपर मार दिये; सिर बाणोंपर टिक गया, उनका अभीष्ट—क्षत्रियोचित तकिया मिल गया। भीष्मने प्रसन्न होकर कहा—

> शयनस्यानुरूपं मे पाण्डवापहितं त्वया।
> यद्यन्यथा प्रपद्येथाः शपेयं त्वामहं रुषा॥
> एवमेव महाबाहो धर्मेषु परितिष्ठता।
> स्वप्तव्यं क्षत्रियेणाजौ शरतल्पगतेन मे॥
> (महाभा० भीष्म० १२०। ४८-४९)

'अर्जुन! तुमने मेरी रणशय्याके अनुरूप तकिया देकर मुझे प्रसन्न कर दिया। यदि तुम मेरा आशय न समझकर दूसरी तकिया (उपबर्हण) देते तो मैं रुष्ट होकर तुम्हें शाप दे देता। क्षत्रियोंको रणाङ्गनमें प्राण-त्याग करनेके लिये इस प्रकारकी शय्यापर ही सोना चाहिये।' यह था शौर्यशाली भीष्मका अन्तर्दृष्टि-मूलक धर्म-धर्मका आदर्श और उनके धर्मपालनका अनुपम उदाहरण। धन्य है उनकी वीरता, धीरता, निर्भयता, दृढ-संकल्पता एवं कर्तव्यके प्रति उत्कृष्ट निष्ठा-आस्था!

श्रीमद्देवीभागवतमें निष्काम-कर्म

(लेखिका—सुश्री मञ्जुश्री)

वीभागवत' एक देवी-भक्तिपरक पुराण है । उसमें अनेक स्वरूपों, आराधना, ध्यान पूजा एवं भक्ति नुरूप आचारोंका निरूपण हुआ है । कर्म-विवेचना प्रमुख नहीं है । निष्कामकर्मकी पृथक्से र्म-विवेचना देवीभागवतमें नहीं मिलती । किंतु समस्त प्रसङ्गोंको देखनेसे हमें निष्कामकर्मके तथा कर्म-फलसे मुक्ति पानेकी विधिका ज्ञान हो है । इसके अनुसार नित्य-नैमित्तिक-कर्म निष्काम- ही रूपान्तर हैं । देवीभागवतमें अनेक स्थलोंपर एवं नैमित्तिक कर्मके उल्लेख हैं । जो व्यक्ति न ईश्वरकी आराधना करता है, उसमें सकामता हीं जाती । 'देवीभागवत' देवीकी आराधना नित्य- त्तिकर्मका ही एक प्रमुख अङ्ग है[1] । जो ब्राह्मण भर त्रिकाल-संध्या करता है, उसमें सूर्यके समान ता होती है[2] । अपने कर्ममें तत्पर शक्ति, सूर्य गणपतिके उपासकोंके पुण्य-प्रभावके कारण यम- उनके सम्मुख नहीं जाते[3] । 'देवीभागवत'में कहा है कि भगवती राधाका स्मरण करता हुआ जो उनके स्तोत्रका तीनों समयमें पाठ करता है, के लिये संसारमें कुछ भी दुर्लभ नहीं है । शरीरका होनेपर वह गोलोकस्थ रासमण्डलमें नित्य निवास है । यह परम रहस्य है, जो पात्रको ही ा चाहिये ।

गायत्रीमन्त्रकी महत्ता प्रतिपादित करनेवाले इस त्रिका ईश्वर-प्रेममें विनियोग इसे निष्कामकर्म ही करता है; यथा—इस प्रकार चौबीस अक्षरोंवाले गायत्रीमन्त्रका नित्यप्रति जप विप्रोंमें श्रेष्ठ होता है, संध्याके सम्पूर्ण अत्यन्त सुखी अर्थात् कैवल्यानन्दमय देवीभागवतके इस श्लोकमें कर्मके स्पष्टतः बल दिया गया है । यद्यपि कर्मोंके फल हैं, तथापि साधकका ध्यान कर्तव्यकी ओर होनेसे परक ये नित्य-नैमित्तिक कर्म निष्काम हो जाते हैं । प्रमाणके लिये निम्नाङ्कित श्लोक देखिये—

नित्यं त्रिषवणस्नानं क्षुद्रकर्मविवर्जनम् ।
नित्यपूजा नित्यदानमानन्दस्तुतिकीर्तनम् ॥
नैमित्तिकार्चनं चैव विश्वासो गुरुदेवयोः ।
जपनिष्ठस्य धर्मा ये द्वादशैते सुसिद्धिदाः ॥
नित्यं सूर्यमुपस्थाय तस्य चाभिमुखो जपेत् ॥
देवता प्रतिमादौ वा वह्नौ वाऽभ्यर्च्य तन्मुखः ।
स्नानपूजाजपध्यानहोमतर्पणतत्परः ।
निष्कामो देवतायां च सर्वकर्मनिवेदकः ॥

'नित्य त्रिकाल-स्नान, क्षुद्र कर्मोंका त्याग, पूजन, दान, श्रद्धा एवं रोमाञ्चपूर्वक स्तुतिकीर्तन, नैमित्तिक पूजा और गुरु तथा देवतामें विश्वास—ये बारह धर्म जपनिष्ठ पुरुषको सिद्धि प्रदान करते हैं । नित्यप्रति सूर्यके सामने खड़ा होकर जप करे । स्नान, पूजन, जप, ध्यान, होम, तर्पण आदिमें तत्पर रहता हुआ निष्कामभावसे निवेदन करे । नित्य-नैमित्तिक कर्मोंमें विधिके अनुसार आचरण करनेवाला भुक्ति-मुक्तिरूप फलका भागी होता है[7] । 'देवीभागवत'में सदाचारकर्म और ज्ञानका परस्पर सम्बन्ध भी दर्शाया गया है, जिससे कर्ममें निष्कामभाव प्रतिपादित होता है ।

१-देवीभागवत—(सं० श्रीरामशर्मा), भाग २-स्कंध ११ अध्याय २ श्लोक ५६-५७ । २-वही, अध्याय १६ श्लोक ५८ । ३-वही, अध्याय १८ श्लोक २३ । ४-वही, अध्याय २० श्लोक ५१-५२ । ५-वही, पृ० ३३६ । ६-वही, अध्याय २१ श्लोक २५-२८ । ७-वही, अध्याय २४ श्लोक ९-११ ।

योगवासिष्ठमें कर्मबन्धनसे छुटकारा

(लेखक—श्री[illegible])

[illegible] यह एक अटल नियम है कि जीवको अपने शुभाशुभ कर्मोंका अच्छा या बुरा फल अवश्य भोगना पड़ता है—'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।' इसके लिये जीवको एक जन्मसे दूसरे जन्ममें और एक परिस्थितिसे दूसरी परिस्थितिमें भी जाना पड़ता है। जीव कर्म करनेमें तो स्वतन्त्र है, पर कर्मोंका फल भोगनेमें वह परतन्त्र-सा ही है। यदि ऐसा है तो फिर कर्मोंके बन्धनसे छुटकारा कैसे प्राप्त हो? वर्तमानकालमें हम अपने पूर्व कर्मोंका फल भोग रहे हैं और वर्तमानकालके कर्मोंका फल भविष्यमें भोगना पड़ेगा। ऐसा कोई समय नहीं है, जब हम कर्म न करते हों। इसलिये ऐसा समय कैसे हो सकता है, जबकि हम अपने कर्मोंका फल भोगनेके लिये जीवन धारण न करेंगे? योगवासिष्ठके अनुसार हम कर्म-नियमके रहते हुए भी कर्मबन्धनसे मुक्त हो सकते हैं।

योगवासिष्ठका मत है—कर्मका वास्तविक स्वरूप मानसिक है। जगत्में जिस क्रियाको कर्म कहा जाता है, उसका असली रूप मनका वासनात्मक स्पन्दन है। मनका स्पन्दन ही कर्मका प्रेरक है। बाहरसे दिखायी देनेवाली कर्मेन्द्रियोंकी क्रियाको कर्म नहीं कहते। अज्ञानीको अपने सब कर्मोंका फल इसलिये भुगतना पड़ता है कि उसके कर्मोंका सार वासना है। वासनाके क्षीण हो जानेसे ज्ञानीको अपनी किसी क्रियाका फल नहीं भोगना पड़ता। वासनाके अभावसे सब क्रियाएँ फल-रहित हो जाती हैं। वासनासे अनेक प्रकारके संकल्पोंका उदय होता है और संकल्पयुक्त होनेसे ही [illegible] है। इसलिये संकल्पका त्याग करो। सम, शुद्ध और विकार-रहित बुद्धिसे जो कुछ भी किया जाता है, वह कभी दोष नहीं लाता। असक्त मनवाला पुरुष शुभ और अशुभ क्रियाओंको नित्यप्रति करता हुआ या न करता हुआ भी कभी संसारमें नहीं पड़ता। और, जिस अज्ञानीने मनसे त्याग नहीं किया, वह शुभ या अशुभ क्रियाओंको न करता हुआ भी मनसे संसार-समुद्रमें निरन्तर डूबता ही रहता है। मनका इस प्रकारका निश्चय कि यह वस्तु प्राप्त करनेयोग्य है और उसको प्राप्त करनेकी वासना, और फिर चेष्टा—ये ही कर्तृत्व कहलाते हैं। कर्तृत्वका कर्ता होनेके कारण ही जीव उसका फल भोगनेवाला होता है; यह सिद्धान्त है। अज्ञानी जीव चाहे कर्म करे या न करे, तो भी वह कर्ता है, और वासना-रहित होनेसे ज्ञानी जीव अकर्ता है—चाहे वह कर्म करे या न करे। एक अकर्ता भी कर्ता बन गया है कामनाके कारण, दूसरा कर्ता भी अकर्ता है—कामना-रहित होनेके कारण। यह कामना ही मनका रूप धारण करती है। यही सब कर्मोंका, सब भावोंका, सब लोकोंका और सब गतियोंका बीज है। कामनाके त्याग देनेसे सब कर्मोंका त्याग हो जाता है, सब दुःख क्षीण हो जाते हैं और सब बन्धन नष्ट हो जाते हैं। विवेकद्वारा शुभ और अशुभ दोनों प्रकारके कर्मोंका नाश करना चाहिये। यह तभी हो सकता है जब ज्ञान-द्वारा यह निश्चय दृढ़ हो जाय कि कर्म कुछ हैं ही नहीं। बिना वासनाके किसी इच्छाकी और प्रवृत्तिके और उपस्थितिके तथा किसी कल्पनाके शान्त होकर स्थित रहनेका नाम कर्मत्याग है। जो ज्ञान-द्वारा कर्मत्यागमें स्थित हो गया है और वासना-रहित जीवन्मुक्त है, वह सब बन्धनोंसे परे ही है। यही कर्मबन्धनसे छुटकाराका क्रम है।

श्रीमद्देवीभागवतमें निष्काम-कर्म

(लेखिका—सुश्री मञ्जुश्री)

'देवीभागवत' एक देवी-भक्तिपरक पुराण है। उसमें देवीके अनेक सरूपों, आराधना, ध्यान पूजा एवं भक्ति और तदनुरूप आचारोंका निरूपण हुआ है। कर्म-विवेचना उसमें प्रमुख नहीं है। निष्कामकर्मकी पृथक्से साङ्गोपाङ्ग-विवेचना देवीभागवतमें नहीं मिलती। किंतु इसके समस्त प्रसङ्गोंको देखनेसे हमें निष्कामकर्मके महत्त्व तथा कर्म-फलसे मुक्ति पानेकी विधिका ज्ञान हो जाता है। इसके अनुसार नित्य-नैमित्तिक-कर्म निष्काम-कर्मके ही रूपान्तर हैं। देवीभागवतमें अनेक स्थलोंपर नित्य एवं नैमित्तिक कर्मके उल्लेख हैं। जो व्यक्ति प्रतिदिन ईश्वरकी आराधना करता है, उसमें सकामता रह नहीं जाती। 'देवीभागवत' देवीकी आराधना नित्य-नैमित्तिक-कर्मका ही एक प्रमुख अङ्ग है[1]। जो ब्राह्मण जीवनभर त्रिकाल-संध्या करता है, उसमें सूर्यके समान तेजस्विता होती है[2]। अपने कर्ममें तत्पर शक्ति, सूर्य और गणपतिके उपासकोंके पुण्य-प्रभावके कारण यम-दूत उनके सम्मुख नहीं जाते[3]। 'देवीभागवत'में कहा गया है कि भगवती राधाका स्मरण करता हुआ जो व्यक्ति उनके स्तोत्रका तीनों समयमें पाठ करता है, उसके लिये संसारमें कुछ भी दुर्लभ नहीं है। शरीरका अन्त होनेपर वह गोलोकस्थ रासमण्डलमें नित्य निवास करता है। यह परम रहस्य है, जो पात्रको ही बताना चाहिये[4]।

गायत्रीमन्त्रकी महत्ता प्रतिपादित करनेवाले इस श्लोकका ईश्वर-प्रेममें विनियोग इसे निष्कामकर्म ही सिद्ध करता है; यथा—इस प्रकार चौबीस अक्षरोंवाले गायत्रीमन्त्रका नित्यप्रति जप विप्रोंमें श्रेष्ठ होता है, संध्याके सम्पूर्ण अत्यन्त सुखी अर्थात् कैवल्यानन्दमय देवीभागवतके इस श्लोकमें कर्मके [5] स्पष्टतः बल दिया गया है। यद्यपि कर्मोंके फल हैं, तथापि साधकका ध्यान कर्तव्यकी ओर होनेसे ईश्वर-परक ये नित्य-नैमित्तिक कर्म निष्काम हो जाते हैं। प्रमाणके लिये निम्नाङ्कित श्लोक देखिये—

> नित्यं त्रिषवणस्नानं क्षुद्रकर्मविवर्जनम्।
> नित्यपूजा नित्यदानमानन्दस्तुतिकीर्तनम्॥
> नैमित्तिकार्चनं चैव विश्वासो गुरुदेवयोः।
> जपनिष्ठस्य धर्मा ये द्वादशैते सुसिद्धिदाः॥
> नित्यं सूर्यमुपस्थाय तस्य चाभिमुखो जपेत्॥
> देवता प्रतिमादौ वा वह्नौ वाऽभ्यर्च्य तन्मुखः।
> स्नानपूजाजपध्यानहोमतर्पणतत्परः।
> निष्कामो देवतायां च सर्वकर्मनिवेदकः॥

'नित्य त्रिकाल-स्नान, क्षुद्र कर्मोंका त्याग, पूजन, दान, श्रद्धा एवं रोमाञ्चपूर्वक स्तुतिकीर्तन, नैमित्तिक पूजा और गुरु तथा देवतामें विश्वास—ये बारह धर्म जपनिष्ठ पुरुषको सिद्धि प्रदान करते हैं। नित्यप्रति सूर्यके सामने खड़ा होकर जप करे। स्नान, पूजन, जप, ध्यान, होम, तर्पण आदिमें तत्पर रहता हुआ निष्कामभावसे निवेदन करे। नित्य-नैमित्तिक कर्ममें विधिके अनुसार आचरण करनेवाला भुक्ति-मुक्तिरूप फलका भागी होता है[6]।' 'देवीभागवत'में सदाचारकर्म और ज्ञानका परस्पर सम्बन्ध भी दर्शाया गया है, जिससे कर्ममें निष्कामभाव प्रतिपादित होता है।

१–देवीभागवत—(सं० श्रीरामशर्मा), भाग २–स्कंध ११ अध्याय २ श्लोक ५६-५७। २–वही, अध्याय १६ श्लोक ५८। ३–वही, अध्याय १८ श्लोक २३। ४–वही, अध्याय २० श्लोक ५१-५२। ५–वही, पृ० ३६६। ६–वही, अध्याय २१ श्लोक २५–२८। ७–वही, अध्याय २४ श्लोक ९–११।

योगवासिष्ठमें कर्मबन्धनसे छुटकारा

(लेखक—श्रीयुगलजी पुरोहित)

सृष्टिका यह एक अटल नियम है कि जीवको अपने शुभाशुभ कर्मोंका अच्छा या बुरा फल अवश्य भोगना पड़ता है—'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।' इसके लिये जीवको एक जन्मसे दूसरे जन्ममें और एक परिस्थितिसे दूसरी परिस्थितिमें भी जाना पड़ता है। जीव कर्म करनेमें तो स्वतन्त्र है, पर कर्मोंका फल भोगनेमें वह परतन्त्र-सा ही है। यदि ऐसा है तो फिर कर्मोंके बन्धनसे छुटकारा कैसे प्राप्त हो? वर्तमानकालमें हम अपने पूर्व कर्मोंका फल भोग रहे हैं और वर्तमानकालके कर्मोंका फल भविष्यमें भोगना पड़ेगा। ऐसा कोई समय नहीं है, जब हम कर्म न करते हों। इसलिये ऐसा समय कैसे हो सकता है, जबकि हम अपने कर्मोंका फल भोगनेके लिये जीवन धारण न करेंगे? योगवासिष्ठके अनुसार हम कर्म-नियमके रहते हुए भी कर्मबन्धनसे मुक्त हो सकते हैं।

योगवासिष्ठका मत है—कर्मका वास्तविक स्वरूप मानसिक है। जगत्में जिस क्रियाको कर्म कहा जाता है, उसका असली रूप मनका वासनात्मक स्पन्दन है। मनका स्पन्दन ही कर्मका प्रेरक है। बाहरसे दिखायी देनेवाली कर्मेन्द्रियोंकी क्रियाको कर्म नहीं कहते। अज्ञानीको अपने सब कर्मोंका फल इसलिये भुगतना पड़ता है कि उसके कर्मोंका सार वासना है। वासनाके क्षीण हो जानेसे ज्ञानीको अपनी किसी क्रियाका फल नहीं भोगना पड़ता। वासनाके अभावसे सब क्रियाएँ फल-रहित हो जाती हैं। वासनासे अनेक प्रकारके संकल्पोंका उदय होता है और संकल्पयुक्त होनेसे ही बन्धन होता है। इसलिये संकल्पका त्याग करो। सम, शुद्ध और विकार-रहित बुद्धिसे जो कुछ भी किया [illegible] है, वह कभी दोष नहीं लाता। अलक्ष्य मनवाला [illegible] अशुभ क्रियाओंको निष्काम करता हुआ या [illegible] भी कभी संसारमें नहीं पड़ता। और, जिस अज्ञानीने त्याग नहीं किया, वह शुभ या अशुभ क्रियाओंको न करता भी मनसे संसार-समुद्रमें निरन्तर डूबता ही रहता है। [illegible] इस प्रकारका निश्चय कि यह वस्तु प्राप्त करनेयोग्य है, उसको प्राप्त करनेकी वासना, और फिर चेष्टाएँ—कर्तृत्व कहलाते हैं। कार्यका कर्ता होनेके कारण जीव उसका फल भोगनेवाला होता है; यह सिद्धान्त [illegible] अज्ञानी जीव चाहे कर्म करे या न करे, तो भी कर्ता है, और वासना-रहित होनेसे ज्ञानी जीव अकर्ता है—चाहे वह कर्म करे या न करे। एक अकर्ता भी कर्ता बन गया है कामनाके कारण, दूसरा कर्ता भी अकर्ता है—कामना-रहित होनेके कारण। यह कामना ही मन[illegible] रूप धारण करती है। यही सब कर्मोंका, सब भावोंका, सब लोकोंका और सब गतियोंका बीज है। कामनाका त्याग देनेसे सब कर्मोंका त्याग हो जाता है, [illegible] दुःख क्षीण हो जाते हैं और सब बन्धन नष्ट हो जाते हैं। विवेकद्वारा शुभ और अशुभ दोनों प्रकारके कर्मोंका नाश करना चाहिये। यह तभी हो सकता है, जब ज्ञान-द्वारा यह निश्चय दृढ़ हो जाय कि कर्म कुछ है ही नहीं। बिना वासनाके किसी इच्छाकी ओर प्रवृत्तिके और उपस्थितिके तथा किसी कल्पनाके शान्त होकर स्थित रहनेका नाम कर्मत्याग है। जो ज्ञान-द्वारा कर्मत्यागमें स्थित हो गया है और वासना-रहित जीवन्मुक्त है, वह सब बन्धनोंसे परे ही है। यही कर्मबन्धनसे छुटकाराका क्रम है।

*

श्रीमद्देवीभागवतमें निष्काम-कर्म

(लेखिका—सुश्री मञ्जुश्री)

'देवीभागवत' एक देवी-भक्तिपरक पुराण है। उसमें के अनेक स्वरूपों, आराधना, ध्यान पूजा एवं भक्ति तदनुरूप आचारोंका निरूपण हुआ है। कर्म-विवेचना प्रमुख नहीं है। निष्कामकर्मकी पृथक्से कर्म-विवेचना देवीभागवतमें नहीं मिलती। किंतु समस्त प्रसङ्गोंको देखनेसे हमें निष्कामकर्मके तथा कर्म-फलसे मुक्ति पानेकी विधिका ज्ञान हो है। इसके अनुसार नित्य-नैमित्तिक-कर्म निष्काम-के ही रूपान्तर हैं। देवीभागवतमें अनेक स्थलोंपर एवं नैमित्तिक कर्मके उल्लेख हैं। जो व्यक्ति दिन ईश्वरकी आराधना करता है, उसमें सकामता नहीं जाती। 'देवीभागवत' देवीकी आराधना नित्य-नैमित्तिक-कर्मका ही एक प्रमुख अङ्ग है। जो ब्राह्मण जीवनभर त्रिकाल-संध्या करता है, ... समान गायत्रीमन्त्रका नित्यप्रति जप करनेवाला ब्राह्मण विप्रोंमें श्रेष्ठ होता है, संध्याके सम्पूर्ण फलोंको पाकर अत्यन्त सुखी अर्थात् कैवल्यानन्दमय होता है। देवीभागवतके इस श्लोकमें कर्मके निष्कामभावपर स्पष्टतः बल दिया गया है। यद्यपि कर्मोंके फल होते हैं, तथापि साधकका ध्यान कर्तव्यकी ओर होनेसे ईश्वर-परक ये नित्य-नैमित्तिक कर्म निष्काम हो जाते हैं। प्रमाणके लिये निम्नाङ्कित श्लोक देखिये—

नित्यं त्रिषवणस्नानं क्षुद्रकर्मविवर्जनम्।
नित्यपूजा नित्यदानमानन्दस्तुतिकीर्तनम्॥
नैमित्तिकार्चनं चैव विद्वत्सो गुरुदेवयोः।
जपनिष्ठस्य धर्मा ये द्वादशैते सुसिद्धिदाः॥
नित्यं सूर्यमुपस्थाय तस्य चाभिमुखो जपेत्॥
देवता प्रतिमादौ वा वह्नौ वाऽभ्यर्च्य तन्मुखः।
...पूजाजपध्यानहोमतर्पणतत्परः।
... ...॥

देवी भागवतके अनुसार आचार प्रथम धर्म है, यह श्रुति-स्मृतिका कथन है। इसलिये सिवको नित्य आचारयुक्त रहना चाहिये। आचारसे आयु, सन्तान तथा अक्षय अन्न प्राप्त होता है और पाप नष्ट हो जाते हैं। मनुष्योंका कल्याणकारी एवं परमधर्म आचार ही है। इसीसे इस लोकमें सुखी होकर मनुष्य परलोकमें भी सुख प्राप्त करता है[1]। आचारसे धर्म और सत्कर्मकी प्राप्ति होती है। उस सत्कर्मसे मनुने ज्ञानदर्शक कहा है। सभी धर्मोसे श्रेष्ठ होनेसे आचार ही परम तप है—यही ज्ञान कहा गया है तथा यही सर्वसिद्धि करनेवाला है[2]। यदि आचार-हीन व्यक्तिने वेदोंके षडङ्गोंका अध्ययन भी कर लिया हो तो भी वह पवित्र नहीं होता। पंख निकलनेपर पक्षिद्वारा घोसला त्यागनेके समान आचारहीनको अधीन छंद त्याग देते हैं[3]।

इस प्रकार देवीभागवतके अनुसार निष्काम और सकाम दोनों ही भाव-प्रधान कर्म हैं, परंतु आचारयुक्त, ज्ञानयुक्त, नित्य-नैमित्तिक निष्कामकर्मको ही महत्ता प्रदान की गयी है।

कर्म-फल-भोग—देवीभागवतमें देवीके शब्दोंमें कर्म-फल-भोगके विवरणपूर्वक श्रेष्ठ कर्मकी अनिवार्यता बतायी गयी है। देवी हिमालयको ज्ञानोपदेश देते समय योगके आठों प्रकारोंका वर्णन करती हैं। इनमें पहले योग-'यम'के दस भेदोंके सभी भावोंमें सरलता-निष्कामता लक्षित होती है तथा दूसरे योग—'नियम'के दसों भेद यथा—तप, संतोष, आस्तिकभाव, दान, देवताओंका पूजन, शास्त्रसिद्धान्तका श्रवण, बुरे कामोंमें लज्जा, सद्बुद्धि, जप और हवन आदि सभी श्रेष्ठ निष्कामकर्मके ही तो उदाहरण हैं। कर्मफल-भोगका वर्णन भी अनेक स्थलोंपर है; जैसे कि प्रारब्ध-कर्मफलसे दब देते हैं कि कर्मोंके अनुसार ही उनका देह धारण होता है। प्रत्येक कार्य निश्चयपूर्वक करना चाहिये क्योंकि अपने द्वारा किये गये कर्मफल ही प्राणियोंको भोगना होता है तब जो जैसा कर्म करता है, उसे उसका वैसा ही फल मिलता है। शुभ और अशुभ कर्मोंका फल तो अवश्य ही भोगना पड़ता है[4]। साथ ही यह भी कहा गया है कि—अन्यायसे उपार्जन किये हुए द्रव्यद्वारा जो पुण्य किया जाता है, वह न तो इस लोकमें कीर्ति देता है और न परलोकमें ही उससे कुछ फल मिल सकता है[5]।

कर्मफल-भोगसे मुक्तिकी विधि—देवीभागवतमें कर्मफल-भोगसे मुक्तिके अनेक उपाय बताये गये हैं। जिनमें शरीर-शुद्धि प्रथम है; यथा—भूतशुद्धि कर्ममें प्रयुक्त हो तथा लक्ष्यसहित पूरक, कुम्भक और रेचक प्राणायाम करें। व्रतोंसे सप्तधातुओंकी शुद्धि होती है। एक-एक धातु सात दिनोंमें निःसंदेह पवित्र हो जाती है। इस प्रकारके व्रतोंद्वारा पवित्र होकर नित्यप्रति शुभ कर्म करें[6]।

'देवीभागवत'में कर्म-विपर्यय और कर्म-नाशके लिये भी उल्लेख है। कर्म-विपर्ययका अर्थ है शास्त्रविहित कर्मोंके विपरीत कर्म। उन्हें हम 'निषिद्ध' कर्म भी कहते हैं। कर्म-नाशका अर्थ है कर्म-फलका नाश और कर्म-फलका नाश तभी होता है जब कर्म निष्कामभावसे किया गया हो। अतः कर्मनाशके कथनसे निष्काम कर्मकी ही महिमा प्रतिपादित की गयी है। देवीभागवतमें कहा गया है कि अब हे साध्वि! तुम परब्रह्म, अर्थ

१–देवीभागवत, श्रीरामशर्मा भाग १ अध्याय–१ श्लोक १३-१४। २–वही, १ श्लोक १५-१६। ३–वही, श्लोक ११।
४–वही, भाग १ पृष्ठ। ५–वही, पृष्ठ ४७०, श्लोक ११। ६–वही, पृष्ठ ५०४, श्लोक ५७।
७–देवीभागवत-अङ्क, कल्याण ३, १२, ८। ८–देवीभागवत, सं० श्रीरामशर्मा, भाग–२ पृ० ३८५, श्लोक ५८।
९–वही पृष्ठ ४०१, श्लोक ५६-५७।

[illegible] निर्गुण भगवान् श्रीकृष्णका भजन करो; क्योंकि [illegible]की उपासनासे संसारके कर्मोंके मूल नष्ट होते हैं[1]। [illegible] अन्य स्थानपर कहा गया है—देखो, दुर्गतिको [illegible] दूर तुम्हारे पिता अपने कर्म-विपर्ययसे मुक्त होकर [illegible]व्य देहधारी हो गये हैं[2]।

देवीकी आराधनासे सम्बद्ध उनके स्वरूप-परिचय तथा उनके प्रति निवेदित श्रद्धावाक्योंके माध्यमसे भी देवी-भागवतमें अनेक ऐसे स्थलोंपर निष्काम कर्मभाव स्वाभाविक रूपसे प्रकाशित हुआ है। देवी संसारकी समस्त प्रार्थनाओंको स्वीकार करनेवाली कामधेनु हैं। पराशक्ति देवीको मनीषिजन साकार-निराकार-भेदसे दो स्वरूपोंमें पाते हैं। संसारमें आसक्त साधक-जन देवीके सगुणभावको और निर्मल ज्ञानी, विवेकी एवं विरागी जन देवीके निर्गुणभावको अपनाकर आराधना करते हैं—

सगुणा निर्गुणा चेति द्विधा प्रोक्ता मनीषिभिः।
सगुणा रागिभिः सेव्या निर्गुणा तु विरागिभिः॥[3]

विरागीसे आशय निष्कामभाववाले व्यक्तिका ही है। देवी चारों फल प्रदान करनेवाली हैं। उनकी एक स्तुतिमें निरूपित किया गया है कि देवीकी परम कृपा मोक्ष-दानमें ही प्रकट होती है। देवीकी स्तुति कोई नहीं कर सकता, हम उन्हें केवल प्रणाम कर सकते हैं—इस कथनसे यह स्पष्ट है कि देवीकी सम्यग्भक्ति केवल निष्कामभावसे ही हो सकती है। निष्कामकर्म ही देवीको प्रसन्न करता है; यथा—भक्तोंपर कृपा करने-वाली देवेश्वरि! आपकी जय हो। अखिल देवताओंसे पूजित होनेवाली देवि! आपकी जय हो। शरणा-गतपर अनुग्रह करनेवाली देवेश्वरि! आपको बारंबार नमस्कार है। दुःख दूर करनेवा[illegible] संहारिणी भगवती दुर्गे! आप[illegible] प्रसन्न होकर दर्शन देनेवाली [illegible] है। महामाये! आपके चरण-कमल [illegible] पार करनेके लिये नौका हैं। धर्म, अर्थ, [illegible] प्रदान करनेवाली देवेश्वरि! आप प्रसन्न हो[illegible] ऐसा कौन है! जो आपकी स्तुति कर सके। [illegible] आपको प्रणाम कर रहा हूँ[4]।

कहीं-कहीं काम्यकर्मकी झाँकी भी [illegible] कहा है—जिस-जिस ऋषिने जिस-जिस [illegible] देवताकी स्तुति की उस-उसकी वही-वही अभिलाषा पूर्ण हो गयी। किंतु अधिकांश स्थलोंपर प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष-रूपसे निष्काम कर्म-भाव मुख्य है। वस्तुतः मोक्षकी कामना प्रकारान्तरसे निष्कामता ही है। कहा गया है कि मोक्षकी कामनासे (मनुष्य) ध्यान और स्नान आदि कर्म करते हैं। विद्वानोंसे सीखकर आचारके पालनपूर्वक अग्निसहित जप करें; क्योंकि जप मुमुक्षुओंको मोक्ष देनेवाला और अभिलाषियोंकी सब कामनाएँ पूर्ण करनेवाला है[5]। इसके साथ ही यह भी कहा गया है कि भगवतीकी आराधनासे धनकी कामनावालेको धन और धर्मकी अभिलाषावालेको धर्मकी प्राप्ति होती है[6]। देवीके स्वरूप-विचारमें भी राग-रहित निष्कामता योजित होती है; यथा—देवियोंके जो सहिम, मधुर, राग-रहित पवित्र (कर्म) हैं वे प्राणीको पवित्र करनेमें समर्थ हैं[7]। देवताओंका विधि-विधानसे पूजन करनेको भी देवत्वमें स्थित करके ही किया जा सकता है, और जब देवत्वकी स्थिति हो गयी, तो क्या कोई कामना रह सकती है! इसीलिये कहा गया है कि—वेदवाणियोंके कथनानुसार

१-देवीभागवत-पृष्ठ २६४, श्लोक ६२। २-वही-पृष्ठ ५००, श्लोक १५-१६। ३-श्रीदुर्गा भगवती[illegible] महापत्र, श्लोक २४। ४-देवीभागवत-अङ्क, कल्याण १। ४४, ४६, ४८। ५-वही-पृष्ठ ११४ श्लोक ११८। ६-वही-पृष्ठ ४६७ श्लोक १६१। ७-वही-पृष्ठ १२४ श्लोक ५८। ८-वही-पृष्ठ १५७ श्लोक ६। ९-वही-पृष्ठ ४२४ श्लोक २९।

देवभावमें स्थित होकर ही देवताका पूजन करना चाहिये। इसलिये देवतासे अपना अभेद स्थापित करनेके लिये वक्ष्यमाण देवताओंका न्यास अपने अङ्गोंमें करे'।

इसके साथ ही देवी तथा अन्य देवताओंके कथन-द्वारा भी स्थान-स्थानपर कर्मका निष्कामभाव प्रकट हुआ है। श्रेष्ठपुरुष वही है, जो सदाचारका पालन करता हो, निर्मल, ज्ञानी एवं विवेकी हो। श्रेष्ठ पुरुषकी रक्षा देवी करती हैं। देवीका कथन है—श्रेष्ठपुरुषोंकी रक्षा करना, वेदोंको सुरक्षित रखना और जो दुष्ट हैं उन्हें मारना—ये मेरे कार्य हैं, जो अनेक अवतार लेकर मेरे द्वारा किये जाते हैं। प्रत्येक युगमें मैं ही उन-उन अवतारोंको धारण करती हूँ। इसी प्रकार भगवान् विष्णुका कथन है—मेरी पवित्र सेवामें नित्य नियुक्त रहनेके कारण चार प्रकारकी सालोक्यादि मुक्ति, ब्रह्मपद अथवा अमरत्व कुछ भी पानेकी अभिलाषा वह नहीं करता। ब्रह्मा, इन्द्र एवं मनुकी उपाधि तथा स्वर्गके राज्यका सुख—सभी परम दुर्लभ हैं; किंतु मेरा भक्त स्वप्नमें भी इच्छा नहीं करता।

न वाञ्छन्ति सुखं मुक्तिं सालोक्यादिचतुष्
ब्रह्मत्वममरत्वं वा तद्वाञ्छा मम से
इन्द्रत्वं च मनुत्वं च ब्रह्मत्वं च सुदुर्
स्वर्गराज्यादिभोगं च स्वप्नेऽपि च न वाञ्छ

'देवीभागवत'के प्रत्येक फल-श्रुतिके अन्तमें स... गया है कि सच्चे भक्त कभी भी कोई कामना नहीं... वे देवीकी या विष्णु आदि देवोंकी भक्ति सदा ही... भावसे करते हैं। वे फलकी कामनासे इतने रहित और... रहते हैं कि मोक्षकी भी इच्छा नहीं करते। वे अपने इष्टके पदारविन्दोंकी प्रणतिपूर्वक सेवा करते... ही मग्न रहते हैं। यह निष्कामकर्मका सुन्दरतम... और सर्वोच्च लक्ष्य है।

पाशुपत-शैवागममें निष्काम-कर्मयोग

(लेखक—पं० श्रीसोमनाथजी शर्मा घिमिरे, व्यास, साहित्याचार्य)

जीवात्मा 'क्षेत्रज्ञ'का नाम ही पशु है। पशु उसे कहते हैं, जो पाशोंद्वारा बँधा हो। जीव पाशबद्ध है, इसीसे उसको पशु कहते हैं। वस्तुतः शैवतन्त्रके—'आत्मनो विभुनित्यता' इस वचनानुसार जीव भी नित्य एवं व्यापक है। जीव परिच्छिन्न सीमित शक्तियुक्त है, तथापि सांख्यके पुरुषकी तरह यह अकर्ता नहीं है। पाशोंसे मुक्त होकर शिवत्वको प्राप्त कर यह निरतिशय ज्ञानशक्ति और क्रिया-शक्तिसे सम्पन्न हो जाता है। पाशुपत* एवं शैवागममें पशु तीन प्रकारके बतलाये गये हैं— १—विज्ञानाकल, २—प्रलयाकल और ३—सकल (सर्व०शैवदर्शन पृ० २३५)। यह पशु प्रलयकालके सकलको ... ज्ञान-ध्यान तथा संन्यासद्वारा अथवा भोगद्वारा कर्मोंका क्षय कर ... है। कर्मोंके क्षय हो जानेके कारण जिसको शरीर ... इन्द्रिय आदिका कोई बन्धन नहीं रहता, उसमें केवल म...रूपी पाश रह जाता है, उसे विज्ञानाकल कहते हैं। प... मल भी तीन प्रकारके होते हैं—१—आणवमल, २—... मल तथा ३—मायिकमल। विज्ञानाकलमें केवल आणव... रहता है। वह विज्ञानद्वारा अकल (कलादि) ... जाता है। अकलका अर्थ है—कलादि भोगबन्धनों... शून्य। इसलिये उसकी विज्ञानाकल संज्ञा है। ... इसमें जीवात्माके देह-इन्द्रिय आदि प्रलयकालमें लीन हो जाते हैं। उसमें मायिक मल तो नहीं रहता, पर...

१—देवीभागवत ... स्कन्ध ५। १९। २१-२३। २—वही ९। ०। ९१-९२।

* ... [illegible] ...

... [illegible] ... (...) ...

... [illegible] (... पृ० १९८, १०५ ...)।

और 'कर्मज' ये दो मलरूपी पाश रहते हैं। ...शरीरमें सकल (कलारहित) होनेके कारण ... कहलाता है। जिस जीवात्मामें आणव, ...कर्मज तीनों मल रहते हैं, वह कला आदि भोग-...युक्त होनेके कारण 'सकल' कहा गया है।

...न करने और अन्यथा करनेमें समर्थ, नित्य-...सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी, सर्वथा स्वतन्त्र परम ...रम ऐश्वर्यस्वरूप, नित्यमुक्त, नित्य निर्मल, ... ज्ञानशक्ति क्रियाशक्तिसम्पन्न, सबपर अनुग्रह ... भगवान् महेश्वर शिव ही सभी प्राणधारियोंके ...पशुपति हैं। जैसा पशुके चरवाहे उच्च टीलेपर ...पशु चराते हैं, वैसे ही पशुपति भगवान् भवानी-... भी उक्त जीवसमुदायको संसारमें विचरण ...हैं। इन महेश्वरके पाँच कृत्य हैं—सृष्टि, ...संहार, तिरोभाव और अनुग्रह। मुक्त जीव ...शिवको प्राप्त हो जाते हैं। परंतु ये जीव ...नहीं हैं, ये भी अपने पति परमेश्वरके अधीन ...हैं।

...उपासनाके लिये जहाँ परमेश्वर शिवके साकार ...वर्णन है, वहाँ भी उसका तात्पर्य प्राकृत शरीरसे ...है। वह निर्मल तथा कर्मादिबन्धनोंसे नित्यमुक्त ...कारण शक्तिरूप एवं चिन्मय हैं। उपनिषदोंमें ... मन्त्रमय स्वरूपका वर्णन है। 'शैवदर्शन'में ...बात स्पष्ट शब्दोंमें कही गयी है—

'...प्रसम्भवाच्छाक्तं यपुर्युक्तं तद्वपुः पञ्चभिर्मन्त्रैः।'

...शैवागमके अनुसार पदार्थ तीन हैं—पशु, पाश ...[illegible] विद्या, क्रिया, योग तथा चर्या—ये उस आगमके चार पाद हैं ...

पाशुपततन्त्रानुसार गुरुसे ... लेनेको 'दीक्षा' कहते हैं। ... और विद्येश्वर आदि ज्ञानके ... इसी ज्ञानसे पशु, पाश तथा ... निर्णय होता है। अतः परम पुरुषार्थकी दीक्षामें उक्त उपकारक ज्ञानका प्रतिपादन प्रथमपादका नाम 'विद्यापाद' है। भिन्न-भिन्न ... अनुसार दीक्षा भी भिन्न-भिन्न प्रकारकी होती है। अनेक प्रकारकी साङ्गोपाङ्ग दीक्षाओंके विधि-विधानका परिचय करानेवाले द्वितीय पादको पाशुपतागमका 'क्रियापाद' कहा जाता है। परंतु यम-नियम-आसन, प्राणायामादि अष्टाङ्गयोगके बिना यहाँ भी अभीष्ट प्राप्ति नहीं होती। अतः क्रियापादके पश्चात् योग नामके तीसरे पादकी आवश्यकता समझकर उसका भी प्रतिपादन किया गया है।

योगकी सिद्धि भी तभी होती है, जब शास्त्रविहित कर्मानुष्ठान और निषिद्ध कर्मका परित्याग हो। अतः पाशुपत-शास्त्रोंमें इन कर्मोंके प्रतिपादक 'चर्या' नामक चतुर्थ पादका वर्णन है। सारांश यह कि कामनारहित शास्त्रीय कर्म करनेयोग्य सशक्त शरीरसे फलेच्छारहित कर्म करना चाहिये। भगवान् श्रीकृष्ण भी कहते हैं—

'कर्मण्येवाऽधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।'

(गीता २। ४७)

संक्षेपमें साधकके मनमें कभी कोई कामनाका उदय न हो, वह निरन्तर निष्काम-साधनासे ज्ञानद्वारा प्रवृत्त रहे, इसी भावनासे पाशुपततन्त्रमें निष्काम-कर्मयोग कहा गया है।

गीता और महामहेश्वर श्रीगोरक्षनाथका निष्कामकर्मयोग

(लेखक—डॉ० श्रीश्यामाकान्तजी द्विवेदी, विद्यावाचस्पति)

भारतीय धर्म-साधनाके इतिहासमें मोक्षकी प्राप्तिके चार मार्ग बताये गये हैं। ये मार्ग हैं—कर्म, भक्ति, ज्ञान और योग। ज्ञानियों, भक्तों एवं योगियोंने कर्ममार्गकी आलोचना करते हुए उसे केवल स्वर्गका साधनमात्र माना, मोक्षका नहीं। 'मीमांसादर्शन' वेद-विहित कर्मों (यज्ञादि-विधानों)को ही मोक्षका अन्यतम साधन मानता है, न कि ज्ञान, भक्ति या योगको। इस प्रकार प्राचीन वैदकोंके दो मत उभरकर सामने आते हैं।

यदि दार्शनिक दृष्टिसे विचार किया जाय तो वेदान्तियों एवं सांख्यानुयायियोंकी कर्मविरोधी दृष्टि समीचीन है; क्योंकि कर्मोंके फल एक सीमा-रेखामें आबद्ध हैं, अतः उनका भोग समाप्त होनेपर प्राणीका पुनः संसरण होना निश्चित है। इसके अतिरिक्त कर्मोंके फलोंका भोग भोगने-हेतु भी उनका संसरण आवश्यक मानना पड़ता है। कर्म द्विविधात्मक है—पुण्यकर्म और पाप। इनमेंसे दोनों बिना भोग भोगाये हुए समाप्त नहीं हो सकते। यदि भोग रहेगा, तो बन्धन भी रहेगा। यदि बन्धन रहेगा तो उसे मोक्ष-प्राप्तिका साधन कैसे माना जा सकता है![1] मीमांसकोंके कर्मयोगका शंकराचार्यने अपने पूरे ब्रह्म-सूत्र-भाष्यमें सर्वत्र खण्डन किया है; क्योंकि उसके बिना शुद्ध ब्रह्म-जिज्ञासा सम्भव नहीं।

गीताका कर्मयोग—भगवान् श्रीकृष्णने कर्मके तीन रूप बताये—कर्म, अकर्म और विकर्म। उन्होंने कर्म एवं अकर्ममें समन्वय स्थापित करते हुए एक तीसरे मार्ग 'निष्कामकर्मयोग' का प्रवर्तन किया—

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥

इस योगमें निम्न दृष्टि है—कर्ममें अकर्म औ[र] अकर्ममें कर्म देखे (गीता ४। १८)। भ[गवान्] श्रीकृष्ण कर्मवादका खण्डन नहीं करते, प्रत्युत उ[सका] रूपान्तरण करते हैं। वे स्वल्प कर्म करनेवालोंको [नहीं], प्रत्युत 'कृत्स्नकर्मकृत्'को महत्तर मानते हैं। उ[नका] मार्ग कर्म छोड़नेका मार्ग नहीं है, प्रत्युत सम्पूर्ण [कर्म] करनेका मार्ग है; क्योंकि समस्त कर्मोंका सम्पादक योगी होता है—'स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्।' कर्म[योगी] तपस्वी, ज्ञानी एवं कर्मवादी तीनोंसे श्रेष्ठ है। गी[ता] (६। ४६) का साक्ष्य है—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन

भगवान् श्रीकृष्णने मोक्षके साधनके रूपमें कर्मक[ो] आधारशिला मानकर जिन दो साधन-मार्गोंका प्रति[]पादन किया, वे निम्न हैं—

प्रथम कर्मसंन्यास (सांख्यमार्ग ज्ञानयोग) और द्वितीय निष्कामकर्मयोग (गीता ३। ३)। भगवान् श्रीकृष्ण दोनोंको ही श्रेयस्कर बताते हुए भी कर्मयोगको गीता-(५। १)में श्रेष्ठतर उद्घोषित करते हैं—

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते॥

कर्म-संन्यास एवं निष्काम-कर्मयोगकी एकता

भगवान् श्रीकृष्ण सांख्यमार्ग एवं निष्काम कर्ममार्ग—दोनोंको अपृथक् मानते हैं—

---

[1] १-कर्मवादियोंका कहना है कि यज्ञार्थ कर्म बन्धनकारक नहीं होते; यज्ञार्थसे पृथक् [illegible] कर्म बन्धनकारक है— यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।'
'यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।'

दोनों मार्गोंका फलागम अभिन्न है

'एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ।'
'यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ॥'

क्योंकि सांख्यमार्ग एवं कर्मयोग सूक्ष्मदृष्ट्या एक —

सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥'[3]

निष्काम-कर्मयोगके विना संन्यासयोग दुष्प्राप्य है—

'संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।'[4]

सांख्ययोग-तत्त्ववित् (सांख्ययोगी) देखता हुआ, करता हुआ, गमन करता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता हुआ, बोलता हुआ, त्यागता हुआ, ग्रहण करता हुआ, आँखोंको खोलता एवं मीचता हुआ भी ऐसा मानता है कि इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थों-(विषयों-) में बरत रही हैं, मैं कुछ भी नहीं कर रहा हूँ—

'नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।'
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥'
प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन् निमिषन्नपि ।'
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥'[5]

निष्काम-कर्मयोग—समस्त कर्मोंको परमात्माको अर्पित करके आसक्तिशून्य होकर करना या फलासक्तिसे रहित रहकर कर्तव्यकर्म करना ही निष्काम-कर्मयोग है—

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।'[6]
कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ॥'

'अकर्म' कर्मयोग नहीं है—कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः । (३ । ८); न निरग्निर्न चाक्रियः (गीता ६ । १) । मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि'—

प्रत्युत आसक्तिशून्य समत्वबुद्धि रखकर किया कर्म है । कर्मोंके प्रति ...
अर्थात् कर्मयोग है—

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग

कर्मफल—सिद्धि-असिद्धिमें समता ही योग 'समत्व योग उच्यते'। यह कौशल अन्य कुछ प्रत्युत अनासक्तिपूर्ण समभावसे कर्मसम्पादनकी कला है । संसारासक्तिके कारण ही कर्मासक्ति होती है, अतः दुःखरूप संसारके साथ संयोग या आसक्तिका अभाव ही कर्मयोग है—

'तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।'

'कर्मकौशल'में कर्ताको फलमें आसक्ति न होकर अपने कर्मोंका परमात्मामें समर्पण होता है—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।'
'ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ॥
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ।'

संन्यासी एवं योगी प्रायः अभिन्न हैं । दोनोंमें कोई भेद नहीं है—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥

इस योग-विधानमें सुख-दुःख, लाभ-हानि एवं जय-पराजय सभीमें समत्वबुद्धि रखकर कर्म करना पड़ता है । इसी निष्काम-कर्मयोगसे स्थितप्रज्ञता, स्थितप्रज्ञताकी अवस्था, प्रतिष्ठितप्रज्ञा एवं 'पद्मपत्रमिवाम्भसा' वाले अनासक्ति-योगकी प्राप्ति होती है । कर्मशून्यता सम्भव ही नहीं है—'न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्' (गीता ३ । ५)। कर्मोका आरम्भ न तो 'नैष्कर्म्य है और न निष्काम-कर्मयोग ही है और न

१—गीता ५ । ४, ६ । २; २—गीता ५ । ४, ५ । ५; ३—गीता ५ । ५; ४—गीता ५ । ६; ५—गीता ५ । ८, ९; ६—गीता ५ । १०; ७—गीता २ । ४७; ८—गीता २ । ४८; ९—गीता ६ । २३; १०—गीता ९ । १०; ११—गीता ४ । २४ ।

मोक्षप्राप्तिका साधन ही है (३ । ४)। कर्मेन्द्रियोंका संयमन करके मनसे इन्द्रियार्थोंका स्मरण करना भी कर्मयोग नहीं है। मनसे इन्द्रियोंको वशमें करके अनासक्तिपूर्वक कर्मेन्द्रियोंसे कर्मोंका आचरण करना ही कर्मयोग है। कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठतर है। कर्मबन्धक अवश्य है, किंतु यदि यह परमात्मबुद्धिके अतिरिक्त शरीरबुद्धिसे न किया जाय तो यही कर्म मोक्षका साधन भी है—

'यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।'[1]

अनासक्तिपूर्वक किया हुआ कर्म कर्म न करनेके तुल्य ही है; क्योंकि जिस प्रकार कर्माभावमें भोग या बन्धन नहीं होता, उसी प्रकार निष्काम-कर्ममें भी बन्धन नहीं होता। निष्काम-कर्म शारीर-कर्म मात्र होता है, अतः ऐसे कर्मोंके करनेसे प्राणी कर्मफलसे लिप्त नहीं होता—जैसे स्वाभाविक क्रियाओंसे नहीं होता। भगवान् श्रीकृष्णने गीता-(३ । ३०)में अर्जुनको निम्न आदेश देकर सम्पूर्ण कर्मयोगका पूर्णस्वरूप विवृत कर दिया है—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥

गोरक्षनाथ और निष्काम-कर्मयोग—

भगवान् गोरक्षनाथजी कर्ममार्गका खण्डन करते हुए भी कर्मयोगके समर्थक हैं; इसीलिये वे कहते हैं—

हँसबि खेलिबा रहि या रंग। काम क्रोध न करिबा संग।
हँसिबा खेलिबा गाइबा गीत। दिढ करि राषि आपना चीत॥
हसिबा षेलिबा धारिबा ध्यान।
अहनिसि कथिबा ब्रह्म गियान॥
हसै षेलै करै मन भंग।
ते निहचल सदा नाथ के संग॥ ५॥

अहनिसि मन लै उनमन रहै, गमकी छाँडि अगमकी कहै।[2]
छाडै आसा रहै निरास। कहै ब्रह्मा हूँ ताका दास॥
यह मनु लै जै उनमत रहै। तौ तीनि लोक की बाताँ कहै॥
उनमनि रहिबा भेद न कहिबा। पीयबा नीर ...
बाद गोरष नहि ते मूरिषा। उनमनि मन है ...

गोरक्षनाथजीकी दृष्टि निष्कामतकी ओर उतनी है, जितनी कि उन्मनीकी ओर है। उनकी निष्काम-कर्मयोगको प्रथम सोपान मानते हैं और उन्मनीयोगको अन्तिम। मनकी क्रीडा दोनों ही (भगवान् श्रीकृष्ण एवं भगवान् गोरक्षनाथ) बद करना चाहते हैं; किंतु दोनोंमेंसे एक मनके ... उन्मूलनको उपयुक्त न समझकर मनके बीज वासना (फलासक्ति—'वासना')को नष्ट कर देना चाहता है और दूसरा मनके अस्तित्वका उन्मूलन कर देना चाहता है। एकमें भगवदर्पण-बुद्धि अथवा निष्काम-कर्मकी दृष्टि है तो दूसरेमें कामनासहित पूरे मनके निःशेष ... दृष्टि है। आशाको दोनों त्याज्य मानते हैं—

'निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः।'
बैरागी होय करै आसा नाथ कहै तीन्यों नासा ...।

कबीरदास भी ऐसा ही कुछ कहते हैं—

'आसाका ईंधन करूँ मनसा करूँ भभूत।'

× × ×

कबिरा जोगी जगत गुरु तजै जगत की आस।
जो जग की आसा करै जगत गुरु वह दास॥
आसन मारे का भया मुई न मनकी आस।
ज्यों तेली के बैल को घर ही कोस पचास॥

आशा, तृष्णा, कामना, आसक्ति, फलस्पृहा एक ही भावकी विभिन्न आख्याएँ हैं। इन सबका मूल है मन; अतः कबीर भी मनोमारणके पक्षपाती हैं—

मन को मारूँ पटकि के टूक टूक होइ जाय।
मन मनसा को मार करि नन्हा करिके पास।
मन मनसा को मारि दै घट ही माहीं घेर। (—कबीर)

गोरक्षनाथजी भी इसीका समर्थन करते हैं—

'मन मारै मन मरै मन तारै मन तिरै।'
मारिबा रे नरा मन द्रोही। जाकै बप बरण नाहीं आस कोही॥
मन मारिबा रे गहि गुरु ग्यान बाण,
मारिये पंच भू मृघका जे चरै बुधि बाडी

1-गीता ३।९; 2-(क) ३।१०।२।३।७ (ख) ३।८ (ग) गोरखबानी (पृ० १) (घ) गो० बा०।

वस्तुतः 'निष्काम-कर्मयोग'में मनोमारणका लक्ष्य नहीं है,
त मनको भगवदर्पित करनेका लक्ष्य है—

'आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ।'
तो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥
(गीता ६ । २५-२६)

योगिराज श्रीकृष्णका मत है कि अभ्यास वैराग्यद्वारा मनको वशीकृत करके निष्काम- करते हुए निःशेष कर्मोंको भगवदर्पित कर चाहिये । वे गीता-(५ । १०)में कहते हैं—

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥

इस भगवदर्पित कर्म-विधानसे कर्मयोगी कर्मपङ्कसे प्रकार अस्पृष्ट रहता है, जैसे जलसे पद्मपत्र ।

'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु ...
योगका मूलसूत्र है ।

गोरक्षनाथ ...
मानते हैं, जब कि गीताकार मनके ...
जहाँ मन निश्चल हो वहाँ मनोन्मनी होती है—

अमनस्कस्य सुतरां यतः सा चोन्मनी ।
मनो वै निश्चलं यत्र तदुक्तं चोन्मनी ।
(त्रिपुरारहस्य ज्ञानखण्ड ३५ । ११९-२०)

श्रीकृष्णके कर्मयोगमें मनका निरोध उसका विनाश करनेके लिये नहीं, प्रत्युत उसके प्रवाहको ईश्वरोन्मुख करनेके लिये तथा उसके संकल्पोंको भगवदर्पित करनेके लिये किया जाता है । इस प्रकार योगेश्वर श्रीकृष्णका—कर्मयोग और योगीश्वर गोरक्षनाथकी उन्मनी-दशा मूलतः मोक्ष-साधिका हो जाती है ।

संत ज्ञानेश्वर-प्रतिपादित—निष्काम-कर्मयोग

(लेखक—डॉ० श्रीकेशव रघुनाथ कान्हेरे, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, विशारद)

भारतके पूज्य आचार्यों, संत-महात्माओं, मनीषियोंने अपने अनुभूतिके आधारपर 'निष्काम-कर्मयोग'के में विचार व्यक्त किये हैं । परंतु संत ज्ञानेश्वर जने 'ज्ञानेश्वरी'के माध्यमसे निष्काम-कर्मयोगका विवेचन किया है, वह अपने-आपमें अनूठा है, सिद्ध है । सामान्यतः लोग ऐसा समझते हैं कि भी प्रकारके कर्मका त्याग करना निष्काम-कर्मयोग है । ऐसी विचारधाराएँ व्यक्त करनेवालोंके समक्ष ज्ञानेश्वर कहते हैं—

त्तिकेचा वीटु ।
ऱ्हा
तेंचि
दीपु
पु
पण

. निर्जेलियाही परी ।
जयाची ॥
. अ० १८ । २२५)

तैसा शरीराचेनि आभासें । नांदतु जंव असे ।
तंव कर्म त्यागाचे पिसें । काइसें तरी ॥'
(ज्ञाने० अ० १८ । २१९–२२२)

संत ज्ञानेश्वर कहते हैं—'मिट्टीका तिरस्कार मटका कैसे कर सकता है ! वस्त्र सूतका त्याग किस प्रकार कर सकेगा ! अग्निमें आग मूलतः विद्यमान है तो वह उष्णताका त्याग कैसे कर सकता है ! हींग अपनी उग्र गंध छोड़कर फूलों-जैसी मधुर सुगंध कैसे प्राप्त कर सकता है ! क्या जल अपनी द्रवता त्याग सकता है !'
असम्भव है तो कर्म न करना भी असम्भव
. उपादान कारण कर्म ही है ।
जीवित ही नहीं रह सकते;

कर्म न करना नैष्कर्म्य नहीं है, कर्तृत्वमद और फलास्वादका परित्याग कर कर्म करना निष्कामकर्म कहलाता है। परंतु कुछ लोग कर्म न करते हुए योगी 'निष्कामकर्मयोगी' कहलानेकी अपेक्षा रखते हैं, ईश्वर-साक्षात्कारका अधिकार मानते हैं। ऐसे महानुभावोंके सामने ज्ञानेश्वर महाराज प्रश्न रखते हैं—

सांगे पैलतीरा जावें। ऐसें व्यसन कां जेय पावें।
तेथ नावेंतें सजावें। घेइ केवीं॥
ना तरी तृप्ति इच्छिजे। तरी कैसेनि पाकु न कीजे।
की सिद्धुही न सेविजे। केवी सांगे॥
(ज्ञाने० अ० ३। ४७-४८)

नदीके उस पार जानेकी इच्छा है, कैसे जाय यह समस्या है; ऐसे समय नाव होनेपर भी उसका त्याग करना कैसे सम्भव है! उसी प्रकार भोजनसे प्राप्त होनेवाली संतुष्टिकी, तृप्तिकी अनिवार्य इच्छा है; परंतु पाक-सिद्धि करना नहीं चाहता अथवा खाना तैयार होनेपर भी उसे खाना नहीं चाहता—कर्म ही करना नहीं चाहता। ऐसे समय उस मनुष्यको क्या कहा जाय! अतएव—

'म्हणोनि जे जे उचितका आणि अवसरें करूनि प्राप्त। ते कर्म हेतु रहित। आचर तूं॥'
(ज्ञाने० अ० ३। ७८)

अतः जो-जो करणीय और प्रसङ्गानुसार प्राप्त हुआ विहित कर्म है वह फलाशा छोड़कर करना ही श्रेयस्कर है। संत ज्ञानेश्वर महाराजका आशय है कि कर्म बाधक नहीं हैं। कर्ममें 'मैं'की भावना, कर्तृत्वमद व फलकी आशा (फलास्वाद), अर्थात् 'मैं' कर्मकर्ता हूँ ऐसी अहंता और कर्मसे उत्पन्न होनेवाला फल मुझे ही प्राप्त हो, ऐसी फलाशा ही बाधक है। इसीसे जीव बन्धनमें पड़ता है। इसलिये—

'यया कर्मातें सांडिती परी। एकीचि अवधारीं।
जे करितां न जाइजे हारी। फलाशेचिये॥'
(ज्ञाने० अ० १८। २२७)

इस जगत्‌में विहितकर्मोंको छोड़ने [...]
उपाय है कि विहित कर्म करनेपर भ[...]
बन्धनसे मुक्त रहो। फलाशा छोड़कर जो[...]
है वस्तुतः वही निष्कामकर्मयोगी कहलाता है[...]
कर्म 'निष्कामकर्म' कहलानेयोग्य होता है। [...]

म्हणोनि प्रवृत्ति आणि निवृत्ती। इये बोली[...]
अखंड चित्तवृत्ती। आठवी माते॥
आणि जे जे कर्म निपजे। ते थोडें बहुत न[...]
निवांतचि अर्पिजे। माझा ठायीं॥
(ज्ञाने० अ० १२। १[...]

'किसी भी कर्मकी प्रवृत्ति या निवृत्ति[...]
अपनी बुद्धिपर न लेते हुए अपनी चित्तवृत्तिसे [...]
ही स्मरण करना चाहिये। और, जो-जो क[...]
उसे कम या अधिक न कहते हुए शान्तचित्तसे [...]
करना चाहिये। जो मनुष्य इस भावनासे कर्म [...]
है, उसे ही 'त्यागी' कहा जाता है।' सं[...]
कहते हैं—

'कर्मफल ईश्वरी अर्पे। तत्प्रसादें बोधु उदै[...]

कर्मका फल ईश्वरार्पण हो जानेके कारण उस[...]
उसके प्रसादसे आत्मज्ञान प्रकट होता है—

येतोचि त्यागी त्रिजगती। जेणें फल[...]
निष्कृती। ने ले कर्म॥' (ज्ञाने० अ० १८। २[...]

जिससे कर्मके फलका त्याग करके उसे नैष्[...]
स्थितितक पहुँचा दिया, वही इस त्रैलोक्यमें (सच्[...]
'त्यागी' है और इसी अनुसंधानसे शरीरका त्[...]
करनेके उपरान्त सायुज्य मुक्तिको प्राप्त होता है। [...]
ज्ञानेश्वर कहते हैं—

'ऐसिया सद्भावना। तनुत्यागी अर्जुना॥
तू सायुज्य सदना। माझिया येसी॥'
(ज्ञाने० अ० १२। २२[...])

पूर्णकाम श्रीरामकी निष्काम शङ्कर (श्रीरामेश्वर)की पूजा

रामचरितमानसमें निष्काम-कर्मयोग

(लेखक—श्रीओंकारजी त्रिपाठी, शास्त्री, एम० ए०, साहित्यरत्न)

लक्ष्मणजीके अनेक प्रश्नोंका संक्षिप्त और अन्तिम उत्तर देते हुए भगवान् श्रीराम कहते हैं—जो मन, वचन और कर्मसे निष्कामकर्मयोगी बनकर मेरा भजन करते हैं, उनके हृदयकमलमें मैं सदा निवास करता हूँ—

बचन कर्म मन मोरि गति भजनु करहिं निःकाम।
तिन्ह के हृदय कमल महुँ करउँ सदा बिश्राम॥
(मानस ३ । १६)

मानस एक समन्वय ग्रन्थ है। उसके रचनाकालमें वैष्णव तथा शैवोंमें कटुता थी। भक्त शिरोमणि तुलसीदासजीने भगवान् शंकरको भी भगवान् श्रीरामके समकक्ष ही आदर दिया। उन्होंने 'मानस'को उन्हींका प्रसाद माना—

...अनुसार सुमति हियँ हुलसी। रामचरितमानस कबि तुलसी॥
(मानस १ । ३५)

उन्हीं भगवान् शंकरकी अर्धाङ्गिनी भवानीने विज्ञानी मुनीश्वरों-(सप्त-ऋषियों-)को इस प्रकार उत्तर दिया—

...बोली मुसुकाइ भवानी। उचित कहेहु मुनिबर बिग्यानी॥
...रे मत कामु अब जारा। अब लगि संभु रहे सबिकारा॥
...रे मत सदा सिव जोगी। अज अनवद्य अकाम अभोगी॥
(मानस १ । ८९ । १–३)

गोस्वामीजीने भगवान् शंकरको भवानीके शब्दोंमें अकाम और अभोगी बताया है। पार्वतीके शब्दोंमें भगवान् शिव निष्काम-कर्मयोगी हैं तथा चिदानन्द परमात्मस्वरूप हैं—

चिदानंद सुख धाम सिव बिगत मोह मद काम।

ऐसे निष्काम भगवान्‌की जो उपासना करता है, उसके लिये मानसके प्रतिपाद्य प्रभु श्रीरामका कथन है—

...काम तजि सेइहिं। भगति मोरि तेहि संकर देइहि॥
(मानस ६ । २)

निष्कामभावसे कपट छोड़कर जो भगवान् शंकरकी सेवा करेंगे, उन्हें श्रीमहादेवजी मेरी भक्ति देंगे; क्योंकि—

'शिवस्य हृदयं विष्णुर्विष्णोश्च ...'

हमारी कामनाएँ चतुर्वर्गके ... धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इन कामनाओंके ... भक्तिकी प्राप्ति होती है, जिसे 'मानस'के ... प्रभावी पात्र भरतजीने तीर्थराज त्रिवेणीजीसे प्रयागमें स्वधर्म त्यागकर याचनाकी है—

अरथ न धरम न काम रुचि गति न ...
जनम जनम रति राम पद यह बरदान न आन॥
(मानस २ । २०४)

रामपदमें रति ही मानसका मुख्य प्राप्य तत्त्व है। गीता (२ । ७१) कहती है—

'विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।'

आचार्य शंकर निःस्पृहकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं—

'शरीरधारणमात्रेऽपि निर्गता स्पृहा यस्य स निःस्पृहः'
(गीता-शांकरभाष्य)

अर्थात् शरीर-धारणमात्रमें भी जिसकी लालसा नहीं है वह निःस्पृह कहा जाता है—

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
(गीता २ । ७२)

यह सर्वोच्च स्थिति है स्थितप्रज्ञकी। यह एक ऐसी वृत्ति है, जिसके बाह्य-दर्शन नहीं हो सकते। यह पूर्ण विकसित योगीकी स्थिति है। इसमें वह अपने शरीरको चिति-शक्तिके हाथोंमें सौंप देता है (—पादुरङ्गशास्त्री)। तभी तो मानसकी सर्वाधिक वैचारिक निष्काम-स्पृहाकी कामना संतप्रवर गोस्वामी तुलसीदासजीने सुन्दरकाण्डकी वन्दनाके श्लोकोंमें प्रदर्शित की है—

नान्या स्पृहा रघुपते हृदयेऽस्मदीये
सत्यं वदामि च भवानखिलान्तरात्मा।
भक्तिं प्रयच्छ रघुपुंगव निर्भरां मे
कामादिदोषरहितं कुरु मानसं च॥

अनेकों हृदयसे निष्काम कामनेकी अभिव्यक्ति की है। वे कहते हैं—घट-घट-व्यापी अन्तर्यामी भगवन्!

मैं सत्य कहता हूँ, मेरे हृदयमें कोई इच्छा नहीं है। हे रघुकुलनायक! मुझे पूर्ण भक्ति दीजिये, मेरे चित्तको कामादि दोषोंसे रहित कीजिये।'

'भक्ति एक कृति (कर्म) है। जो 'भज सेवायां' धातुसे वाच्य है। इसलिये वह कर्मयोगमें आ जाती है। भक्ति जबतक अपरिपक्व अवस्थामें होती है तबतक कर्मनिष्ठामें और परिपक्व होनेपर ज्ञान निष्ठामें समाहित हो जाती है।' (-पाण्डुरंग शास्त्री)। तथा च—

भगतिहि ग्यानहि नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भव संभव खेदा॥
(रा०च०मा० ७। ११४)

भक्त भगवान्‌से विभक्त (अलग) नहीं होता, जैसा कि 'मानस'के विलक्षण भक्त सुतीक्ष्णने निष्काम होकर प्रभुसे माँग की है—

अनुज जानकी सहित प्रभु चाप बान धर राम।
मम हिय गगन इंदु इव बसहु सदा निहकाम॥
(रा०च०मा० ३। ११)

इस विलक्षण भक्तने कहा कि मुझे तो 'समुझि न परइ झूठ का साँचा'। फिर भी भगवान् श्रीरामसे निष्काम हृदयस्थ होनेकी माँग की, जिससे वह भगवान्‌से विभक्त (अलग) न हो सके। यही नहीं, भगवान् रामने चित्रकूट-निवासके पहले आदिकवि-(वाल्मीकि-)से निवास-के लिये प्रश्न किया। इस प्रश्नका ऋषिराजने इस प्रकार उत्तर दिया—

जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु, तुम्ह सन सहज सनेहु।
बसहु निरंतर तासु मन, सो राउर निज गेहु॥
(रा०च०मा० २। १३१)

'भगवन्! आप उसके हृदयमें निवास करें, जो निष्काम-कर्मयोगी तथा आपके सहज स्नेही हों। भगवान् योगेश्वर श्रीकृष्णने स्वयं अपने मुखारविन्दसे विनिःसृत किया है—

'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।'
(गीता १८। ६१)

इसे अन्यत्र भी देखें—

ईशानशील नारायणः सर्वप्राणिनां हृद्देशे ... तिष्ठतः...इत्यत्र दर्शि।' (शां० भा०)

'अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च' (ऋग्वेद ६।...) 'तिष्ठति स्थितिं लभते।' (उसीका शांकरभाष्य) सबका शासन-करनेवाला हृदय-देशमें स्थित नारायण ... जिसकी अन्तरात्मा शुद्ध हो उसका नाम अर्जुन ... निष्काम-कर्मयोगी है। भक्तराज विभीषणने भगवान् ... शरणागति प्राप्त कर जितने मार्मिक वचन कहे ...

तब लगि कुसल न जीव कहुँ सपनेहुँ मन बिश्राम।
जब लगि भजत न राम कहुँ सोक धाम तजि काम॥
(रा०च०मा० ५। ...)

कामनाएँ शोकधाम हैं, अतः जबतक जीव नि... भावसे रामको नहीं भजता, तबतक उसकी कुशल ... उसे स्वप्नमें भी विश्राम नहीं मिलता। मानसके ... वक्ता काकभुशुण्डिजीने भी निष्कामभावके लिये ... तथा भगवन्नामको आवश्यक बतायी है—

बिनु संतोष न काम नसाहीं। काम अछत सुख सपनेहुँ नाहीं॥

तथा—

राम भजन बिनु मिटहिं कि कामा। थल बिहीन तरु कबहुँ कि जामा॥
(७। ८९।...)

बिना संतोषके कामनाओंका नाश नहीं होता, उनके नाशके बिना स्वप्नमें भी सुखोपलब्धि नहीं होती। जिस प्रकार स्थलके बिना पादप-(वृक्ष-)की उत्पत्ति असम्भव है, उसी प्रकार रामभजनके बिना कामनाओंका मिटना असम्भव है। यह एक प्रश्न है, जिसका सटीक उत्तर गोस्वामीजीके नामसे प्रसिद्ध इस निम्नलिखित दोहेमें है—

जहाँ राम तहँ काम नहिं, जहाँ काम नहिं राम।
तुलसी कबहुँ कि रहि सकत, रबि रजनी इक ठाम॥

जहाँ राम होंगे, वहाँ कामनाएँ न होंगी। जहाँ कामनाएँ होंगी, वहाँ राम न होंगे—ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकारसे सूर्य तथा रात्रि एक स्थानपर नहीं रह सकते। इस दृष्टिसे मानस भी निष्काम-कर्मयोगका ही अनुमोदक है।

सनातनधर्ममें कर्मयोग*

(लेखक—श्रीरामेश्वरजी ब्रह्मचारी, एम्० ए०, बी० एल०, साहित्याचार्य,

कर्मयोग समझनेके पहले ज्ञाता और कर्ता, ज्ञान ौर कारण एवं ज्ञेय और कर्मको समझ लेना आवश्यक । ज्ञाता वह है—जो जानता है, कर्त्ता—वह जो रनेवाला है। जीवात्मा और परमात्माके एकत्वका म्यक् ज्ञान हो जानेपर, जिस आत्मज्ञको संसारसे क्ति हो जाती है, वही वास्तविक ज्ञाता या ज्ञानी । आत्मा इन्द्रियातीत है, न उसे वाणीसे कोई कह कता है, न मनसे कोई मनन ही कर सकता है। ति स्वयं कहती है—

'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।'

(तैत्तिरीयोप० २ । ४ । ९)

आत्मज्ञके सम्बन्धमें मन अर्थात्—ज्ञानेन्द्रियाँ वाणी र्थात्—कर्मेन्द्रियाँ भी उसे प्राप्त न करके लौट जाती तथा जो ज्ञाता-ज्ञानी आत्मज्ञ होकर भी आसक्ति- हित फलत्यागपूर्वक यावज्जीवन जनशिक्षणार्थ ास्त्रानुसार सत्कर्म करना जारी रखते हैं, उन्हें सात्त्विक र्ता या कर्मयोगी कहते हैं।

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥

(गीता १८ । २६)

आसक्ति और अहंकारसे रहित होकर धैर्य और त्साहके द्वारा कार्यके सफल या विफल होनेपर हर्ष- ोकादि विकारोंसे मुक्त, समभाववाला सात्त्विक कर्त्ता ो 'कर्मयोगी' कहा जाता है। ज्ञानकी व्युत्पत्ति है— ायते ज्ञेयपदार्थः—आत्मा येन, तज्ज्ञानम्' जससे ज्ञेय आत्माका विवेक हो जाता है, उसे ज्ञान हते हैं। भगवद्गीताका 'सात्त्विक ज्ञान' भी यही है—

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥

(गीता १८ । २०)

'जिस ज्ञानसे ... अविनाशी आत्मभावको ... देखा जाता है, उस ज्ञानको ...

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च ...
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा ...

(गीता १८ .

'प्रवृत्तिमार्ग—कर्मयोग, निवृत्तिमार्ग—ज्ञ... कार्य-कर्तव्यकर्म, अकर्म—अकर्तव्यकर्म, भय और ... बन्ध तथा मोक्षको जो बुद्धि समझती है, वह सात्त्विक बुद्धि है। गीता १३ । १२के अनुसार आत्मा सद्-असत्से परे है, इसे जानकर मनुष्य मोक्षको प्राप्त करता है— 'यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते' सात्त्विक कर्मकी व्याख्यामें भगवान् श्रीकृष्ण (गीता १८ । २३में) कहते हैं—

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥

'जो कर्म शास्त्रोंमें नियत किया हुआ है तथा जो कर्तृत्वाभिमानसे रहित फलको न चाहनेवाले रागद्वेष- विरहित सात्त्विक कर्ताके द्वारा किया जाता है, उस कर्मको सात्त्विक कर्म कहते हैं। इसी कर्मको करनेके लिये गीताका उपदेश है—

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥

(गीता २ । ४८)

आसक्तिको त्यागकर तथा सिद्धि और असिद्धिमें समभाव होकर योगमें स्थित हो विहित कर्मोंको करो। योगका अर्थ है—समत्व अर्थात् सफल या निष्फल अवस्थाओंमें समभावसे रहना। इसी अर्थको आगे २ । ५९में गीताकारने और स्पष्ट किया है— 'योगः कर्मसु कौशलम्' अर्थात् समत्वरूपी योग ही कार्य करनेमें कुशलता या चतुराई है।

* शेर विद्यामन्दिर, छपरामें गीताजयन्तीके अवसरपर श्रीसोहम् बाबाके प्रवचनका सारांश।

पर जब ज्ञानी आत्मा अपनी दृष्टिको बाह्य पदार्थोंसे हटाकर अन्तरंगकी ओर ले जाता है, तब उसके द्वारा कर्मोंका होना रुक जाता है और बन्धनप्रद कर्मोंकी संख्या घटती जाती है। अमृतचन्द्राचार्यने कहा है कि रागयुक्त कर्मोंसे ही बन्धन होते हैं, तत्त्व-दृष्टिसे नहीं—

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति॥

इस प्रकार जब आत्माकी दृष्टि बाहरी क्रिया-कलापोंसे हटकर अन्तर्मुखी हो जाती है, तब राग-द्वेष, क्रोध-मोह, क्षोभ, ममता आदि दुर्भाव स्वयं दूर हो जाते हैं और पुराने कर्मोंकी निर्जरा होने लगती है तथा ज्यों-ज्यों आत्माके सम्पर्कसे कर्म क्षीण होते जाते हैं, त्यों-त्यों आत्माके स्वगुण विकसित होते जाते हैं और एक समय ऐसा आता है कि वह आत्मा जन्म-मरण [illegible] जाता है और विकाररहित आत्माका शुद्ध [illegible] प्रकट हो जाता है। ऐसा कर्मरहित आत्मा [illegible] कहा जाता है।

इस प्रकार व्यावहारिक दृष्टिसे यह क[illegible] बढ़िया सिद्धान्त है कि जो प्रत्येक प्राणीको दुष्[illegible] करनेसे रोकता है और सदाचार, परोपकार, [illegible] सह-अस्तित्वकी ओर प्रेरित करता है। यह [illegible] जीने दो'का उत्तम मार्ग दिखाता है। संसार[illegible] कर्मबन्धके कारण परतन्त्र (पराधीन) हो जाता [illegible] संसारमें भटकता रहता है, परंतु सद्विचार-[illegible] तपस्या आदिके द्वारा कर्मोंके चंगुलसे मुक्त [illegible] है। यही जैन-साधना-पद्धतिमें कर्मयोगका सिद्धान्त है।

(२)

(लेखक—मुनि श्रीसुमेरमलजी)

प्रायः सभी अन्य आगमोंके समान जैन आगमोंमें भी निष्कामकर्मपर बल दिया गया है। भारतीय धर्मदर्शन आकाङ्क्षामात्रको अज्ञानका परिणाम मानता है। ज्ञानीका अर्थ ही है—आकाङ्क्षारहित। अध्यात्मजगत्में क्रियाका स्थान है, ज्ञानका भी स्थान है, किंतु अभिलाषाका स्थान कहीं नहीं है। अभिलाषा रखनेवाला व्यक्ति भले साधक बन गया हो, घर-बार छोड़कर अरण्यवासी भी हो गया हो, पर अध्यात्मजगत्में वह प्रवेश नहीं पा सकता। अभिलाषा-युक्त धार्मिक क्रिया करनेसे विशेष आत्मिक उज्ज्वलता नहीं होती। वह केवल पुण्यके बन्धनोंमें ही उलझा रहता है। ('पुण्य-बन्धन' भी 'बन्धन' है।)

काजल बनानेवाले दीपकसे आठ अङ्गुल ऊपर मिट्टीका ढक्कन रखते हैं। ढक्कनपर गीला कपड़ा रख देते हैं, ऐसे करनेसे ढक्कनमें शीतलता आ जाती है। शीतलताके कारण वहाँ काजल खूब मिलने लगता है। लौ वही है, किंतु ऊपर शीतलतावाला ढक्कन होनेसे [illegible] ज्यादा पैदा होने लग जाता है। प्रकाश देनेवाली [illegible] ज्यादा काजल देने लग जाती है। यही [illegible] अभिलाषायुक्त धर्मक्रिया करनेमें होती है। आत्मोज्[illegible] करनेवाली धर्मकी साधनापर अगर आकाङ्क्षाका शीतल ढक्कन लग गया तो पुण्यका काजल ही अधिक होगा, आत्मोज्ज्वलताकी बात गौण हो जायगी।

जैन-साधना-पद्धतिमें भौतिक अभिलाषायुक्त जप[illegible] संयम आदि क्रियाओंको अकाम निर्जराका साधन [illegible] है। अकाम निर्जराका अर्थ है—आत्मशुद्धिके अति[illegible] किसी भी भौतिक अभिलाषापूर्तिके लिये की जानेवाली [illegible] क्रिया। उससे किंचित् उज्ज्वलताका आभास हो[illegible] है। इसीलिये उसे अकाम निर्जरा कहते हैं। जैन-साधना-पद्धतिमें सकाम निर्जरा [illegible] किया गया है। 'दशवैकालिक' जैन सूत्रमें कहा [illegible] अभिलाषाके लिये

ही करना चाहिये, यश-प्रतिष्ठाकी प्राप्तिके लिये ही करना चाहिये, मात्र आत्मोज्ज्वलताके ही तप करना चाहिये। तपस्याकी भाँति आचार-केवल अनुष्ठान भी मात्र आत्मोज्ज्वलताकी ही करनेका विधान है। इसके अतिरिक्त अन्य उद्देश्यसे आचार-पालन करनेका भी निषेध है। …के साथ वासनाका मेल ही नहीं बैठता, अभिलाषा …ना है। इसे रखकर साधना करना स्वयं … है। जैन-दर्शनमें तो पुण्यकी वाञ्छा करना भी … है। पुण्य स्वयं भौतिक है, उससे मिलनेवाली …यों भी सब भौतिक हैं। आचार्य भिक्षुने कहा जिसने पुण्यकी वाञ्छा (अभिलाषा) की, उसने …गोंकी अभिलाषा कर ली[1] कामभोगोंकी अभिलाषा …प है, हेय है, आत्मोज्ज्वलतामें बाधक है।

…-शास्त्रोंमें यह भी बतलाया गया है कि कर्म— करते समय कोई फलाशंसा नहीं रहनी चाहिये; …रुषार्थ करनेके बाद भी उस पुरुषार्थके फल- किसी प्रकारकी आकाङ्क्षा नहीं रहनी चाहिये। करनेके बाद उसके फलस्वरूप किसी पद, धन भोगसामग्रीकी अभिलाषा करनेको 'नियाणा' है। नियाणा करनेवालेको 'विराधक' माना गया …स वस्तुका नियाणा करे वह वस्तु जिस किसी मिले उस भवमें भी उसे मुक्ति नहीं मिल सकती; जबतक नियाणेका अंश रहेगा, तबतक मुक्ति नहीं। यह फलाशंसा ही मोक्ष-प्राप्तिमें बाधक है।

…गवान् महावीर एक बार राजगृह पधारे। राजा …क और महारानी चेलणा देवी उनके दर्शनार्थ आयीं। दोनोंके रूपको देखकर अनेक साधु-साध्वियोंने …जन्ममें ऐसे पति तथा पत्नी मिलनेका नियाणा (कामना) कर लिया। भगवान् महावीरने अपने प्रवचनमें नियाणेका दुष्परिणाम बतलाया—भौतिक फलाशंसाको संसार-परिभ्रमणका कारण बता… प्रभावित होकर सभी श्रमणोंने पू… किया; भगवान्‌के चरणोंमें आ… किया।

साठ ह… की; पारणेमें … इक्कीस बार धोकर खाते… किया था। जब शरीर … हड्डियोंसे चिपक गयी, चलते समय … कड़ करने लगी, तब आपने यावज्जीवनका अन… लिया। उस समय पातालवासी देव अपनी राजधानी बलिचञ्चामें इन्द्रके चले जानेसे (वहाँसे दूसरे स्थानपर जन्म लेनेसे) बेचैन हो उठे; कोई नया इन्द्र बन सके, ऐसे किसी तपस्वी साधु संन्यासीकी वे खोजमें निकले। मनुष्यलोकमें घूमते-घूमते वे तामली तापसके पास पहुँचे। उनके तीव्र तपोबलको देखकर वे प्रसन्न हो गये; क्योंकि अपने यहाँ इन्द्र बन सके, इससे भी अधिक पुण्य उपार्जित किये हुए उन महापुरुषको वहाँ देखा।

देवताओंने अपनी राजधानी बलिचंचामें इन्द्र बननेका नियाणा करनेकी विनयपूर्वक प्रार्थना की; पूरी बलिचंचा राजधानीका दृश्य उनके सामने उपस्थित किया। जैनशास्त्रोंमें चौसठ इन्द्र माने गये हैं। उनमें बलिचंचा राजधानीका इन्द्र एक होता है। यह भवनपति देवोंका इन्द्र होता है। भवनपति देव ही वहाँ प्रार्थना करने पहुँचे थे। बहुत अनुनय-विनय किया, बहुत आकर्षक वातावरण बनाया, किंतु तामली तापस स्वयं निष्काम-कर्मी थे, बिना किसी कामनाके उग्र तपस्या कर चुके थे। उन्होंने देवोंकी प्रार्थना अस्वीकार कर दी। इन्द्रत्वकी कामना भी उनके मनमें नहीं थी। देवता निराश

१—'पुण्यतणी वांछा कियाँ, विण वांछ्या काम ने भोग' आ० भिक्षु०।

तप नहीं करना चाहिये, यश-प्रतिष्ठाकी प्राप्तिके लिये तप नहीं करना चाहिये, मात्र आत्मोज्ज्वलताके उद्देश्यसे ही तप करना चाहिये। तपस्याकी भाँति आचार-धर्मादिका अनुष्ठान भी मात्र आत्मोज्ज्वलताकी दृष्टिसे ही करनेका विधान है। इसके अतिरिक्त अन्य किसी उद्देश्यसे आचार-पालन करनेका भी निषेध है। साधनाके साथ वासनाका मेल ही नहीं बैठता, अभिलाषा ही वासना है। इसे रखकर साधना करना स्वयं बन्धन है। जैन-दर्शनमें तो पुण्यकी वाञ्छा करना भी निषिद्ध है। पुण्य स्वयं भौतिक है, उससे मिलनेवाली उपलब्धियाँ भी सब भौतिक हैं। आचार्य भिक्षुने कहा है—'जिसने पुण्यकी वाञ्छा (अभिलाषा) की, उसने कामभोगोंकी अभिलाषा कर ली' कामभोगोंकी अभिलाषा स्वयं पाप है, हेय है, आत्मोज्ज्वलतामें बाधक है।

जैन-शास्त्रोंमें यह भी बतलाया गया है कि कर्म—पुरुषार्थ करते समय कोई फलाशंसा नहीं रहनी चाहिये; और, पुरुषार्थ करनेके बाद भी उस पुरुषार्थके फल-स्वरूप किसी प्रकारकी आकाङ्क्षा नहीं रहनी चाहिये। पुरुषार्थ करनेके बाद उसके फलस्वरूप किसी पद, धन अथवा भोगसामग्रीकी अभिलाषा करनेको 'नियाणा' कहते हैं। नियाणा करनेवालेको 'विराधक' माना गया है। जिस वस्तुका नियाणा करे वह वस्तु जिस किसी भवमें मिले उस भवमें भी उसे मुक्ति नहीं मिल सकती; अर्थात् जबतक नियाणेका अंश रहेगा, तबतक मुक्ति नहीं मिलेगी। यह फलाशंसा ही मोक्ष-प्राप्तिमें बाधक है।

भगवान् महावीर एक बार राजगृह पधारे। राजा श्रेणिक और महारानी चेलणा देवी उनके दर्शनार्थ आयीं। उन दोनोंके रूपको देखकर अनेक साधु-साध्वियोंने अगले जन्ममें ऐसे पति तथा पत्नी मिलनेका नियाणा (कामना) कर लिया। भगवान् महावीरने अपने प्रवचनमें नियाणेका दुष्परिणाम बतलाया—भाँति [illegible] संसार-परिभ्रमणका कारण समझाया। भगवान्के प्रवचनसे प्रभावित होकर सभी श्रमणोंने पूर्वकृत [illegible] किया; भगवान्के पासमें आलोयणा [illegible] किया।

'भगवती-सूत्र'में एक प्रसङ्ग आता है [illegible] साठ हजार वर्ष बेले (दो दिनका उपवास) [illegible] की; पारणेमें केवल मुट्ठीभर चावल, उन्हें इक्कीस बार धोकर काममें लेना था। उन्होंने घोर तप किया था। जब शरीर बिल्कुल कृश हो गया, चमड़ी हड्डियोंसे चिपक गयी, चलते समय पैरोंके जोड़ कड़-कड़ करने लगे, तब आपने पाव जीवनका अनशन कर लिया। उस समय पाताललोकनिवासी देव अपनी राजधानी बलिचञ्चामें इन्द्रके चले जानेसे (वहाँसे दूसरे स्थानपर जन्म लेनेसे) बेचैन हो उठे; कोई नया बन सके, ऐसे किसी तपस्वी साधु संन्यासीकी वे [illegible] निकले। मनुष्यलोकमें घूमते-घूमते वे तामली तापसके पहुँचे। उनके तीव्र तपोबलको देखकर वे प्रसन्न हो गये; क्योंकि अपने यहाँ इन्द्र बन सके, इससे भी अधिक पुण्य उपार्जित किये हुए उन महापुरुषको वहाँ देखा।[1]

देवताओंने अपनी राजधानी बलिचंचामें इन्द्र बननेका नियाणा करनेकी विनयपूर्वक प्रार्थना की; पूरी बलिचंचा राजधानीका दृश्य उनके सामने उपस्थित किया। जैनशास्त्रोंमें चौसठ इन्द्र माने गये हैं। उनमें बलिचंचा राजधानीका इन्द्र एक होता है। यह भवनपति देवोंका इन्द्र होता है। भवनपति देव ही वहाँ प्रार्थना करने पहुँचे थे। बहुत अनुनय-विनय किया, बहुत आतंक वातावरण बनाया, किंतु तामली तापस स्वयं निष्काम-कर्मी थे, बिना किसी कामनाके उग्र तपस्या कर [illegible] [illegible]। उन्होंने देवोंकी प्रार्थना अस्वीकार कर दी। [illegible] भी उनके मनमें नहीं थी। देवता निराश

१—पुष्पवत्या [illegible]

हुए, तपस्वीके प्रति कुछ रुष्ट भी हुए। वे असंतुष्ट देवगण तपस्वीको खरी-खोटी सुनाकर चले गये; किंतु तामली तापसने धैर्य नहीं खोया और न देवत्व तथा इन्द्रत्वकी अभिलाषा की। इसी निष्काम-साधनासे वे एक मनुष्यजन्मके बाद मोक्षके अधिकारी बन गये।

इस प्रकार जैन आगमोंने निष्काम-कर्मको ही महत्त्व दिया है। निष्काम-साधनाको ही मोक्षका साधन माना है। भव-संततिको समाप्त करनेके लिये कामनाकी जंजीर तोड़ना जरूरी है। इसे तोड़कर ही परम श्रेयको प्राप्त किया जा सकता है। यह निष्कामतामूलक कर्मयोग है।

निष्काम-कर्म ही क्यों ?

(लेखक—श्रीदीनानाथजी सिद्धान्तालंकार)

गीताके सिद्धान्त उपनिषदोंपर आधृत हैं। इसीलिये गीतामृतको उपनिषद्रूपी गायका दूध कहा गया है—

सर्वोपनिषदो गावो............................
...............................दुग्धं गीतामृतं महत्॥

इसीलिये इसके प्रत्येक अध्यायके अन्तमें 'इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु' आदि कहा गया है। गीताके 'निष्काम-कर्म'के सिद्धान्तका मूलभूत सूत्र ईशोपनिषद्के इस दूसरे मन्त्रमें स्पष्ट दिखायी देता है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

'कर्म करता हुआ ही इस संसारमें सौ वर्षतक जीनेकी इच्छा करे। मनुष्य फलमें लिप्त न हो तो बन्धन भी न हो। इसके अतिरिक्त तेरे लिये कोई मार्ग नहीं है।'

तीन प्रकारके मार्ग

गीतामें निष्कामभावकी पुष्टि कई युक्तियों और तर्कोंसे सबल शब्दोंमें की गयी है। निष्कामकर्मीको ही 'कर्मयोगी', 'योगी', 'स्थितप्रज्ञ', 'सम', 'समदर्शी', 'आत्मौपम्यदर्शी' इत्यादि विशेषणोंसे कहा गया है। गीताके इस सिद्धान्तकी पुष्टि महाभारत तथा अन्य प्राचीन ग्रन्थोंमें भी मिलती है। श्रीआनन्दगिरिने कठोपनिषद् (१।२।१९) पर शांकरभाष्यकी अपनी टीकामें निम्नश्लोकको उद्धृत किया है—

विवेकी सर्वदा मुक्तः कुर्वतो नास्ति कर्तृता।
अलेपवादमाश्रित्य श्रीकृष्णजनकौ यथा॥

'विवेकशील पुरुष सब प्रकारके कर्म करता हुआ श्रीकृष्ण और जनकके समान अकर्ता, अलिप्त और सदा मुक्त रहता है।' महाभारतके शान्तिपर्वमें जनक-सुलभा संवाद आता है। इसमें राजा जनक सुलभासे कहते हैं—

मोक्षे हि त्रिविधा निष्ठा दृष्टान्यैर्मोक्षवित्तमैः।
ज्ञानं लोकोत्तरं यच्च सर्वत्यागश्च कर्मणाम्॥
ज्ञाननिष्ठां वदन्त्येके मोक्षशास्त्रविदो जनाः।
कर्मनिष्ठां तथैवान्ये यतयः सूक्ष्मदर्शिनः॥
प्रहायोभयमप्येव ज्ञानं कर्म च केवलम्।
तृतीयेयं समाख्याता निष्ठा तेन महात्मना॥
(३२० । ३८-४०)

'मोक्षकी विद्या जाननेवाले मोक्ष-प्राप्तिके लिये तीन प्रकारकी निष्ठाएँ बतलाते हैं। प्रथम ज्ञान प्राप्त कर सब कर्मोंका त्याग कर देना; इसको मोक्ष-शास्त्रज्ञ 'ज्ञाननिष्ठा' कहते हैं। दूसरे सूक्ष्मदर्शी कर्मनिष्ठाको ही मार्ग बताते हैं, परंतु केवल ज्ञान और केवल कर्म—इन दोनों निष्ठाओंको छोड़कर एक तीसरी निष्ठा भी है। वह है—ज्ञानसे कर्ममें आसक्तिका त्यागकर कर्म करनेकी निष्ठा। मुझे इसे महात्मा पञ्चशिखने बतलाया है।' अन्यत्र रामायण (२।४।४२)में भगवान् श्रीरामसे वसिष्ठजी कहते हैं—

प्रवाहपतितं कार्यं कुर्वन्नपि न लिप्यते।
बाह्ये सर्वत्र कर्तृत्वमावहन्नपि राघव॥

प्रांश— कर्ममय इस संसारके प्रवाहमें पड़ा मनुष्य बाहरी सब प्रकारके कर्तव्यकर्म करके भी [illegible] रहता है, यदि उसमें अहंकार न हो। गीतामें [illegible]–'स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्' है।

ब्रह्मसत्ता और प्रकृति सत्ता

[illegible]तामें भगवान् श्रीकृष्णने 'निष्काम-कर्म'के लिये जो [illegible]ें दी हैं, वे बहुत सीधी, सरल और स्पष्ट हैं। समझनेके लिये तर्कशास्त्रके गम्भीर-सिद्धान्तोंकी [illegible]कता नहीं। गीता कहती है–इस महान् ब्रह्माण्डका [illegible] आधार ब्रह्म है और वही परम सत्य है। संसार [illegible] परिवर्तनशील एवं क्षणभङ्गुर है। वह देश, पात्रके अनुसार विभिन्न व्यक्तियोंपर विभिन्न प्रभाव [illegible]रता है। इसलिये यथार्थ सत्ता और अन्तिम [illegible]रीरकी नहीं, आत्माकी है; जड़ प्रकृतिकी नहीं, चैतन ब्रह्मकी है।

मनोनिग्रहके लिये निष्काम बुद्धि

गीताके शब्दोंमें ऐसे सामान्य व्यक्तिको शुद्धचित्तके साथ निष्कामबुद्धि-प्रेरक यज्ञ, दान, तप, स्वाध्याय, सत्सङ्ग, एकान्तचिन्तन इत्यादि गृहस्थाश्रमके कर्म (अन्य सांसारिक-व्यवहारोंको गौण समझते हुए) करने चाहिये। इसी युक्ति-शृङ्खलाको आगे ले जाते हुए गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि "यदि तुम यह कहते हो कि 'मेरा मन वशमें तो है और चित्तशुद्धि भी प्राप्त हो चुकी है और कर्म करनेसे उसके बिगड़नेका डर भी नहीं है, पर अब व्यर्थ कर्म करके हम शरीरको कष्ट क्यों दें ! [illegible]स दूसरोंके लिये व्यर्थके झमेलोंमें क्यों पड़ें ?' तो तुम्हारी कर्म-त्यागकी यह भावना राजस है; क्योंकि कायक्लेशका यह भय क्षुद्र-बुद्धिसे किया गया है। इस प्रकारकी राजस-बुद्धिके व्यक्तिको कर्म-त्यागका फल नहीं मिलता (गीता १८ । ७-८)। किंतु निर्दिष्ट साधनोंसे [illegible] क्रमशः साधकको उस केन्द्रबिन्दुपर लाकर खड़ा कर देती है, जहाँ 'कर्मत्याग' की अपेक्षा कर्म-फलत्यागके श्रेयस्कर मार्गका अवलम्बन करके प्राप्त करनेका बोध हो जाता है।"

साध्य, साधन-सिद्धि और साधक

परंतु फलत्यागका अर्थ यह नहीं है कि मनुष्य के सम्बन्धमें प्रमाद करे। साध्य, साधन सिद्धि—ये तीनों विचार साधकके लिये आवश्यक हैं। त्रिकोणको दृष्टिमें रखते हुए जो फलकी इच्छाके बिना विहित-कर्ममें संलग्न रहता है, वही निष्कामकर्मी है। फलत्यागका यह अभिप्राय भी नहीं कि साधक अपने कर्मका फल भोगता ही रहे। ईश्वरीय नियमके अनुसार प्रत्येक प्राणीको अपने कर्मका फल तो भोगना ही पड़ता है। इसमें किसी प्रकारकी रियायत व सिफारिश नहीं सकती। गीताके निर्देशके अनुसार फलत्यागी [illegible] कर्मयोगी प्रसन्न और निर्द्वन्द्व होकर कृतकर्मोंका फल भोगता है। निष्काम-कर्ममें उसका उत्साह कभी कम नहीं होता। गीताका निम्न श्लोक इस सिद्धान्तको कितने सुन्दर ढंगसे पुष्टि करता है—

> मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
> सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते॥
> (१८ । २६)

'सात्त्विक कर्ता कौन है ? वही, जो सब प्रकारके सङ्गोंसे मुक्त, अहंकार-रहित, धैर्य और उत्साहसे युक्त, सफलता-असफलतामें समबुद्धि रखनेवाला है।' इस प्रकारके फल-त्यागी पुरुषको हजारगुना फल स्वयं भगवान्की ओरसे मिलता है। पर कब, जब इसमें उसकी उचित श्रद्धा हो। इसीमें मानवकी परीक्षा होती है। यह वह मार्ग है, जिससे मानव-जीवन सरल बन जाता है। सरलतामें ही वास्तविक शान्ति निहित है। (इसी शान्तिकी प्राप्तिके लिये मानव-जीवन है। यह अन्य जीवनोंमें सुलभ नहीं है और इसका साधन है—कर्मयोग। इसलिये कर्मयोगकी साधना करनी चाहिये।)

अनासक्ति और निष्कामकर्म

(लेखक—श्रीरामानन्दजी वैश्य, हरिद्वार)

भौतिक भोग-लिप्साओंकी मृग-मरीचिकासे उद्भ्रान्त मानव-मन जब विविध कर्मोंके क्रिया-कलापोंमें संलग्न होता है, तब वह उन कर्मोंके फलोंकी मोहासक्तिसे आक्रान्त हो जाता है और अपने जीवनके चरम लक्ष्य—चिन्तन-आनन्दके शाश्वत रस-मूल श्रीहरिके पाद-पद्मोंसे बहुत दूर-दूरतर जा भटकता है। यदि जीव नियत कर्तव्य-कर्मोंतक ही अपनेको परिसीमित रखकर, उनके फलोंके प्रति अनासक्तभाव रखे—निष्कामकर्मकी सतत साधना करे तो वह उस परमानन्द-लक्षण मोक्षको प्राप्त कर सकता है। श्रीभगवान्‌की ही दिव्य वाणी (गीता ४। २०)के अनुसार कर्मफलकी आसक्तिका त्यागकर कर्ममें प्रवृत्त होनेपर भी मनुष्य मानो कुछ नहीं करता और इसीलिये वह नित्य संतुष्ट रहता है—

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित् करोति सः॥

अनासक्ति मनुष्यकी साधनाकी उच्चकोटिकी कसौटी है और निष्कामता या कर्मफलकी इच्छाका न होना उसका साधन है। कर्मफलसे अनाश्रित, अनासक्त होकर कर्तव्य-कर्मका निष्पादन सामान्य साधना नहीं; जो संन्यासी या योगी समस्त सांसारिक मोह-ममताके निरसनपूर्वक समग्र लौकिक, पारलौकिक काम्य-कर्मोंका परित्याग कर अहर्निश ब्रह्म-चिन्तनमें लीन रहते हैं, परमतत्त्वमें एकात्मभाव अनुभव करते हैं, उन्हींकी कोटिमें ऐसे अनासक्त कर्मनिष्ठ आते हैं। वे कर्तव्य कर्मका त्याग कर या निष्क्रिय बैठकर त्यागका स्वाँग नहीं धारण करते। श्रीगीता (६। १)का यही विधान है—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥

'जैसे किसी सरोवरमें जल रहते हुए भी कमलपत्र जलराशिके स्तरसे ऊपर उठे हुए उसके प्रभावसे मुक्त—अछूते, निर्लिप्त रहते हैं, वैसे ही ब्रह्मचिन्तनमें निर्बाध अनुरक्त, अनासक्त कर्मयोगी, संन्यासी या योगियोंकी तरह सभी कर्मोंको परमात्मामें अर्पण करके, जीवनचर्या चलानेवाले मनुष्य अपने कर्मजनित किसी भी इष्ट-अनिष्ट या पुण्य-पाप अर्थात् कर्मफलके प्रभावसे निर्लिप्त रहते हैं। ऐसे कर्मरत मनुष्योंकी अपनी कोई ममता नहीं, लगाव नहीं, फिर कैसा कर्म-बन्धन, पाप-पुण्य फलजनित विकारोंमें संश्लिप्तता, कैसी फलाकाङ्क्षा। गीतामें इसी आशयका विवेचन है—

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥
(५। १०)

श्रीभगवान्‌ने इस प्रकारके भगवत्परक कर्मनिष्ठ भगवत्परायण अनासक्त भावी साधक या मनुष्यको ही अपना उत्कृष्ट कोटिका भक्त माना है। ऐसा व्यक्ति भगवत्सम्बन्धसे सर्वात्मभाव रखता है, सर्वसमर्पित रहता है। सभी उसके अपने हैं, उसका अपना हिताहित सभीका हिताहित है, अतः वह किसीके प्रति परभाव या द्वेष-बुद्धि नहीं रखता। प्राणिमात्रमें आत्मीयभाव होनेसे वह सभीके प्रति निर्वैर, निर्द्वन्द्व है और ऐसा भक्त निरापद, निर्बाध श्रीहरिको प्राप्त कराता है, भगवद्वाणीमें ही इस प्रकार उल्लिखित है—

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥
(गीता ११। ५५)

इस प्रकारके भक्तोंकी चित्तवृत्तिमें 'संन्यास' और 'त्याग' दोनों भावोंका सन्निवेश है, फलकी कामनासे कृतकर्मोंका त्याग ही 'संन्यास' है और सभी कर्मोंके फलोंमें निरपेक्षभाव ही 'त्याग' है। यह विवेकी तत्त्व-चिन्तकोंका कथन है। कर्म और फल दोनोंमें ही अनासक्ति रखनेसे यह कोटि सिद्ध होती है। यही तत्त्व श्रीभगवान्‌ने यहाँ इन शब्दोंमें निरूपित किया है।

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥
(गीता १८। २)

उपरि विवेचित त्याग ही वास्तविक त्याग है, सात्त्विक त्याग है। इसमें नियत कर्तव्यकर्म, मानवोचित धर्म व मनुष्यकी कल्याणकारी गतिविधिका निषेध नहीं है—केवल आसक्ति और फलकी कामनाके त्यागका विधान है। जीवनके चरम लक्ष्यसे विमुख कराने, श्रीहरिके पाद-पद्मोंसे दूर भटकानेमें आसक्ति और कामना ही कारण है; अतः वह निषिद्ध मानी गयी है। श्रीहरिने अर्जुनको यही प्रेरणा दी है—

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः॥
(गीता १८। ९)

वस्तुतः देहधारी मनुष्यसे सम्पूर्ण रीतिसे कर्मका त्याग सम्भव भी नहीं है, वह एक क्षण भी कर्मके बिना नहीं रह सकता। यदि आत्मसंयम और संतुलित आत्मविजयसे वह जीवनमें व्यवहार करता रहे तो फलासक्तिसे अपनेको मुक्त रख सकता है और इस कर्मफलको करके ही वह सच्चा त्यागी बन सकता है। श्रीभगवान्‌के इन वाक्योंमें यह स्पष्टतः निर्दिष्ट है—

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते॥
(गीता १८। ११)

किंतु इस स्थितिके लिये मनुष्यको स्थितप्रज्ञ होना आवश्यक है। स्थितप्रज्ञताका लक्षण यह है कि वह सर्वत्र आसक्तिरहित हो और शुभाशुभ जो भी प्राप्त हो, उसमें न तो वह हर्ष करे, न खेद—सर्वत्र सर्वदा एकरस, एकरूप बना रहे। ऐसा मनुष्य ही स्थिरबुद्धि कहा गया है। गीता २। ५६से ७२ तकमें इसका वर्णन है। मुख्य वचन है—

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा [illegible]
([illegible]

ऐसे स्थितप्रज्ञ कर्मयोगी [illegible] जिसे मोक्षरूप कहा गया है, [illegible] उपलब्धि करता है और योगरहित सक[illegible] करनेसे फलमें आसक्त होनेसे मुक्त नहीं होते [illegible] कर्मबन्धनमें निबद्ध होते हैं। श्रीभगवान् कहते हैं—

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥
(गीता ५। १२)

कर्मयोगी और योगरहितमें यही तारतम्य है, [illegible] श्लोकसे भी यही ध्वनित होता है—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥
(गीता ३। १९)

इस प्रकार लोक-वेदमें जो नियत कर्तव्यकी व्यवस्था की गयी है—राग-द्वेष एवं आसक्तिसे रहित होकर, बिना फलकी इच्छाके, मनुष्यके लिये जिन कर्तव्य-कर्मोंका विधान किया गया है, वे ही सात्त्विक कर्म हैं। श्रीहरिने श्रीमद्भगवद्गीतामें पुनः-पुनः इन पङ्क्तियोंमें उद्घोषित किया है—

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते॥
(गीता १८। २३)

सार-यह है कि अनासक्ति और निष्काम-कर्मका विधान सूत्ररूपमें भगवान् श्रीकृष्णने श्रीमद्भगवद्गीतामें अर्जुनके प्रति अपने उत्तमोत्तम सुनिश्चित मतके रूपमें किया है। इसे हम अविग्रहण करें और मनन-चिन्तनपूर्वक उसे जीवनमें क्रियान्वित करें तो भगवान्‌की प्रसन्नताको प्राप्त करेंगे।

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥
(गीता १८। ६)

अनासक्ति और निष्कामकर्म

(लेखक—श्रीगोकुलानन्दजी तैलङ्ग, साहित्यरत्न)

भौतिक भोग-लिप्साओंकी मृग-मरीचिकासे उद्भ्रान्त मानव-मन जब विविध कर्मोंके क्रिया-कलापोंमें संलग्न होता है, तब वह उन कर्मोंके फलोंकी मोहासक्तिसे आक्रान्त हो जाता है और अपने जीवनके चरम लक्ष्य—चिन्तन-आनन्दके शाश्वत रस-मूल श्रीहरिके पाद-पद्मोंसे बहुत दूर-दूरतर जा भटकता है। यदि जीव नियत कर्तव्य-कर्मोंतक ही अपनेको परिसीमित रखकर, उनके फलोंके प्रति अनासक्तभाव रखे—निष्कामकर्मकी सतत साधना करे तो वह उस परमानन्द-लक्षण मोक्षको प्राप्त कर सकता है। श्रीभगवान्‌की ही दिव्य वाणी (गीता ४। २०)के अनुसार कर्मफलकी आसक्तिका त्यागकर कर्ममें प्रवृत्त होनेपर भी मनुष्य मानो कुछ नहीं करता और इसीलिये वह नित्य संतुष्ट रहता है—

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित् करोति सः॥

अनासक्ति मनुष्यकी साधनाकी उच्चकोटिकी कसौटी है और निष्कामता या कर्मफलकी इच्छाका न होना उसका साधन है। कर्मफलसे अनाश्रित, अनासक्त होकर कर्तव्य-कर्मका निष्पादन सामान्य साधना नहीं; जो संन्यासी या योगी समस्त सांसारिक मोह-ममताके निरसनपूर्वक समग्र लौकिक, पारलौकिक काम्य-कर्मोंका परित्याग कर अहर्निश ब्रह्म-चिन्तनमें लीन रहते हैं, परमतत्त्वमें एकात्मभाव अनुभव करते हैं, उन्हींकी कोटिमें ऐसे

प्रभावसे मुक्त—अछूते, निर्लिप्त रहते हैं, वैसे ही ब्रह्मचिन्तनमें निर्बाध अनुष्ठित, अनासक्त कर्मयोगी, संन्यासी या योगियों की तरह सभी कर्मोंको परमात्मामें अर्पण करके, जीवनचर्या बनानेवाले मनुष्य अपने कर्मजनित किसी भी इष्ट-अनिष्ट या पुण्य-पाप अर्थात् कर्मफलके प्रभावसे निर्लिप्त रहते हैं। ऐसे कर्मरत मनुष्योंकी अपनी कोई ममता नहीं, लगाव नहीं, फिर कैसा कर्म-बन्धन, पाप-पुण्यरूप फलजनित विकारोंमें संलिप्तता, कैसी फलाकाङ्क्षा। गीतामें इसी आशयका विवेचन है—

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥
(५।

श्रीभगवान्‌ने इस प्रकारके भगवत्परक क भगवत्परायण अनासक्त भावी साधक या मनुष्यको ही उत्कृष्ट कोटिका भक्त माना है। ऐसा व्यक्ति भगवत्सम सर्वात्मभाव रखता है, सर्वसमर्पित रहता है। सभी अपने हैं, उसका अपना हिताहित सभीका हिताहि अतः वह किसीके प्रति परभाव या द्वेष-बुद्धि नहीं रख प्राणिमात्रमें आत्मीयभाव होनेसे वह सभीके प्रति नि निर्दिष्ट है और ऐसा भक्त निरापद, निर्बाध श्रीहरिको कराता है, भगवद्वाणीमें ही इस प्रकार उल्लिखित है—

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु ... पाण्डव।

रखते हैं कि संसारमें पिता-पुत्र, पति-पत्नी, मित्र आदिके सम्बन्धमें एक-दूसरेके प्रति इतना र्पित होता ही है कि यह दिनभर उनके लिये धन्धा है, उनके दुःख-सुखके लिये रातभर जाग भी है, अपना धन, समय और शक्ति भी लगाता नो वह उन्हींका होकर रह गया है; उनके से ऐसा लगता है कि उसका सारा जीवन ही ः पत्नी और बच्चों इत्यादिके लिये है। इसी तरह ारा दिन अपने पतिके लिये तथा बच्चोंके लिये यवहार, देख-भाल तथा प्रबन्ध-व्यवस्था करनेमें रहती है। बच्चे भी अपने माता-पिताकीही होकर रहते और उनकी छत्रच्छायामें पलते और हैं। इसी प्रकार निष्कामकर्मयोगी परमात्मासे जुटाकर परमात्माके प्रति समर्पित होकर रहता सभी कर्म करते समय स्वयंको परमात्माकेही निमित्त माना और अपने तन, मन, धनको परमात्माका ही माननेसे मनुष्यका मोह मिटती है और वे उसे मायाके कार्यमें न प्रत्युत वह गृहस्थ होते हुए भी कम न्यारा और उनका प्यारा होकर रहता है। यही है, जिससे मनुष्यको विदेही अथवा अव्यक्त प्राप्त होती है और उसकी सब चिन्ताएँ मिट तथा उसका चित्त गद्गद हो जाता है।

मन, वचन तथा कर्मको ईश्वरीय सम्बन्धके अनुकूल बनाना ही निष्काम-कर्मयोग है। अपनी सारी दिनचर्यामें उसका मानसिक, वाचिक और शारीरिक कर्म सम्बन्धी परमपिता परमात्माको भी अपने के ही धर्म, कुल, सामाजिक और अनुसार बरतना ही यौगिक जीवन है। बुद्धिमान् कभी भी ईश्वरके गुणों तथा कर्मोंके विरुद्ध कार्य नहीं कर सकता। गीताका निष्काम कर्मयोग यही सिखाता है।

प्रपत्तिमें कर्म-निरूपण (निष्कामता)

(लेखक—श्रीश्रीकान्तशरणजी)

प्राणि-मात्रद्वारा अनादिकालसे ही कर्म निष्पादित होते हैं, जिन्हें संचितकर्म कहते हैं। इनके एकभावसे इस तरूपी शरीरका निर्माण होता है, जिसे 'अभ्युपगत' की संज्ञा दी जाती है। दूसरे भागको वह मरणान्तर ल शरीर-निर्माणकी भावी दृष्टि या पुनः शरीरके गकी भावनासे सुरक्षित रखता है, जिसे 'अनभ्यु-' कर्म कहा जाता है। वर्तमान उपलब्ध शरीरसे कर्म बनते हैं, उन्हें भी भगवान् संचितकर्मोंके में समाहित कर देते हैं। अहङ्कारपूर्वक किये हुए ोंके फलस्वरूप इस जीवको स्वर्गकी प्राप्ति सम्भव किंतु उन पुण्योंके फलभोग-समाप्तिपर पुनः जीवको मरणके व्यूहमें खड़ा होना पड़ता है। इस हेतु तःकरणसे उद्भूत निष्कामकर्महेतु सचेष्ट रहनेमें ही जीवका कल्याण है। शाश्वतशान्ति-हेतु फलकी कामनासे आयोजितकर्म श्लाघ्य नहीं है, अपितु वह एकदिन गहन विषादका कारण भी बन बैठता है। अतः अनासक्तभावसे नियतकर्मका सम्पादन ही जीवका लक्ष्य होना चाहिये। इसीलिये कहा है—

> श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
> स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥
> (गीता १८। ४७)

'दूसरोंके अच्छी तरह आचरण किये हुए धर्मसे स्वधर्मपालनको श्रेष्ठ माना गया है; क्योंकि स्वभावसे नियत किये हुए स्वधर्मरूप कर्मको करता हुआ मानव पापको प्राप्त नहीं होता।' सत्कर्मद्वारा अनेक जन्मोंमें अर्जित महान् पापोंसे बद्धजीव उन्मुक्त

भगवान् श्रीकृष्णद्वारा निर्दिष्ट निष्काम-कर्मयोग

(लेखक—श्रीरामशरण के० बी० पत्रकार)

जन्म-जन्मान्तरके अज्ञान तथा नित्यानित्यविवेकके अभावमें वासनायुक्त व्यवहारके कारण गुण-दोषोंका वास्तविक बोध नहीं होता। किंतु मोक्षके लिये परमसाधनरूप श्रवण-मनन आदिका दृढतापूर्वक अवलम्बन आवश्यक है। अतः दृष्टिकोण परिवर्तनके लिये अनासक्तभावसे यज्ञादिमें मनको लगाना चाहिये। श्रीमद्भागवतमें भिक्षुने गाया है—

अर्थस्य साधने सिद्धे उत्कर्षे रक्षणे व्यये।
नाशोपभोग आयासस्त्रासश्चिन्ता भ्रमो नृणाम्॥
(११ । २३ । १७)

'धनके अर्जनमें कई तरहके संताप होते हैं। उसके उपार्जन हो जानेपर उसकी रक्षामें संताप, कहीं डूब न जाये—फिर इस चिंतामें उसे सदा जलना पड़ता है। नाश हो जाये तो जलना, खर्च हो जाये तो जलना, छोड़कर मरनेमें जलन, तात्पर्य यह कि आदिसे अन्ततक अर्थ-कामसे केवल संताप ही रहता है।' इसलिये सांसारिक विषय हेय कहे जाते हैं। यही दशा पुत्र-प्राप्ति, मान-बड़ाई आदिकी है। जीवोंमें प्राप्तिकी इच्छासे लेकर वियोगतक संताप बना रहता है। ऐसा कोई सुख नहीं, जो संताप देनेवाला न हो; किंतु निष्कामकर्म-योगीके लिये संसार कभी किसी भी रूपमें संतापदायक नहीं होता। अतः अनासक्तभावसे सत्कर्मोंका अनुष्ठान करना चाहिये। गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे आसक्तिको त्यागकर इस प्रकार कर्म करते रहनेके लिये इसी तत्त्वको लक्ष्य कर कहा है—

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥
युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥
(५ । ११-१२)

कर्मयोगी ममत्व-बुद्धिसे रहित केवल इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शरीरद्वारा भी आसक्तिको त्यागकर अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कर्म करते हैं। कर्मयोगी व फलका त्याग करके भगवत्प्राप्तिरूप शा प्राप्त होता है और सकाम पुरुष कामनाकी प्रे फलमें आसक्तियुक्त होकर बँधता है। कठोपनि निष्कामभावकी महिमा ऐसी ही बतायी गयी है—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिता
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते
(२ । ३ । १

मनुष्यका हृदय नित्य-निरन्तर विभिन्न प्रका इहलौकिक और पारलौकिक कामनाओंसे भरा रहता है इसी कारण न तो कभी वह यह विचार ही करता है परम आनन्दस्वरूप परमेश्वरको किस प्रकार प्राप्त कि जा सकता है और न काम्य-विषयोंकी आसक्तिके कार वह परमात्माको पानेकी अभिलाषा ही करता है। सारी कामनाएँ साधक पुरुषके हृदयसे जब समूल न हो जाती हैं, तब वह सदासे मरणधर्मा प्राणी अम हो जाता है और यहीं—इस मनुष्य-शरीरमें ही—य परब्रह्म परमेश्वरका भलीभाँति साक्षात् अनुभव कर लेता है। निष्काम-कर्मयोग करनेकी प्रेरणा देते हुए स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥
(गीता १२ । ६-७)

'जो अपने सब कर्म मुझे समर्पित करते हैं, मुझमें परायण हैं और एक निष्ठासे मेरा ध्यान करते हुए मेरी उपासना करते हैं—जिनका चित्त इस प्रकार मुझमें ओत-प्रोत है, उनका जीवन और मृत्युमय संसार-सागरमें (गोते लगाने)से मैं अविलम्ब उद्धार कर देता हूँ।

-'तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैव हास्य ...नः प्रदूयन्ते य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं ...' (छान्दोग्योपनिषद् ५ । २४ । ३)

...प्रकार सींककी रूई या अग्रभाग अग्निके संयोगसे ...ल जाता है वैसे ही विद्वान् विधिपूर्वक प्राणाग्नि-... अनुष्ठान करता है और उसके सारे पाप सद्यः ...जाते हैं ।

शरणागतके पापकृत्योंका शमन

...पन्न होते ही अनजानसे तद्भूत चूककर ...मन हो जाता है । कहा भी गया है—

पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवं ...पापं कर्म न श्लिष्यते ।

(छान्दोग्योपनिषद् ४ । १४ । ३)

...ओवरमें कमलपत्र एवं जल साथ-साथ (संयोगसे) हैं; किंतु इन दोनोंका कोई लेप-सम्बन्ध नहीं ...है । इसी प्रकार ब्रह्मतत्त्ववेत्तामें पापकर्मका संसर्ग ही ...होता । तात्पर्य यह कि ज्ञानके प्रकाशसे ...पापकर्मोंसे शरणागतिके कारण उन्मुक्त हो जाता ...यह मार्ग केवल अभ्युदयदायक होता है । किंतु ...ेत न रहनेपर यदा-कदा अनवधानताके कारण पाप-...ोंकी प्रवृत्ति हठात् बन जाती है तो प्रभु कर्म-...ज्ञानीको उस प्रवृत्तिसे बचनेहेतु विवेक भी देते ...ते हैं । फलतः उसे निर्लिप्ततासे शुद्ध कर देते हैं ।

रहति न प्रभु चित चूक किए की ।
करत सुरति सय बार हिए की ॥

(रामच० मानस, बाल०)

और भी—

साहिब होत सरोष, सेवक को अपराध सुनि ।
अपनेहु देखे दोष, राम न सपनेहु उर धरेउ ॥

(दोहा० ४७)

यद्यपि विकर्णने सभाके समक्ष चार प्रकारके व्यसन जो राजाओंके लिए सापेक्ष्य हैं, उन मृगया (शिकार), मद्यपान, जुआ एवं स्त्रियोंके प्रति आत्यन्तिक आसक्तिकी ओर संकेत किया है और ऐसी स्थितिमें आसक्तिके संयोगसे धर्म छोड़कर बर्तना सम्भव है, पर इस प्रकार ऐसे जीवोंके द्वारा आवेशवशात् सम्पन्न दुष्कर्म प्रामाणिक दृष्टान्त नहीं माने जाते । तथापि परमात्मप्राप्तिके प्रत्याशी साधकको चाहिये कि परमार्थहेतु कर्तव्य कर्मका आचरण करे और उसके बाद अवशिष्ट अंशसे शरीरका ... करे । इस कर्तव्य कर्मको यज्ञके निमित्त ही करे, ...सुख, शरीर-परिपुष्टि अथवा ... सर्यके लिये ... सब पापोंसे उन्मुक्त ...

यह प्रयोग ... हो जाती है, उसके ... क्रियमाण) कर्म भलीभाँति ... ब्रह्माकार हो जाता है । ... उत्तम कृति है । इसीके ... उपेय (प्राप्तव्य) मानकर महान् ... ग्रहण करता है । यद्यपि यह ... फिर भी भगवान्की ओरसे प्राप्तव्य ...

...समेव शरणं गच्छ ...
इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् ...

(गीता १८ । ...)

अनभ्युपगत पाप-कर्मोंका नाश

अनभ्युपगत पाप पुनः शरीरको देनेके कारण बनते हैं; किन्तु शरणागत होकर आधारी शरीर, मन, चित्त, बुद्धिसे आत्म-समर्पणमात्रसे जीव जन्ममरणसे उन्मुक्त हो जाता है; यथा—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम ॥

(वाल्मीकि रामायण)

हो जाता है। ज्ञात अथवा अज्ञातरूपसे यदि महान् पाप हो जाते हैं तो उनका फल भोगनेके लिये उसे घोर नरकमें भेजा जाता है तथा यदा-कदा इन्हीं कर्मोंके भोगहेतु पाप-योनियोंमें जन्म भी दिया जाता है। यहाँतक कहा जाय, कभी-कभी लता, वृक्ष, गुल्म, कण्टक आदिमें भी जन्म लेना पड़ता है। सामान्य रीतिसे पुण्य-पाप, धर्म-अधर्म, कर्तृत्व-अकर्तृत्वकी तुलनामें मानव-शरीर सुलभ होता है। कर्मरूपी तुलापर यदि पाप करनेपर पुण्यका पलड़ा ऊपर और पापोंका पलड़ा नीचे हुआ तो जगत्‌में स्त्रीका शरीर वहन करना पड़ता है। फलस्वरूप स्त्रीशरीरमें पुरुषोंकी अपेक्षा परतन्त्रता एवं गर्भ-वहन आदिके असह्य कष्ट उसे झेलने पड़ते हैं। जीवनभर कठिन भूमिका अदा करनी पड़ती है।

विभिन्न जन्मोंके संचित छोटे-बड़े पुण्य एवं अगणित पाप हो जाते हैं। जब भगवत्कृपाके फलरूप उसके पाप-पुण्योंका उपभोग हो जाता है और किंचित् प्रायश्चित्त करना अवशेष नहीं रहता तब वह शुद्धस्वरूप होकर मोक्ष-पदका अधिकारी बनता है, जैसा कि शास्त्रों तथा सद्ग्रन्थोंमें इसकी महिमा बतलायी गयी है; यथा—

तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय
निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति।
(मुण्डकोपनिषद् ३।१।३)

श्रेष्ठ विद्वान् पाप-पुण्योंके समुदायको नष्ट कर शुद्ध हो अनन्तब्रह्मकी परम समताको प्राप्त होता है। बद्धजीवसे असंख्य पाप-पुण्य होते हैं; तुलसीदासजीने कहा है—

जो पै जिय धरिहौ अवगुन जनके।
तौ क्यों कटत सुकृत नखते मो पै बिपुल बृन्द अघ बनके॥
(विनयपत्रिका ९६)

इन्हींसे जीव भव-चक्रमें भ्रमण किया करता है। अर्जित एवं क्रियमाण पापोंका शोधन उन सबके लिये वैसे ही असम्भव है, जैसे मात्र नखसे घनघोर अरण्यस्थलीको काटक[illegible] देनेका [illegible]। [illegible] कहीं भी आसक्तिकी भावनाका जागरण हुआ, अर्जित पु[illegible] आदि भी उसीके पराक्षेपसे तिरोहित हो उठते हैं।[illegible] संसृतिचक्रसे बचनेका एकमात्र सरल उपाय सद्गुरु सत्संयोगसे परमपिता परमात्माकी शरणागति प्रा[illegible] करना ही है। इसके आलोकसे मानसहृदय पवित्र [illegible] जाता है और उसी क्षणसे भव-पापोंका विमोच[illegible] प्रारम्भ हो जाता है। श्रेष्ठ पुरुषोंने इस सम्बन्ध[illegible] निर्णय भी दिया है; यथा—

प्रारब्धेतरपूर्वपापमखिलं पापादिकं चोत्तरम्।
न्यासेन क्षणयघनभ्युपगतः प्रारब्धखण्डं च नः॥
(वेष्ण० मता०)

अभ्युपगत प्रारब्धके अतिरिक्त इसके पूर्वके सम्पूर्ण संचित शरणागतिमात्रसे तत्काल ही नष्ट हो जाते हैं एवं जन्मसे मरणोपरि अज्ञात (प्रच्छन्न) रूपसे सम्पादित पाप भी क्षमा कर दिये जाते हैं। परमात्म[illegible] त[illegible]ल ही उसके निदान-हेतु सत्संकल्प होकर स्व-स्वरूपमें लीन करने-हेतु आरूढ़ हो जाता है। निष्काम-परायणतासे जीव ब्रह्ममें लीन हो सकते हैं, जैसा कि श्रीकृष्णभगवान्‌ने उपदेश भी किया है—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥
(गीता १८।५६)

'मेरे परायण हुआ निष्कामकर्मयोगी तो सम्पूर्ण कर्मोंको सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन, अविनाशी परमपदको ही प्राप्त होता है।' निष्काम उपासनासे संचित पापोंका विलयन—

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं।
जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥
(रा० च० मा० ५।४४)

अपरञ्च—

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥
(मुण्डकोपनिषद् २।२।८)

विश्वकर्ता सर्वोत्कृष्ट ब्रह्मका साक्षात्कार होनेपर समस्त कर्म भी क्षीण हो जाते हैं; ठीक उसी प्रकार जैसे

जन-हितकारी तथा देशहितकारी हो जाता है, जो
त और करणीय बन जाता है; अतः वह भी ज्ञेय है।
, देश, दशाके अनुसार यह कर्मकोटिमें आ सकता है।

अकर्म—इस समस्तपदमें न का निवेश है जिसका
त्पशास्त्रमें सादृश्य, अभाव, भेद, न्यूनता, अप्राशस्त्य
विरोध—ऐसे छः अर्थ स्वीकृत हैं। किंतु समान्य-
से इसका 'निषेध अर्थ' लोकप्रसिद्ध है। इस तरह
का निषेध (कर्मशून्यता) अकर्म शब्दका वाच्यार्थ
अर्थात् विहित तथा निषिद्ध दोनों प्रकारके
को न कर केवल निष्क्रिय—निर्व्यापार चुपचाप बैठ
अकर्म है। ऐसा आचार्य शंकर, नीलकण्ठ,
दन सरस्वती, श्रीधरस्वामी, अभिनव गुप्त,
नन्द सरस्वती, रामकण्ठने अपनी-अपनी टीकाओंमें
है।

संसारमें उत्पन्न सभी प्राणी जबतक जीवित रहते
बतक उन्हें सर्वदा प्रवृत्ति या निवृत्ति-रूप कुछ-
कुछ कर्म करना ही पड़ता है—कोई क्षणभर भी
य नहीं रह सकता—'नहि कश्चित् क्षणमपि
तिष्ठत्यकर्मकृत्'।[1] यदि केवल प्रवृत्तिको कर्म
जाय और निवृत्तिको कर्माभाव तो यह उचित
है; क्योंकि दोनों ही कर्ताके व्यापाराधीन हैं।
चुपचाप बैठना भी एक प्रकारका कर्म है।
ही नहीं, श्वास लेना भी एक प्रकारका कर्म ही
है। इस प्रकारसे जीवनमें कर्मकी शून्यता असम्भव
होनेपर 'मैं इस समय सब प्रकारके व्यापारोंसे रहित
होकर सुखपूर्वक हूँ'—ऐसा अभिमान करना भी मिथ्या
है; क्योंकि सत, रज, तम—त्रिगुणात्मिका मायासे निर्मित
देह और इन्द्रियाँ सर्वदा जाग्रत्-अवस्थामें व्यापारशील
रहती हैं, कभी निर्व्यापार नहीं रहतीं। इसके अतिरिक्त
'मैं उदासीन हूँ' इत्यादि अभिमान भी कर्म है। ऐसी
अवस्थामें उक्त आचार्योंने अकर्म
कर्माभाव या तृष्णाभाव किया है, इसका
पयोगी प्रत्यक्ष कायिक और ऐन्द्रियिक
समझना चाहिये; मानस और प्राण

आचार्य अभिनवगुप्तने
शब्दसे यद्यपि परकीय
स्थलपर अकर्मसे तृष्णा भावको
अतिरिक्त आचार्य नीलकण्ठने
निम्ननिर्दिष्ट कर्मोंको भी

१—श्रद्धाविहीन
क्रियाएँ। २—उदासीनता। ३
हिंसा। ४—संन्यासियोंद्वारा चोरोंको

आचार्य रामानुज तथा वे...
प्रकरणानुसार 'कर्मसे भिन्न आत्माके यथार्थ
कहते हैं। कुछ लोगोंका मत है कि ...
बन्धनके हेतु हैं, अतः जो कर्म सांसारिक
आदि बन्धनोंको देता है, वही कर्म है;
नित्य कर्म अथवा परमेश्वरके निमित्त किया हुआ
फलाभिसंधि-रहित कर्म बन्धनका हेतु नहीं है; ऐसा
कर्म ही यहाँ अकर्म पदका वाच्य है। किन्हीं
लोगोंका यह भी मत है कि यहाँ अकर्म शब्दसे
दृश्य जगत्में सत् और चैतन्यरूपसे सर्वत्र अनुस्यूत,
सर्वाधार, अवेद्य, स्वप्रकाश, चैतन्यका ही ग्रहण है,
अन्य किसीका नहीं।

आचार्य भास्करके मतमें अकर्म निषिद्ध—लशुन-
भक्षण आदि है तथा मुमुक्षुओंके लिये काम्यकर्म
भी अकर्म है। इसी प्रकार तिलकके अनुसार
सांसारिक बन्धनको न देनेवाले निष्काम-बुद्धिसे
किये हुए प्रशस्त सात्त्विक कर्मको अकर्म

[1] वही १७। २८।

अभ्युगत प्रारब्ध-कर्म-योग

कृतकर्म भोग किये बिना करोड़ों कल्पोंमें भी क्षीण नहीं होता है। जिस प्रकार धनुषकी प्रत्यञ्चासे छोड़ा हुआ बाण अपना वेग पूर्ण करके ही गिरता है, वैसे ही भगवद्दत्त यह प्रारब्ध भोग पूरा होकर ही समाप्त होता है—

'नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि।'

तथापि भगवद्भक्ति भगवान्की प्रीति प्रदान कर पापका निवारण अवश्य करती है। यह भक्तको ऐसा दृढ़ विवेक प्रदान कर देती है, जिससे दुःखतर परिस्थितिमें भी दुःख नहीं जान पड़ते। फलस्वरूप देहपात होते ही प्रारब्ध भोगका समूल विनाश हो जाता है और जीव साक्षात् मुक्त हो जाता है—

तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्य इति ॥

(छान्दो० ६। १४। २)

प्रारब्धभोग अनिवार्य है। अतः अपनी शैशव निष्ठाका यथाशक्ति निर्वाह करते हुए और अनासक्ति बुद्धिसे इसका भोग करना चाहिये। भयंकर विपत्तियोंका सामना करते हुए कर्तव्य-निष्ठा-निर्वाहमें दृढ़ रहना चाहिए। किञ्चित् क्षुब्ध होनेपर सदैव महापुरुषोंके उदात्त चरित्रोंका स्मरण करते हुए ही कर्ममें दृढचित्त रहना चाहिये। कभी भी आपत्तियों एवं दुःखोंसे ऊबकर किसीपर दोषारोपण नहीं करना चाहिये। [illegible] एवं [illegible] [illegible] उदाहरण प्रचुर हैं; किन्तु विचारके [illegible] कुछ मूलभूत आधिक [illegible] ही करना समीचीन [illegible] है। [illegible] एक ही [illegible] [illegible] वियोग सहन करना पड़ा। इसी प्रकार वसुदेव एवं देवकी महारानीके यहाँ साक्षात् कृष्णावतार हुआ, फिर भी पूर्व कर्मोंके प्रायश्चित्तरूप छः पुत्रों एवं कुटुम्बियोंके वियोगका कष्ट उन्हें भी सहन करना ही पड़ा था। इसी प्रकार पुण्यश्लोक नल एवं दमयन्तीकी कथा भी प्रायः सर्वविदित ही है।

प्रपन्न जीवोंको भी परमात्मा दुःखातिशय्यसे निकालकर उन्हें क्षमा कर देते हैं। परमात्माके भाव गाम्भीर्यकी व्यवस्था तो वे स्वयं जानते हैं, किन्तु स्थूल बुद्धिमें ऐसा आता है कि यदि अनभ्युपगत प्रारब्धका तत्काल समूल नाश कर दिया जाय तो शरणागतकी तत्क्षण मृत्यु हो सकती है। भगवान् कुटुम्ब-पालक हैं, अतः शरणागतके अभावमें उसके कुटुम्बरक्षणका प्रश्न उठ खड़ा होता है। यह कर्मनिष्ठा शनैः-शनैः सुदृढ़ होकर प्रपत्तिके रूपमें नियामक बनकर भगवत्प्राप्तिकी व्यवस्था करती है। सत् शरणागतिका स्वरूप अत्यन्त व्यापक है; अतः शोक और मोहसे उन्मुक्त होकर क्षणभङ्गुर विश्वमें विचरण करते हुए मन, वाणी एवं शरीरसे जायमान सत्कर्मोंमें ही अपनेआपको लगाना चाहिये तथा प्रत्येक आचरण सत्यके आधारपर करना चाहिये—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

(गीता ३। २१)

ऐसे निष्कामकर्मयोगियोंका अन्तःकरण, शरीर एवं उनकी इन्द्रियाँ सत्त्वसे पूर्ण हो जाती हैं। ऐसे महात्माओंका जीवन धन्य है। वे सत्य आचरण एवं गुरुके प्रति दृढ़प्रतिज्ञ होते हैं तथा सबके प्रति—'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः'की भावनासे वे सदैव परिपूर्ण रहते हैं।

कर्म, विकर्म, अकर्म और कर्मयोग

(लेखक—पं० श्री श्रीरामनारायणजी त्रिपाठी)

गीताके चतुर्थ अध्यायके १६, १७वें श्लोकोंमें [भग]वान् कृष्णने अर्जुनको उपदेश देते हुए कहा है कि [क]र्म, विकर्म और अकर्मके तत्त्वोंको जानना चाहिये। [इन]के सम्यग् ज्ञान और कर्मानुष्ठानसे मानव सांसारिक [ब]न्धनोंसे मुक्त होता है। किंतु इनका स्वरूप तथा [अ]नुष्ठान-प्रकार अत्यन्त दुर्ज्ञेय हैं। जैसे अग्निष्टोम [आ]दि वैध कर्मोंमें—हिंसा आदि दोषपूर्ण और [नि]षिद्ध कर्मोंमें हिंसक जन्तुओंके वधसे जायमान [प्र]जाओंका दुःखशमनरूप शुभ कर्म भी रहता है, वैसे ही [अ]कर्ममें भी वाचिक और मानसिक शुभाशुभ कर्म भी अपरिहार्य रूपसे रहते हैं। ऐसी संकीर्णताके कारण कर्मादिके विषयमें विद्वज्जनोंको भी संदिग्ध और भ्रान्त हो जाना स्वाभाविक है। इसलिये कर्मादिको भलीभाँति समझकर व्यवहार करना ही श्रेयस्कर है, न कि गड्डलिका-प्रवाह (भेड़ियाधँसान)की तरह इनमें प्रवृत्ति अपेक्षित है। कर्म ज्ञात होनेपर ही यथाशास्त्र व्यवहार किया जा सकता है; अन्यथा नहीं। इसके अतिरिक्त शास्त्र और उसके प्रवर्तक आचार्य अनेक हैं जिन्होंने देश, काल, युग, अधिकारी, वर्ण, आश्रम, वय, अवस्था आदिके भेदानुसार कर्मका संकोच-विकोच किया है, जिससे ... [illegible] ... इसलिये ज्ञातव्य तत्त्वको

यद्यपि व्याकरण-शास्त्रमें कर्मकी ... [illegible] ... तमं कर्म' (पाणि० १।४।४९) द्वारा जिसे प्राप्त करनेकी अतिशय ... कारकको कर्म कहते हैं—ऐसी ... उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण कहा गया है; लोकमें—'क्रियते इति कर्म' व्यापारमात्रको कर्म कहते हैं—चाहे वह निषिद्ध, प्रशस्त हो या गर्हित, सामाजिक ... सभी कर्मकी परिधिके अन्तर्गत आते हैं। ... कर्म विवक्षित नहीं हैं; अपितु विहित ... पदसे ग्राह्य है। तात्पर्य यह कि जिनका ... अधिकारी व्यक्तियोंके लिये किया गया है, ... ही विवेच्य है, क्रिया मात्र नहीं।

गीता एक 'आकर' या 'प्रस्थान'-ग्र[न्थ] ... विभिन्न दार्शनिकाचार्यों, सम्प्रदायविदों ... अनेक भाष्य और टीकाएँ हैं, जो विभिन्न ... सुविचारित हैं। अतः उनमें परस्पर भेद ... है। इसलिये यावत् उपलब्ध व्याख्याओं ... यहाँ कर्म आदिका स्वरूप प्रस्तुत किया जा[ता है।]

कर्म—आचार्य शंकर, आनन्दगिरि, मधुसूदन सरस्वती ... [illegible]

अनृत आदि भी कर्मके अन्तर्गत आते हैं। आचार्य रामानुज तथा वेदान्तदेशिकके अनुसार यहाँ कर्म पदसे मुमुक्षु व्यक्तियोंद्वारा अनुष्ठेय मोक्ष साधनभूत कर्मको ही ग्रहण किया गया है। इनके मतानुसार सर्वसाधारणके लिये विहित कर्मोंकी यहाँ उपादेयता नहीं है; क्योंकि ये लोग इसे मुमुक्षु-कर्मका ही विषय मानते हैं। आचार्य भास्करने भी मुमुक्षुओंके लिये ही इसे ज्ञातव्य कहा है। ज्ञानेश्वरने कहा है कि जिससे विश्वाकार प्रकट होता है, वह कर्म कहलाता है। उन्होंने अपनी इस परिभाषाका समन्वय अग्रिम श्लोककी टीकामें बड़े सुन्दर ढंगसे किया है, जो वहीं द्रष्टव्य है। अभिनवगुप्तने यद्यपि अग्रिम श्लोकमें पठित कर्म शब्दसे आत्मीय कर्म माना है, किंतु पूर्व श्लोकमें उनका अभिप्राय शुभ कर्मसे ही है। तिलकके अनुसार निःसङ्ग बुद्धिसे किये गये प्रशस्त सात्त्विक कर्मको ही कर्म कहते हैं। इसके अतिरिक्त राजस कर्म भी कर्मके अन्तर्गत आ सकते हैं। यद्यपि गीता वेदान्तकी प्रस्थानत्रयीमें[2] एक अन्यतम ग्रन्थ है और मुमुक्षुजन वेदान्तदर्शनके वास्तविक अधिकारी हैं; क्योंकि मुमुक्षुत्व वेदान्तके अनुबन्धचतुष्टयका[3] एक अङ्ग है, अतः गीताको मुमुक्षु-धर्म और कर्म स्वीकार करना कोई अनुचित या असामयिक बात नहीं है; तथापि गीताके मुख्य श्रोतापर ध्यान देनेसे और 'गेयं गीता-नामसहस्रम्' उक्तिके स्मरणसे तथा गीताके सत्रहवें और अठारहवें अध्यायोंमें कथित विषयोंपर विचार करनेसे प्रतीत होता है कि गीता सर्वोपादेय है। इस दृष्टिसे प्रस्तुत स्थलपर गृहीत कर्मसे काम्य और निषिद्धसे अतिरिक्त विहित सभी कर्म अभिप्रेत होंगे।

विकर्म—विकर्म शब्दमें 'वि' उपसर्गका विविध और विरुद्ध दोनों अर्थ सम्भव है, जिसके अनुसार वि[कर्मसे] विविध कर्म और विरुद्ध कर्म (निषिद्ध कर्म) अर्थ यहाँ माने जा सकते हैं; किंतु आचार्य शङ्कर[और] नीलकण्ठने यहाँ विकर्म शब्दसे विरुद्ध कर्मका ग्रहण किया है। इसके अतिरिक्त नीलकण्ठने वि[कर्मके] अन्तर्गत निम्नलिखित कर्मोंका भी अन्तर्भाव किया है: १—दाम्भिकद्वारा किये हुए यज्ञादिकर्म[4]। २—स[मर्थ] व्यक्तिद्वारा आर्तरक्षाकी उपेक्षा। ३—राजाके द्वारा चोरों[को] छोड़ देना और ४—हिंसाफलक सत्य[1]।

आचार्य भास्करने शास्त्र-बाह्य पाखण्डियोंद्वारा आचरित कर्मको विकर्म कहा है और इसके अतिरि[क्त] धातुवाद, शिल्प आदि कर्मको भी विकर्म माना है[।] आचार्य रामानुज तथा वेदान्तदेशिकके मतानुसा[र] कर्मवैविध्य ही विकर्म है। ये लोग विकर्म पदसे नित्य, नैमित्तिक, काम्य कर्म तथा इनके साधन द्रव्योंका अर्जन, रक्षण, उपाय, प्रवृत्ति आदि कर्मोंका ग्रहण करते हैं। ज्ञानेश्वरने भी वर्णाश्रमोचित विशेष विहित कर्मको विकर्म कहा है। तिलकके अनुसार मोह और अज्ञानवश किये गये तामस कर्मको विकर्म कहते हैं और मोहवश छोड़े गये कर्म भी विकर्म हैं।

विकर्म शब्दसे विरुद्ध कर्म अर्थ ग्रहण करनेपर यह शङ्का हो सकती है कि यह सर्वथा निन्दित और हेय है तो इसमें प्रवृत्त होना दोषपूर्ण है; अतः इसके रहस्यकी जिज्ञासा होनी व्यर्थ है। यह विचार उचित नहीं है; क्योंकि किसी अवसरपर निषिद्ध कर्म ही

१—हिंसाफलके सत्यादौ दानफलेऽनृतादौ च विकर्मत्वकर्मत्वे बोध्ये। (नीलकण्ठ, गी० ४। १८)

२—उपनिषदें, ब्रह्मसूत्र और गीता—ये तीन 'प्रस्थानत्रयी' कहलाते हैं।

३—सम्बन्ध, प्रयोजन, अधिकारी और अभिधेय—ये अनुबन्धचतुष्टय कहलाते हैं।

४—चत्वारि कर्माण्यभयंकराणि भयं प्रयच्छन्त्ययथाकृतानि। मानाग्निहोत्रमुत मानमौनं मानेनाधीतमुत मानयज्ञः॥ (नी० कं०में उद्धृत ४। १८)

५—सभारे भंक्ता मार्दे पत्नी भार्याव्यभिचारिणी। गुरौ शिष्यश्च याज्यश्च स्तेनो यजति किल्बिषम्॥ (मनुस्मृति)

कहते हैं। ज्ञानेश्वर निषिद्ध कर्मको अकर्म कहते हैं। उपर्युक्त कर्म, विकर्म, अकर्मके पारमार्थिक ज्ञेय रहस्यको स्वयं भगवान् कृष्ण गीता-(४ । १८)में इस प्रकार बता रहे हैं—

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥

'जो व्यक्ति कर्ममें अकर्म तथा अकर्ममें कर्मको देखता है वह मानवोंमें बुद्धिमान्, योगयुक्त और सम्पूर्ण कर्मोंका करनेवाला है।'

भगवान् श्रीकृष्णने इसके पूर्वके श्लोकमें कर्म, विकर्म और अकर्म—तीनोंके तत्त्वोंको ज्ञेय बताकर इस श्लोकके द्वारा उनके तत्त्वोंका प्रतिपादन किया है। किंतु यहाँ केवल कर्म और अकर्म—दोका ही ग्रहण किया, विकर्मका नाम नहीं लिया और न तो इस अध्यायके अन्य श्लोकोंमें तथा अन्य अध्यायोंमें ही उसका उल्लेख किया। इससे प्रतीत होता है कि भगवान् श्रीकृष्णने कर्मकी परिधिमें ही विकर्मका अन्तर्भाव कर विवेचनीय कर्म और अकर्म दोका ही तात्त्विक विवेचन किया। वक्ताका विकर्म शब्दसे क्या अभिप्राय रहा होगा—यह तो कहना कठिन है, किंतु उसका शाब्दिक अर्थ विरुद्धकर्म (निषिद्ध कर्म) अथवा विविध कर्म दोनों ही हो सकते हैं, जो सामान्यरूपसे कर्मकी कक्षामें ही आयेंगे; अन्यत्र समावेश दुष्कर है। इसके अतिरिक्त यदि विकर्मका केवल निषिद्ध कर्म अर्थ लिया जाय और उसपर विचार किया जाय तो यह निष्कर्ष अवश्य निकलेगा कि निषिद्ध कर्म सर्वथा निन्दित और समाजगर्हित है। वह प्राणिमात्रके लिये प्रवृत्तियोग्य नहीं है और न तो व्यावहारिक दृष्टिसे कभी उपादेय ही है। फिर उसकी पारमार्थिक चर्चा अनुपयुक्त एवं असंगत है, यह भी विकर्मको न व्याख्येय माननेमें कारण हो सकता है।

यद्यपि इस प्रसङ्गमें सभी टीकाकारोंने कोई स्पष्ट समन्वय नहीं किया है, किंतु कुछ व्याख्याकारोंने कर्म-पदसे कर्म और विकर्म दोनोंका ग्रहण किया है और कुछ लोगोंने कर्म, विकर्म और अकर्म तीनोंको कर्म मानकर उक्त श्लोककी व्याख्या की है और इस श्लोकमें आये हुए अकर्म शब्दका स्पन्दनशून्य कूटस्थ वस्तु अर्थ स्वीकारकर श्लोकार्थका सामञ्जस्य किया है। (अगले अङ्कमें समाप्य)

'फलसों न लाग करें वारिज बने रहें'

कारन हैं बन्धनके, भूरि भव-फंदनके,
कर्म औ' अकर्म सबै दंदन सने रहैं।
कर्ममें विकर्म होत, कर्म हैं अकर्मनमें,
गहन प्रसंग संग घूमत घने रहैं ॥
कौसल-कुसल लोग करिकै निष्काम जोग,
सिद्धि औ' असिद्धि भोग समता गने रहैं।
काम नाहिं त्याग करैं कामनाहिं त्याग करैं,
फलसों न लाग करैं वारिज बने रहैं ॥

प्रारब्ध कर्म—समस्त भूतपूर्व संचित-कर्मोंके संग्रह-का एक अंश ही प्रारब्ध है । संचितके जितने भागके फल (कार्यों) का भोगना आरम्भ हो गया हो, उतना ही प्रारब्ध है । इसीको आरब्ध भी कहते हैं । जिन कर्मोंके भोगने-हेतु यह शरीर प्राप्त हुआ है ।

क्रियमाण कर्म—जो वर्तमानके इस क्षणमें किया जा रहा है या सकामभावसे अभी किया जा रहा है या जिसका परिणाम आगे संचितके रूपमें भोगना है । यही सकाम-भावसे किये हुए कर्म भाग्य, दैव आदि नामसे भी जाने जाते हैं । इन्हीं कर्मोंको यदि योग-युक्ति या निष्कामभावसे किया जाय तो मनुष्य कर्मबन्धनसे छूटकर मोक्षका अधिकारी समझा जाता है ।

अभीतक हमने कर्म शब्दके अर्थों और उसके स्वरूपों-को विभिन्न परिप्रेक्ष्योंमें देखा; अब योग शब्दको भी देखिये। 'युज्' धातुसे करण और भावमें 'घञ्' प्रत्यय करनेसे 'योग' शब्दकी निष्पत्ति होती है । युज्का अर्थ है—जोड़ना या अपनेको लगाना । अमरकोशमें योग शब्दके अनेक पर्याय हैं; जैसे—संहनन, उपाय, ध्यान, संगति और युक्ति ।[1] इनका प्रयोग भी भिन्न ही है; यथा कवच पहन हथियारोंसे संनद्ध हो युद्धके लिये उद्यत हो जाना 'संहननयोग', आयुर्वेदमें रोगको दूर करनेके योगको उपाय कहते हैं; मनको एकाग्र करके समाधिमें बैठ जाना ही ध्यानयोग है । दो वस्तुओंके मिलन या संगमको योग (संगति) कहते हैं; युक्तिका अर्थ होता है उपाय या तर्क। [illegible] योग, एक विशेष प्रकारकी युक्ति, कुशलताका सूचक है, जिसमें सिद्धि-असिद्धिमें समताका होना निश्चय है । द्रष्टव्य—'योगः कर्मसु कौशलम्' और 'समत्वं योग उच्यते' ।

इसी विशिष्ट अर्थमें कहा जा सकता है कि योग शरीर और चित्तकी वह क्रिया या अभ्यास है, जिसके करनेसे किसी कार्यमें कोई विशेष कौशल यानी सिद्धि-असिद्धिमें समता प्राप्त होती है । महर्षि पतञ्जलिके अनुसार 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' यानी चित्तवृत्तियोंका निरोध ही योग है । दर्शनके क्षेत्रमें चित्तवृत्तियोंका निरोध करके चित्तको वृत्ति-शून्य करना और उसके निरोधके लिये जो भी उपाय किये जायँ वे सब योग ही हैं । इस प्रकार योगका मुख्य अर्थ वाञ्छित कार्यमें [illegible] प्राप्त करना और कार्य-पूर्तिके लिये समस्त [illegible] प्रणालीको अपनाना है । भगवान् कृष्णके अनुसार योगकी परिभाषा समत्वं योग उच्यते अर्थात्—कर्मफलोंमें समता प्राप्त कर[illegible] है । यह समता निरन्तर अभ्यास [illegible] ही संभव है—'अभ्यासेन तु कौन्तेय गृह्यते ।'

अभ्यास—चित्तको स्थिर और [illegible] प्रयत्न है तथा वैराग्य—पारलौकिक और [illegible] भोगोंसे वियुक्त हो जाना है । गीताके [illegible] योग शब्दका तात्पर्य समत्वबुद्धि अर्थात् [illegible] संतुलनमें पर्यवसित रह गया है । यह मानसिक संतुलन किसी भी कार्यकी सिद्धि या सफलताके लिये आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है । मन बड़ा ही चञ्चल है, उसके निग्रहके लिये ही योगशास्त्रका जन्म हुआ है । इस योगसाधनाके आठ अङ्ग (सीढ़ियाँ) निम्नवत हैं—

(१) यम—सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहका सम्मिलित नाम है ।

(२) नियम—पवित्रता, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधानमें एकाग्रचित्त रहना है ।

---

[1] 'योगः संहननोपायध्यानसंगतियुक्तिषु ।' अमरकोष—नानार्थ वर्ग २२, 'योगोऽपूर्वार्थसंप्राप्तौ संगतिध्यानयुक्तिषु । वपुःस्थैर्ये प्रयोगे च विष्कम्भादिषु भेषजे । विश्रब्धघातके द्रव्योपायसंहननेष्वपि । कार्मणेऽपि च ।' [illegible] मेदिनी ।

द्वितीय पुरुषार्थकर्म, जो पुरुषके लिये लाभकारी हैं, अतः बन्धक हैं। इन्हीं बन्धक कर्मोंसे मनुष्यको मोक्ष या मुक्तिकी प्राप्ति होती है।

समस्त श्रुति-ग्रन्थ यज्ञ-याग आदि कर्मोंके ही प्रतिपादक हैं। उपनिषदोंमें भी ये यज्ञकर्म माद्य माने गये हैं; तथापि इनकी योग्यता ब्रह्मज्ञानसे कम ठहरायी गयी है; क्योंकि यज्ञ-याग आदि कर्मोंसे स्वर्ग भले ही प्राप्त हो जाय, परन्तु मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती। गीता अध्याय ३। ९ में भी कहा है

'यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ॥'

'यज्ञार्थ किये गये कर्म बन्धक नहीं, शेष सब कर्म बन्धक हैं। इन यज्ञ-याग आदि वैदिक श्रौत-कर्मोंके अतिरिक्त और भी चातुर्वर्ण्यके भेदानुसार दूसरे आवश्यक कर्म मनु, याज्ञवल्क्य आदि धर्म-ग्रन्थोंमें विस्तारसे प्रतिपादित हैं। इन वर्णाश्रमधर्मोंका प्रतिपादन पहले-पहल स्मृति-ग्रन्थोंमें किये जानेके कारण इन्हें स्मार्तकर्म या स्मार्त-यज्ञ भी कहते हैं। इन श्रौत और स्मार्तकर्मोंके अतिरिक्त और भी धार्मिक कर्म हैं; जैसे—व्रत, उपवास आदि। इस प्रकारके धार्मिक कर्मोंका विस्तृत प्रतिपादन पहले-पहल पुराणोंमें किये जानेसे इन्हें पौराणिक कर्म भी कहते हैं। स्वरूपकी दृष्टिसे इन कर्मोंके मुख्यतया तीन भेद और किये गये हैं—

यथा १—नित्य, २—नैमित्तिक और ३—काम्य।

नित्य कर्म—स्नान, सन्ध्या आदि जो प्रतिदिन किये जानेवाले कर्म हैं; इनके करनेसे कुछ विशेष फल या अर्थ-सिद्धि नहीं होती; परंतु न करनेसे दोष अवश्य लगता है। नैमित्तिक कर्म—पूर्वसे किसी कारणके आ जानेपर उसके निवारणार्थ जो कर्म किये जाते हैं, वे नैमित्तिक कर्म कहे जाते हैं; यथा—अनिष्ट ग्रहोंकी शान्ति, प्रायश्चित्त आदि जिसके निमित्त हम शान्ति या प्रायश्चित्तकर्म करते हैं। काम्यकर्म—किसी विशेष इच्छाको लेकर उसकी सफलताके लिये शास्त्रानुसार जब कोई कर्म किया जाता है, तब वह काम्यकर्म कहलाता है; जैसे—वर्षा होनेके लिये या पुत्र-प्राप्तिकी इच्छासे किये गये कर्म (पुत्रेष्टि यज्ञ) आदि।

निषिद्ध कर्म—ये चौथे प्रकारके कर्म हैं। शास्त्रों, समाज और शासन आदिने इन्हें त्याज्य कहा और माना है; फिर भी कुछ बड़े आदमी एवं उनकी देखा-देखी छोटे आदमी भी चोरी-छिपे उन्हें करते रहते हैं—जैसे मदिरापान, जुआ खेलना, आखेट, अगम्यागमनादि। समर्थोंकी भाषामें इन्हें आमोद-प्रमोदका साधन कहा जाता है।

हमारे जीवनमें अधिकतर यह प्रश्न आ उपस्थित होता है कि अमुक कर्म पुण्यप्रद है या पापकारक। इस निर्णयसे पूर्व हमें सोचना पड़ेगा कि वह कर्म यज्ञार्थ है या पुरुषार्थ; नित्य है या नैमित्तिक, काम्य है या निषिद्ध। दार्शनिकपरिचर्चाकी दृष्टिसे इन कर्मोंको तीन भागोंमें विभक्त किया जा सकता है—

१—संचित, २—प्रारब्ध और ३—क्रियमाण।

संचित कर्म—किसी मनुष्यद्वारा इस क्षणतक किये गये जो कर्म हैं—चाहे वे इस जन्ममें किये गये हों या वे किसी पूर्वजन्ममें—सब संचित कर्ममें परिगणित एवं सम्मिलित हैं। दर्शनमें इन्हींको अदृष्ट या अपूर्व कहा जाता है। संचित कर्मों अथवा उनके परिणामोंको एक साथ भोगना प्रायः सम्भव नहीं होता; क्योंकि ये कर्म भले और बुरे दोनों प्रकारके फलवाले होते हैं; अतः बहुधा एक-एक करके इन्हें भोगना होता है।

संचित कर्मोंसे छुटकारा कैसे? गीतामें संचित कर्मोंसे छुटकारा पाने-हेतु कहा गया है कि 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन'—ज्ञानरूपी अग्निसे सब संचित कर्म भस्म हो जाते हैं। वेदान्तानुसार योगी योग-सामर्थ्यसे सब शरीरोंका निर्माण कर संचित कर्मोंको भोग लेता है।

निष्काम-कर्मयोग—एक अध्ययन

(लेखक- डॉ० श्रीविश्वनाथजी पमाना, एम्० ए०, एम्० ओ० एल०, पी-एच्० डी०)

वैशेषिक-दर्शन-(१ । १ । ७)के अनुसार उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण और गमन अर्थात् ऊपर फेंकना, नीचे फेंकना, सिकोड़ना, फैलाना और चलना—कर्मके पाँच प्रकार माने गये हैं । वैसे सामान्यतया प्राणी किसी क्षण भी दैहिक, मानसिक कर्मसे सर्वथा शून्य नहीं रहता—

नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।

(गीता ३ । ५)

आचार्य शंकर 'त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म' (बृहदा० उ० १ । ६ । १) इस श्रुतिका भाष्य करते हुए लिखते हैं—नाम-रूप और कर्म अनात्मा अर्थात् मायामय या मिथ्या हैं । निष्कर्ष यह कि कर्म प्रकृतिका ही आन्तरिक अङ्ग है । वस्तुतः इस जगत्की विषमता कर्मपर ही निर्भर है । इसलिये बीज और अङ्कुरकी तरह कर्म और इस जगत्के अवयवोंमें कारण-कार्य सम्बन्ध है । पुण्यकर्मसे जीव श्रेष्ठ योनियोंमें जन्म ग्रहण करता है और पापकर्मोंसे कुत्सित योनियोंमें—

'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेनेति ।'

(बृह० उ० ३ । २ । १३)

महर्षि व्यासने इस सृष्टिसे पूर्व कर्मके अभावकी शङ्काका निराकरण करते हुए संसारको अनादि माना है—

'न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वात् ।'

(ब्रह्मसू० २ । १ । ३५)

'यदि कहा जाय कि 'सृष्टिसे पूर्व कर्म न था—तो यह ठीक नहीं; क्योंकि संसार अनादि है । यतः बीज और अङ्कुरकी कर्मसे ही सृष्टि होती है, अतः कर्म भी अनादि है ।' इस प्रकार जीवात्मा प्रारब्ध, संचि[त] क्रियमाण कर्मोंसे मुक्तिपर्यन्त निबद्ध रहता है । [...] मुख्य भेद इस प्रकार हैं—

प्रारब्ध-कर्म

पूर्वजन्ममें कृत भोगोन्मुख कर्म ही प्रारब्ध क[र्म] है । इस जन्ममें जीवात्मा पूर्वजन्मके अर्जित [...] परिणाममें ही जन्म, आयु और अन्य भोगोंको प्राप्त [...] है । महर्षि पतञ्जलिने इसे इस प्रकार स्पष्ट किया है—

'सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः'

(योगदर्शन २ । १[३])

सभी जन अपने-अपने प्रारब्धके अनुकूल ही [...] भोग प्राप्त करते हैं । दो सहोदर भाई भी अलग-अ[लग] पूर्वजन्मके कर्मोंके अनुसार ही फलाफल भोगते हैं । प्रारब्ध-कर्मोंका क्षय भोगसे ही होता है । बड़े-बड़े संन्यासी ज्ञानसे भी तथा पवित्र-से-पवित्र वैष्[णव] परिपक्व भक्तिसे भी प्रारब्ध-कर्मोंको बिना भोगे छुटका[रा] प्राप्त नहीं कर सकते । कर्मका यह सिद्धान्त प्राय[ः] सर्वत्र लागू होता है—'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृ[तं] कर्म शुभाशुभम् ।'

शंकराचार्यने अपने ब्रह्मसूत्रभाष्यमें इसकी पुष्टि इस प्रकार की है—'पूर्वजन्ममें संचित किये गये एवं इस जन्मके भी ज्ञानकी उत्पत्तिके पूर्वतक संचित किये गये कर्म और जिनका फल प्रवृत्त नहीं हुआ है, ऐसे पू[र्व] सुकृत और दुष्कृत ज्ञानकी प्राप्तिसे क्षीण हो जाते हैं । परंतु आरब्धकर्म जिनका आधा फल उपभुक्त हो गया है, जिन पुण्य और पापोंसे इस ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिका अधिष्ठानभूत यह जन्म निर्मित हुआ है, वे क्षीण नहीं होते ।'[1] अतः सभी ज्ञानी

---

[1] १-अप्रवृत्तफले एव पूर्वे जन्मान्तरसंचिते अस्मिन्नपि च जन्मनि प्राग् ज्ञानोत्पत्तेः संचिते सुकृतदुष्कृते ज्ञानाधिगमात् क्षीयेते, न त्वारब्धकार्ये सामिभुक्तफले याभ्यामेतद्ब्रह्म ज्ञानायतनं जन्म निर्मितम् ।

(ब्रह्मसू० ४ । १ । १५ का शांकरभाष्य)

ोर भक्त भी देहके पतन-पर्यन्त कर्मका फल भोगते ही । श्रुति कहती है कि आचार्यके उपदेशपर चलनेवाला ा ही सबको जानता है और मोक्षकी प्राप्तिमें उसके े तबतक ही विलम्ब रहता है, जबतक उसका देह- । नहीं होता—

'तस्य तावदेव चिरं, यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्य ।' (छान्दोग्योपनिषद् ६ । १४ । २)

संचित-कर्म

अनेक जन्मोंसे जीवात्माद्वारा किये गये एकत्र कर्म- जिनका फल नहीं भोग गया, संचितकर्म कहलाते किंतु वे प्रारब्धकर्मोंकी भाँति बलिष्ठ नहीं होते । ोगके बिना भी ज्ञानसे उनका क्षय हो जाता है । -(मुण्डकोप० ८२ । २ । ८)का कथन यह है ात्माके साक्षात्कार होनेपर सभी संचित कर्म स्वयं ो जाते हैं—

ीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ।'

क्रियमाण कर्म

र्तमान शरीरद्वारा जो कर्म होते हैं, वे क्रियमाण- कहलाते हैं । वे ही भावी जन्मोंके लिये कारण प्रारब्ध बन जाते हैं । पञ्चदशी-(१ । ३०)के ार जिस प्रकार नदीमें जलप्रवाह एक कीटको आवर्तसे दूसरेमें ढकेलता है, उसी प्रकार कर्म त्माको एक जन्मसे दूसरेमें ढकेलते रहते हैं—

ाणां कीटा इवावर्तादावर्तान्तरमाशु ते ।
ाजन्तो जन्मनो जन्म लभन्ते नैव निर्वृतिम् ॥

किंतु जब क्रियमाणकर्ममें फलकी आसक्ति नहीं ो, तब वही निष्कामकर्मयोग कहलाता है । जिस र भुने हुए बीजोंमें ... ाक्ति नहीं रह जाती, ... र्मोंमें जीवात्माको ... ही

तथा पुनर्जन्मको प्राप्त होना है । किंतु जिस फलाशासे कृतकर्म जीवात्माके लिये पुनर्जन्मादिके कारण होते हैं; उसको फलासंगसे रहित होकर ही करनेका विधान है । भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥
(गीता २ । ४७)

'तेरा कर्म करनेमें ही अधिकार हो, फलमें नहीं ।' अर्थात्—तू कर्मके फलकी भावना न बना और अकर्म (कर्म न करने)में भी तेरी रुचि न हो । परंतु आशा जीवनकी चिरसङ्गिनी है । इसलिये फलकी आशासे ही कृषक खेतोंमें काम करते हैं, मजदूर ... परिश्रम करते हैं; छात्र भी अच्छे अङ्क प्राप्त क... कठिन परिश्रम करते हैं । यहाँतक कि बड़े-बड़े ... भी मोक्ष-प्राप्तिके लिये ही घोर तपस्या करते हैं; प्रायः सभी कर्म फलसे प्रेरित होते हैं; फिर भी फलाशाके त्यागसे ही परमात्माका साक्षात्कार हो सकता है; ... भगवान् श्रीकृष्ण कर्मकी सफलता और असफलतामें ... रहनेका निर्देश देते हुए 'योग'का लक्षण बतलाते ...

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा ...
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥
(गीता २ । ४८)

निष्कामकर्मयोग

वस्तुतः जब क्रियमाण कर्म ही भक्तिसे सिक्त और ज्ञानसे परिष्कृत हो जाता है, तब उसमें फलाशा नहीं रहने पाती । भक्तिसे प्रत्येक कर्ममें ईश्वरार्पणकी भावना उद्बुद्ध होती है और ज्ञानसे कर्तव्यका भाव जागरूक होता है । अतः जिस क्रियमाण कर्ममें अहंभाव नहीं रह जाता, वही निष्कामकर्मयोगका रूप धारण कर लेता है । दार्श और पौर्णमास याग कर्मकाण्डके अन्तर्गत ही हैं । कर्मयोगके अन्तर्गत भी कर्मयोगमें यज्ञ-दानादि विशेषतया कर्तव्यकी भावनासे किये जानेपर गृहीत हो जाते हैं ।

...क भी देहके पतन-पर्यन्त कर्मका फल भोगते ही ...ी कहती है कि आचार्यके उपदेशपर चलनेवाला ...ी सबको जानता है और मोक्षकी प्राप्तिमें उसके ...तबतक ही विलम्ब रहता है, जबतक उसका देह-...हीं होता—

...स तावदेव चिरं, यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्य...'
(छान्दोग्योपनिषद् ६ । १४ । २)

संचित-कर्म

...नेक जन्मोंसे जीवात्माद्वारा किये गये एकत्र कर्म-...जिनका फल नहीं भोगा गया, सञ्चितकर्म कहलाते ...िंतु वे प्रारब्धकर्मोंकी भाँति बलिष्ठ नहीं होते । ...के बिना भी ज्ञानसे उनका क्षय हो जाता है । ...मुण्डकोप० ८२ । २ । ८)का कथन यह है ...माके साक्षात्कार होनेपर सभी सञ्चित कर्म स्वयं ...जाते हैं—

...यन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ।'

क्रियमाण कर्म

...र्तमान शरीरद्वारा जो कर्म होते हैं, वे क्रियमाण-...कहलाते हैं । वे ही भावी जन्मोंके लिये कारण ...प्रारब्ध बन जाते हैं । पञ्चदशी-(१ । २०)के ...र जिस प्रकार नदीमें जलप्रवाह एक कीटको ... है उसी प्रकार कर्म

तथा पुनर्जन्मको प्राप्त होना है । किंतु जिस फलाशासे युक्त कर्म जीवात्माके लिये पुनर्जन्मादिके कारण होते हैं; उसको फलासंगसे रहित होकर ही करनेका विधान है । भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

> कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
> मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥
> (गीता २ । ४७)

'तेरा कर्म करनेमें ही अधिकार हो, फलमें नहीं ।' अर्थात्—तू कर्मके फलकी भावना न बना और अकर्म (कर्म न करने)में भी तेरी रुचि न हो । परंतु आशा जीवनकी चिरसङ्गिनी है । इसलिये फलकी आशासे ही कृषक खेतोंमें काम करते हैं, मजदूर दिनभर परिश्रम करते हैं; छात्र भी अच्छे अङ्क प्राप्त करनेके लिये कठिन परिश्रम करते हैं । यहाँतक कि बड़े-बड़े तपस्वी भी मोक्ष-प्राप्तिके लिये ही घोर तपस्या करते हैं; अतः प्रायः सभी कर्म फलसे प्रेरित होते हैं; फिर भी फलाशाके त्यागसे ही परमात्माका साक्षात्कार हो सकता है; इसलिये भगवान् श्रीकृष्ण कर्मकी सफलता और असफलतामें सम रहनेका निर्देश देते हुए 'योग'का लक्षण बतलाते हैं—

> योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय ।
> सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥
> (गीता २ । ४८)

निष्कामकर्मयोग

ज्ञान और कर्म परस्परापेक्षी

'निर्विण्णानां ज्ञानयोगः कर्मयोगस्तु कामिनाम्' ॥'

भागवतमें भगवान् श्रीकृष्णका कथन है कि विरक्त संन्यासियोंके लिये ज्ञानयोग तथा अनुरक्त गृहस्थजनोंके लिये कर्मयोग सुखावह होता है, पर ज्ञान और कर्म परस्पर सापेक्ष हैं। उनका सम्बन्ध नौका और मल्लाहकी भाँति है। ज्ञानसे कर्मकी शुद्धि होती है और शुभ कर्मोंसे ज्ञानकी वृद्धि। ज्ञानके बिना कर्म अन्धा है तो इधर कर्मके बिना ज्ञान भी पङ्गु है। इसीलिये महान् ज्ञानी भी कर्मके बिना नहीं टिक सकता। यूनान देशके महापण्डित सुकरातने कहा था कि जीवनमें व्यावहारिक ज्ञान तथा सत्यका प्रयोग अवश्य करना चाहिये। वस्तुतः ज्ञानसे ही कर्मका सिर नष्ट होता है। अतः ज्ञान और कर्मके परस्पर सम्मिश्रणसे ही कर्मयोगका स्वरूप खड़ा होता है। इसीलिये भगवान् श्रीकृष्ण गीता (५। ५)में कहते हैं—

'एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति।'

निष्काम-कर्मयोगमें भक्तिका आश्लेष

इन्द्रियोंका अधिष्ठाता मन है और वह उनसे

'कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाश्रद्धा धृ[illegible]
धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव।'

मनकी ही एक दशा श्रद्धा उत्कट होकर भ[illegible] कहलाती है। अलौकिक प्रेम और प्रगाढ़ विश्वास [illegible] श्रद्धाके रूप हैं, उसी श्रद्धासे मनुष्य संयमी बन[illegible] ज्ञानकी प्राप्ति कर लेता है—**श्रद्धावाँल्लभते ज्ञान[illegible]** (गीता ४। ३९)। भक्तिमें परिणत श्रद्धासे वैराग्य, उस[illegible] ज्ञान और उससे भी ब्रह्मका साक्षात्कार होता है—

> वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः।
> जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं यद्ब्रह्मदर्शनम्॥
> (श्रीमद्भा० १। १२। २[illegible])

जब अन्तःकरण उत्कट श्रद्धा या भक्तिसे शुद्ध [illegible] जाता है तब उसीकी प्रेरणासे इन्द्रियाँ सत्कर्मोंमें प्रवृ[illegible] होती हैं और आत्माका आवरण भी हटता जाता है। [illegible] वही अन्तःकरण संशयके अवसरपर भी पथ-प्रदर्शन करता [illegible] है। इसी तथ्यको कविकुलगुरु महाकवि कालिदासने अपने अभिज्ञान शाकुन्तल (१। २०)में इस प्रकार कहा है—

> सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु
> प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः।

। यों तक जोनेकी इच्छासे प्राणी कर्म रहे।

ांमकोंका अभिमत और उसका निराकरण

मांसाके अनुसार कर्म चार प्रकारके हैं—१. नित्य, मेत्तिक, ३. काम्य और ४. निषिद्ध। उनके लिये चार्यने मोक्षकी प्रक्रिया इस प्रकार निश्चित की त्य और नैमित्तिक दो ही प्रकारके कर्म करने , काम्य और निषिद्ध नहीं। स्वर्गकी प्राप्तिके लिये आदि किये जाते हैं, उन्हें ही काम्य-कर्म कहा है। जिन कर्मोंके परिणाममें नरक जाना पड़ता चोरी और हिंसा आदि कर्म ही निषिद्ध माने । संध्योपासन आदि कर्म नित्य तथा जनेऊ, शुद्धि आदिके लिये किये गये कर्म नैमित्तिक हैं। कर्मयोगीकी इन्द्रियाँ जब विषयोंमें प्रवृत्त होती र न उसका उनसे राग होता है, न द्वेष ही।

यहीं भी यह नहीं कहा कि निष्काम-कर्मयोगका कोई फल नहीं होता। वास्तवमें निष्का...

विभिन्न फल गीतामें प्रतिपादित हैं; पर ब्रह्मदर्शनके लिये हैं, लौकिक स्वार्थके लिये नहीं। ..

१-स्थितधीर्मुनिरुच्यते (गीता २ । ५६), २-सर्वत्र समदर्शनः (गीता ६ । २९), ३-आत्मौपम्येन सर्वत्र (गीता ६ । ३८), ४-सर्वभूतहिते रताः (गीता ५ । २५), और ५-ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति (गीता ५ । २४) इत्यादिसे निर्दिष्ट फल वैसे ही हैं।

निष्काम-कर्मयोगी सर्वप्रथम स्थिरबुद्धि प्राप्त है, तब उसकी इस विश्वमें सबके लिये समदृष्टि जाती है, वह समस्त प्राणियोंमें अपनी ही भाँति सुख और दुःखका अनुभव करता है। वह प्राणिमात्रके हिताचरणमें जुट जाता है और अन्तमें स्वयं ही ब्रह्मसे तादात्म्य प्राप्त कर लेता है।

आचार्य शंकरने ब्रह्मसूत्रभाष्यमें लिखा है कि कर्मोंसे चित्तकी शुद्धि होती है, तब ज्ञानकी प्राप्ति होती है और ज्ञानसे आत्मा मुक्त होता है—

दैनिक जीवनमें निष्काम-कर्मयोग

(लेखक—डॉ० श्रीरमेशचन्द्रजी जिन्दल, बी० एस्-सी०, एम्० बी-बी० एस्०, डी० पी० एम्०)

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥
योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥

'तेरा कर्म करनेमात्रमें अधिकार है, फल तेरे अधिकारमें कभी नहीं; अतः तू फलकी कामना न कर, पर कर्मको छोड़नेकी भी इच्छा न कर। आसक्तिको त्यागकर तथा सफलता या असफलतामें समभाव रखकर योगमें स्थित होकर कर्मोंको कर। यह समत्व या समताका भाव ही योग कहलाता है' (गीता २। ४७-४८)।

श्रीमद्भगवद्गीता संसारके धर्मग्रन्थोंमें अन्यतम है। अनेक भाषाओंमें इसके असंख्य अनुवाद और टीकाएँ भी हो चुकी हैं। लाखों व्यक्ति प्रेम और श्रद्धासे गीताका पाठ करते हैं। पर दैनिक जीवनमें इसके उपदेशोंका पालन बहुत कम लोग कर पाते हैं। अधिकतर व्यक्ति समझते हैं कि भगवान्का यह आदेश केवल मोक्ष-प्राप्ति या परलोक सुधारनेके लिये है। साधारण मनुष्योंके लिये व्यावहारिक जीवनमें इन उपदेशोंका पालन सम्भव नहीं है। परंतु वास्तवमें ऐसा नहीं है। युद्धभूमिमें मोहग्रस्त हुए अर्जुनने गीताका ज्ञान प्राप्त करनेके बाद युद्ध भी किया। उसमें विजय पायी तथा जीवनपर्यन्त अपने कर्तव्योंका सफलता-पूर्वक पालन करते रहे। इसी प्रकार ऊपर लिखे भगवान्के आदेशका पालन हम सभीके लिये सम्भव है; केवल सम्भव है, वरन् जीवनमें सुख, शान्ति एवं सफलता प्राप्त करनेका अचूक मन्त्र भी है। हम यहाँ गीताके निष्काम कर्मयोग और दैनिक जीवनमें उसकी उपयोगितापर विचार करेंगे और देखेंगे कि किस प्रकार ... उठा सकते हैं।

कि उसका प...

संसारमें सुख और दुःख, सफलता या असफलता हमारे अधिकारमें नहीं हैं। हम कितना भी चाहें, इच्छानुसार भोगप्राप्ति सम्भव नहीं है। मिल भी जाय तो तृप्ति नहीं हो सकती। मनोवाञ्छित भोगोंकी प्राप्तिके लिये हम भ्रष्टाचार, झूठ तथा तरह-तरहके पापोंका सहारा लेते हैं, पर परिणाम क्या होता है?—या तो मनचाही वस्तु मिलती नहीं या मिल भी गयी तो उससे अपेक्षित सुख नहीं मिलता। चिन्ता और विषाद बढ़ते हैं; क्रोध और ईर्ष्यासे हम जलने लगते हैं। विभिन्न प्रकारके तनाव-जनित रोग जैसे—सिरदर्द, कब्ज, अपच तथा भूख न लगना आदि घेर लेते हैं। फिर हम कहते हैं—'जीवन बेकार है, कोई भी अपना नहीं है। सब मतलबी और बेईमान हैं। संसारमें सुख तो है ही नहीं। ऐसे संसारमें रहकर या जीकर क्या किया जा सकता है।' संसार जंजाल है, दुःखका सागर है।

तब हम क्या कर सकते हैं? क्या संसार छोड़े बिना सुख और शान्ति नहीं मिल सकती? क्या घरबार छोड़ना ही सच्चा संन्यास है? या फिर कोई और भी रास्ता है?—हाँ, है; और वह है निष्काम कर्मयोगका। गीतामें भगवान्ने स्पष्ट कहा है कि कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करना आवश्यक नहीं है, बल्कि कर्म करना ही आवश्यक है—'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि' तथा कर्म न करनेसे हमारे शरीरका भी निर्वाह न होगा—'शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः'। इसलिये संसारमें रहकर अपने कर्तव्य-कर्मोंका पालन आवश्यक है। परंतु 'मा कर्मफलहेतुर्भूः'— फल-प्राप्तिमें आसक्ति न हो; क्योंकि फल-प्राप्ति इच्छानुसार हो ही—यह सम्भव ...

सुख-दुःख तो आते ही रहेंगे, उन्हें सहना ही पड़ेगा। पर यदि इनको शान्तिपूर्वक समभावसे प्रभुका विधान समझकर स्वीकार करेंगे तो हमारा अपना ही लाभ होगा।

इस प्रकार भगवान्‌के आज्ञानुसार कर्तव्य-कर्मोंका पालन एवं प्रत्येक परिस्थितिमें संतोष रखना ही सच्चा रास्ता है। पर एक प्रश्न यह उठता है कि क्या बिना आसक्ति और कामनाके सांसारिक कार्य ठीक प्रकारसे हो सकते हैं? हाँ, थोड़ा विचार करनेसे स्पष्ट हो जायगा कि फल-प्राप्तिमें अत्यधिक आसक्ति तथा ध्यान होनेसे सफलताकी भावना और घट जाती है। हाथमें आये कार्यको हम ठीक प्रकारसे करते नहीं, बल्कि किसी भी तरहसे धन, भोग तथा मानकी प्राप्तिमें ध्यान लगा देते हैं। कार्यमें भूलें अधिक होती हैं, भ्रष्ट और अनुचित साधन अपनाये जाते हैं। परिणामस्वरूप मनकी सुख-शान्ति नष्ट हो जाती है। रातको नींद नहीं आती तथा चिन्ता, ईर्ष्या और क्रोधकी आगमें हम स्वयं जलते रहते हैं। इसके विपरीत यदि हमारा ध्यान फलप्राप्तिपर न होकर कर्तव्य-पालन पर होगा तो कार्य-कुशलता बढ़ेगी, बेईमानीका ख्याल भी नहीं उठेगा, मनको शान्ति मिलेगी; और, विश्वास कीजिये, सफलताकी सम्भावना भी अधिक ही होगी। वैसे, मनोवाञ्छित फलकी प्राप्तिका आग्रह तो सदा पूरा नहीं होता है।

दूसरा प्रश्न यह किया जाता है कि फलकी इच्छा न होनेपर हमें कर्म करनेकी आवश्यकता ही क्या है? और इस प्रकार हम कर्मोंको छोड़कर आलसी बन जायेंगे। पर यह प्रश्न निरर्थक है। कर्म करना मनुष्यका स्वभाव है, अपने स्वभाववश कर्म तो हम करेंगे ही। हमारे शरीर और जीवन-निर्वाह-सम्बन्धी कर्म तो स्वतः होते ही रहेंगे, पर आसक्ति न होनेपर उनके लिये चिन्ता एवं दुःख न होगा। बाकी दूसरे सांसारिक कार्य व कर्तव्य कर्मोंका पालन भी हमें अपनी परिस्थिति, स्वभाव, आन्तरिक प्रेरणा या भगवान्‌के आदेशानुसार करना होगा। भलीभाँति [illegible] पालनका आनन्द भोगप्राप्तिके आनन्दसे [illegible] होता है। और, यदि इन्हीं [illegible] समझकर करें तो फिर कहना ही क्या। [illegible]

एक और महत्त्वपूर्ण आपत्ति है कि [illegible] आसक्तिको छोड़ना सबके लिये सम्भव है या उपदेश केवल कुछ बड़े-बड़े महात्माओं और [illegible] हैं? सच है, केवल पुस्तकमें पढ़ने या सुननेसे इच्छा या आसक्तिका त्याग सम्भव नहीं, केवल [illegible] बल-बूतेपर भी हम इस कर्मयोगकी राहपर प्रगति नहीं कर सकेंगे; पग-पगपर राग-द्वेष, लोभ और ईर्ष्या हमारा रास्ता रोकेंगे; पर इस पथपर हमारी सहायता स्वयं भगवान् करेंगे। आवश्यकता है शरणागति एवं सच्चे हृदयसे प्रार्थना करनेकी।

हमें निरन्तर प्रभुसे श्रद्धा, विश्वास एवं धैर्यके लिये प्रार्थना करनी होगी; परंतु बाधा तो यह है कि हम प्रार्थना भी करते हैं तो केवल सांसारिक सुखोंकी प्राप्तिके लिये ही। ठीक है, यदि हम कामना या आसक्तिको छोड़ नहीं पाते तो सच्चे हृदयसे इन्हें भगवान्‌के सामने रख दें। यह आग्रह न हो कि भगवान् हमारी अमुक इच्छा जरूर पूरी करें और अमुक प्रकारसे करें। यह तो मानो प्रभुको आदेश देना होगा, न कि प्रार्थना। हमारा यह आग्रह क्योंकर पूरा होगा? हमें तो अपनी इच्छा, कामना या संकटको पूर्णरूपसे प्रभुपर छोड़कर अपनी शक्तिभर कर्तव्य-पालनकी चेष्टा करनी चाहिये। अपनी जिस मनःकामनाको लेकर हम प्रभुकी शरणमें जायँ, फिर उसकी पूर्तिके लिये किसी प्रकारके अन्याय, अनाचार या गलत रास्तेको न अपनायें। जब हम अपनी मनःकामना उस मङ्गलमय, सर्वसमर्थ परमात्माके आगे रख देंगे तो वे स्वयं उसे पूरा करेंगे। यदि हमारी किसी मनःकामनाको पूरा करना उसके विधानमें नहीं है या भगवान् उसे पूरा नहीं करते तो

फिर हम कितना भी सर पटकें वह पूरी होनेवाली नहीं। अतः पूर्णरूपसे भगवान्‌की शरणमें जानेमें ही हमारा कल्याण है। प्रभु सर्वसमर्थ हैं, परम कृपालु हैं। या तो वे हमारी इच्छाको पूर्ण कर देंगे या फिर वह कामना ही मिट जायगी। पर हर प्रकारसे हम अनासक्ति एवं समभावकी ओर बढ़ते जायँगे, यह निश्चित है। गीता कहती है—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥
(२।५९)

'केवल विषयोंके त्यागसे, आसक्तिसे निवृत्ति नहीं हो सकती। पर स्थितप्रज्ञ पुरुषकी आसक्ति भी परमात्माका साक्षात्कार करके निवृत्त हो जाती है।' भाव यह है कि राग-द्वेष या आसक्तिका त्याग परमात्माकी शरणमें जानेपर ही सम्भव है, न कि केवल दृढ़तापूर्वक संयम करने मात्रसे।

अन्तिम बात यह है कि निष्काम कर्मयोगका कर्म पूर्णतया पालन विरले लोग ही कर पाते हैं। इसके लिये जन्म-जन्मकी साधनाकी आवश्यकता होती है। पर हमें इससे घबराना नहीं है। ऐसा नहीं है कि हम यदि पूर्णतातक न पहुँचें तो हमारी मेहनत बेकार होगी। नहीं, यदि हम आसक्ति एवं कामनाओंका त्याग न भी कर पायें, पर उनको अपने वशमें रखें और थोड़ा-सा भी उनपर काबू पा सकें तो हमें बहुत लाभ होगा; यह भी परलोकमें नहीं, यहीं, इसी जन्म और निश्चय ही। हमारे जीवनमें सुख और शान्तिका प्रवेश होगा, चिन्ताजनित अनेक रोगोंसे मुक्ति मिलेगी और धीरे-धीरे निष्काम कर्मयोगकी राहमें हम आगे बढ़ते जायँगे। आवश्यकता है भगवान्‌में विश्वासकी तथा अपनेको भगवान्‌की शरणमें छोड़कर कर्तव्य कर्मोंके पालन करनेकी। यदि हम फलकी इच्छा छोड़ नहीं सकते तो भी कोई बात नहीं। फलकी पूर्ति प्रभुके हाथोंमें छोड़कर अपना काम सचाईपूर्वक, लगनसे व एकनिष्ठ होकर करनेमें हम एक ऐसे आनन्दका अनुभव करेंगे, जो भोगोंकी प्राप्तिमें नहीं मिल सकता। एक बार शुरू करनेपर जैसे-जैसे अभ्यास करेंगे आगे बढ़ते जायँगे गीता-(२।४०) का साक्ष्य है—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥

'इस निष्काम कर्मयोगका थोड़ा भी साधन महान् भयसे उद्धार कर देता है। इसमें आरम्भका नाश नहीं है और न कोई विघ्न-बाधा ही होती है। इस प्रकार यह निष्काम कर्मयोग सभीके लिये सम्भव है और सभीके लिये त्वरित लाभप्रद है। इसका थोड़ा-सा पालन भी हमें बहुत कुछ सुख और शान्ति प्रदान कर सकता है।

शास्त्रानुसार कर्त्तव्याचरण

यस्तूदारचमत्कारः सदाचारविहारवान्। स निर्याति जगन्मोहान्मृगेन्द्रः पञ्जरादिव।
व्यवहारसहस्राणि यान्युपायान्ति यान्ति च। यथाशास्त्रं विहर्तव्यं तेषु त्यक्त्वा सुखासुखे॥

'जो पुरुष उदार-स्वभाव तथा सत्कर्मके सम्पादनमें कुशल है, सदाचार ही जिसका विहार है, वह जगत्‌के मोह-पाशसे वैसे ही निकल जाता है, जैसे पिंजरेसे सिंह। संसारमें आने-जानेवाले सहस्रों व्यवहार हैं। उनमें सुख और दुःख-बुद्धिका त्याग करके शास्त्रानुकूल [illegible] करना [illegible]' (योगवासिष्ठ मु॰ प्र॰ ६। २८, ३०)

व्यावहारिक जीवन एवं अर्थोपार्जनमें निष्कामकर्मयोगका महत्त्व

(लेखक—श्रीरवीन्द्रनाथजी बी० ए०, एल्-एल्० बी०)

खाद्यसामग्री सभी जीवधारियोंके लिये प्राथमिक आवश्यकताकी वस्तु है। भोजनके सहारे ही समस्त चेतन प्राणी जीवित रहते हैं। इस मूलभूत नियमको सभी जानते-मानते हैं। भौतिक प्रगतिका यही केन्द्र-बिन्दु है। इसी केन्द्रबिन्दुसे भौतिकचिन्तन प्रारम्भ होता है। ऐतरेय-उपनिषद्में आता है कि लोकों और लोकपालोंकी रचना कर लेनेके पश्चात् परमात्माने उनके जीवन-निर्वाहके लिये अन्नको उत्पन्न किया (१ । ४ । १-२)। प्रश्नोपनिषद्में ब्रह्मकी सोलह कलाओंमें अन्नका भी नाम आया है (६ । ४)। यह शरीर रेतसरूपी अन्नसे उत्पन्न होता है। वह अन्नको ग्रहणकर सुरक्षित तथा क्रियाशील रहता है और मृत्यूपरान्त अन्नस्वरूप पञ्चतत्त्वोंमें विलीन हो जाता है (तैत्ति० ३ । २)। महर्षि वरुणने अपने पुत्र भृगुको ब्रह्म-प्राप्तिके द्वारोंको गिनाते हुए सर्वप्रथम अन्नका नाम लिया था (तैत्ति० ३ । १)। इन औपनिषदिक वचनोंसे यह स्पष्ट हो जाता है कि अन्नकी महत्ता बहुत ही अधिक है। तभी तो कह दिया गया है कि 'अन्नं वै प्रजापतिः'—'अन्न ही प्रजापति है' (प्रश्नोप० १।१४)।

अन्नके विषयमें वैदिक वाङ्मयमें जो मत देखनेको मिलते हैं, उनसे अर्थोपार्जनके साधनों और उपासनाके सम्बन्धोंकी भी जानकारी मिलती है। यदि अन्न प्रजापति है तो अन्नोत्पादनकी क्रिया ब्रह्मोपासना। कृषि-कर्मको यज्ञके समान सात्त्विक रीतिसे सम्पादित करनेवाला व्यक्ति ऋषि कोटिमें भी गिना जा सकता है। भारतीय कृषक भी उक्त नीतिमें आस्था रखते हैं। कृषि करना कृषक अपना पावन कर्तव्य समझते हैं, किंतु उपजको वे दैवयोगपर आधृत मानते हैं। यह एक ऐसा सिद्धान्त है, जो भौतिक क्रियाओंमें भी आध्यात्मिक चेतना जाग्रत करता है। फलके लक्ष्य किया जानेवाला निष्काम कर्मयोगकी परिधिसे बाहर हो जाता है जो कार्य ईश्वरको समर्पितकरके कर्तव्य पालनकी दृष्टिसे किया जाता है, वह लौकिक होनेपर भी कर्मयोगकी परिधिमें आ जाता है।

कर्मका सम्बन्ध शरीरसे है। मुमुक्षु व्यक्तिको अनेक बार मानवयोनि धारणकर ब्रह्मज्ञानके लिये यत्न करते रहना पड़ता है, तब कहीं जाकर उसे परमसिद्धि प्राप्त होती है। ज्ञान-प्राप्तिकी शृङ्खलामें अवरोध आ जानेपर परमसिद्धिका मार्ग लम्बा हो जाता है और आत्माको पर्याप्त समयतक भटकना पड़ता है। कर्मके लिये शरीरकी आवश्यकता होनेपर भी पुनर्जन्मकी कामना न करनेवाला व्यक्ति शीघ्र मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

वेदोंमें त्रिविधतापोंकी बात उठायी गयी है। इनके निवारणके लिये तीन प्रकारके कर्म भी निर्धारित हैं। यज्ञानुष्ठानसे इन तीनों प्रकारके कष्टोंका निवारण एक साथ हो जाता है। हविष्यके रूपमें जो अन्न यज्ञकी अग्निमें डाला जाता है, यद्यपि वह प्रत्यक्षरूपसे जल कर नष्ट हो जाता है, किंतु अप्रत्यक्षरूपसे, उसीके धूपसे वर्षा होती है, जो अन्नोत्पादनमें सहायक है। इससे वायु भी शुद्ध होती है, जिसको ग्रहण करनेसे शरीर नीरोग होता है और इसीके एक अंशसे प्रारब्ध बनता है। इसी आधारपर कृषिको भी एक प्रकारका यज्ञ कहा जा सकता है। खेतोंमें बीज बोनेका अर्थ है—अन्नको फेंक देना; किंतु वही बीज उपजके रूपमें आठ या दस गुना लाभ भी देता है। अन्नके पौधोंसे वायुकी भी शुद्धि होती है। अन्नराशिका कुछ अंश दान देनेसे दरिद्रनारायणकी सेवा होती है और मनको उसका अंश मिल जाता है। कृषिसे यज्ञका प्रसार भी होता है। मंत्रको प्रमुख

फिर हम कितना भी सर पटकें वह पूरी होनेवाली नहीं। अतः पूर्णरूपसे भगवान्‌की शरणमें जानेमें ही हमारा कल्याण है। प्रभु सर्वसमर्थ हैं, परम कृपालु हैं। या तो वे हमारी इच्छाको पूर्ण कर देंगे या फिर वह कामना ही मिट जायगी। पर हर प्रकारसे हम अनासक्ति एवं समभावकी ओर बढ़ते जायँगे, यह निश्चित है। गीता कहती है—

> विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
> रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥
> (२। ५९)

'केवल विषयोंके त्यागसे, आसक्तिसे निवृत्ति नहीं हो सकती। पर स्थितप्रज्ञ पुरुषकी आसक्ति भी परमात्माका साक्षात्कार करके निवृत्त हो जाती है।' भाव यह है कि राग-द्वेष या आसक्तिका त्याग परमात्माकी शरणमें जानेपर ही सम्भव है, न कि केवल दृढ़तापूर्वक संयम करने मात्रसे।

अन्तिम बात यह है कि निष्काम कर्मयोगका कर्म पूर्णतया पालन विरले लोग ही कर पाते हैं। इसके लिये जन्म-जन्मकी साधनाकी आवश्यकता होती है। पर हमें इससे घबराना नहीं है। ऐसा नहीं है कि हम यदि पूर्णतातक न पहुँचें तो हमारी मेहनत बेकार होगी। नहीं, यदि हम आसक्ति एवं कामनाओंका त्याग न भी कर पायें, पर उनको अपने वशमें रखें और थोड़ा-सा भी उनपर काबू पा सकें तो हमें बहुत लाभ होगा; यह भी परलोकमें नहीं, यहीं, और निश्चय ही। हमारे जीवनमें सुख [illegible] प्रवेश होगा, चिन्ताजनित अनेक रोगोंसे [illegible] और धीरे-धीरे निष्काम कर्मयोगकी राह [illegible] बढ़ते जायँगे। आवश्यकता है भगवान्‌में [illegible] अपनेको भगवान्‌की शरणमें छोड़कर [illegible] पालन करनेकी। यदि हम फलकी [illegible] सकते तो भी कोई बात नहीं। फल [illegible] हाथोंमें छोड़कर अपना काम सचाईपूर्व[illegible] एकनिष्ठ होकर करनेमें हम एक [illegible] अनुभव करेंगे, जो भोगोंकी प्राप्तिमें नहीं [illegible] एक बार शुरू करनेपर जैसे-जैसे अभ्[illegible] बढ़ते जायँगे गीता-(२। ४०) का [illegible]

> नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो [illegible]
> स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते मह[illegible]

'इस निष्काम कर्मयोगका थोड़ा [illegible] भयसे उद्धार कर देता है। इस[illegible] नहीं है और न कोई विघ्न-बाधा [illegible] प्रकार यह निष्काम कर्मयोग सभ[illegible] है और सभीके लिये त्वरित [illegible] थोड़ा-सा पालन भी हमें बहुत [illegible] प्रदान कर सकता है।

शास्त्रानुसार

> यस्तूदारचमत्कारः [illegible]
> व्यवहारसहस्राणि यान्युपायान्ति [illegible]

'जो पुरुष उदार-स्वभाव तथा सत्कर्मके [illegible] मोह-पाशसे वैसे ही निकल जाता है, जैसे [illegible] और दुःख-बुद्धिका त्याग करके शास्त्रानुकूल

देव और दैविक अवस्थाकारी वस्तुओंके प्रति सबको सचेष्ट रहना पड़ता है। इनके प्रति निष्क्रिय हो जानेसे शारीरिक रक्षा सम्भव नहीं है। मनुष्य उक्त प्रश्न इन्हीं भावोंसे प्रकट करता है। निष्कामभावका यह अर्थ नहीं है कि व्यक्तिको कोई कामना करनी ही नहीं चाहिये। इसका तात्पर्य यह है कि व्यक्ति जो कोई कर्म करे, उसके फलको न्यायकारी परमात्माके ऊपर छोड़ दे। भगवान् श्रीकृष्ण गीतामें ऐसे ही भावोंके निष्कामका उपदेश देते हैं (वही ९। २७-२८ व १२। ११-१२)। नित्य किया जानेवाला कर्म आध्यात्मिक हो अथवा शुद्ध भौतिक—वह ईश्वरको समर्पित करके करनेसे मोक्ष-प्राप्तिका साधन बनता है। भगवान् श्रीकृष्ण इस बातकी पुष्टि करते हुए कहते हैं कि अपने-अपने स्वाभाविक कर्ममें लगा हुआ मनुष्य परम सिद्धि प्राप्त कर लेता है (गीता १८। ४५-४६)। स्वाभाविक कर्मोंके अन्तर्गत ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रके गुण-कर्म आते हैं (गीता १८। ४२—४४)।

मनुष्यके लिये धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चार पुरुषार्थ—निर्धारित हैं। इनमें अर्थ, काम—ये सांसारिक तथा धर्म और मोक्ष आध्यात्मिक तथा व्यापक हैं। महाभारतमें कहा गया है कि 'सर्वप्रथम धर्मका पालन करना चाहिये, तत्पश्चात् धर्मयुक्त सात्त्विक धनका उपार्जन एवं उपभोग करना चाहिये। ऐसा करनेसे अनुष्ठाताको सिद्धि प्राप्त होती है (शान्ति० १६७। १७)। मुमुक्षु व्यक्तिको किसी भी वस्तुमें प्रीति अथवा अप्रीति रखनी चाहिये (महाभा० शान्ति० १६७। ४६)।

निष्कर्ष यह कि अर्थोपार्जनमें निष्काम कर्मयोगका महत्त्व आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक तीनों ही दृष्टियोंसे है। वैदिक संहिताओं तथा अन्य ग्रन्थोंके भौतिक पक्षोंका अध्ययन करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि निष्काम कर्मयोगका सिद्धान्त आर्थिक विकासमें सहायक है। निष्कामभावसे स्वार्थ, अनैतिकता, दुष्कृत्य और चरित्रहीनतापर अङ्कुश लगानेमें सहायता मिलती है। आर्थिक प्रगतिके नामपर अपनायी जानेवाली भ्रष्ट रीतियोंपर काबू पानेके लिये निष्कामकर्मयोगके सिद्धान्तके प्रचार-प्रसारकी नितान्त आवश्यकता है। इस सिद्धान्तके सार्वकालिक और सार्वदेशिक महत्त्वको देखते हुए इसका व्यापक प्रचार किया जाना चाहिये।

कर्मयोग या भागवत-धर्म

कर्मयोगके आकरग्रन्थ—श्रीमद्भगवद्गीतामें यही पक्ष सर्वोत्तम ठहराया गया है कि मोक्ष-प्राप्तिके लिये यद्यपि कर्मको आवश्यकता नहीं है, तथापि उसके साथ-ही-साथ दूसरे कारणोंके लिये—एक तो अपरिहार्य समझकर और दूसरे जगत्के धारण-पोषणके लिये आवश्यक जानकर—निष्काम-बुद्धिसे सदैव समस्त कर्मोंको करते रहना चाहिये अथवा गीताका अंतिम मत ऐसा है कि 'कृतबुद्धिषु कर्तारः कर्तृषु ब्रह्मवादिनः' (मनु० १-९७)के अनुसार कर्तृत्व और ब्रह्मज्ञानका योग या मेल ही सबमें उत्तम है और निरा कर्तव्य या कोरा ब्रह्मज्ञान प्रत्येक एकदेशीय है।××× तात्पर्य यह कि पहले चित्तशुद्धिके निमित्त, और उससे परमेश्वरका ज्ञान प्राप्त हो जानेपर, फिर केवल लोक-संग्रहार्थ, (अथवा भगवदर्थ) मरणपर्यन्त भगवान् श्रीकृष्णके समान लोकसंग्रहार्थ निष्कामकर्म करते रहना (गीता ५। २)—ज्ञान-कर्म-समुच्चय कर्मयोग या भागवत-धर्म है। मोक्षमें बाधा न देकर कर्म करनेकी युक्ति (कर्मकौशल) ही कर्मयोग है।

—लोकमान्य बालगंगाधर तिलक

आहार बनानेवाले देश एवं समाजमें धनका प्रसार नहीं हो सका और उनका अर्थोपार्जन हिंसक हो गया। हिंसक प्रवृत्ति व्यक्तिको मोक्षकी कामना भी नहीं करने देती है। क्षुधापूर्ति ही उसके लिये सब कुछ होती है।

महर्षि पतञ्जलिने राजयोगके पाँच यम और पाँच नियमके अङ्ग बताये हैं (योग० २। ३० और ३२)। पाँच यम ये हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। पाँच नियम हैं—शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान। धनोपार्जन करते समय या सर्वत्र व्यावहारिक जीवनमें अहिंसाका पालन करना चाहिये, सदा सत्यमार्गको ग्रहण करना चाहिये; यतः किसीके धनकी चोरी नहीं करनी चाहिये; यतः—'अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्' होता है। इसलिये संयमित रहना चाहिये अर्थात् अधिक धन कमानेकी इच्छा नहीं करनी चाहिये तथा धनके संचयकी प्रवृत्ति नहीं रखनी चाहिये। धन कमाते समय विचार शुद्ध रहे, स्वाध्यायके द्वारा सत्य-मार्गका अनुशीलन करे, ईश्वरको समर्पित करके शारीरिक श्रम करे तथा जो कुछ प्राप्त हो उसीमें संतोष करे। महर्षि पतञ्जलिद्वारा प्रतिपादित उक्त दसों निर्देशोंको आचरितकर जो धन कमाया जाता है, उसमें सकामताका भाव नहीं होता है। इन भावनाओंकी उत्पत्ति होनेपर समाजमें पारस्परिक सद्भावना, सहिष्णुता, सहयोग और प्रेमकी वृद्धि होती है। देश धनधान्यसे पूर्ण हो जाता है। अन्यान्य सामाजिक बुराइयाँ अर्थोपार्जनके तरीकोंको सही दिशा प्रदान न करनेके कारण उत्पन्न होती हैं। इसलिये इसके बारेमें गम्भीर चिन्तन-मननकी आवश्यकता है। यह निर्विवाद सत्य है कि मांसाहारी स्वार्थी और क्रूर होते हैं। अत्याचार और अनाचार-सम्बन्धी भावोंकी उत्पत्ति मांसाहार और मादक द्रव्योंके सेवनसे होती है।

जिस समय महर्षि पतञ्जलि यमों और नियमोंकी रचना कर रहे थे, उस समय उनके मस्तिष्कमें यह स्पष्ट कल्पना थी कि व्यक्ति क्षुधापूर्तिके लिये किन रीतियोंका उपयोग कर सकता है। साथ ही उन्हें मानवीय दुर्बलताओंकी भी कल्पना थी। तभी उन्होंने इन बातोंकी ओर साधकोंका ध्यान आकृष्ट करनेकी आवश्यकता अनुभूत की। वस्तुतः अर्थोपार्जनके क्षेत्रमें जबतक व्यक्ति निष्काम कर्मयोगको निष्ठापूर्वक व्यवहृत नहीं करता है, तबतक चित्तकी वृत्तियोंका निरोध सम्भव ही नहीं है। योग और साधनाका अन्तिम लक्ष्य कैवल्यकी प्राप्ति है। निष्कामकर्मयोग भी मोक्ष और शक्ति प्रदान करता है। दोनोंमें अन्तर यह है कि कैवल्यकी प्राप्तिके लिये शरीरको योग और साधनाके द्वारा उसके योग्य बनाना पड़ता है, जबकि व्यक्ति निष्कामभावसे कार्य करते रहनेपर कुकर्मोंके बन्धनोंसे मुक्ति पाकर मोक्ष प्राप्त करता है।

सकाम और निष्काम भावोंके बारेमें प्राचीनकालसे ही चर्चा होती आयी है। मनुजी कहते हैं कि अत्यधिक 'कामात्मता' एवं सर्वथा निष्कामता ये—दोनों ही श्रेष्ठ नहीं हैं। वैदिक कर्मयोगके यज्ञ, व्रत, यम, धर्म आदि सभीका मूल संकल्प ही है (मनु० २। २-३)। संकल्पका उद्देश्य कोई-न-कोई कामना होती है। कामनाकी उत्पत्ति होनेपर ही उसके सम्पादनके लिये प्रयत्न किया जाता है। जबतक व्यक्ति कामना नहीं करता है, तबतक वह कार्यका कारण नहीं बनता है। कारणके अभावमें कार्य नहीं होता (वैशेषिक० १। २। १)। कार्य मुख्यतया दो प्रकारके होते हैं—नित्य एवं नैमित्तिक। जब किसी फल-विशेषकी प्राप्तिके निमित्त यज्ञादि कर्म किये जाते हैं, तब वे नैमित्तिक कहे जाते हैं और वे सकाम हो जाते हैं। नैमित्तिक कर्मोंसे फलकी प्राप्ति होती है; किंतु जब यज्ञादि कर्म नित्य किये जाते हैं तब उनका कोई निमित्त न होनेसे वे निष्काम हो जाते हैं। संध्या आदि नित्य कृत्योंसे व्यक्तिको भौतिक आवश्यकताएँ पूरी नहीं होतीं; हाँ, केवल प्रत्यवाय नहीं होता। फिर भी

अतएव ऐसे योगियोंको राष्ट्रियता-जैसी रागात्मक भावनाओंसे सम्बद्ध नहीं किया जा सकता ।

राष्ट्रिय भावनाका उद्रेक ऐसे चित्तमें ही होना सम्भव है जिसमें राग और द्वेष दोनों ही कर्तव्य-बुद्धिमें बाधक न होते हों । जिसके लिये सारा विश्व ही एक है, उस ज्ञानयोगीको एकदेशीय राष्ट्रका आकर्षण बाँधनेमें सफल नहीं हो सकता । और, जो शुभ और अशुभ, नय और अनय—दोनोंको ही प्रकृतिगत कार्योंका समवाय समझकर उदासीनप्राय रहता हो, उसके लिए विधर्मी आततायीपर गरजकर शस्त्र उठाना असम्भव नहीं तो अशक्य अवश्य है । अतः ज्ञानयोगी राष्ट्रियतासे ऊपर उठकर ही राष्ट्रहित करते हैं । वे प्राणिमात्रमें ही नहीं, सर्वमात्रमें ब्रह्मानुभूति करते हैं ।

हमारा यहाँ यह आशय नहीं कि ज्ञानयोगी धर्म-युद्ध या देशसेवामें प्रवृत्त ही नहीं हो सकता; क्योंकि ऐसी दशामें श्रीभगवान्‌की उस वाणीसे हमारा विरोध हो जायगा, जहाँ वे ज्ञानयोगका आश्रय लेकर अर्जुनको युद्धके लिये प्रेरित करते हैं (देखिये, गीता अ० २ श्लोक १३—३० तक) । अवश्य ही किसी भी कर्तव्यकर्मकी करणीयता ज्ञानपूर्वक भी सिद्ध की जा सकती है, और वही श्रीकृष्णने उपर्युक्त प्रसङ्गमें किया भी है । कर्तव्यकर्ममें संशयालु पण्डितंमानी अर्जुनने जब अनुचित (अनवसर) वैराग्याभिनिवेश दिखलाया, और स्थिररूपसे 'न योत्स्ये' (युद्ध नहीं करूँगा) यह मत भी स्थिर कर लिया, तब श्रीकृष्णको ज्ञाननिष्ठाका आश्रय लेकर तत्त्वनिरूपण करना अनिवार्य हो गया । बिना ज्ञाननिष्ठाकी व्याख्याके उसकी धर्म्य-मूलक शङ्काका सम्यक् समाधान सम्भव नहीं था ।

अतः उन्होंने तत्त्वनिरूपण करते हुए भी 'तस्माद् युध्यस्व' (गीता २।१८ में) कहा, किंतु भगवान्‌का सम्पूर्ण प्रयत्न अर्जुनको उसके विहित और अवसर प्राप्त कर्त्तव्यकर्ममें लगानेका है । अतएव वे येनकेन प्रकारेण उसे उसके कर्तव्यकर्मकी अवश्यकरणीयता दिखलाते हुए उसके मूलमें विभिन्न निष्ठाओं एवं व्यावहारिक सिद्धान्तोंके औचित्यको सिद्ध करते हैं । आगे २६वें श्लोकमें तो वे देहात्मवादी नास्तिकोंकेमतके अनुसार भी युद्धकी अवश्य-करणीयता सिद्ध कर देते हैं । वे अर्जुनसे कहते हैं—'यदि तू इस नित्य आत्माको (नित्य न मानकर, स्वेच्छासे देहात्मवादी, नास्तिकोंकी तरह) प्रतिदिन जन्मने-मरनेवाला माने तब भी, यतः तू 'महाबाहु' है—वीर है, अतः तेरे लिए इस (अपरिहार्य) विषयमें शोक करना युक्त नहीं है' अतएव हम यह नहीं कह सकते कि श्रीभगवान् अर्जुनको सांख्ययोगी (निःस्पृह राग द्वेष-शून्य) बनाकर युद्धमें प्रवृत्त करना चाहते थे । किसी भी सिद्धान्तसे अर्जुनको अपने युद्धरूप कर्तव्यकर्मका बोध हो जाय, यही उनका अभीष्ट था । श्रीकृष्णने उसके कर्त्तव्यके लिये बुद्धियोगकी वह पद्धति दिखलायी, जो कर्मयोगकी निष्ठा है, किंतु कर्मयोग ज्ञानशून्य निष्ठा नहीं है । सांख्योगकी भाँति कर्मयोग भी ज्ञानाश्रित है । यहाँ हमारा मात्र इतना ही कथन है कि राष्ट्रियभावना तथा देशहितमें शरीर-समर्पणरूप देशसेवा अनायास ही निष्कामकर्मयोगके महिमाशाली वृत्तमें अन्तर्मुक्त हो जाती है । और, प्रत्यक्षरूपसे कामनाका तादृश परित्याग न करके भी देशसेवक, वीर सैनिक, जो अपने प्यारे राष्ट्रके लिये प्राणोंको भी हँसते-हँसते न्योछावर कर देता है, वह अनायास ही परमादरणीय कर्मयोगीका पद प्राप्त करके सूर्यमण्डलको भी भेदकर आगे पहुँच जाता है—महाभारत-(विदुर प्रजागर० ३३ । ६१)में उपर्युक्तका समर्थन निम्नाङ्कित श्लोकमें ही बारबार किया गया है—

ही दिखायी पड़ भावना निष्कामताकी दिखायी देती है।)

राजा शिवि, दधीचि, हरिश्चन्द्र प्रभृति इसी तरह मानसिकताके निदर्शन हैं, जिनकी संकुचित निजानन्द अपने नश्वर शरीरको सुरक्षित रखने-हेतु निष्कामतामें परिवर्तित हो गयी। इससे भी उत्कृष्ट एक अन्य उदाहरण श्रीमद्भागवतमें महाभाग रन्तिदेवका चरित्र है। अड़तालीस दिनोंकी भीषण क्षुधामें स्वस्थ भोजनका थाल और सम्पूर्ण जल आर्त याचकोंको निवेदित करके वे भरे कण्ठसे भगवान्से यही प्रार्थना करते हैं कि 'हे प्रभो! (यशकी तो बात ही क्या) मैं अष्टसिद्धियोंसे युक्त उत्तम गति अथवा अपुनर्भव (मोक्ष) भी नहीं चाहता। मैं तो यही चाहता हूँ कि सब प्राणियोंके हृदयदेशमें रहकर उनका पड़नेवाला दुःख स्वयं भोगूँ, जिससे वे सभी दुःखमुक्त हो जायँ।*'

भारतीय-मनीषियोंके लिये राष्ट्र और राष्ट्रियता ऐसे व्यापक भावक्षेत्र हैं, जहाँ पहुँचकर उनकी कामना निष्कामतामें परिवर्तित हो जाती है। लोकमान्य तिलक, महामना मालवीय और महात्मा गाँधी इसी पथके पथिक थे।

यहाँके लिये राष्ट्र शब्दमात्र, नदी-पर्वत और समुद्रसे घिरा किसी सीमित भूमि-विशेषका अभिधायक नहीं है। उदारचरित एवं 'वसुधैव कुटुम्बकम्'की भावनासे भावित भारतीय वीर कंकड़-पत्थर एवं जड़ पृथ्वीके लिये युद्ध नहीं करते। उनके लिये राष्ट्रका अर्थ है—व्यापक कल्याणकारी धर्मका पालनेवाला जनसमूह। और उनकी राष्ट्रियताका भी यही आशय है कि वे सच्चे अर्थमें धर्मभावनाके पुजारी हैं। उनका राष्ट्र उनके लिये धर्मस्वरूप भगवान्‌की ही एक प्रत्यक्ष मूर्त्ति है—जिसकी उपासनामें वे अपना तन-मन-धन सहर्ष न्योछावर कर देते हैं। भारतके प्रायः सभी ऐतिहासिक और स्मरणीय युद्ध—चाहे वे प्राचीन रामायण या महाभारतके युद्ध हों या अर्वाचीन स्वतन्त्रता-संग्राम—धर्मयुद्ध रहे हैं और यही कारण है कि भारतकी राष्ट्रियता भी केवल दिखावेकी वस्तु न होकर हमारी धर्मभावनाका एक अंग रही है। हमारी भौतिक राष्ट्रियताकी भावनामें भी 'देश-धर्मपर बलि-बलि जाने'की निष्कामता-मूलक कामना होती है। 'वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः' (यजुर्वेद ९। २३) 'हम अपने राष्ट्रमें सावधान पथप्रदर्शक बनें'—हमारा राष्ट्र अधःपतित न हो—यह हमारे वैदिक ऋषिकी कामना है। किसीको आक्रान्त करके उसका सौख्य नष्ट करनेकी नीति भारतकी नहीं रही। 'मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे† (यजु० ३६। १८)—की उदात्तभावनासे भावित भारतीय वीर किसीके प्रति आक्रामकभाव रख ही कैसे सकते हैं? फिर भी 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः'—इस गीतोक्त निर्देशके अनुसार वे अपने उपास्यके प्रतीक अपने राष्ट्रमें अपना ही राज्य—स्वराज्य चाहते हैं तभी वे निष्कामता आदि सफल अवान्तर धर्मोंके मूलस्रोत सनातनधर्मका आचरण करनेमें सफल भी होंगे। वेद (ऋग्वेद ५। ६६। ६)—का यह सुस्पष्ट समुद्‌घोष है—'यतेमहि स्वराज्ये' हम स्वराज्य—आत्मराजके लिये प्रयत्नशील हों। यह पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि यहाँ इस भावनामें भी हमारी दृष्टि निरी भौतिक नहीं है। मनु महाराजका कथन है—

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति॥
(मनुस्मृति १२। ९१)

* न कामयेऽहं गतिमीश्वरात्परामष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा। आर्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजामन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः॥

† हम सब परस्पर मित्रकी दृष्टिसे देखें।

द्वाविमौ पुरुषव्याघ्र सूर्यमण्डलभेदिनौ।
परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः॥*
(विदुर० प्रजा० १। ६८)

व्यक्तिगत कामनाको हम बंद कक्षमें जलाये जाते हुए एक मरिचखण्डसे उपमित (तुलना) कर सकते हैं। सर्वतोदिक बंद प्रकोष्ठ-(कमरे-)में जलते मिर्च—का पूयधूम कक्षमें स्थित जलानेवालेके प्राणतक ले सकता है। किंतु, यदि उसीको सुविस्तृत आकाशके तले, जहाँ व्यापक वायुसञ्चार हो रहा हो, जलाया जाय तो वही मारक गन्ध अणु-अणुमें बिखर कर निःशेषप्राय हो जाता है। उसी प्रकार संकुचित स्वके वृत्तमें घिरी शरीरसुख-कामना मानवको भोगलिप्सु बना देती है। यतः भोग प्राणीको प्रारब्धानुसार ही प्राप्त होते हैं, अतः उनकी अप्राप्तिमें उसे अशान्ति होती है, जिससे विभिन्न दुष्कृतोंके जनक मानसिक रोगोंसे वह आक्रान्त हो जाता है। पश्चात् विधि-निषेधकी वैदिक वागुरा-(फंदा—मृगजाल-)को बलात् तोड़कर पापाचरणके द्वारा अपने आत्मनाशकी पृष्ठभूमि उपस्थित कर लेता है।

यही कामना जब क्रमशः घर-परिवार, जाति और राष्ट्रको लक्ष्य कर तदपेक्षा व्यापक होने लगती है, तो इसका स्वरूप अधिक निखरने लगता है। यह सबका अनुभव है कि कुछ लोग अपने माता-पिता, पत्नी या अपत्यकी सुख-सुविधाओंके लिये अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओंको भी छोड़ देते हैं। व्यापकताका यह प्रथम सोपान है। इस स्थितिमें आकर व्यक्ति अहंतासे मुक्त होकर ममताकी ओर अग्रसर होने लगता है।

जैसे ही इस ममताकी परिधि बढ़ती जाती है, व्यक्ति किसी सीमातक अपने क्षुद्र स्वार्थोंके लिये निष्काम भी होता जाता है। हाँ, इस ममताको देहात्मवादी भावनासे भावित और उसीमें केन्द्रित नहीं होना चाहिये; निष्काम बनानेके स्थानपर यही (भावना) मोहका पाश उपस्थित कर देती है। ममताके क्षेत्रके साथ दिशा भी व्यापक हो, तभी पूर्वोक्त स्थिति संभव पाती है। और, यह असम्भव या दुष्कर बात नहीं; भारतीय इतिहासमें इसके प्रभूत उदाहरण प्राप्त हैं। मानव जैसे-जैसे स्थूलसे सूक्ष्मकी ओर अग्रसर होता है, उसका हृदय भी वैसे-वैसे अधिक संवेदनशील और विशाल होता जाता है। दूसरे शब्दोंमें कहें तो निष्कामताके अंकुरणके लिये उपयुक्त क्षेत्र बनता जाता है, जिसमें पहले भले ही कामनाके लघु पादप उगें, पर एक-न-एक दिन अखण्डफलदायिनी निष्कामता लहलहाती ही है। इस क्रमिक पद्धतिपर चलना चाहिये।

महाराज दिलीपने पुत्रकामनासे गोसेवा आरम्भ की थी, किंतु नन्दिनीके सिंहद्वारा अभिभूत होनेकी स्थितिमें गौकी प्राणरक्षाके लिये वे स्वयंको ही समर्पित करनेको उद्यत हो गये। स्थूलशरीरके प्रति उनका सारा मोह उस व्यापक गोरक्षाजन्य यशःशरीरके प्रति उन्मुख हो गया। उस क्षण उनके मनमें पुत्रकामना और उसके साक्षात् उपादान स्थूलशरीरके प्रति कोई आस्था ही शेष नहीं रही।

सिंहके यह कहनेपर कि 'राजन्! तुम अल्प वस्तु इस गौके लिये अपने बहुमूल्य चक्रवर्ती शरीरका नाश करके विचारमूढ सिद्ध हो रहे हो' दिलीपने कहा था—'यदि तुम मुझपर कृपा ही करना चाहते हो तो मेरे यशःशरीरकी रक्षा करो; क्योंकि मुझ-जैसे व्यक्तिको इन एकान्त नश्वर भौतिक शरीरोंके प्रति आस्था नहीं होती है।'† (कामना और ममताकी संकुचित सीमासे

* पुरुषश्रेष्ठ (सिंह)! ये दो पुरुष सूर्यमण्डलको भेदकर ऊर्ध्वलोकोंमें प्रविष्ट होनेके अधिकारी होते हैं, एक योगयुक्त परिव्राजक और दूसरा युद्धमें सम्मुख मारा गया वीर योद्धा।

† द्रष्टव्य-रघुवंश महाकाव्य २। ५७

आजके इस पदलिप्सा, अनय और स्वार्थ-पूरित युगमें, कि तथाकथित नेतृवृन्द जनताका उत्पीडन करके राष्ट्रियताका दम भरते हैं, इन निष्काम-कर्मयोगियोंके न-चरित्रोंका चिन्तन-मनन अवश्य ही हम स्वार्थान्ध भारतीयोंका नेत्रोन्मीलन करके हममें सच्ची राष्ट्रियता .. व सच्चे निष्काम-कर्मयोगके बीज अंकुरित कर सकते हैं; क्योंकि पूर्ण राष्ट्रियता निष्कामताकी ऊँची श्रेणी है, जहाँसे हम लक्ष्य निष्कामकर्मयोगपर पहुँच सकते हैं।

निष्कामकर्मयोग-साधन विश्वको वैदिकधर्मकी महान् देन

(लेखक—श्रीरामनाथजी खैरा)

कर्म जड है, उसमें 'चेतन'को बाँधनेकी शक्ति ! संसारके पदार्थ भी जड प्रकृतिके बने हैं, उनमें में बन्धनमें रखनेकी सामर्थ्य नहीं। इनमें जान तो आसक्ति फूँकती है। बौद्धदर्शनके अनुसार एँ ही जन्म-मरणके चक्रमें भ्रमण कराती हैं। ाओंकी लौ-(ज्योति-) का निर्वाण ही मोक्ष है। ा अन्तःकरणमें उगती और पनपती हैं। कर्मफल-ाप्तिमें मन आनन्दित होता है। जिनका फलसे कोई ध नहीं, मन उनमें रस नहीं लेता। मनकी विषय-ी ओर प्रवृत्ति तृष्णाओंको उत्पन्न करती है। अन्तःकरणमें वासनाओंके अङ्कुर उत्पन्न होते हैं, जन्म-परम्पराके कारण बनते हैं। यह अन्तःकरण के बाद भी जीवके साथ लगा चलता है। इसलिये में श्रीकृष्णने कहीं कर्मोंमें अनासक्त रहने और कहीं फलमें आसक्ति त्यागनेका उपदेश दिया है।

'जैनदर्शन' कर्मको पुद्गल (जड पदार्थ) मानता है। म सम्पन्न होते ही मनुष्यके चतुर्दिक् लोकाकाशमें हुए परमाणुओंमें हलचल उत्पन्न हो जाती है। फल देनेवाले इन परमाणुओंको जैनदर्शनमें 'कर्माण णा' कहा जाता है। वह (हलचल) पुनः आत्माकी र आकृष्ट होती है। आत्माकी ओर इस हलचलके स आनेको 'आस्रव' कहा जाता है, किंतु राग-द्वेषकी भावना न होनेसे वह परमाणुओंका समूह (कर्म) आत्मासे चिपकता नहीं, निकल जाता है और शरीरके हलचल मात्रसे कोई कर्म बँधता नहीं। जैन-धर्मका कथन कि मनुष्यके कोई बात जानने या अनुभव करने ... क्रियाएँ भी उन कर्माण वर्गणामें कर्मफल देनेकी शक्ति उत्पन्न नहीं कर सकतीं; क्योंकि किसी बातका ज्ञान होना तो आत्माका स्वभाव है। उस धर्मने राग द्वेषरूप भावनामात्रको ही कर्मफल देनेवाली शक्तिका उत्पादक माना है। रागसे ही द्वेष उत्पन्न होता है, अतः रागासक्तिके कारण ही कर्म बन्धनकारी हो जाते हैं।

इससे स्पष्ट है कि अनासक्तभावसे यदि कर्म किया जाय तो वह 'अकर्म' रहता है, जो बन्धनकारी नहीं मुक्तिका दाता है। यही वेदों एवं गीताने बताया है। सांख्य, योग, वेदान्त-दर्शनोंकी यह मान्यता है कि प्राणी जो कर्म करता है उसके संस्कार पड़ जाते हैं। उसके अनुसार प्राणीको कर्मफल मिलता है और कर्मफल बिना भोगके नष्ट नहीं होता—'**अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्**'। (गरु० पु० सारोद्धार) इसलिये हमें पुनः-पुनः शरीर धारण करना पड़ता है। किंतु यह संसार केवल उन कर्मोंके पड़ते हैं, जिनमें हमारी रागासक्ति जुड़ी हो।

हम यदि गृहस्थ-आश्रममें हैं तो उस आश्रमके भी कर्तव्यकर्म किये जायँ, किंतु उन कर्मोंमें फलकी आसक्ति न रहे। इसकी युक्ति वैदिक हिंदू-धर्मने बड़े सुन्दर ढंगसे प्रस्तुत किया है। कुछ उपनिषदोंमें भी यह बात बतायी गयी है, किंतु जिस ढंगसे भगवद्गीतामें उसे

—'जो सब प्राणियोंमें सर्वत्र आत्माको देखते हैं तथा आत्मामें सब प्राणियोंको देखते हैं, वे समदर्शी-आत्मज्ञके महाभाग ऋषिक् स्वाराज्य—अनिश्वर आत्मराज्यको प्राप्त करते हैं।' टीकाकार मेधातिथि इसकी स्पष्ट व्याख्या करते हुए लिखते हैं—

'× × ×स्ये राज्ये भवं स्वाराज्यम्, परमात्मपद् स्वतन्त्रः सम्पद्यते।'

सारांश यही है कि भारतीय स्वाधीनताकी कामना इसलिये नहीं करते कि वे किसीसे द्वेष करके झूठे अहंकारका पोषण करें या स्वशासित राज्यमें आकण्ठ विलासमें डूबे रहें; अपितु वे इस स्वराज्य—स्वशासित राज्यके माध्यमसे समष्टिरूपमें स्वाराज्य—आत्मराज्यका परमलाभ प्राप्त करनेमें सक्षम हों—इस भावनासे करते हैं। पाश्चात्य विचारक एडमण्डवर्क महोदयने भी कुछ ऐसी ही बात लिखी है। वे लिखते हैं—

'स्वाधीनता एक भाव है और दूसरे भावोंके समान यह भी प्रत्यक्षगम्य नहीं है।* उनका यह भी कथन है कि 'प्रत्येक जाति अपनी कतिपय प्रिय धारणाओंको लेकर स्वाधीनताके रूपको गठित करती है, जिसकी पूर्णताके ऊपर सुखके मानदण्डकी कल्पना की जाती है।××' और हिन्दूजातिकी प्रिय धारणा रही है—सबके धारयिता—धर्मकी रक्षा करना; क्योंकि उसके अनुसार अभ्युदय और निःश्रेयसकी सिद्धि† उसीपर आधृत है। हिन्दूजातिका सम्पूर्ण सौख्य धर्ममें ही अवलम्बित है—'धनाद्धर्मस्ततःसुखम्'।

पाश्चात्योंका आरोप है कि हिन्दुओंमें तथाकथित राष्ट्रियता और जातिप्रेम अंग्रेजोंके प्रभावसे आये हुए हैं, किन्तु कोई भी निष्पक्ष विचारक भारतीय इतिहास तथा पूर्वनिर्दिष्ट वैदिक-ग्रन्थोंमें अनुस्यूत स्वच्छन्द दर्शन करके ऐसा नहीं कह सकता। विदेशियों—... इस पवित्र भारतभूमिके आक्रान्त होनेके पहले ही ... राष्ट्रप्रेमी महाराज विक्रमादित्य, पुरु, चन्द्रगुप्त, स्कन्द... प्रभृतिने क्रमशः शकों, यूनानियों एवं हूणों आदि... डटकर सामना किया तथा उन्हें इस आर्यभूमिसे ... खदेड़ा। और, यह सब केवल उसी राष्ट्रिय-स्वच्छन्द... जिससे निर्बाध धर्माचरण हो सके; हम अपनी शिक्षा, संस्कृति और सभ्यताकी रक्षा कर सकें।

विदेशियोंके प्रवेशकालसे लेकर महाराज-पृथ्वीराज, मेवाड़के महाराणा, दक्षिणके मराठा नरेश, बुन्देलखण्ड के युवराज छत्रसाल, सिक्खगुरु गोविन्दसिंह, बन्दा... आदि जितने ऐसे सच्चे वीरपुरुषोंने भारतको आ... बनाकर निष्काम-कर्मयोगपूर्वक युद्धोंमें अपना सम... जीवन व्यय कर दिया। अपने भारत-राष्ट्रकी शा... भारतीयता एवं धर्मकी आनपर मर-मिटनेवाले कि... बलिदानियोंका आत्मदान, वीरबालाओंका जौहरव्रत ए... धर्मरक्षकोंका स्वेच्छया कष्टवरण—इस निष्काम-कर्म... योगकी ही अमिट कथालिपियाँ हैं, जिन्हें आज कोई भी विवेकशील अस्वीकार नहीं कर सकता है।

महारानी लक्ष्मीबाईसे लेकर आधुनिक बलिदानियों-तककी इस पवित्र परम्पराको तुच्छ कामनासे कौन कलुषित कर सकेगा! इन सबके लिये तो बस उत्पीड़ितोंका कष्टनिवारण, दुष्टों एवं आततायियोंसे देश-रक्षण आदि कार्य ही भगवत्पूजा बन गये थे, और धर्मप्राण भारत ही इनके लिये उन सच्चिदानन्दघन श्रीहरिका प्रतीक बन गया था। इन सबकी राष्ट्र-सेवा निष्कामताकी दिशाकी पगडण्डियाँ थीं।

* conciliation with America

× × Every nation has formed to itself some favourite point, which by way of eminence becomes the criterion of their happiness.

†—यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः —कणाद

...ले ही कोई व्यक्ति गृहस्थाश्रमके भी रहे या सभी ...िक कार्य करता रहे, किंतु उसको मुक्ति प्राप्त ...वे । गीता अध्याय ५, श्लोक १ में 'संन्यास' ज्ञानयोगके लिये आया है, उसका आश्रमसे सम्बन्ध इसलिये ज्ञानमार्गमें भी संन्यासी होना आवश्यक ...'नहिसंन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति'।

...ो लक्ष्य ज्ञानयोगद्वारा प्राप्त किया जाता है, वही ...ी अपने कर्मयोगसाधनसे प्राप्त करता है (गीता ...५)। कर्मयोग-मार्ग ज्ञानयोग-मार्गसे सुगम और ...ही फलदायक है (गीता ५ । ६)। कर्मयोग-इसी कारण ज्ञानयोगसाधनसे श्रेष्ठ ठहराया गया ...ीता ५ । २)। कर्मयोग-साधनमें कर्मफलका ...के लिये त्याग ध्यानके साधनसे भी श्रेष्ठ बतलाया (गीता १२ । १२)। वह तपस्यासे भी श्रेष्ठ कर्मयोगका साधक शास्त्रके ज्ञानवालोंसे भी श्रेष्ठ ...ीता ६ । ४६)। ज्ञान मुक्ति देनेवाला होता है, वह ज्ञान कर्मयोग-साधनसे स्वतः उत्पन्न हो... है (गीता ४ । ३८)। यदि कर्मयोग-साधन ...कर दिया जाये तो उसका बीज पड़ जाता यह बीज कभी नष्ट नहीं होता । वह साधन ...जाय, योग भ्रष्ट हो जाय तो उसकी दुर्गति होगी, अगले जन्ममें जहाँसे अभ्यास छूटा है, स्वतः आगे बढ़ने लगता है, जबतक कि अपने ...क्ष्य-मुक्तिको प्राप्त न करा दे (गीता २ । ४०, ६ । ४०)। कर्मयोग-साधनसे कर्तव्य-पालनमें यदि हिंसादि पाप बन जाय तो अनासक्ति निःस्वार्थभावके कारण उसके वे कर्म पाप नहीं होते (गीता ८ । २७, १८ । ४७-४८)।

कर्मयोगका साधन अन्तःकरणसे अशुद्ध व्यक्ति भी ...रम्भ कर सकता है । मलिन-अन्तःकरण अशुद्धचित्त ...था कर्तापनका अभिमान रखनेवाला व्यक्ति ज्ञानयोगके साधनके लिये अयोग्य है, किंतु कर्मयोगके साधकके लिये यह कोई शर्त नहीं है; क्योंकि यह साधन स्वयं अन्तःकरण पवित्र करता है और कर्तव्यका भान उसकी साधनामें बाधक नहीं है । वह तो कर्म, कर्मफल, परमात्माको अपनेसे साधनकालमें भिन्न मानता है, वह समझता है कि कर्म मैं कर रहा हूँ—जैसा सामान्य व्यक्ति सोचता है; जब कि ज्ञानयोगीको समझना होता है कि मायासे उ... सम्पूर्ण गुण गुणोंमें ही बरतते हैं । इन्द्रियाँ अपने अर्थों अर्थात् विषयोंमें बरत रही हैं, मैं कुछ नहीं करता । कर्मयोगी अपनेको कर्मोंका कर्ता मानता है (गीता ५ । १), पर ज्ञानयोगी नहीं मानता (गीता ५ । ७-८)। ज्ञानयोगी मन और इन्द्रियोंद्वारा होनेवाली क्रियाओंको कर्म ही नहीं मानता (गीता १८ । १७)। कर्मयोगी प्रकृतिको, उससे बने संसारको तथा उसके पदार्थोंकी सत्ताको सामान्य जनकी भाँति स्वीकार करता है ज्ञानयोगी एक ब्रह्मके सिवा किसीकी सत्ता स्वीकार नहीं करता (गीता १३ । २७)।

कर्मयोगकी साधनाके आधार हैं—निष्कामभाव और समत्वबुद्धि । निष्कामभावके कारण कर्म और फलमें आसक्ति नहीं रहती और अनासक्त कर्म बन्धनका कारण नहीं है । निष्कामभावसे स्वार्थबुद्धि अस्त होती है । कर्मके परिणाममें समत्वबुद्धि भी निष्कामभाव उत्पन्न करती है । लाभ-हानि, सिद्धि-असिद्धि, सुख-दुःख, यश-अपयश आदिमें बुद्धिको एक समान रखना ही समत्व बुद्धियोग है । यदि कर्ममें [illegible] छोड़ दी जाय तो कोई कर्म ही क्यों करेगा, यह एक प्रश्न है । यदि हम अपने इष्टको सर्वव्यापी जानकर उसे चराचरमें देखने लगते हैं तो जिसके साथ हमारे कर्मका सम्बन्ध होता है, वह हमें अपने इष्टदेव भगवान्के रूपमें दीखता है । दूकानदारको ग्राहक, डॉक्टरको मरीज, वकीलको मुवक्किल अपने भगवान्के रूपमें दीखता है, उसे व्यवहारमें वह इष्टदेवके

ले ही कोई व्यक्ति गृहस्थाश्रममें भी रहे या सभी कि कार्य करता रहे, किंतु उसको मुक्ति प्राप्त से। गीता अध्याय ५, श्लोक १ में 'संन्यास' ज्ञानयोगके लिये आया है, उसका आश्रमसे सम्बन्ध सलिये ज्ञानमार्गमें भी संन्यासी होना आवश्यक नहिसंन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति'।

लक्ष्य ज्ञानयोगद्वारा प्राप्त किया जाता है, वही अपने कर्मयोगसाधनसे प्राप्त करता है (गीता)। कर्मयोग-मार्ग ज्ञानयोग-मार्गसे सुगम और फलदायक है (गीता ५।६)। कर्मयोग-इसी कारण ज्ञानयोगसाधनसे श्रेष्ठ ठहराया गया ता ५।२)। कर्मयोग-साधनमें कर्मफलका के लिये त्याग ध्यानके साधनसे भी श्रेष्ठ बतलाया (गीता १२।१२)। वह तपस्यासे भी श्रेष्ठ कर्मयोगका साधक शास्त्रके ज्ञानवालोंसे भी श्रेष्ठ ता ६।४६)। ज्ञान मुक्ति देनेवाला होता है, ह ज्ञान कर्मयोग-साधनसे स्वतः उत्पन्न हो है (गीता ४।३८)। यदि कर्मयोग-साधन कर दिया जाये तो उसका बीज पड़ जाता यह बीज कभी नष्ट नहीं होता। वह साधन ाय, योग भ्रष्ट हो जाय तो उसकी दुर्गति ोती, अगले जन्ममें जहाँसे अभ्यास छूटा है, स्वतः आगे बढ़ने लगता है, जबतक कि अपने क्तिको प्राप्त न करा दे (गीता २।४०, ४०)। कर्मयोग-साधकसे कर्तव्य-पालनमें यदि पाप बन जाय तो अनासक्ति निःस्वार्थभावके उसके वे कर्म पाप नहीं होते (गीता ८।२७, ...।४७-४८)।

कर्मयोगका साधन अन्तःकरणसे अशुद्ध व्यक्ति भी आरम्भ कर सकता है। मलिन-अन्तःकरण अशुद्धचित्त था कर्तापनका अभिमान रखनेवाला व्यक्ति ज्ञानयोगके साधनके लिये अयोग्य है, किंतु कर्मयोगके साधकके लिये यह कोई शर्त नहीं है; क्योंकि यह साधन स्वयं अन्तःकरण पवित्र करता है और कर्तव्यका भान उसकी साधनामें बाधक नहीं है। वह तो कर्म, कर्मफल, परमात्माको अपने-से साधनकालमें भिन्न मानता है, वह समझता है कि कर्म मैं कर रहा हूँ—जैसा सामान्य व्यक्ति सोचता है; ... कि ज्ञानयोगीको समझना होता है कि मायासे ... सम्पूर्ण गुण गुणोंमें ही बरतते हैं। इन्द्रियाँ अपने अर्थों अर्थात् विषयोंमें बरत रही हैं, मैं कुछ नहीं करता। कर्मयोगी अपने-को कर्मोंका कर्ता मानता है (गीता ५।१), पर ज्ञानयोगी नहीं मानता (गीता ५।७-८)। ज्ञानयोगी मन और इन्द्रियोंद्वारा होनेवाली क्रियाओंको कर्म ही नहीं मानता (गीता १८।१७)। कर्मयोगी प्रकृतिको, उससे बने संसारको तथा उसके पदार्थोंकी सत्ताको सामान्य जनकी भाँति स्वीकार करता है ज्ञानयोगी एक ब्रह्मके सिवा किसीकी सत्ता स्वीकार नहीं करता (गीता १३।२७)।

कर्मयोगकी साधनाके आधार हैं—निष्कामभाव और समत्वबुद्धि। निष्कामभावके कारण कर्म और फलमें आसक्ति नहीं रहती और अनासक्त कर्म बन्धनका कारण नहीं है। निष्कामभावसे स्वार्थबुद्धि अस्त होती है। कर्मके परिणाममें समत्वबुद्धि भी निष्काम-भाव उत्पन्न करती है। लाभ-हानि, सिद्धि-असिद्धि, सुख-दुःख, यश-अपयश आदिमें बुद्धिको एक समान रखना ही समत्व बुद्धियोग है। यदि कर्ममें फलाशा छोड़ दी जाय तो कोई कर्म ही क्यों करेगा, यह एक प्रश्न है। यदि हम अपने इष्टको सर्वव्यापी जानकर उसे चराचरमें देखने लगते हैं तो जिसके साथ हमारे कर्मका सम्बन्ध होता है, वह हमें अपने इष्टदेव भगवान्‌के रूपमें दीखता है। दुकानदारको ग्राहक, डॉक्टरको मरीज, वकीलको मुवक्किल अपने भगवान्‌के रूपमें दीखता है, इससे सहजहीमें वह दुराचारोंसे

। पुरुषो भवति । अतः तस्य अन्तःकरणस्य बुद्धेः नाशात् प्रणश्यति, पुरुषार्थायोग्यो भवति इत्यर्थः ।'

(गीता शांकरभाष्य २ । ६३)

मानस जगत्में 'काम'रूप वातका प्रभाव सर्वथा ...न होता है । जिस प्रकार झञ्झावात पेड़-पौधोंको झोरकर अशान्ति उत्पन्न कर देता है और वात ...प्रकारकी पीड़ाओंको उत्पन्न कर शरीरको बेचैन ... देता है, उसी प्रकार कामकी प्रक्रिया होती है । ...की सर्वथा पूर्ति तो हो नहीं सकती । इसकी पूर्तिमें ... कहीं अवरोध उत्पन्न हुआ, वहीं क्रोध उत्पन्न हो ... है और वह मानवको पुरुषार्थसाधनमें अयोग्य ...डालता है । अतः उसका नियन्त्रण अभीष्ट है । ... कामका समूल नाश कभी सम्भव नहीं, नियन्त्रण ...साध्य हो सकता है । यह संक्षेपमें 'निष्काम'के ...की विवृति हुई । अब कर्मके स्वरूपका भी किंचित् ...य देखें ।

कृष्णद्वैपायन व्यासजीने महाभारत, शान्तिपर्व- ...४१ । ७)में शुकदेवजीको उपदेश देते हुए कहा था—

...र्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते ।
...स्मात् कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः ॥*

'कर्म तथा ज्ञान परस्पर विरोधी तत्त्व हैं; क्योंकि ...णी कर्मके द्वारा बद्ध होता है और ज्ञानके द्वारा कर्म ...न्धनसे मुक्त होता है । इसलिये पारदर्शी यति लोग ...र्म नहीं करते । वे ज्ञानके उपार्जनमें ही अपनेको ...स्त रखते हैं । 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'—इस उपनिषद् ...वाक्यका भी यही बोधगम्य तात्पर्य है ।

कर्म किस प्रकार बन्धनकारक होते हैं

इस कर्मका विश्वमें अखण्ड साम्राज्य है । प्रायः कोई भी प्राणी क्षणभर भी मानसिक आदि काम किये बिना नहीं रह सकता । अतः उसे इस कौशलसे सम्पादन करना चाहिये कि वह कर्म बन्धन उत्पन्न न कर सके । गीताके अनुसार कर्मफल ही वह विषदन्त है, जिसके तोड़ देनेपर कर्मरूपी सर्पकी प्राणघातकता समाप्त हो जाती है । फलकी कामना 'काम'के द्वारा ही होती है । इस कामका त्याग किसप्रकार किया जा सकता है, इसका त्रिविध उपाय गीता (३ । ३०)में इस प्रकार बतलाया गया है—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥

ईश्वरमें कर्मोंका समर्पण—कर्म करनेमें जीवको विवेक बुद्धिका आश्रय लेना चाहिये । उसे समझना चाहिये कि मैं सब कर्म ईश्वरके लिये सेवककी तरह कर रहा हूँ । इसी विवेकबुद्धिसे कर्मोंका समर्पण ईश्वरमें करना चाहिये । आचार्य शंकरके द्वारा व्याख्यात—'अध्यात्म चेतसा' शब्दका यही तात्पर्य है—**विवेकबुद्ध्या—'अहं कर्ता ईश्वराय भृत्यवत् करोमि' इति अनया बुद्ध्या सर्वेषां कर्मणां मयि परमेश्वरे संन्यासः निक्षेपः'** (शांकरभाष्य) । **निराशीः**—मङ्गल-आशा शून्य, कामनारहित होकर संसारमें स्वकर्माचरण या मोक्षार्थ संघर्ष करना चाहिये । जीवन संघर्षमय है । 'युध्यस्व'में वास्तव लड़ाई करनेका भाव नहीं है, प्रत्युत अपनी विषम परिस्थितियोंसे संघर्षकर उनपर विजय-युक्ति पानेका भाव है । पुनः **निर्ममः**—ममतारहित होकर ही जीवन बितानेका उपदेश है । **'मम'** ये दो अक्षर बन्धनमें डालनेवाले हैं तथा **'न मम'** ये तीन अक्षर मुक्तिके साधन माने जाते हैं—**'ममेति हि बन्धाय न ममेति विमुक्तये ।'** श्रीमद्भागवतमें भी यही तथ्य कुछ विशदता और स्पष्टतासे प्रतिपादित किया गया है—

तावन्ममेत्यसद्ग्रह आर्तिमूलं
यावन्न तेऽङ्घ्रिमभयं प्रवृणीत लोकः ।

(३ । ९ । ६)

इन तीनों उपायोंका एक साथ आश्रयण करनेसे कामनारहित होनेके कारण कर्म जीवको बन्धनमें नहीं

---

* इस वचनको आचार्य शंकरने अपने गीताभाष्य ३ । १ आदि ग्रन्थोंमें बार-बार उद्धृत किया है ।

डाल सकता। गीताके अनुसार—'यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्' (१८।५)। फलकामनासे रहित पुरुषोंके लिये यज्ञ, दान तथा तप—ये तीनों कर्म पवित्र करनेवाले होते हैं, अतएव ये 'त्याज्य' नहीं, 'कार्य' हैं। परंतु इन पावन कर्मोंका भी सम्पादन फलकी आकाङ्क्षा तथा आसक्तिको छोड़कर ही करना चाहिये। आसक्तिके त्यागके विरहमें फलका त्याग अपूर्ण ही रहता है। फल तथा संग दोनोंका त्याग ही पूर्ण त्याग है। एकका त्याग—चाहे वह फल हो या संग हो—अधूरा ही होता है। गीताका उपदेश है—

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥
(१८।६)

इसीलिये गीता फल तथा सङ्ग (आसक्ति)के त्यागको 'सात्त्विक त्याग' कहती है। (गीता १८।९) गीतामें त्यागी शब्दका अर्थ कर्मयोगी है। गीता १८ अ० ११ श्लोकके—यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते—उत्तरार्धमें कर्मफलत्यागी शब्दको देखकर यह न समझना चाहिये कि यहाँ केवल फलके त्यागनेका ही निर्देश है। शंकर तथा रामानुज दोनों आचार्योंके मतसे इस शब्दका अभिप्राय इससे कहीं अधिक है। शंकराचार्यने इस शब्दका अर्थ 'कर्मफलाभिसंधिमात्रसंन्यासी' किया है, जिससे वे त्यागीको कर्मफलकी वासनामात्र छोड़नेवाला मानते हैं, अर्थात् वह कर्मफलको ही नहीं छोड़ देता, प्रत्युत उसकी वासनाका भी परिहार करता है। रामानुजाचार्य इस शब्दकी व्याख्या करते हैं—यहाँ 'फलत्यागी' कहना उपलक्षणके लिये है। इसका भाव फल, कर्तापन तथा संग—इन तीनोंका त्यागी है; क्योंकि प्रकरणके आरम्भमें ही त्यागके त्रिविध होनेकी प्रतिज्ञा प्रथमतः कर दी गयी है—फलत्यागोऽत्र प्रदर्शनार्थः। फलकर्तृत्व-कर्मसङ्गानां त्यागी इति। 'त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः' इति प्रक्रमात्। फलतः दोनों आचार्योंका अभिप्राय एक समान ही है। गीता इस तथ्यके ऊपर बारंबार आग्रह करती है। इसीका निर्देश गीता इस श्लोकमें भी करती है—

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥
(५।१०)

फलतः निष्काम कर्मका तात्पर्य यही सिद्ध होता है कि कामनासे रहित एवं सिद्धि-असिद्धिमें समभाव होकर कर्मोंका सम्पादन करना चाहिये। वही साधक सच्चा निष्काम कर्मयोगी है। फलाशाके साथ अपने कर्तृत्वाभिमानका भी त्याग कर देता है, ऐसा साधक निश्चयेन मोक्षका अधिकारी होता है। इसीलिये निवृत्तिमार्गके समान ही प्रवृत्तिमार्ग भी साधकको परमपदतक प्राप्त करानेमें समर्थ होता है, यदि वह ऊपर निर्दिष्ट उपायोंके आलम्बन करनेसे अपने शुद्धरूपमें प्रतिष्ठित किया जाता है। 'निष्काम-कर्म'के विषयमें शास्त्रोंका यही मुख्य तात्पर्य है।

अमृतत्व-प्राप्तिके उपाय

विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयꣳसह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥

'जो मनुष्य विद्या एवं अविद्या इन दोनोंको, अर्थात् ज्ञानके तत्त्वको और कर्मके तत्त्वको भी साथ-साथ यथार्थतः जान लेता है, (वह) कर्मोंके अनुष्ठानसे मृत्युको पार करके ज्ञानके अनुष्ठानसे अमृतको भोगता है, अर्थात् अविनाशी आनन्दमय परब्रह्म पुरुषोत्तमको प्रत्यक्ष प्राप्त कर लेता है।' (ईशावा० उ० ११)

निष्कामभावकी महत्ता

(ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके महत्त्वपूर्ण विचार)

श्रीभगवद्गीताके अनुसार श्रीभगवान्का नित्य-निरन्तर न करना संसार-सागरसे शीघ्र उद्धार करनेवाला तम एवं सुगम उपाय है (गीता १२।७, ८।१४)। प्रकार निष्काम-कर्म भी शीघ्र उद्धार करनेवाला परमात्म-प्राप्तिका सुगम उपाय है (गीता ५।६)। मभावके साथ यदि भगवान्का स्मरण होता ब तो फिर बात ही क्या ! वह तो सोनेमें सुगन्धकी अत्यन्त महत्त्वकी चीज हो जाती है। इससे और घ्र कल्याण हो सकता है। किंतु भगवान्की के बिना भी यदि कोई मनुष्य फलासक्तिको त्याग कर ार्थभावसे चेष्टा करे तो उससे भी उसका कल्याण कता है, बल्कि इसे ध्यानसे भी श्रेष्ठ बतलाया गया श्रीभगवान्ने गीता (१२। १२)में कहा है—

ो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
नात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥

'(परमात्मतत्त्वको न जानकर किये हुए) अभ्याससे श्रेष्ठ है, (केवलशास्त्र) ज्ञानसे मुझ परमेश्वरके सका ध्यान श्रेष्ठ है और ध्यानसे भी सब कर्मोंके का त्याग श्रेष्ठ है; क्योंकि त्यागसे तत्काल ही परम तकी प्राप्ति होती है।' अतः यह प्रयत्न करना ये कि भगवान्को याद रखते हुए ही समस्त चेष्टाएँ ामभावपूर्वक हों। यदि काम करते समय भगवान्की ो न हो सके तो केवल निष्कामभावसे ही मनुष्यका ाण हो सकता है। इसलिये निष्कामभावको हृदयमें ासे धारण करना चाहिये; क्योंकि निष्कामभावसे की थोड़ी-सी भी चेष्टा संसार-सागरसे उद्धार करा देती । गीता (२। ४०)में भगवान् कहते हैं—

हाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
ल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥

इस कर्मयोगमें आरम्भका अर्थात् बीजका नाश नहीं है और उल्टा फलरूप दोष भी नहीं है। बल्कि, इस कर्मयोगरूप धर्मका थोड़ा-सा भी साधन जन्म-मृत्युरूप महान् भयसे रक्षा कर लेता है।' फिर जो नित्य-निरन्तर निष्कामभावसे क्रिया करनेके ही परायण हो जाय, उसके लिये तो कहना ही क्या ! इसलिये मनुष्यको तृष्णा, इच्छा, स्पृहा, वासना, आसक्ति, ममता और अहंता आदिका सर्वथा त्याग करके जिससे लोगोंका परम हित हो, उसी काममें अपना तन, मन, धन लगा देना चाहिये। (इस त्यागसे परमकल्याण मिलता है।)

स्त्री, पुत्र, धन, ऐश्वर्य, मान, बड़ाई आदि अपने पास रहते हुए भी उनकी वृद्धिकी इच्छा करनेको 'तृष्णा' कहते हैं। जैसे किसीके पास एक लाख रुपये हैं तो वह पाँच लाख होनेकी इच्छा करता है और पाँच लाख हो जानेपर उसे दस लाखकी इच्छा होती है। इस प्रकार उत्तरोत्तर इच्छाकी वृद्धिका नाम तृष्णा है। इसी तरह मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा, गृह, पुत्र आदि अन्य सांसारिक वस्तुओंके विषयमें समझना चाहिये। यह तृष्णा बहुत ही बुरी, असत् है, मनुष्यका पतन करनेवाली है। इससे बचना चाहिये।

स्त्री, पुत्र, धन, ऐश्वर्यकी कमीकी पूर्तिके लि कामना होती है, उसका नाम 'इच्छा' है, जैसे ! पास अन्य सब चीजें तो हैं, पर पुत्र नहीं है तो अभावकी मनमें जो कामना होती है, उसे 'इच्छा' है। पदार्थोंकी कमीकी पूर्तिकी इच्छा तो नहीं होती, पर जो बहुत आवश्यक वस्तुओंके लिये कामनाएँ होती हैं, जिनके बिना निर्वाह होना कठिन है, उसका नाम 'स्पृहा' है। जैसे कोई मनुष्य भूखसे पीड़ित है अथवा सर्दीसे कष्ट पा रहा है तो उसे अन्नकी अथवा वस्त्रकी

इच्छा होती है, उसको 'स्पृहा' कहा जा सकता है। जिसके मनमें ये तृष्णा, इच्छा, स्पृहा आदि तो नहीं हैं, पर यह बात मनमें रहती है कि और तो किसी चीजकी आवश्यकता नहीं है, पर जो वस्तुएँ प्राप्त हैं, वे बनी रहें, मेरा शरीर बना रहे, ऐसी इच्छाका नाम 'वासना' है।

उपर्युक्त कामनाओंमें पूर्व-से-पूर्व उत्तर-से-उत्तरवाली कामना सूक्ष्म और हल्की है तथा सूक्ष्म और हल्की कामनाका नाश होनेपर स्थूल और भारीका नाश उसके अन्तर्गत ही है। जिनमें उपर्युक्त तृष्णा, इच्छा, स्पृहा, वासना आदि किसी प्रकारकी भी कामना नहीं है, वह 'निष्कामी' है। इन सम्पूर्ण कामनाओंकी जड़ आसक्ति है। शरीर, विषयभोग, स्त्री, पुत्र, धन, ऐश्वर्य, मान, कीर्ति आदिमें जो प्रीति है—लगाव है, उसका नाम 'आसक्ति' है। शरीर और संसारके पदार्थोंमें 'यह मेरा है' ऐसा भाव होना ही 'ममता' है। इस आसक्ति और ममताका जिसमें अभाव है, वही परम विरक्त वैराग्यवान् पुरुष है। ममता और आसक्तिका मूल कारण है—अहंता। स्थूल, सूक्ष्म या कारण—किसी भी देहमें, जो कि अनात्मवस्तु है, उसमें इस प्रकार आत्माभिमान करना कि 'मैं देह हूँ'—यह 'अहंता' है। इसके नाशसे सारे दोषोंका नाश हो जाता है, अर्थात् समस्त दोषोंकी मूलभूत अहंताका नाश होनेपर आसक्ति, ममता आदि सभीका विनाश हो जाता है। अहंकारमूलक ये जितने भी दोष हैं, उन सबका मूल कारण है—अज्ञान (अविद्या)। वह अज्ञान हमलोगोंकी प्रत्येक क्रिया और सम्पूर्ण पदार्थोंमें पद-पदपर इतना व्यापक हो गया कि हम उससे भूले हुए संसार-चक्रमें ही भटक रहे हैं। उस अज्ञानका नाश परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे होता है। परमात्माका यथार्थ ज्ञान होता है—अन्तःकरणके शुद्ध होनेसे। हमलोगोंके [illegible] रागद्वेष आदि दुर्गुण और झूठ, कपट, इस मलको दूर करनेका उपाय है—ईश्वरकी [illegible] या निष्काम-कर्म। इन दोनोंमेंसे एकको [illegible] आत्म-कल्याणके लिये आवश्यक है।

हमलोगोंमें स्वार्थकी अधिकता होनेके कारण प्रत्येक कार्य करते समय पद-पदपर स्वार्थका भाव जाग्रत् हो जाता है। पर कल्याण चाहनेवाले मनुष्यको ईश्वर, देवता, ऋषि, महात्मा, मनुष्य और किसी भी जङ्गम या स्थावर प्राणीसे अथवा जड पदार्थोंसे अपने व्यक्तिगत स्वार्थकी इच्छा कभी नहीं रखनी चाहिये। जब भी चित्तमें स्वार्थकी भावना आये तभी उसको तुरंत हटाकर उसके बदले हृदयमें इस भावकी जागृति पैदा करनी चाहिये कि सबका हित किस प्रकार हो। जैसे कोई अर्थका दास—लोभी मनुष्य दूकान खोलनेसे लेकर दूकान बंद करनेके समयतक प्रत्येक कामको करते हुए यही इच्छा और चेष्टा करता रहता है कि 'रुपया कैसे मिले, धन-संग्रह कैसे हो!' परंतु यह ठीक नहीं है। कल्याणकामी पुरुषको तो प्रत्येक क्रियामें यह भावना रखनी चाहिये कि संसारका हित कैसे हो! जो मनुष्य अपने कल्याणकी भी इच्छा न रखकर अपना कर्तव्य समझकर लोकहितके लिये अपना तन, मन, धन लगा देता है, वही वास्तविक स्वार्थत्यागी, निष्कामी और श्रेष्ठ पुरुष है।

विचारणीय बात है कि स्वार्थके कारण हमलोग अज्ञानसे इतने अंधे हो रहे हैं कि निष्कामभावसे दूसरोंका हित करना तो दूर रहा, बल्कि दूसरोंसे अपना ही स्वार्थ सिद्ध करना चाहते हैं और करते हैं। जितनी स्वार्थपरता इस समय देखनेमें आ रही है, उतनी तो इससे कुछ काल पूर्व भी न थी। फिर द्वापर, त्रेता और सत्ययुगकी तो बात ही क्या! इस समय तो स्वार्थ-सिद्धिके लिये मनुष्य झूठ-कपट, चोरी-बेईमानी तथा विश्वासघात आदि करनेसे भी बाज नहीं आते तथा [illegible] और धर्मको भी

र बैठते हैं। भला, ऐसी परिस्थितिमें मनुष्यका ल्याण कैसे हो सकता है ?

जो दूसरोंका हक (हिस्सा) है, उसे लेनेमें … ही ग्लानि होनी चाहिये; पर उस विषयमें री ग्लानि न होकर हर प्रकारसे उसे नेकी ही चेष्टा रहती है। यह मनोवृत्ति बहुत बुरी । उसे ग्रहण करना तो दूर रहा, दूसरेके हकको । त्याज्यबुद्धिसे देखना चाहिये। परस्त्रीके स्पर्शकी । उसके स्पर्शको भी पाप समझना चाहिये। जो य परस्त्री और परधनका अपहरण करते हैं या की इच्छा करते हैं तथा पर-अपवाद करते हैं, का कल्याण कैसे हो सकता है; उनके लिये तो नरकमें स्थान नहीं है।

आजकल व्यापारमें भी इतना धोखेबाजी बढ़ गयी है हम दूसरेका धन हड़पनेके लिये हर समय तैयार । हैं। इसको हम चोरी कहें या डकैती। कोई मी जब अपना माल बेचता है तो वजन आदिमें । देना चाहता है। पाट, सुपारी, रूई, ऊन आदि सी चीजोंको जलसे भिगोकर उसे भारी बना दिया ता है तथा बेचते समय हरेक वस्तुको वजन, नाप र संख्यामें हर प्रकारसे कम देनेकी ही चेष्टा की ती है, और माल खरीदते समय स्वयं वजन, नाप र संख्यामें अधिक-से-अधिक लेनेकी चेष्टा रहती है। चते समय नमूना दूसरा ही दिखलाया जाता है और तु दूसरी ही दी जाती है। एक चीजमें दूसरी चीज ला देते हैं—जैसे घीमें वेजिटेबुल, नारियलके तेलमें रासिन, दालमें मिट्टी इत्यादि। इस प्रकार हर तरीकेसे … स्वार्थसिद्धि करनेवाले अपना परलोक … कोई-कोई … तो सरकार, रेल्वे या … नेका अवसर पाते हैं … ते हैं। उनसे माल … मिलकर जितना माल खरीद करते हैं उससे बहुत अधिक माल उठा लेते हैं। यह सरासर चोरी है। यह बहुत अन्यायका काम है। इस अनर्थसे सर्वथा बचना चाहिये।

अपना कल्याण चाहनेवाले मनुष्यको अपनी समस्त क्रिया निष्कामभावसे ही करनी चाहिये। ईश्वर-देवता, ऋषि-मुनि, साधु-महात्माओंकी पूजा-सत्कार तथा यज्ञ-दान, जप-तप, तीर्थ-व्रत, अनुष्ठान एवं पूजनीय पुरुष और दुःखी, अनाथ, आतुर प्राणियोंकी सेवा आदि कोई भी धार्मिक कार्य हो, उसे कर्तव्य समझकर ममता, आसक्ति और अहंकारसे रहित होकर निष्कामभावसे करना चाहिये, किसी प्रकारकी कामनाकी सिद्धिके लिये या सङ्कट-निवारणके लिये कभी नहीं। यदि कहीं लोक-मर्यादामें बाधा आती हो तो राग-द्वेषसे रहित होकर लोक-संग्रहके लिये काम्य-कर्म कर लेना सकाम नहीं है; इसमें कोई दोष नहीं है।'

उपर्युक्त धार्मिक कार्योंको करनेके पूर्व ऐसी इच्छा करना कि अमुक कामनाकी सिद्धि होनेपर अमुक अनुष्ठानादि कार्य करेंगे किंतु इसकी अपेक्षा तो वह मनुष्य अच्छा है जो उन धार्मिक कार्योंके करनेके समय ही इच्छित कामनाका उद्देश्य रखकर करता है और उससे वह श्रेष्ठ है जो धार्मिक कार्योंको सम्पादन करनेके बाद ईश्वर, देवता, महात्मा आदिसे प्रार्थना करता है कि मेरा यह कार्य सिद्ध करें तथा उसकी अपेक्षा वह श्रेष्ठ है, जो किसी कामनाकी सिद्धिका उद्देश्य लेकर तो नहीं करता, पर कोई आपत्ति आनेपर उसके निवारणार्थ कामना कर लेता है। इसकी अपेक्षा भी वह श्रेष्ठ है, जो आत्माके कल्याणके लिये धार्मिक अनुष्ठानादि करता है, और वह तो सबसे श्रेष्ठ है, जो केवल निष्कामभावसे कर्तव्य समझकर करता है तथा बिना माँगे भी वे कोई पदार्थ दें तो लेता नहीं है। हाँ, यदि केवल उनकी प्रसन्नताके लिये राग-द्वेषसे शून्य होकर लेना पड़े तो उसमें कोई दोष नहीं है।

निष्कामसाधनाका श्रीगणेश

(लेखक — स्वामी श्रीसनातनदेवजी)

मानव एक विवेक-प्रधान साधक प्राणी है। उसके जीवनका एक लक्ष्य है एवं उसके लिये प्रयत्न करना उसका कर्तव्य है। शेष अन्य सब जीव अपनी-अपनी प्रकृतिके वशीभूत हुए केवल उदर-पूर्ति और क्रीडा-कौतुकमें ही अपना जीवन व्यतीत करते हैं। उनकी योनियाँ भोग-योनियाँ हैं और मानवशरीर कर्म-योनि है। गीतामें कर्म शब्द योगके साथ प्रयुक्त है। 'योग' अर्थात् परमार्थ-तत्त्वके साथ अभेद प्राप्त करना। इसीकी प्राप्तिके लिये परम उदार प्रभुने उसे विवेक-शक्ति दी है, जिससे वह अपने हिताहितका निर्णय कर सके। जो मनुष्य उसका अनुसरण न कर केवल भोग-संग्रहमें ही लगे हुए हैं, वे पशुसे भी गये-गुजरे हैं; क्योंकि पशु अपनी प्रकृतिका उल्लङ्घन नहीं करता और भोग-प्रवण मनुष्य प्रकृतिका भी उल्लङ्घन करके बहुत-से न करनेयोग्य कार्य भी कर बैठता है।

वस्तुतः यह एक विडम्बना ही है, जो मानव-समाजका बहुसंख्यक भाग विवेकी होकर भी भोगोंके पीछे पड़ा हुआ है। उसकी इस भोगप्रवणताको दूर करनेके लियेही शास्त्रोंने भी सकाम कर्म और उपासनाका प्रचुररूपसे वर्णन किया है। परंतु उसका उद्देश्य भी इसे लौकिक इष्ट भोगोंसे हटाकर पारलौकिक अदृष्ट और दिव्य भोगोंके प्रलोभनद्वारा उसके इष्टकी ओर आकृष्ट करना है। यदि मानव-देह प्राप्त करके उस इष्टको प्राप्त नहीं किया तो जीवन व्यर्थ ही है। श्रुति कहती है—**'इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।'** अर्थात्—इस जीवनमें उस परमतत्त्वको जान— लिया तो ठीक, और यदि नहीं जान पाया तो बड़ी भारी हानि हुई।

जबतक मनुष्य किसी लौकिक या अलौकिक भोगमें [illegible] परमार्थकी जिज्ञासा नहीं हो जाती। परमार्थमें सबसे बड़ा रोड़ा कामना है। यह आश्चर्यकी बात है कि मनुष्य इन्द्रियोंके अधीन होकर अनेक असाध्य और कष्टसाध्य साधन भी प्रसन्नतापूर्वक करता रहता है और परमार्थ-प्राप्तिके लिये सत्य-अहिंसा आदि सहज साधन भी उसे अत्यन्त कठिन जान पड़ते हैं। पर निष्कामताके बिना परमार्थ-पथमें प्रवेश भी नहीं हो सकता। बड़े-बड़े तप करके त्याग करनेपर भी यदि चित्त निष्काम नहीं है तो परमार्थकी जिज्ञासा नहीं हो सकती और न सच्चा भगवत्प्रेम ही हो सकता है। वास्तवमें तो परमार्थकी जिज्ञासा ही साधनाका प्रथम सोपान है। इससे पहले सकामभावसे जो कुछ किया जाता है, वह वणिग्वृत्ति ही है। हम बाजारमें किसी दुकानदारसे पैसा देकर यदि कोई वस्तु खरीदना चाहते हैं तो हमारी आसक्ति उस वस्तुमें ही होती है, दुकानदारमें नहीं। इसी प्रकार किसी पुण्यकर्म या उपासनाके द्वारा यदि हम कोई लौकिक या पारलौकिक भोग प्राप्त करना चाहते हैं तो हमारी प्रीति उस भोगमें ही होती है, जिस इष्टदेवसे प्राप्त करना चाहते हैं, उसमें नहीं। जिसे लौकिक या अलौकिक कोई कामना नहीं रहती, उसको सत्यकी जिज्ञासा होती है और उसीको अपने इष्टदेवमें आत्मीयता होकर उसकी प्रीति प्राप्त होती है। जो सभी प्रकारकी ममता और मोह त्याग देता है उसीका प्रभुसे सम्बन्ध होता है। प्रेममें विभाजन नहीं होता। ऐसा नहीं हो सकता कि हम विषयोंको भी चाहते रहें और भगवान्के प्रेमी भी हो जायँ। बिना अनन्यभाव हुए प्रभुमें प्रेम नहीं होता। अनन्य भाव तभी आ सकता है, जब हमारा मन कामना शून्य बने, अतः इसमें संदेह नहीं कि परमार्थकी वास्तविक साधनाका श्रीगणेश निष्कामतासे ही होता है।

ह निष्कामता प्रारम्भिक साधन ही हो—ऐसी भी नहीं है। यदि दैव-दुर्विपाकसे किसी भक्त नोंमें भी किसी कामना या वासनाका उन्मेष र तो वह भी पथभ्रष्ट हो जायगा। श्रीमद्भगवद्-साधनका क्रम-निर्देश करते हुए कहा है कि—

हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
त् कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्॥
(१२।१२)

भ्यासकी अपेक्षा ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञानसे ध्यान विशेष है नसे भी कर्मफलका त्याग श्रेष्ठ है; क्योंकि त्यागके तीव ही शान्ति प्राप्त होती है।' यहाँ कर्म-को ज्ञान और ध्यानसे भी श्रेष्ठ कहा है। यहाँ यह केवल उसकी महिमा या अर्थवाद नहीं है, इसमें वास्तविकता भी है। यद्यपि वास्तविक ज्ञानी और ध्यानी (योगी) में कर्मफलकी कामना या वासना होना असम्भव ही है, तथापि इसमें संदेह नहीं कि यदि दैववश उनमें कामनाका उन्मेष हो जाय तो उनका भी पतन होगा और जीवन्मुक्ति या शान्ति बाधित होगी। शान्तिकी एकमात्र शर्त है—कुछ भी न चाहना। वस्तुतः चाह ही अशान्ति है। अतः निष्काम होना साधक और सिद्ध दोनोंहीके लिये परम हितकर है। एक प्रकार यह साधनका आरम्भ तथा अन्त भी है। इस प्रकार यह साधनाका प्राण है, अन्यथा निष्कामताके बिना तो साधन निर्जीव ही है।

कर्म और धर्मनीति

(लेखक—स्वामी श्रीकृष्णानन्दजी)

जिज्ञासुके हृदयमें प्रायः चार प्रश्न उभरा करते) विषमें ज्ञेय क्या है?, (२) मैं कौन हूँ, जीवका स्वरूप क्या है तथा मुझ जीवका सृष्टि-क्या सम्बन्ध है? (३) ज्ञेयकी प्राप्तिमें कौन-से हायक होते हैं तथा कौन-से कर्म प्रतिबन्ध) उत्पन्न करते हैं? और (४) इस लक्ष्यकी अन्ततः लाभ क्या होगा?

प्रश्नोंमेंसे पहले और दूसरे प्रश्नका सम्बन्ध मांसा एवं तत्त्वमीमांसा दर्शनोंसे है। तृतीय प्रश्नका धर्मशास्त्रविहित नीति और आचारसे है और प्रश्नका सम्बन्ध अनुभवजन्य ज्ञान या परिणामसे स लेखमें मुख्यतः तीसरे प्रश्नके विषयमें ही कुछ उपस्थित किये जाते हैं। मानव-जीवनके ध्येयकी जो कर्म सहायक होते हैं, उन्हें पुण्य कहते हैं, जो प्रतिबन्धक होते हैं, उन्हें पाप कहते हैं। के पाप और पुण्यका फल कर्मकी परिपाकावस्थामें ही भोगना पड़ता है। इस पुण्य-पाप या धर्मा-धर्मका मुख्य आधार है मनुष्यकी आन्तरिक भावना तथा गौण आधार है शारीरिक कर्म। पुण्य किसे कहते हैं तथा पाप क्या वस्तु है और इनसे क्या लाभ-हानि होती है? इन प्रश्नोंका निर्णय प्रमाणपूर्वक धर्मशास्त्र करते हैं। अतएव इनकी व्याख्या नैसर्गिक नियमोंके अनुसार धर्मनीतिके आधारपर ही होनी चाहिये। केवल तर्कके द्वारा ही धर्माधर्मका निर्णय करना ठीक नहीं होता।

सदाचार-दुराचारका सम्बन्ध जिस प्रकार व्यक्तिसे होता है, उसी प्रकार कुटुम्ब, भावी संतति, जाति-देश, समाज तथा समस्त विश्वके प्राणियोंके साथ भी होता है। अतएव व्यष्टि तथा समष्टि (समाज)—दोनोंके कर्तव्याकर्तव्यका विचार करना पड़ता है। इसी विचारमें पुण्यापुण्यकी कल्पनाका बीज निहित रहता है। इस विषयकी आलोचना युगारम्भसे अर्थात् ऋग्वेदके कालसे हो रही है। ऋग्वेदमें पुण्यके लिये ऋत (अन्तःसत्य), सत्य (वाचिक सत्य) तथा व्रत

रह गया है। घरपर जाकर जल्दी भोजन तैयार करो।' यह दुष्ट चाण्डालोंके अपमानजनक शब्दोंको सुन-सुनकर भी मुस्कराता था और कुछ भी दुःख न मानता था। इसके बाद उसने फिर उसी रात डाका डाला और बादमें पकड़े जानेपर उसके दोनों हाथ कटवा दिये गये।

इस न्यायप्रक्रियाके परिणामोंपर विचार करनेसे सहज ही समझा जा सकता है कि अधिक दण्ड किसे दिया गया। पाखण्डी पुरुषको भयानक शारीरिक दण्डसे जितनी आन्तरिक वेदना और लज्जा होती है, उससे अनेक गुना अधिक यन्त्रणा कीर्तिप्रिय राजा-महाराजा, पण्डित और कुलीन पुरुषको सामान्य वाग्दण्डसे ही हो जाती है। चारों ओर भटकनेवाले श्वानको चाहे जितनी ही ताड़ना क्यों न दी जाय, फिर भी बार-बार रोटीके टुकड़ेके लालचसे वह पास आ ही जाता है। परंतु राजसम्मानित हाथी जरा भी अपमान नहीं सह सकता। यही भेद मनुष्य और मनुष्यके बीच भी होता है। जिस प्रकार निषिद्ध कर्मोंके करनेसे विभिन्न प्रकृतिके पुरुषोंको अपने-अपने भावके अनुसार मानसिक व्यथा न्यूनाधिक होती है, उसी प्रकार शास्त्रविहित कर्मोंमें भी लक्ष्य-पद होनेसे विभिन्न पुरुषोंकी मानसिक उन्नति, आनन्द तथा व्यावहारिक लाभरूपी परिणामोंमें विभिन्नता होती है। यह बात निम्नलिखित उदाहरणके द्वारा स्पष्ट हो जाती है।

एक परोपकारी वैद्यने बुढ़ापेमें एक चिकित्सागृह बनवाया और वे निष्काम-भावसे अत्यन्त प्रेमपूर्वक रुग्ण पुरुषोंकी शुश्रूषा करने लगे। एक बार धनी आदमी-का एक पुत्र, जिसे गलित कुष्ठ हो गया था, उस चिकित्सागृहमें भरती हुआ। उसके माता-पिताने उसके पास रहनेके लिये अपने निजी वैद्यको भी नियुक्त कर दिया। वहाँ उसकी चिकित्सा तथा सेवा-शुश्रूषा होने लगी। उसकी धर्मपत्नी भी स्वेच्छासे उसकी सेवा करनेके लिये वहीं रहने लगी। माता-पिता भी बीच-बीचमें आकर उसे देख जाते थे। परंतु इन सब सेवा करनेवाले लोगोंके अन्तःकरणमें विभिन्न प्रकारके भाव काम करते थे। अस्पतालके मालिक विश्व-वात्सल्यके भावसे प्रेरित होकर प्राणिमात्रमें अपनी ही आत्माका दर्शन कर निःस्वार्थ-भावसे सेवा करते थे। गृह-वैद्य अपने स्वार्थ (धन-लोभ) के कारण सेवा करता था। धर्मपत्नी पति-सेवा-रूप स्वधर्मका पालन करनेके लिये सेवा करती थी और माता-पिता लोक-लज्जाके भयसे देखने आते थे।

इसी प्रकार भावनामें भेद होनेसे सबके फलोंमें भी विभिन्नता आ जाती है। निष्काम-भावनावाला पुरुष सबको नारायण मानकर सेवा करता है। चाहे धनी हो या निर्धन, सजातीय हो या विजातीय, ज्ञानी-अज्ञानी, शान्त-क्रोधी, शत्रु-मित्र, सुशील-दुःशील, स्त्री-पुरुष, छोटा-बड़ा—कोई भी हो, किसीके प्रति उसकी आन्तरिक भावनामें विभिन्नता नहीं आती है। अतएव आन्तरिक भावनाके अनुसार भगवान् उसे अन्तःकरणकी शुद्धि, सुदृढ़ मनोबल, बुद्धिका विकास, सङ्कल्पसिद्धि, दया, शान्ति, आनन्द तथा शुभ संस्कारोंकी प्राप्ति आदि फल प्रदान करते हैं।

सकाम पुरुष जहाँ स्वार्थकी सिद्धि नहीं होती, वहाँ सहायता या सेवाके लिये कदापि तत्पर नहीं होता और जहाँ केवल स्वार्थकी भावना होती है, वहाँ पूर्ण संतोष नहीं मिल सकता; क्योंकि प्रसन्नता अन्तःकरणके प्रेमसे उत्पन्न होती है। अतः उपर्युक्त दृष्टान्तमें गृह-वैद्यको केवल अर्थलाभ होता है, अन्तःकरणकी शुद्धि उसे नहीं प्राप्त होती। इसी प्रकार लोक-लज्जाके कारण सेवा करनेवालोंको पूर्ण संतोष नहीं मिल सकता। मनुष्य वाणीसे अपने भावोंको छिपा सकता है, परंतु हृदयसे भावको नहीं छिपा सकता। एक मनुष्यके हृदयमें दूसरेके

प्रति शुभाशुभ या राग-द्वेषरूप जब जैसा भाव उदय होता है, दूसरेके हृदयमें भी उसके प्रति तदनुरूप ही भाव उदित होते हैं। जैसे गौ आदि पशु मनुष्यके हार्दिक भावोंको जानकर उसके हाथमें हरित तृण आदि देखकर समीप आते हैं तथा उसके क्रोध या दुष्टभावको देखकर दूर भाग जाते हैं, उसी प्रकार सब जीवोंके हृदयमें अपने प्रति व्यवहार करनेवालोंके हृदयका भाव प्रतिबिम्बित हो जाता है।

उपर्युक्त दृष्टान्तमें वैसे माता-पिताको अपकीर्तिका अभावरूपी फल ही प्राप्त होता है। ऐसे स्वार्थलोलुप अथवा लोक-लज्जामात्रका आश्रय लेनेवाले पुरुषोंसे सर्वदा और सर्वथा समस्त दुःखी जीवोंके दुःख दूर करनेकी चेष्टा नहीं हो सकती। इसी प्रकार पति-सेवाकी दृष्टिसे परिचर्या करनेवाली धर्मपत्नीसे यद्यपि वह रोगी प्रसन्न रहता है, तथापि उसकी भावना एकदेशीय रहनेके कारण तथा भावनामें व्यापकता न होनेके कारण उससे भी असम्बन्धी एवं अपरिचित लोगोंकी सेवा नहीं हो सकती। भावनाके संकुचित होनेके कारण फल भी संकुचित एकदेशीय ही होता है। यही कारण है कि शास्त्रकारोंने कर्म करनेवालोंको सात्त्विक, राजस तथा तामस इन तीन विभागोंमें विभाजित किया है (गीता १८। २६-२८)। इसी प्रकार गीताके १७वें तथा १८वें अध्यायोंमें शारीरिक, वाचिक और मानसिक शुभाशुभ कर्तव्य—यज्ञ, दान, तप, धैर्य, श्रद्धा, आहार, सुख, ज्ञानादिमें त्रिविधता दिखलायी गयी है। सबका फलदाता एकमात्र भगवान् ही है।

यदि भूगोल या खगोलमें सर्वत्र प्रवर्तित सुदृढ़ नियमोंके अनुसार सृष्टि-व्यापारकी मीमांसा की जाय तो यह स्पष्ट हो जायगा कि कर्मविपाकमें ईश्वरका ही विशेष हाथ है। सूर्य-चन्द्र-पृथ्वी एवं समस्त तारागण अपनी-अपनी निश्चित सीमाके भीतर ईश्वरके आदेशानुसार परिभ्रमण करते रहते हैं। इसी प्रकार ब्रह्माण्डके अणु-परमाणुकी नैसर्गिक प्रक्रिया तथा जीवोंके समस्त कर्मोंमें प्रभुका शासन निहित है। अतएव शुभाशुभ कर्मोंके फलदाता प्रभु ही हैं। इन्हीं सब हेतुओंसे कर्मका सम्बन्ध धर्मशास्त्रोक्त धर्म-नीति और आचरणके साथ माना गया है।

कर्मयोग

श्रीभगवान् स्वयं उसी कर्मसे प्रसन्न होते हैं, जो प्रेम और उत्साहपूर्वक किया जाता है। जो मनुष्य प्रेमपूर्वक निरन्तर कर्ममें लगे रहते हैं, उनका कर्म ही उनके लिये परम कल्याणका द्वार खोल देता है। जनक-प्रभृतिने कर्मसे ही सिद्धि पायी—

'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।'

'मैं केवल वही कर्म करूँगा, जिसे मैं परम पिताकी साक्षीमें रखके अपना मुख उज्ज्वल कर सकता हूँ'—ऐसी धारणा मनुष्यको अपवित्रतासे हटाकर पवित्रताकी ओर, असत्यसे हटाकर सत्यकी ओर और मृत्युसे हटाकर अमृतकी ओर ले जाती है। अतः पुरानी वैदिक प्रार्थना है—

तमसो मा ज्योतिर्गमय, असतो मा सद्गमय, मृत्योर्माऽमृतं गमय।

चाहे कुछ हो, मैं निश्चय करता हूँ कि मैं कर्मयोग-द्वारा पवित्रता प्राप्त करूँगा—ऐसा पावन विचार करनेवाला सदैव भगवान्की रक्षामें सुरक्षित रहता है। वह अपने प्रेमास्पदके दर्शन नित्य प्रत्येक स्थानमें करता है। भगवान् हमसे ज्ञान नहीं चाहते, मान नहीं चाहते, धन-धान्य नहीं चाहते, वे केवल हमारा प्रेम चाहते हैं और हमें अपने कर्तव्यमें रत देखना चाहते हैं। हमारा धर्म्यकर्ममें ही स्वारस्य है, कर्त्तव्य ही उनकी

कर्मयोगका आदर्श

(१)

(स्वामी श्रीविवेकानन्दका कर्मयोगपर तात्त्विक विवेचन)

वेदान्तका सबसे उदात्त तत्त्व यह है कि हम एक ही लक्ष्यपर भिन्न-भिन्न मार्गोंसे पहुँच सकते हैं। मैंने इन्हें साधारणरूपसे चार भागोंमें विभाजित किया है और वे हैं—कर्ममार्ग, भक्तिमार्ग, योगमार्ग और ज्ञानमार्ग। परंतु साथ ही हमें यह भी स्मरण रखना चाहिये कि ये बिल्कुल पृथक्-पृथक् विभाग नहीं हैं। प्रत्येक एक दूसरेके अन्तर्गत हैं। किंतु प्राधान्यके अनुसार ही ये विभाग किये गये हैं। ऐसी बात नहीं कि तुम्हें कोई ऐसा व्यक्ति मिले, जिसमें कर्म करनेके अतिरिक्त दूसरी कोई शक्ति न हो, अथवा जिसमें केवल भक्ति या केवल ज्ञानके अतिरिक्त और कुछ न हो। ये विभाग केवल मनुष्यकी प्रधान प्रवृत्ति अथवा गुण-प्राधान्यके अनुसार किये गये हैं। हमने देखा है कि अन्तमें ये सब मार्ग एक ही लक्ष्यमें जाकर एक हो जाते हैं। सारे धर्म और सारी साधन-प्रणाली हमें उसी एक चरम लक्ष्यकी ओर ले जा रही है।

यह चरम लक्ष्य क्या है? मेरे मतानुसार वह है मुक्ति। एक छोटे-से परमाणुसे लेकर मनुष्यतक, अचेतन प्राणहीन जड वस्तुसे लेकर सर्वोच्च मानवात्मातक जो कुछ भी हम इस विश्वमें देखते हैं, अनुभव करते या श्रवण करते हैं, वे सब-के-सब मुक्तिकी ही चेष्टा कर रहे हैं। असलमें मुक्तिलाभके लिये इस संग्रामका ही फल है—यह जगत्। इस जगद्रूप मिश्रणमें प्रत्येक परमाणु दूसरे परमाणुओंसे पृथक् हो जानेकी चेष्टा कर रहा है, पर दूसरे उसे आबद्ध करके रखे हुए हैं। हमारी पृथ्वी सूर्यसे दूर भागनेकी चेष्टा कर रही है तथा चन्द्रमा पृथ्वीसे। प्रत्येक वस्तु अनन्त विस्तारोन्मुख है। इस जगत्में हम जो कुछ भी देखते हैं, उसका मूल प्रेरक मुक्ति-लाभके लिये य[त्न] संग्राम ही है। इसी प्रेरणासे साधु उपासना करता है और चोर चोरी। जब कार्यप्रणाली अनुचित होती है तो उसे हम बुरी कहते हैं और जब कार्यप्रणालीका प्रकाश उचित तथा उच्च होता है, तो उसे हम अच्छा या श्रेष्ठ कहते हैं। परंतु दोनों दशाओंमें प्रेरणा एक ही होती है और वह है मुक्ति-लाभके लिये चेष्टा। साधु अपनी बद्ध दशाको सोचकर कातर हो उठता है, वह उससे छुटकारा पानेकी इच्छा करता है और इसलिये ईश्वरोपासना करता है। इधर चोर भी सोचकर परेशान हो जाता है कि उसके पास अ[मुक] वस्तुएँ नहीं हैं। वह उस अभावसे छुटकारा पाने[की], मुक्त होनेकी, कामना करता है और इसलिये चो[री] करता है। चेतन अथवा अचेतन समस्त प्रकृति[का] लक्ष्य यह मुक्ति ही है। जाने या अनजाने सार[ा] जगत् इसी लक्ष्यकी ओर पहुँचनेका यत्न कर रह[ा] है। पर हाँ, यह अवश्य है कि मुक्तिके सम्बन्धमें एक साधुकी धारणा एक चोरकी धारणासे नितान्त भिन्न होती है, यद्यपि वे दोनों ही छुटकारा पानेकी प्रेरणासे कार्य कर रहे हैं। साधु मुक्तिके लिये प्रयत्न करके अनन्त अनिर्वचनीय आनन्दका अधिकारी हो जाता है, परंतु चोरके तो बन्धनपर बन्धन बढ़ते ही जाते हैं। (उसे दुःखसे मुक्तिकी जगह दुःखका अंबार प्राप्त होता रहता है।)

प्रत्येक धर्ममें मुक्ति-लाभकी इस प्रकार चेष्टाका निदर्शन पाया जाता है। यही सारी नीतिकी, सारी निःस्वार्थताकी नींव है। निःस्वार्थताका अर्थ है—मैं यह क्षुद्र शरीर हूँ, इस भावसे परे होना। जब हम किसी मनुष्यको कोई सत्कार्य करते, दूसरोंकी

चिन्तन करते देखते हैं, तो उसका तात्पर्य यह है कि वह व्यक्ति 'मैं और मेरे' के क्षुद्र वृत्तमें आबद्ध होकर नहीं रहना चाहता। इस स्वार्थपरताके वृत्तके बाहर वह कहाँतक जाया जा सकता है—इस प्रकारकी कोई निर्दिष्ट सीमा नहीं है। सारी श्रेष्ठ नीति-प्रणालियाँ यही शिक्षा देती हैं कि सम्पूर्ण स्वार्थत्याग ही चरम लक्ष्य है।

अनन्त विस्तारकी प्राप्ति ही वास्तवमें समस्त धार्मिक एवं नैतिक शिक्षाओंका लक्ष्य है। मान लो, व्यक्तित्ववादके अनुसार एक मनुष्य सम्पूर्णरूपसे अनासक्त हो गया तो हम उसमें तथा अन्य सम्प्रदायोंके पूर्ण सिद्ध व्यक्तियोंमें क्या भेद पाते हैं? वह तो विश्वके साथ एकरूप हो गया है और इस प्रकार एकरूप हो जाना ही तो सभी मनुष्योंका लक्ष्य है। केवल बेचारे व्यक्तित्ववादीमें इतना साहस नहीं कि वह अपनी युक्तियोंका, यथार्थ सिद्धान्तपर पहुँचनेतक अनुसरण कर सके। निःस्वार्थ कर्मद्वारा मानवजीवनकी चरमावस्था इस मुक्तिका लाभ कर लेना ही कर्मयोग है। अतएव हमारा प्रत्येक स्वार्थपूर्ण कार्य हमारे अपने इस लक्ष्यकी ओर पहुँचनेमें बाधक होता है तथा प्रत्येक निःस्वार्थ कर्म हमें उस चरम अवस्थाकी ओर आगे बढ़ाता है। इसीलिये 'नीतिसंगत' और 'नीतिविरुद्ध'-की यही एकमात्र व्याख्या हो सकती है कि जो स्वार्थपर है वह 'नीतिविरुद्ध' है और जो निःस्वार्थपर है वह 'नीतिसंगत' है।

परंतु यदि हम कुछ विशिष्ट कर्तव्योंकी मीमांसा करें तो इतनी सरल और सीधी व्याख्या दे देनेसे काम न चलेगा। जैसा मैं पहले ही कह चुका हूँ, विभिन्न परिस्थितियोंमें कर्तव्य भिन्न-भिन्न हो जाते हैं। जो कार्य एक अवस्थामें निःस्वार्थ होता है, हो सकता है, वही किसी दूसरी अवस्थामें बिल्कुल स्वार्थपरक हो जा सकता है। अतः कर्तव्यकी हम केवल एक साधारण व्याख्या ही दे सकते हैं; परंतु कार्य-विशेषोंकी कर्तव्यताकर्तव्यता पूर्णतया देश-काल-पात्रपर ही निर्भर रहेगी। एक देशमें एक प्रकारका आचरण नीतिसङ्गत माना जाता है; परंतु सम्भव है, वही किसी दूसरे देशमें अत्यन्त नीतिविरुद्ध माना जाय; क्योंकि भिन्न-भिन्न देशोंमें भिन्न-भिन्न परिस्थितियाँ होती हैं। समस्त प्रकृतिका अन्तिम ध्येय मुक्ति है और यह मुक्ति केवल पूर्ण निःस्वार्थताद्वारा ही प्राप्त की जा सकती है। प्रत्येक स्वार्थशून्य कार्य, प्रत्येक निःस्वार्थ विचार, प्रत्येक निःस्वार्थ वाक्य इसी ध्येयकी ओर ले जाता है और इसीलिये हम उसे नीतिसङ्गत कहते हैं। तुम देखोगे कि यह व्याख्या प्रत्येक धर्म एवं प्रत्येक नीतिप्रणालीमें लागू होती है। नीतितत्त्वके मूलके सम्बन्धमें भिन्न-भिन्न देशोंमें भिन्न-भिन्न धारणाएँ हो सकती हैं। कुछ दर्शनोंमें नीति-तत्त्वका मूल सम्बन्ध परमपुरुष परमात्मासे लगाते हैं। यदि तुम उन सम्प्रदायोंके किसी व्यक्तिसे पूछो कि हमें अमुक कार्य क्यों करना चाहिये अथवा अमुक क्यों नहीं तो वह उत्तर देगा कि 'ईश्वरकी ऐसी ही आज्ञा है।' उनके नीतितत्त्वका मूल चाहे जो हो, पर उसका सार असलमें यही है कि 'स्वयं'की चिन्ता न करो, 'अहं'का त्याग करो। परंतु फिर भी नीतितत्त्वके सम्बन्धमें इस प्रकारकी उच्च धारणा रहनेपर भी अनेक व्यक्ति अपने इस क्षुद्र व्यक्तित्वके त्याग करनेकी कल्पनासे सिहर उठते हैं। जो मनुष्य अपने इस क्षुद्र व्यक्तित्वसे जकड़ा रहना चाहता है, उससे हम पूछें,—'अच्छा, जरा ऐसे पुरुषकी ओर तो देखो, जो नितान्त निःस्वार्थ हो गया है, जिसकी अपने स्वयके लिये कोई चिन्ता नहीं है, जो अपने लिये कोई भी कार्य नहीं करता, जो अपने लिये एक शब्द भी नहीं कहता और फिर बताओ

अनोखा प्रभु-विश्वास और प्रभु-प्रीति

देवासुरसंग्राममें इन्द्रके साथ महायुद्ध करते हुए वृत्रासुरने कहा था—'देवराज! तुम मुझपर वज्रका प्रहार जारी रक्खो। मैं अपने मनको भगवान्‌के चरणोंमें विलीन किये देता हूँ। जो पुरुष भगवान्‌के हो गये हैं और उनके चरणोंके अनन्य प्रेमी हैं, उनको भगवान् स्वर्ग, पृथ्वी अथवा पातालकी सम्पत्ति नहीं देते; क्योंकि इनसे परम आनन्दकी प्राप्ति न होकर द्वेष, अभिमान, उद्वेग, मानस-पीड़ा, कलह, दुःख और परिश्रम ही हाथ लगते हैं। मुझपर भगवान्‌की अत्यन्त कृपा है, इसीसे वे मुझे उपर्युक्त सम्पत्तियाँ नहीं दे रहे हैं। प्रभुकी कृपाका तो अनुभव उनके अकिञ्चन भक्तोंको ही होता है। प्रभु अपने भक्तके अर्थ, धर्म और कामसम्बन्धी प्रयासोंको असफल करके ही उनपर कृपा करते हैं। मैं इसी कृपाका अधिकारी हूँ।' यों कहते-कहते वृत्रासुरने भगवान्‌से प्रार्थना की—'प्रभो! मेरा मन निरन्तर आपके मङ्गलमय गुणोंका ही स्मरण करता रहे। मेरी वाणी उन गुणोंका ही गान करे और शरीर आपकी सेवामें ही लगा रहे। सर्वसौभाग्यनिधे! मैं आपको छोड़कर स्वर्ग, ब्रह्मपद, भूमण्डलका साम्राज्य, पातालका … राज्य, योगकी सिद्धियाँ—यहाँतक कि अपुनर्भव (… भी नहीं चाहता। जैसे, जिनके पाँख नहीं … ऐसे माँपर निर्भर रहनेवाले पक्षियोंके बच्चे … माँकी बाट देखते रहते हैं, जैसे भूखे बछड़े … गैया मैयाका दूध पीनेके लिये आतुर रह… जैसे वियोगिनी पत्नी अपने प्रवासी प्रियतमसे … लिये नित्य उत्कण्ठित रहती है, वैसे ही कमल… मेरा मन आपके लिये छटपटा रहा है। मुझे मु… मिले, मेरे कर्म मुझे चाहे जहाँ ले जायँ, परंतु, ना… जहाँ-जहाँ जिस-जिस योनिमें जाऊँ वहाँ आपके … भक्तोंसे ही मेरी प्रीति-मैत्री रहे। जो लोग आ… मायासे देह-गेह और स्त्री-पुत्रादिमें आसक्त हैं, उ… साथ मेरा कभी किसी प्रकारका भी सम्बन्ध न हो…

वस्तुतः संसारकी कामनासे रहित प्रभुप्री… कामनारूपी निष्कामताके प्रतीक वृत्रासुरकी या… अद्भुत है। धन्य है प्रभु-विश्वास, प्रभु-प्रीति और … निष्कामभाव।

निष्काम कर्मकी कर्तव्यता

वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसङ्गोऽर्पितमीश्वरे।
नैष्कर्म्यां लभते सिद्धिं रोचनार्था फलश्रुतिः॥

'वेदोक्त कर्मोंकी वेदमें जो फलश्रुति कही गयी है, वह रोचनार्थ है; अर्थात्—इसीलिये है कि कर्ताको ये कर्म अच्छे लगें। अतएव इन कर्मोंको उस फल-प्राप्तिके लिये न करे, किंतु निःसङ्गबुद्धि अर्थात् फलकी आशा छोड़कर ईश्वरार्पण-बुद्धिसे करे। जो पुरुष ऐसा करता है, उसे नैष्कर्म्यसे प्राप्त होनेवाली सिद्धि मिलती है—(भागवत ११। ३। ४६,)। सारांश यह कि यद्यपि वेदोंमें कहा है कि अमुक-अमुक कारणोंके निमित्त यज्ञ करे, तथापि इसमें न भूलकर केवल इसीलिये यज्ञ करे कि वे यष्टव्य हैं, अर्थात् यज्ञ करना अपना कर्तव्य है, काम्यबुद्धिको तो छोड़ दे, पर यज्ञको न छोड़े (गी० १७। ११) और इसी प्रकार …से क्रिया करे—यही गीताके उपदेशका भी सार है।

एकमात्र कर्तव्य क्या है ?

पुण्डरीक नामके एक बड़े भगवद्भक्त गृहस्थ ब्राह्मण थे। साथ ही वे बड़े धर्मात्मा, सदाचारी, तपस्वी तथा ... निपुण थे। वे माता-पिताके सेवक, बड़े ... और विषय-भोगोंसे सर्वथा निःस्पृह थे। एक ... अधिक विरक्तिके कारण वे पवित्र रम्य वन्य तीर्थोंकी ...की अभिलाषासे निकल पड़े। वे केवल कन्द-मूल आदि खाकर गङ्गा, यमुना, गोमती, गण्डक, सरयू, ...-सरस्वती, नर्मदा, प्रयाग, गया तथा विन्ध्य एवं ...लके पवित्र तीर्थोंमें घूमते हुए शालग्रामक्षेत्र (...जके हरिहर-क्षेत्र) पहुँचे और वहाँ पहुँचकर ...की आराधनामें तल्लीन हो गये। वे विरक्त तो थे ...तएव इस तुच्छ क्षणभङ्गुर यौवन, रूप, आयुष्य ...से सर्वथा उपरत होकर सहज ही भगवद्ध्यानमें ... हो गये और संसारको सर्वथा भूल गये।

देवर्षि नारदजीको जब यह समाचार ज्ञात हुआ, उन्हें देखनेकी इच्छासे वे भी वहाँ पधारे। ...उन्होंने बिना पहचाने ही उनकी षोडशोपचारसे पूजा ...और तब फिर उनसे परिचय पूछा। जब नारदजीने अपना परिचय तथा वहाँ आनेका कारण बतलाया, पुण्डरीक हर्षसे गद्गद हो गये। वे बोले—मुने! आज मैं धन्य हो गया। मेरा जन्म सफल ...ना तथा मेरे पितर कृतार्थ हो गये। पर देवर्षे! ...एक संदेहमें पड़ा हूँ, उसे आप ही निवृत्त कर ...गे। कुछ लोग सत्यकी प्रशंसा करते हैं तो कुछ ...सदाचारकी। इसी प्रकार कोई सांख्यकी, कोई योगकी ...तो कोई ज्ञानकी महिमा गाते हैं। कोई क्षमा, दया, ...र्जव आदि गुणोंकी प्रशंसा करता दीख पड़ता है। ...से ही कोई दान, कोई वैराग्य, कोई यज्ञ, कोई ध्यान ...और कोई अन्यान्य कर्मकाण्डके अङ्गोंकी प्रशंसा ...करता है। ऐसी दशामें मेरा चित्त इस कर्तव्याकर्तव्यके निर्णयमें अत्यन्त विमोहको प्राप्त हो रहा है कि वस्तुतः अनुष्ठेय क्या है?'

इसपर नारदजी बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा—पुण्डरीक! वस्तुतः शास्त्रों तथा कर्म-धर्मके बाहुल्यके कारण ही विश्वका वैचित्र्य और वैलक्षण्य है। देश, काल, रुचि, वर्ण, आश्रम तथा प्राणिविशेषके भेदसे ऋषियोंने विभिन्न धर्मोंका विधान किया है। साधारण मनुष्यकी दृष्टि अनागत, अतीत, विप्रकृष्ट, (दूरस्थ) व्यवहित तथा अलक्षित वस्तुओंतक नहीं पहुँचती। अतः मोह दुर्वार है। इस प्रकारका संशय, जैसा तुम कह रहे हो, एक बार मुझे भी हुआ था। जब मैंने उसे ब्रह्माजीके सामने रखा, तब उन्होंने उसका बड़ा सुन्दर समाधान किया था। मैं उस बातको तुम्हें ज्यों-का-त्यों सुना देता हूँ।

ब्रह्माजीने मुझसे कहा था—नारद! भगवान् नारायण ही परम तत्त्व हैं। वे ही परम ज्ञान, परम ब्रह्म, परम ज्योति, परम आत्मा अथवा परसे भी परम परात्पर हैं। उनसे परे कुछ भी नहीं है।

नारायणः परं ब्रह्म तत्त्वं नारायणः परः।
नारायणः परं ज्योतिरात्मा नारायणः परः॥
परादपि परश्चासौ तस्मान्नास्ति परं मुने।
(नरसिंहपुराण १८ । ३३-३४)

'इस संसारमें जो कुछ भी देखा-सुना जाता है, उसके बाहर-भीतर, सर्वत्र नारायण ही व्याप्त हैं। जो नित्य-निरन्तर, सदा-सर्वदा भगवान् नारायणका ध्यान करता है, उसे यज्ञ, तप अथवा तीर्थयात्राकी क्या आवश्यकता है। बस, नारायण ही सर्वोत्तम ज्ञान, योग, सांख्य तथा धर्म हैं। जिस प्रकार कई बड़ी-बड़ी सड़कें किसी एक विशाल नगरमें प्रविष्ट होती हैं, अथवा कई बड़ी-बड़ी नदियाँ समुद्रमें प्रवेश कर जाती हैं,

उसी प्रकार सभी शास्त्रोंका पर्यवसान उन परमेश्वरमें होता है। मुनियोंने यथारुचि, यथामति उनके भिन्न भिन्न नाम-रूपोंकी व्याख्या की है। कुछ शास्त्र तथा ऋषि-गण उन्हें विज्ञानमात्र बतलाते हैं, कुछ परब्रह्म परमात्मा कहते हैं, कोई सनातन जीव कहता है, कोई केवल कहता तो कोई षड्विंशक तत्त्वरूप बतलाता है। कोई अङ्गुष्ठमात्र कहता है तो कोई पद्मजकी उपमा देता है। नारद ! यदि शास्त्र एक ही होता तो ज्ञान भी निःसंशय तथा अनाविद्ध (अविच्छिन्न) होता, किंतु शास्त्र बहुत हैं, अतएव विशुद्ध, संशयरहित ज्ञान सर्वथा दुर्घट है। फिर भी जिन मेधावी महानुभावोंने दीर्घ अध्यवसायपूर्वक सभी शास्त्रोंका पठन, मनन तथा समन्वयात्मक ढंगसे विचार किया है, वे सदा इसी निष्कर्षपर पहुँचे हैं कि सदा-सर्वत्र, नित्य-निरन्तर सर्वात्मना एकमात्र नारायणका ही ध्यान करना सर्वोपरि परमात्म कर्तव्य है—

आलोड्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः।
इदमेकं सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणः सदा* ॥
(६४ । ७८)

वेद, रामायण, महाभारत तथा सभी पुराणोंके आदि, मध्य एवं अन्तमें एकमात्र उन्हीं प्रभुका यशोगान है—

वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा।
आदौ मध्ये तथा चान्ते हरिः सर्वत्र गीयते ॥
(महाभारत० भा० सा०)

अतएव शीघ्र कल्याणकी इच्छा रखनेवालेको व्यामोहक जगज्जालसे सर्वथा बचकर सर्वदा निरालस्य होकर प्रयत्नपूर्वक अनन्यभावसे उन परमात्मा नारायणका ही ध्यान करना चाहिये।

पुण्डरीक ! इस प्रकार शास्त्रोंने जब मेरा अज्ञान दूर कर दिया, तब मैं सर्वथा नारायणपरायण हो गया। शास्त्रोंमें भगवान् वासुदेवका महात्म्य अ[...] कोई दुराचारी, दुरात्मा, पापी ही क्यों न हो, नारायणका आश्रय लेनेसे वह भी मुक्त हो जा[...] यदि हजारों जन्मोंके साधनसे भी 'मैं दे[...] वासुदेवका दास हूँ'—ऐसी निश्चित बुद्धि उत्पन्न[...] तो उसका काम बन गया और उसे विष्णुसा[...] प्राप्ति हो जाती है—

जन्मान्तरसहस्रेषु यस्य स्याद् बुद्धिरीदृ[...]
दासोऽहं वासुदेवस्य देवदेवस्य शार्ङ्गि[...]
प्रयाति विष्णुसालोक्यं पुरुषो नात्र संश[...]
(६४-[...]

'भगवान् विष्णुकी आराधनासे अम्बरीष, प्र[...] राजर्षि भरत, ध्रुव, मित्रासन तथा अन्य अगणित ब्र[...] ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासी तथा वैष्ण[...] परम सिद्धिको प्राप्त हुए हैं। अतः तुम भी निःस[...] होकर उनकी ही आराधना करो।'

इतना कहकर देवर्षि अन्तर्हित हो गये और [...] पुण्डरीक अपने हृत्पुण्डरीकके मध्यमें गोविन्दको प्रतिष्ठित[...] भगवद्ध्यानमें परायण हो गये। उनके सारे कल्[...] समाप्त हो गये और उन्हें तत्काल ही वैष्णवी सिद्धि प्रा[...] हो गयी। उनके सामने सिंह-व्याघ्रादि हिंस्र जन्तुओंक[...] भी क्रूरता नष्ट हो गयी। पुण्डरीककी दृढ़ भक्ति-निष्ठाको देखकर पुण्डरीकनेत्र श्रीनिवास भगवान् शीघ्र ही द्रवीभूत हुए और उनके सामने प्रकट हो गये। उन्होंने पुण्डरीकसे वर माँगनेका दृढ़ आग्रह किया; पर निष्काम भक्त आत्मकल्याणको छोड़कर कुछ भी नहीं चाहता। अतः पुण्डरीकने प्रभुसे गद्गद्स्वरसे यही माँगा कि

---

* यह श्लोक नरसिंहपुराण १८। ३४ तथा ६४। ७८, लिङ्गपुराण, उत्तरार्ध अध्याय ७, श्लोक—११; गरुड़पुराण, पूर्वखण्ड, अध्याय २२२, श्लोक १ (जीवानन्द विद्यासागर संस्करण, वेङ्कटेश्वर प्रेससे प्रकाशित पुस्तकमें यह २३०वाँ अध्याय है) तथा पद्मपुराण, उत्तरखण्ड, अध्याय ८१, श्लोक २६ आदि स्थानोंपर कई जगह उपलब्ध होता है,

नाथ! जिससे मेरा कल्याण हो, आप मुझे वही दें। मुझ बुद्धिहीनमें इतनी योग्यता कहाँ, जो आत्महितका निर्णय कर सकूँ।'

भगवान् उनके इस उत्तरसे बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने पुण्डरीकको अपना पार्षद बनाकर प्रह्लादादिके साथ रख लिया। इसीप्रकार ये चतुर्दश महाभागवतोंमें हैं। उनके नाम लेनेसे बड़ा पुण्य होता है। चतुर्दश परमभागवत ये हैं—

प्रह्लादनारदपराशरपुण्डरीक-
व्यासाम्बरीषशुकशौनकभीष्मदाल्भ्यान्।
रुक्माङ्गदार्जुनवसिष्ठविभीषणादीन्
पुण्यानिमान् परमभागवतान् स्मरामि॥

अतः निष्काम होकर केवल आत्मकल्याणकी साधना करनी चाहिये। पुण्डरीकने भक्तिका पल्ला पकड़ा और सांसारिक इच्छाओंकी तिलाञ्जलि देकर प्रभु-प्रीति-रूप आत्मकल्याण माँगा। उन्हें मुहमाँगा वर मिल गया। इससे पुण्डरीक साक्षात् श्रीभगवान्के पार्षद हो गये। अतः निष्कामभावसे प्रभुप्रीतिके लिये उद्योगरूपी कर्मयोगमें जुट जाना ही मानव-लक्ष्यकी प्राप्तिका सुगम साधन है।
(पद्मपुराण, उत्तरखण्ड, अ०८१, नरसिंहपुराण अ०६४)

कर्मयोगके परम आदर्श तथा प्रतिष्ठापक

मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीराम

(लेखिका—श्रीमती शशिप्रभा, एम्० ए०, एम्० एड्०)

श्रीरामने अवतरित होकर आदर्श स्थापित किया अतः वे मर्यादा-पुरुषोत्तम थे। उनका जन्म त्रेतायुगके सर्वश्रेष्ठ चक्रवर्ती सम्राट् महाराज दशरथजीके यहाँ हुआ था। राष्ट्रकी शासन-सत्ता राजामें केन्द्रीभूत होती है। राजाके आचरणोंका प्रभाव जन-मानसपर भी अवश्य पड़ता है—'यथा राजा तथा प्रजाः' (योगवा० ५)—की प्रसिद्धि है ही। गीता (३। २१) भी कहती है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

नेता अथवा प्रशासकजन श्रेष्ठ पुरुषोंकी श्रेणीमें परिगणित होते हैं। श्रेष्ठ पुरुष जिस प्रकार जो भी कर्म करते हैं, साधारणजन उन्हें प्रमाणित या अनुकरणीय समझ लेते हैं, तथा उसका अनुसरण भी करने लग जाते हैं। अतएव उच्च पदपर आसीन प्रशासकका यह पुनीत कर्तव्य होता है कि वह समाजके श्रेयोऽर्थ श्रेष्ठ कार्य करे, कर्मठ बनकर सत्पथपर अग्रसर हो। वह त्यागी एवं कर्मयोगी बनकर [illegible] सेवा करता रहे। कहा है—'शास्ताभिगोप्ता नृपतिः प्रजानां स किंकरो वै न पिनष्टि पिष्टम्॥' (५। १०। २२) पालकका अभिगोप्ता अर्थ स्पष्ट है। इस प्रकार लोककल्याणमें ही उसका अपना कल्याण दीखता है।

राजाके त्यागपूर्ण एवं परोपकारी जीवनसे धीरे-धीरे उसे उज्ज्वल यश भी उपलब्ध हो जाता है और कुछ समयके पश्चात् उसका सुयश समाजमें सत्कर्म करनेकी प्रेरणा देने लगता है। राज्यसंचालकका नाम उससे भी कहीं बढ़कर प्रभावोत्पादक हो जाता है।

सामान्यतः कहा जाता है कि नेता या प्रशासकका प्रताप राज्यमें न्याय, नीति और मान-मर्यादाकी सुरक्षा करता है। और, दण्डकी अपेक्षा कहीं अधिक प्रभावशाली राजाका धर्म एवं प्रतापका होता है। रामराज्यके सफल प्रणेता एवं संचालक रामका यशोगान युग-युगान्तरतक होता ही रहेगा। राम एक निरङ्कुश शासक नहीं, अपितु कर्मोपासक, तपोमूर्ति, त्यागमूर्ति और प्रजाके सच्चे हितैषी हैं। रामके प्रशासनका अर्थ प्रजाजनोंकी

सेवा एवं सुख-सुविधाओंका एकमात्र ध्यान रखना है। श्रीरामकी दिनचर्या एवं कर्मका आधार परोपकार है, सेवा है, तपस्या है। कर्मयोगके आदर्श प्रतिष्ठापक रामका स्वरूप है कल्याणकारी एवं रक्षक राम, जनत्राता राम, जनसेवक राम, आर्तजनकी पीड़ा हरनेवाले दीनबन्धु राम। 'रामकी जय'का अर्थ है, प्रजाकी जय, पुण्यकी जय, सत्कर्मकी जय, न्यायकी जय और सत्यकी जय। श्रीराम अपने श्रेष्ठतम चरित्र, कर्मयोगोचित त्याग एवं तपस्यासे परिपूर्ण जीवनके द्वारा पवित्रता, त्याग एवं तपके अमर प्रतीक बन गये हैं।

राज्यके उत्तराधिकारी राम अपने अधिकारके लिये सङ्घर्ष तो क्या; कोई सामान्य प्रयासतक नहीं करते; अपितु, माता-पिताकी आज्ञा मानकर वे वन-वनमें भटकते हुए अपने कर्तव्यका पालन करते हैं। एक तरुण प्रशासक जिसका राज्याभिषेक होनेवाला है, समस्त वैभव एवं सत्ताके प्रलोभनसे ऊपर उठकर कानन-निवासको सहर्ष अङ्गीकृत कर लेता है और एक पथिक (यात्री) की भाँति राज्य छोड़कर वनवासी उदासी बन जाते हैं।

> राजीवलोचन राम चले तजि
> बाप को राज बटाउ की नाईं॥
> (कवितावली, अयोध्याकाण्ड)

पर वे अपने कर्तव्यपर सदा अटल रहते हैं। सीताकी प्रसन्नताके लिये राम अपनी कोई इच्छा न होते हुए भी स्वर्णमृगको मारनेके लिये उसका पीछा करते हैं। परिणामस्वरूप वनमें उन्हें भीषण कष्ट एवं वियोगका सामना करना पड़ता है। अपनी कठिनाइयोंके बावजूद भी वानर-सेना लेकर समुद्रपर सेतु बाँधते हैं और अपने अमोघ बल-पौरुषके द्वारा रावणका विनाश कर देते हैं। विजय तो तपस्यापूर्ण सत्यव्रतकी होती है और समस्त भौतिक शक्तियोंका समुच्चय भी व्यर्थ हो जाता है। रामकी विजय सत्यकी विजय है, धर्म-[illegible]की विजय है। राम तो सत्यके प्रतीक हैं। सत्यमेव जयते सत्यकी जीत होती है, असत्यकी नहीं।

श्रीरामके जीवनमें अतिशय सङ्घर्ष है, कि स्वार्थसिद्धिके लिये नहीं है; अपितु परोपकारके है, कर्तव्यपालनके लिये है। रामका व्यक्तित्व एवं विश्वके समस्त वाङ्मयमें अप्रतिम है। ऐसे प्रेरण चरित्रका दर्शन अन्यत्र नहीं मिलता। राम समस्त स खरे उतरते हैं। सङ्घर्षसे उनके व्यक्तित्वमें बल एवं आते हैं। कहीं भी किंचित् निर्बलता महसूस नहीं हो रामकी चारित्रिक उपलब्धि एवं उत्कृष्टता यह है रामके लिये संघर्ष कोई संघर्ष नहीं। राम परिस्थिति अनुसार सहजभावसे तथा प्रसन्नतापूर्वक कर्म कर हैं, अपने सम्पूर्ण जीवन-कालमें कर्मसे पीछे नहीं हटे।

रामका शौर्य सात्त्विक एवं सहज है। राम धर्म-कर्मके विग्रहवान् मूर्ति हैं। रामकी कर्म-उपासना एवं रामके गुणोंकी परिचर्या मानवमात्रके लिये युग-युगान्तरक प्रेरणाका स्रोत बनी रहेगी। श्रीराम ईश्वरत्वका उपयोग कहीं नहीं करते। अन्यथा जब शुक-सारण उनकी सेनाके भीतर घुस जाते हैं तो वे अपनी ईश्वरताके बलपर बता देते कि देखो दो गुप्तचर अपनी सेनामें आ गये हैं, पर वे ऐसा नहीं करते। उन्हें अपने अतुलनीय बल और कर्मपर दृढ़ विश्वास है कि मेरी प्रत्येक स्थानपर विजय होगी। सीता-हरणके बाद भी वे अपने ईश्वरत्वका प्रयोग नहीं करते तथा मानवमात्रके समक्ष उन्हीं भावनाओंका और क्रिया-कलापोंका प्रदर्शन करते हैं, जो कि एक मानवको करना चाहिये। उनकी ऋक्ष-वानर-सेनाने भी नहीं कहा कि भगवन्! आप तो अन्तर्यामी हैं, सब कुछ समझ सकते हैं कि माँ कहाँ हो सकती है, फिर मुझे अकारण परेशान क्यों किया जा रहा है। राम यही ही सूझ-बूझ और विवेकसे काम लेते हैं तथा एक कर्मठ व्यक्तिकी तरह कर्मक्षेत्रमें आकर और मर्यादित होकर मानवीय कर्म करते हैं।

रामका समग्र जीवन कठोर संघर्ष, कष्टप्रद तथा दुःख दैन्यपूर्ण स्थिति सहन करनेकी अद्भुत

म अपने सम्पूर्ण जीवनकालमें कर्तव्यको
मते हैं तथा मानवमात्रके हृदय-पटलपर
। छाप छोड़ जाते हैं, मानो यही कर्म
मको प्रेरणा दे रहे हैं कि रामकी भाँति
पा कर्ममें दृढ़ निष्ठावान् बनकर सदैव
अग्रसर बने रहिये।

व, सर्वत्र, कर्मकी ओर तो अग्रसर
कहीं भी अधिकारोंकी माँग नहीं करते।
ी रामके लिये कर्तव्य ही पुनीत मार्ग
ही लक्ष्य है। कर्मयोगी श्रीरामने लोक-
ी-से-बड़ी मुसीबतोंका सामना असीम
बल तथा साहससे किया। रामचरितमानसमें—'निसिचर-
हीन करउँ महि' की दृढ़ प्रतिज्ञा उनके असीम बल-
पौरुषका प्रतीक है तथा मानवमात्रको कर्म करनेकी सीख
देती है। सचमुच रामका जीवन त्याग, तपस्या और जन-
सेवाकी होमाग्नि है। वे अपने समस्त सुखोंकी आत्माहुति
देकर तथा दूसरोंको प्रकाश देकर पथ प्रदर्शित करते
हैं। मोमबत्ती अपनी देह फूँककर ही अन्धकारको चीरती
है, तथा भटके हुए लोगोंकी राह प्रशस्त करती है।
इसी प्रकार रामके जीवनने अनेकका सत्-मार्ग प्रशस्त
किया और अनेकानेक कर्मयोगी बने तथा भविष्यमें
भी बनते रहेंगे। त्याग एवं जनसेवा ही उनके जीवनका
प्रमुख अङ्ग बन गया।

कर्मयोगके कतिपय आदर्श प्रतिष्ठापक

'मानस'में कर्मयोगी भरतके चरित्रकी विलक्षणता

(लेखक—श्रीरमानन्दजी दुबे, साहित्याचार्य)

मके अभिषेककी घोषणासे होनेवाला हर्ष—
'...रेक सुहावा। आज गहागह अवध बधावा॥'
...गमनसे सम्बद्ध जन-मनका विषाद—
...भयउ विषादू। सुनि न जाइ पुर आरत नादू॥'
भावोंका समीकरणकर एक अलौकिक
पर्यवसित करनेकी जो क्षमता भरत-
अन्यत्र कहाँ!

...मंदर बिरह भरतु पयोधि गँभीर।
...सुर साधु हित कृपासिंधु रघुबीर॥'

ो यह विलक्षणता मानव-हृदयके लिये
कि वह रामचरितमानसमें उसे प्रिय
लिये आधार बन जाती है। सुख-दुःख
भावोंका समीकरण और एक लोकोत्तर
—भारतीय साहित्यकी यह विशेषता
है कि यही विश्वके अन्य साहित्योंके
ी मौलिकता सिद्ध करनेके लिये पर्याप्त
ाकवि गोस्वामी तुलसीदासने भारतीयता-
चित्र किया है।

आज विश्व-बन्धुत्वका नारा तीव्र किया गया है; ऐसे
समयमें भ्रातृभावके आदर्शको समझने और अपनानेकी
आवश्यकता अत्यधिक है। प्राचीन शासन-प्रणालियोंमें
जहाँ सही पितृ-भाव रखकर राज-काज करनेकी परम्परा
थी, आधुनिक राज्य-व्यवस्थाओंमें सही भ्रातृ-भावनाके
अनुसार कार्य करना अति वाञ्छनीय है। इस भावनाका
जितना उदात्त आदर्श रामसाहित्यमें भरत-चरितके प्रसंगमें
प्राप्त होता है, उतना अन्यत्र नहीं। वनमें नित्य साथ
रहनेवाले भाई लक्ष्मणसे श्रीराम कहते हैं—

'लखन तुम्हार सपथ पितु आना। सुचि सुबंधु नहिं भरत समाना॥'

सामाजिक जीवनमें भरतके त्यागका महत्त्व अतुलनीय
है। मनुष्य एक नागरिकके रूपमें अपने देश, अपने
समाजके लिये अपने निजी स्वार्थका एक सीमातक त्याग
करता है। त्यागसे मानवका मानवरूप निखरता है और
सामाजिकताकी प्रगति होती है। सामाजिकताका मूल
स्वरूप इस त्यागपर आधारित है। बिना इस त्यागको समझे
और ग्रहण किये वास्तविक सामाजिकता नहीं आ सकती।

इस स्थलपर भी हम भरतजीके त्यागके महत्त्वका अनुभव करते हैं। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने स्वयं इस बातपर मुहर लगायी है—

'कहउँ सुभाउ सत्य सिव साखी। भरत भूमि रह राउरि राखी॥'

भरतजी निष्काम और अनासक्त थे, अतः उन्होंने इन्द्र-कुबेर आदि लोकपालोंके लिये भी अत्यन्त दुर्लभ महान् सुखप्रद साम्राज्यसे मुख मोड़ लिया। अध्यात्म-रामायणका साक्ष्य है—

अभिषेको भवत्वद्य मुनिभिर्मन्त्रपूर्वकम्।
तच्छ्रुत्वा भरतोऽप्याह मम राज्येन किं मुने॥

'मुनिजनोंद्वारा मन्त्रोच्चारपूर्वक आज तुम्हारा अभिषेक होना चाहिये'—वसिष्ठ मुनिसे यह सुनकर भरतजी बोले—'हे मुनिनाथ! राज्यसे मेरा क्या प्रयोजन है?' त्यागका यह कितना उज्ज्वल उदात्त निदर्शन है। भरतजी निष्कपट भक्तिभावके अधीन होकर प्रिय भाई श्रीरामके लिये चित्रकूट पर्वतपर पैदल गये। इस महान् त्यागके साथ प्रेमका अनुपम आदर्श है।

लक्ष्मणने भरतको प्रणाम करते देखा और श्रीरामसे निवेदन किया। सुनते ही श्रीराम प्रेममें अधीर होकर उठे। कहीं वस्त्र गिरा, कहीं तरकस; कहीं धनुष और कहीं बाण। भरत और श्रीरामके मिलनेकी रीतिको देखकर सबको अपनी सुधि भूल गयी। उनके मिलनकी प्रीति वर्णनातीत है। दोनों भाई मन, बुद्धि, चित्त और अहंकारको भुलाकर परम प्रेमसे पूर्ण हो रहे हैं। गोस्वामीजी कहते हैं—

मिलनि प्रीति किमि जाइ बखानी।
कबिकुल अगम करम मन बानी॥
परम प्रेम पूरन दोउ भाई।
मन बुधि चित अहमिति बिसराई॥

ऐसी तन्मयता और कहाँ मिल सकती है। [illegible] यह स्थल भी भरतजीके [illegible]। वे [illegible] [illegible]। [illegible] भरतसे पूछा—

केहि बिधि अवध चलहिं रघुराई।
कहहु समुझि सोइ करिअ उपाई॥

महर्षिका प्रश्न विचारणीय है। अतः भ[illegible] कहा—'मैं जन्मभर वनमें वास करूँगा, मेरे लिये बढ़कर और कोई सुख नहीं है'—

कानन करउँ जनम भरि बासू।
एहि तें अधिक न मोर सुपासू॥

सुतरां समस्या सुलझ जाती है। परंतु श्री[illegible] अध्यात्मरामायणधृत यह वचन भी सुना कि—

धृतो राजा हि कैकेय्या मया तद्वचनं कृतम्[illegible]
अनृतान्मोचयानेन पितरं तं महीपतिम्[illegible]

'कैकेयीने राजासे वर माँगा, मैंने उनकी आज्ञा स्वीकार कर लिया। इसलिये भाई भरत! अब मेरा कहना मानकर उन पृथ्वीपति राजा[illegible] पिताजीको असत्यके बन्धनसे मुक्त करो।' भरतजी[illegible] देखा कि पूर्वोक्त त्यागमें इस स्वार्थका संस्[illegible] शेष है कि मैं भाईका हक लेनेकी अपराधि[illegible] बचूँ। विचारनेपर ऐसा त्याग तो अन्ततः अ[illegible] अहंकार-प्रेरित स्वार्थके लिये ही हुआ। अतः [illegible] त्यागकी पूर्ण उपलब्धि हो जानेके बाद उन्होंने [illegible] त्यागके अन्तस्तलमें स्थित स्वार्थका त्याग किया अर्थात् इस त्यागके त्यागस्वरूप भी त्याग कर त्यागकी वास्तविक परिपूर्णता स्थापित कर दी; 'येन त्यजसि तत् त्यज' का कैसा उदाहरण है। श्रीरामचन्द्रजी तैयार हो गये भरतका कहना करनेके लिये—

'मन प्रसन्न करि सकुच तजि कहहु करौं सोइ आजु॥'

उस त्यागकी पराकाष्ठापर पहुँचकर भरतजी कह उठते हैं—

जो सेवकु साहिबहि सँकोची।
निज हित चहइ तासु मति पोची॥
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]।
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]॥

भरतने श्रीरामचन्द्रजीसे अयोध्या लौटनेका आग्रह
[illegible] दिया। अध्यात्मरामायणके शब्द-चित्रमें भरतजी
[illegible]—

[illegible]दुके देहि राजेन्द्र राज्याय तव पूजिते।
[illegible]योः सेवां करोम्येव यावदागमनं तव॥

'हे राजेन्द्र! आप मुझे राज्यशासनके लिये अपनी
[illegible]ल्य चरणपादुकाएँ दीजिये। जबतक आप
[illegible]गे, तबतक मैं उन्हींकी सेवा करूँगा।' भरतजी
[illegible]मचन्द्रजीकी पादुकारूपी राजाके मन्त्री बनकर
[illegible]का पालन करते रहे।

'पृथ्वीके जितने राज्यकार्य होते, उन सबको रघुश्रेष्ठ
[illegible]जी पादुकाओंके सम्मुख निवेदन कर दिया
[illegible] थे। इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजीके आगमनकी
[illegible]क्षामें अवधिके दिन गिनते हुए वे राममें ही मन
[illegible]कर साक्षात् ब्रह्मर्षिके समान रहने लगे—अनासक्त
[illegible]से प्रभुसमर्पित कर्म करते रहे।'

समाजके लिये वे सब लोग उपयोगी सदस्य हैं, जो
[illegible]को सद्गुण-सम्पन्न बनानेमें लगे रहते हैं। किंतु
[illegible] आगे वे हैं, जो अपनेको सद्गुणी बनानेके साथ
[illegible]को भी सद्गुणसम्पन्न करते चलते हैं। जो
[illegible]ल्य साद्गुण्य जीवनरत्न होते हैं, उन्हें हीरा कहें
[illegible]ी उनके पूर्ण महत्त्व नहीं प्रकट होते। किंतु उन्हीं
[illegible]गुणोंके कारण भरतका स्मरणकर दूसरे लोग
[illegible] होते हैं। भरत पुण्यश्लोक हैं; क्योंकि वे निष्काम
[illegible]राशि हैं। अपने स्वार्थकी बलि देकर परमार्थ-साधन
निष्कामताकी कसौटी होती है। इस कसौटीपर भरत
[illegible] उतर रहे हैं।

समाजमें दो प्रकारके व्यक्ति होते हैं—
[illegible]त्तिमार्गी एवं निवृत्तिमार्गी। भेद प्रस्थानमात्रका है।
[illegible]ों श्रेयस्के भागी हैं। भरत 'नानवाप्तमवाप्तव्यं
[illegible] एव च कर्मणि' (गीता ३। २२) के बहुत
निकट होते हुए कर्मयोगी हैं; इसीसे भरतके चरित्रसे
हमें दोनों मार्गवालोंके लिये एक ही स्थानपर संकेत
मिल जाता है। नारद, सनकादिक निवृत्तिमार्गके
उदाहरण हैं। प्रह्लाद एवं अम्बरीष आदि प्रवृत्तिमार्गके
आदरणीय उदाहरण हैं।

भरतजीका यशरूपी चन्द्र दोनोंके लिये मार्गप्रदर्शक
है। तभी तो भरद्वाज मुनि भरतजीसे कहते हैं—

नव बिधु बिमल तात जसु तोरा। रघुबर किंकर कुमुद चकोरा॥

'तात! आपका यश नवीन निर्मल चन्द्ररूप है और
रघुनाथके भक्त उसके लिये कुमुद और चकोररूप हैं।'
कुमुद निवृत्तिमार्गी भक्तोंका प्रतिनिधित्व करता है
और चकोर प्रवृत्तिमार्गी भक्तोंका। निवृत्तिमार्गी भक्तोंका
प्रतिनिधि कुमुदका जीवन जलपर निर्भर होते हुए भी
जलसे निर्लिप्त अनासक्त रहता है, एकमात्र चन्द्रकी ओर
आसक्त रहकर उसके दर्शनसे प्रफुल्लित होता है; इसी
प्रकार विरक्त पुरुषोंकी शरीररक्षा संसारसे होती है, किंतु
वे निर्लिप्त रहकर भगवान्‌के अनन्य प्रेममें आसक्त रहते
हैं। भगवत्प्रेमासक्ति कामीकी आसक्तिकी सीमामें नहीं
आती। श्रीमद्भगवद्गीतामें जलमें रहकर जलसे अलग
रहनेवाले कमल-पत्रके समान संसारमें रहनेकी प्रक्रिया
बतलायी गयी है—'पद्मपत्रमिवाम्भसा।'

प्रवृत्तिमार्गका प्रतिनिधि चकोर दाम्पत्य-जीवनमें
रहते हुए भी चन्द्रमें ही निश्चल प्रेम रखता है। इसी
प्रकार प्रवृत्तिमार्गी पुरुष गृहधर्मोंसे सम्बन्ध रखते हुए भी
भगवत्प्रेममें अचल एवं दृढ़ रहकर जीवन व्यतीत करते
हैं। इस प्रकार भरतजीका त्यागपूर्ण जीवन संसारके
किसी एक वर्गके लिये नहीं, अपितु समस्त वर्गोंके लिये
आदर्श है। तभी तो तुलसीदासजी कहते हैं—

होत न भूतल भाउ भरत को। अचर सचर चर अचर करत को॥

तीसरी बात समाजमें गुणी बनकर रहनेका महत्त्व
है, किंतु अपने सद्गुणोंका अहंकार छोड़ना उससे भी

महत्त्वपूर्ण है; अन्यथा सद्गुण फिर कभी दुर्गुणमें बदल जाते हैं। इसकी साधनाकी बात लें। हमें समाज अपना प्रतीत हो, यह बात साधनाके योग्य है; किंतु इससे बढ़कर साधनाके योग्य बात यह है कि हम समाजके बनकर रह जायँ। 'समाज हमारा' यह पहली साधना हुई 'हम समाजके लिये' यह अन्तिम साधना हुई। भरतका त्याग हमें शुरूसे लेकर इस अन्तिम स्थलतक पहुँचाता है। भरतजीके त्यागकी कीर्तिमें सुधा है और यह वसुधाको सुलभ होती है। लोक-संग्रहकी कैसी सिद्धि है—

रामभगत अब अमिअँ अघाहू। कीन्हेहु सुलभ सुधा बसुधाहू॥

यह 'समाज हमारा' की उक्ति सिद्ध हुई। पर बात यहीं नहीं रुकती, भरतजीके त्यागके यशमें 'हम समाज के' यह भी अनुभव करना है। इसीलिये यह कहा है—

कीरति बिधु तुम्ह कीन्हि अनूपा। तहँ बस राम पेम मृगरूपा॥

भरतजीने जो यशश्चन्द्र प्रकट किया उसमें श्रीरामचन्द्रजीद्वारा किया गया प्रेम मृगरूपमें जा बसा। श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है—

'ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥'

श्रीरामचन्द्रजी स्वयं भरतजीको भजते हैं—

जग जपु राम राम जपु जेही।

यह प्रपत्तिका रहस्य है। प्रपत्तिके सहायक भाव हैं—

(१) आनुकूल्यस्य संकल्पः—अनुकूल बनानेका संकल्प।

(२) प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्—प्रतिकूलताका अभाव।

(३) रक्षिष्यतीति विश्वासः—रक्षा-प्राप्तिमें विश्वास।

(४) गोप्तृत्ववरणं तथा—रक्षकके रूपमें 'विराट्'-का वरण करना।

(५) आत्मनिक्षेपकार्पण्ये—'विराट्'के प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण और—

(६) दैन्य-मर्यादा।

(अहिर्बुध्न्यसंहिता)

ये भगवदर्थ कार्य-सम्पादनार्थ—

'सिंहासन प्रभु-पादुका बैठारे निरुपाधि।'

भरतजीने सिंहासनपर प्रभु श्रीरामकी पादुकाओंको रख दिया और उनसे आज्ञा ले-लेकर कार्य करने लगे। भगवदर्थ राजकार्य संचालित होने लग गया। भरतजी अपना सब कुछ और अपनेको भी त्रिकाल श्रीरामकी सेवामें अर्पित कर देते हैं, उनपर अपना कोई स्वत्व नहीं मानते। फिर उनके पदकी पादुकाकी आज्ञा समझते हुए उनके होकर संसारयात्रा-सम्बन्धी विहित कर्म-विधिका पालन करते हैं। 'नियत कर्म'की सम्पन्नता होने लगती है।

भरतजीके मनमें किसी प्रकारकी सांसारिक कामना नहीं है; उनके कार्यमें एक ही हेतु है—भगवान् श्रीरामको हृदयमें बनाये रखनेकी स्थितिमें निर्बाधता। उनका लक्ष्य परमोच्च है, अतः कर्मके सांसारिक फलका कोई ख्याल नहीं रह जाता। भरतजीकी आसक्तिकी एक ही वस्तु है—हृदयमें श्रीरामकी अबाध स्थिति। यतः जगत्-के समस्त पदार्थोंकी आसक्ति छूटकर उनमें सैद्धान्तिक अनासक्ति हो गयी है; अतः काम्य कर्मोंकी आवश्यकता नहीं है। भगवान्के आज्ञावाले कार्य ही भरत करते हैं। भगवदर्थ कर्म किसी दूसरेके लिये किसी प्रकारसे भी अनिष्टकारक नहीं होते; अतः भरतसे निषिद्ध कर्म तो हो ही नहीं सकते थे। भरत साधारण जनकी भाँति राजकाज करते दिखायी पड़ते हैं; किंतु उनके कार्य फल और आसक्तिका त्याग कर हर्ष-शोक-द्वन्द्वसे रहित होकर भगवान्के आज्ञानुसार केवल भगवान्के लिये किये जानेसे और विधानोक्त होनेसे वे कर्मयोगके सुन्दर उदाहरण हो जाते हैं। इस प्रकार

भरतजीमें श्रेष्ठ भक्तिमिश्रित कर्मयोगके आदर्शका दर्शन होता है। (भक्तिमिश्रित कर्मयोग कर्मयोगका सुपरिष्कृत रूप है। इसे भागवत-धर्म भी कहते हैं।)

भरत आदर्श निष्कामकर्मयोगके आदर्श हैं—

अवधराजु सुर राजु सिहाई। दसरथ धनु सुनि धनदु लजाई॥
तेहिं पुर बसत भरत बिनु रागा। चंचरीक जिमि चंपक बागा॥

भरतजीने कर्मोंके फल एवं आसक्तिका त्याग कर उन श्रीरामको हृदयमें रखा 'जो आनंद सिंधु सुखरासी, सीकर तें त्रैलोक सुपासी' हैं। उन्होंने भरत-चरितकी इस विलक्षणताकी ओर संकेत करनेके लिये ही श्रीरामचरितमानसमें लिखा है कि—

बिस्व भरन पोषन कर जोई। ताकर नाम भरत अस होई॥

शीर्षस्थ कर्मयोगी लक्ष्मण

(लेखक—डॉ० श्रीगोपीनाथजी तिवारी)

वेदव्यासका महाभारतमें कथन है कि यह संसार विशेषकर भारतवर्ष एक कर्मभूमि है—**कर्मभूमिरियं ब्रह्मन्।** भगवान् वेदका उपदेश है कि कर्मोंमें रत रहकर ही हम सौ वर्ष जीनेकी कामना करें—**कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमाः।** ऐतरेय बिगुल बजाकर पुकारता है और कहता है—आगे बढ़, आगे बढ़। ऐ मनुष्य! जो भाग्यके भरोसे बैठा रहता है उसका भाग्य भी बैठ जाता है, जो कर्मरत हो आगे बढ़ता है, उसका भाग्य भी आगे बढ़ता है।'

कर्मयोगी लक्ष्मणकी यही मान्यता है। वाल्मीकि-रामायण- (२। २२। २२)में वनगमनके अवसरपर कौसल्या-कक्षमें श्रीराम राज्यतिलकके स्थानपर वनवासकी प्राप्ति भाग्यवशात् मानते हैं। वे कहते हैं कि जीवनमें सुख-दुःख, भय, क्रोध, लाभ-हानि, उत्पत्ति-विनाशकी प्राप्ति भाग्यानुसार ही होती है—

सुखदुःखे भयक्रोधौ लाभालाभौ भवाभवौ।
यस्य किंचित् तथाभूतं ननु दैवस्य कर्म तत्॥

लक्ष्मण श्रीरामके इस भाग्यवादी सिद्धान्तका पूरे जोरके साथ खण्डन करते हैं। उनका मत है कि साधारण मनुष्य अपनेको असमर्थ समझकर ही ऐसा कहा करते हैं कि मेरे भाग्यमें ऐसा ही था। *आत्मजयी कर्मवीर भाग्यकी उपासना नहीं करते हैं*—

'किं नाम कृपणं दैवमशक्तमभिशंससि॥'
(वा० रा० २। २३। ७)

वे पुनः कहते हैं कि घबड़ाये हुए पराक्रम-रहित पुरुष ही भाग्यके भरोसे रहते हैं; वीर और स्वाभिमानी दैवकी उपासना नहीं करते—

विक्लवो वीर्यहीनो यः स दैवमनुवर्तते।
वीराः सम्भावितात्मानो न दैवं पर्युपासते॥
(वा० रा० २। २३। १६)

रामचरितमानसके लक्ष्मण भी ऐसा ही कथन करते हैं, जब श्रीराम सिंधु-तटपर कुशासनपर बैठकर *प्रार्थना करनेका उपक्रम करते हैं*—

नाथ दैव कर कवन भरोसा। सोषिअ सिंधु करिअ मन रोसा॥
कादर मन कहुँ एक अधारा। दैव दैव आलसी पुकारा॥

तीन दिन पश्चात् रामको यही करना पड़ा, जिसके लिये लक्ष्मणका अनुरोध था कि शरद्वारा सागरको दण्डित किया जाय। कहीं-कहीं कर्तव्य कठोरतासे होकर पूर्णता प्राप्त करता है। मनुष्य ही नहीं, सारा प्राणि-जगत् कर्म करता है। कर्म न करे तो वह जीवित ही न रहेगा। कर्मोंके दो प्रकार हैं—कुकर्म-(बुरे कर्म) और सुकर्म, जिन्हें असत्कर्म और सत्कर्मकी संज्ञा दी गयी है। डाकू और सैनिक, दोनों ही मारनेका कर्म करते हैं, किंतु डाकूका कर्म कुकर्म है तथा सैनिकका कर्म सुकर्म है। दोनोंकी ऐसी अवधारणामें भावनाकी कारणता है। कर्मका मूल्याङ्कन भावनासे होता है, स्वरूपसे नहीं।

कर्मोंका क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है, जिसमें नैत्यिक, नैमित्तिक, धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक,

त नहीं होता है, जिनका सारा जीवन स्वकी सीमा लाँघकर
ईश्वर हो गया था। लक्ष्मणके सम्पूर्ण कर्म श्रीरामको
ने रखकर सम्पन्न होते थे। उनके हृदयमें राजा राम
बाहर राम थे और चारों ओर सर्वत्र राम ही राम
। थे जिनके लिये वे अधिक-से-अधिक त्याग कर
ते थे। जब श्रीराम राजकीय सुख-सुविधाओंको छोड़कर
मित्रके साथ चले तो लक्ष्मण भी उनके साथ हो
और भ्राता राम तथा गुरु विश्वामित्रकी सेवामें
कालसे शयन-समयतक रत रहने लगे। भगवान्
ो चौदह वर्षोंका वनवास मिला था, लक्ष्मणको नहीं;
लक्ष्मण श्रीरामके समझानेपर भी अयोध्यामें न रहे
ाता-पिताके साथ ही नववधू उर्मिलाको भी छोड़कर
साथ चल दिये। मार्गमें पड़नेवाले नदी-नालोंमें
; जल होनेपर जहाँ नाव प्राप्त न थी वहाँ, लक्ष्मण
ियाँ काटकर, घास-फूस ढककर बेड़ा बनाते थे।
ूट तथा पञ्चवटीमें सुन्दर कुटियोंका निर्माण श्रीलक्ष्मणने
या था। राम-सीताके लिये बाँस, लकड़ी काटकर
घास-फूस पत्तोंसे ढककर सुविधावाली सुन्दर बड़ी
। निर्मित करते थे तथा कुछ दूरपर एक छोटी-
ुटिया अपने लिये बनाते थे जो वर्षा-शीतसे तो
ा, परंतु राम-सीताकी कुटियापर दृष्टि रखनेमें
ान न उत्पन्न करे। चौदह वर्ष रात्रिमें जगकर
ाने पहरा दिया। वर्षाकालमें वे कुटियामें बैठकर
ामकुटीपर निगाह रखते थे। वन-मार्गमें वे आगे-
रास्ता साफ करते चलते थे। जहाँ रात्रिमें टिकाव होता
उस स्थानको स्वच्छ कर वे घास-फूसकी शय्या
। थे। जंगलोंमेंसे लकड़ियाँ काटकर कंधेपर लाते थे,
दि एकत्र करते थे और ब्राह्ममुहूर्तमें चार-पाँच बजे
र सरिता-सरोवरपर पहुँच जाते थे; नैत्यिक कर्मकर,
स्नानकर पानी भरकर लाते थे। घोर वर्षा हो रही है,
मार्गमें कीचड़ तथा भीगे पत्ते हैं, काँटे पड़े हैं, कीट-कीट
ए रहे हैं, परंतु लक्ष्मणको क्या! वे तो पानी भरने
जायँगे ही। शिशिर शीत हाड़को कँपा रहा है, भूमि
ओस-तुषारसे आच्छादित है, पृथिवीपर पैर रखनेमें जी
घबराता है, पर लक्ष्मणजी मिट्टीका घड़ा लिये नदीकी
ओर जाते मिलेंगे। भारतीय क्षितिजपर लक्ष्मणसे अधिक
निद्राजयी नक्षत्र नहीं मिलता है। चौदह वर्ष बराबर
रात्रिमें जगे, दिनमें थोड़ा-बहुत सो लेते थे। पर उनकी
निष्काम रामभक्ति निरन्तर चलती रहती थी सेवा रूपमें,
सुखके चिन्तनमें सुविधाके विधानमें। ऐसे थे निष्काम-
कर्मी भक्त लक्ष्मण।

रामकी प्रतिष्ठापर जरा-सी आँच आनेपर धीर-वीर
लक्ष्मण तप्त हो जाते थे। तीन बार ऐसा हुआ।
(१) जनकने स्वयंवर-सभामें रामकी उपस्थितिमें यद्यपि
यह एक सामान्य बात ही कही थी कि—

अब जनि कोउ माखै भट मानी। बीर बिहीन मही मैं जानी॥
जौं जनतेउँ बिनु भट भुबि भाई। तौ पनु करि होतेउँ न हँसाई॥

परंतु अनन्य सेवक लक्ष्मणके नेत्र लाल हो गये,
होंठ फड़कने लगे। रामके पदकमलमें सिर नवाकर
उन्होंने गर्जना की—

कही जनक जसि अनुचित बानी। बिद्यमान रघुकुल मनि जानी॥

प्रभो! आप आज्ञा दें, यह धनुष तो क्या वस्तु
है, मैं ब्रह्माण्डको उठा सकता हूँ। आप आयसु दें,
इस धनुषको कंधेपर रखकर सौ योजन दौड़ जाऊँगा
और कच्चे घड़ेकी भाँति इसे तोड़ डालूँगा। यह
विवाह-हेतु नहीं करूँगा, वरन् भगवान् रामका प्रताप
दिखाऊँगा और बताऊँगा कि पृथ्वीमें वीर पुरुष अब भी
हैं। मेरे लिये यह खेलभर होगा, इससे अधिक नहीं;
सीताकी प्राप्तिकी कोई कामना नहीं है।

कमल नाल जिमि चाप चढ़ावौं। जोजन सत प्रमान लै धावौं॥
काचे घट जिमि डारौं फोरी। सकउँ मेरु मूलक जिमि तोरी॥

(२) धनुष टूट चुका है। सीताने रामके गलेमें
जयमाला डाल दी है, तभी भृगुकुल-कमल-पतंग

भगवान् परशुराम प्रविष्ट होकर घोषणा करते हैं कि धनुष तोड़नेवालेको मैं सहस्रबाहुके समान परशुसे काट डालूँगा ! वह मुझसे युद्ध करे। फिर क्या हुआ ! लक्ष्मण खड़े हो गये निर्भीक, निश्शङ्क और निर्भय तथा उन्होंने परशुरामसे वह वाग्युद्ध किया कि सारे सभासद् अवाक् रह गये। भला, रामका कोई अपमान करे, उन्हें दण्ड देनेकी धमकी दे और लक्ष्मण शान्त तथा मौन बैठे रहें ! निष्कामकर्मी भक्तका भी कुछ काम होता है; पर वह अपने आराध्यकी महिमाके सिवाय अन्य कुछ नहीं जानता। (उसकी यही अनन्यता निष्कामता होती है। 'निष्कामता' पारिभाषिक है, यौगिक नहीं।)

(२) भरत चतुरंगिणी-सज्जित सेनाके साथ चित्रकूट पधारे। लक्ष्मणको शंका होती है कि भरत रामको मारकर निष्कण्टक होनेके लिये आये हैं। लक्ष्मणजीने धनुष उठाया और रामसे बोले—

भरतु नीति रत साधु सुजाना। प्रभु पद प्रेमु सकल जगु जाना॥
तेऊ आजु राज पदु पाई। चले धरम मरजाद मेटाई॥
कुटिल कुबंधु कुअवसरु ताकी। जानि राम बनबास एकाकी॥
करि कुमंत्र मन साजि समाजू। आए करै अकंटक राजू॥

किंतु, भरतको आज प्रमाणित हो जायगा कि राम अकेले या असहाय नहीं हैं। भाई होते हुए भी मैं भरतको पाठ पढ़ाऊँगा। भाई आज्ञा दें तो मैं युद्ध कर भरतको सेनासहित गाजर-मूलीके समान काट डालूँगा। वे रामकी कीर्तिमें, उसकी किसी प्रकारकी क्षतिमें अपनी वीरताकी आहुति दे सकते हैं—अपने लिये नहीं, अपने आराध्य श्रीरामके लिये। इसीलिये गोस्वामीजी लक्ष्मणकी वन्दना करते हुए कहते हैं—

बंदउँ लछिमन पद जलजाता। सीतल सुभग भगत सुख दाता॥
रघुपति कीरति बिमल पताका। दंड समान भयउ जस जाका॥

लक्ष्मणके प्राण तीन बार संकटमें पड़े; अपने लिये नहीं, जग तथा जगद्धितकारी रामके लिये। (१) राक्षसराज रावण जगत्‌को रौंद रहा था। वह वैश्रवणको न होने देता था, आश्रमों और आध्यात्मिक केन्द्रोंको नष्ट [illegible] था और सुन्दर स्त्रियोंको बलात् पकड़कर अपने र[illegible] ले जाता था। इसी काम-लिप्सासे उसने अनिन्द्[illegible] सीताका अपहरण किया। श्रीरामपर वज्राघात टूट [illegible] वे बहुत मर्माहत हुए; कई बार मूर्च्छित हो गये। वाल[illegible] के अनुसार यदि लक्ष्मण रामके साथ न हो[illegible] उनका जीवित रहना कठिन होता। लक्ष्मणने [illegible] बहुत समझाया। रामने संसारके लाखों नर-नारियों, [illegible] ब्राह्मणों, गौओंके रक्षार्थ और सीताको अभिमानी-[illegible] राक्षसराज रावणके बन्धनसे छुड़ानेके लिये लं[illegible] आक्रमण किया। (२) लंकामें हुए भीषण युद्धमें लक्ष्मण [illegible] रामके आगे रहते थे और युद्ध करते थे। राव[illegible] शक्तिसे लक्ष्मण मरणासन्न हो गये (वा० रा० ६।९९ [illegible] मेघनादने भी युद्धमें ब्रह्मास्त्र-प्रहारसे उन्हें मृत्यु[illegible] तक पहुँचा दिया था (वा० रा० ६ । ७३)। दो[illegible] बार हनुमान्‌द्वारा लायी ओषधिसे लक्ष्मणके प्राण बचे[illegible] तीसरी बार (३) अयोध्याको विनाशसे बचानेके लिये स्[illegible] लक्ष्मणने मृत्युका वरण किया। एक बार एकान्त कक्ष[illegible] महाराज राम तथा यम गुप्तवार्ता कर रहे थे। द्वारप[illegible] लक्ष्मण प्रहरी थे। श्रीरामका निर्देश था कि कोई भीतर न [illegible] आये। जो आयेगा उसे प्राणदण्ड दिया जायगा। ऐसे समय [illegible] अनीतिपर क्रोधका प्रतीक बननेवाले दुर्वासाकी उपस्थिति [illegible] असमञ्जसमें डाल देनेवाली होती है। पर कर्मनिष्ठ [illegible] अपने ऊपर उनकी विपद् मोल लेकर भी कर्तव्यका निर्धारण करनेमें नहीं हिचकते। महर्षि दुर्वासाने रामसे तुरंत भेंट करनेकी इच्छा व्यक्त की। लक्ष्मणने प्रणामकर निवेदन किया कि महाराज गुप्त वार्तामें रत हैं। ऋषि दुर्वासा शापद्वारा समस्त अयोध्याके विनाशपर उतारू हो गये ! लक्ष्मणने सोचा—एक ओर मेरे प्राणकी बात है, दूसरी ओर सारी अयोध्याके विनाशका भय। वे भीतर गये और श्रीरामको सूचना दी कि दुर्वासा आये हैं। श्रीरामपर मानो वज्र गिर पड़ा ! वे अपना

न हो गये। लक्ष्मणको प्राणदण्ड कैसे दे सकते लक्ष्मणने स्पष्टतया उनसे कहा—आपको नियमकी करनी है। कानूनकी दृष्टिमें सब समान हैं। दोनोंमें बड़े-छोटे, मित्र-शत्रुकी विभाजक रेखाएँ मान्य हैं। और, राजतन्त्रमें देवस्वरूप राजाकी आज्ञा लनीय कानून है। मुझे प्राणदण्ड दिया जाय। तथा मन्त्रियोंने महाराज श्रीरामको अपनी दी कि लक्ष्मणको बहिष्कृत कर दिया जाय। निर्जन स्थानपर गये। आसन मारकर साँस बैठ गये। उनकी प्राणवायु ब्रह्मरन्ध्र फोड़कर चली गयी (वा० रा० ७। १०५ तथा १०६)।

तथा ब्राह्मण अवध्य थे। किंतु यदि वे दुराचारी, आततायी और हत्यारे बन जायँ तो क्या उन्हें न किया जाय? नहीं, वे भी दण्डित होंगे; लक्ष्मणका मत था। तभी तो रावणका वध हुआ ताड़का मारी गयी। (१) ताड़काने गाँव-के-गाँव दिये थे। लक्ष्मणने पहले उसके नाक-कान वा० रा० १। २६। १८)। इतनेपर भी मानी तो विश्वामित्रद्वारा व्यवस्था देनेपर रामने वध किया। (२) सूर्पनखा व्यभिचारिणी थी, तिनी थी। उसने पहले रामसे काम-तृप्तिकी की, फिर लक्ष्मणसे। दोनोंसे निराश हो उसने खाना चाहा। इसपर लक्ष्मणने उसके नाक-कान ले। (३) एक और कुरूपा राक्षसी थी जिसका 'अयोमुखी'। सीताकी खोजमें लगे राम-लक्ष्मण आश्रमकी ओर जा रहे थे। आगे लक्ष्मण थे, म। सहसा लक्ष्मणको पकड़कर उसने आलिङ्गन- किया तथा कामतृप्तिकी याचना की। राक्षसीका दुःसाहस, उसकी यह असभ्यता! लक्ष्मणने उसके नाक और कान काट डाले (वा०रा० ३। ६९)। लोकसंग्रहार्थ अनीतिकी इति कर्मयोगियोंकी कृत्यपरम्परा- में इतिहास बन चुकी है। सर्वश्रेष्ठ लोकसंग्रही कर्मयोगी श्रीकृष्णने कैसी-कैसी अनीतियोंको समाप्त किया—इसे भागवतके वाक्यसे समझा जा सकता है।

लक्ष्मणके लिये रामकी आज्ञा सर्वोपरि थी। उन्होंने एक बारको छोड़कर सदा आज्ञाका पालन किया। (१) खर-दूषण-युद्धमें लक्ष्मण भी रामका साथ देना चाहते थे, किंतु रामकी आज्ञा थी कि दूर ले जाकर गुहामें सीताकी रक्षा करो। लक्ष्मणको आज्ञा माननी पड़ी। (२) एक बड़ा भयंकर कष्टदायक समय लक्ष्मणपर टूटा—जब रामने आज्ञा दी कि 'लक्ष्मण! प्रजाके सामने चरित्रका उदाहरण रखना है।' जैसा आचरण बड़े, उच्चस्थ व्यक्ति करते हैं, वैसा ही नीचेवाले भी—'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।' अतः प्रजाके हितकी दृष्टिसे मेरी आज्ञा है कि सीताको निर्जन वनमें सरिता-सरके निकट छोड़ आओ। लक्ष्मणको आज्ञा माननी पड़ी (वा० रा० ७। ४५)। किंतु रामकी एक आज्ञाका पालन उन्होंने नहीं किया। राजा बननेके बाद श्रीरामने लक्ष्मणको बुलाकर कहा—लक्ष्मण! मैं तुम्हें युवराज बनाना चाहता हूँ। लक्ष्मणको राज्य प्राप्त हो रहा था। किंतु लक्ष्मण तो त्यागमूर्ति थे। उन्होंने रामके पैर छूकर कहा—भाई! भाई! मैं आपकी यह आज्ञा इस जन्ममें न मानूँगा; चाहे जो दण्ड दीजिये। मैं युवराज नहीं बनूँगा (वा० रा० ६। १२८)। वस्तुतः वे राज्य तो क्या साम्राज्यको भी अपनी निष्कामतामें मूल्यहीन माननेवाले भक्ति-कामी सेवा-परायण कर्मयोगी थे। उन्हें राज्यका लोभ क्यों हो!

इस प्रकार हम देखते हैं कि लक्ष्मणमें जहाँ एक ओर कष्ट सहनेकी असीम क्षमता है, वहीं अन्याय, अत्याचार और भ्रष्टाचारके प्रति वे घोर असहिष्णु हैं। उनमें शील, स्नेह, निष्ठा, वीरता, स्वार्थत्याग, परहित-लीनता, साहस- सदाचार तथा कर्तव्य-परायणताकी गङ्गा और कालिन्दी संगम करती हैं। लक्ष्मण उच्चकोटिके भक्त हैं ज्ञानमय हैं तथा सदा उदात्त कर्ममें लीन रहनेवाले हैं

वे यम-रहित कर्मके प्रतीक हैं। वे त्याग और तपस्याकी प्रतिमूर्तिके रूपमें वनस्थलीमें श्रीरामकी निःस्वार्थ सेवामें लगे रहे और श्रीरामके आग्रहपर भी युवराजपद स्वीकार नहीं किया। निष्कामता और कर्मण्यता उदाहरण ही कर्मयोगका उत्कृष्ट उदाहरण है। वस्तुतः लक्ष्मण शीर्षस्थ कर्मयोगी थे।

निष्काम भक्त श्रीहनुमान्

(लेखक-श्रीरामपदारथसिंहजी)

जो कुछ किया जाय, उस व्यापारमात्रका नाम कर्म है—'क्रियते इति कर्म'—व्यापारमात्रम्—(कर्म)—(गीता ४ । १८ का शां० भा०)। ऐसे तो कर्मको संसारमें सब करते ही रहते हैं, पर सब कर्मयोगी नहीं होते। कर्तव्य कर्मोंका योग भगवान्के साथ करके उन्हें करनेवाले कर्मयोगी कहलाते हैं। कर्मयोगियोंके कर्म भगवदर्पित या भगवदर्थ होते हैं। वे निजार्थ कुछ नहीं करते। महावीर हनुमान् भी इस कोटिके एक आदर्श कर्मयोगी हैं; क्योंकि इनके चरित्रमें भगवदर्थ कर्मके अतिरिक्त कोई निजी कार्य देखनेमें नहीं आता।

सर्वोपनिषद्-सार गीता (१८ । ५०)में उपदेश है कि 'मुझमें अर्पण करके, मुझमें परायण होकर बुद्धियोगका (कर्मयोगका) अवलम्बन कर निरन्तर मुझमें चित्तवाला होओ।' ये चार सूत्र—(१) मनसे सब कर्म भगवदर्पित करना, (२) भगवत्परायण होना, (३) बुद्धियोगका अवलम्बन करना और (४) भगवान्में चित्तको लीन करके रहना—प्रतिपादित हैं। ये वस्तुतः कर्मयोगियोंके जीवन-जीनेके चार सूत्र हैं। श्रीहनुमान्जीका जीवन इन चार सूत्रोंमें अनुस्यूत है—

(१) मनसे सब कर्म भगवदर्पित करना—ईश्वरार्पण बुद्धिके बिना कर्म करनेसे भवभ्रम ही श्रम होता है, विश्राम नहीं मिलता। मानस (३ । २१)का कथन है—

राज नीति बिनु धन बिनु धर्मा। हरिहि समर्पे बिनु सतकर्मा॥
विद्या बिनु बिबेक उपजाएँ। श्रम फल पढ़े किएँ अरु पाएँ॥

कर्मोंको स्वयंसे नहीं जोड़कर भगवान्से जोड़ना चाहिये। जैसे जड़ी देखकर साँप सहम जाता है और डँसनेमें समर्थ नहीं हो पाता, वैसे ही कर्म भगवदभिमुख होनेपर बन्धनसे रहित हो जाता है, जीवको जन्म-मरणमें नहीं बाँधता। नित्यमुक्त महा ईश्वरार्पणताके प्रतीक हैं। इनका जीवन ही भगवदर्थ भगवान्की सेवाके लिये ही ये रुद्रसे हनुमान् बन अवतरित हुए—

जानि राम सेवा सरस समुझि करब अनुमान।
पुरुषा ते सेवक भए हर ते भे हनुमान॥
(दोहा० १४)

हनुमान्जीके जीवनोद्देश्यकी एक झाँकी दर्शनीय है। सीताजीके अन्वेषणके लिये जब इन्होंने लंकाकी यात्रा की, तब सर्पोंकी माता सुरसा परीक्षा लेने आयी और उसने इनको अपना देवताओंद्वारा दिया हुआ आहार कहा—'आज सुरन्ह मोहि दीन्ह अहारा।' उस समय इन्हें प्राणोंकी तनिक भी चिन्ता न हुई। ये सुरसाका भोजन बननेको राजी हो गये, पर प्रभुका कार्य पूरा करनेके लिये थोड़ा समय माँगा। ये विनयपूर्वक बोले—हे माता! रामकार्य करके लौटकर सीताजीकी सुधि प्रभुको सुनाकर मैं स्वयं आकर तुम्हारे मुँहमें प्रवेश कर जाऊँगा। अभी मुझे जाने दे। रामचरितमानस (५।२।२) की चौपाई देखिये।

राम काजु करि फिरि मैं आवौं। सीता कइ सुधि प्रभुहि सुनावौं॥
तब तव बदन पैठिहउँ आई। सत्य कहउँ मोहि जान दे माई॥

स्पष्ट है कि हनुमान्जी भगवत्कार्य करनेमें जीवनकी कृतार्थता माननेवाले देहासक्ति-विरहित भक्तयोगी महात्मा हैं। धर्मसंस्थापन, साधुसंरक्षण, असुर-विनाशादिके लिये भगवान्का अवतार होता है। यही सब भगवान्के कार्य

इन्के (भगवान्‌के) सब कार्योंको उन्होंने किया। 'निन्हके काज सकल सुभ भाया।'

ने सब कर्म ईश्वरको और ईश्वरेतर भगवंमात्र ...
मेय नहीं पड़ता है। कर्मयोगी भगवंमात्र ...
भगवान्‌के लिये करके भगवान्‌की अर्चना करते
'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।'
की सेवाके लिये अवतरित हुए थे। सेवा इनका
है। इसलिये इन्होंने सेवाको कभी हीन नहीं
। प्रभुको जब जैसी सेवाकी आवश्यकता हुई, तब
ेव इन्होंने पूरी की। ये आवश्यकतानुसार कभी
ी सवारी बने तो कभी सचिव, कभी
ाहक बने, तो कभी सैन्य-संचालक। इन्हें किसी
ार्यमें कोई झिझक नहीं। ऐसी भगवदर्पणताके
ी हनुमान्‌जी कर्मको मकार अशक्त कर
के रूपमें स्मरण किये जा रहे हैं। महात्मा
दासका सावर है—

'... बाल-नुभ-कर्म भाया महत्व' (विनय० २६)

(२)-भगवत्परायण होना—भगवत्परायणताके बिना
र्पणके बाद भी कर्मका कर्ता बनकर आनन्द लेने
कोई अच्छा काम करनेपर सोचते हैं कि मैंने बड़ा
काम किया। दूसरोंके सामने अपने अच्छे कामका
करके और दूसरोंसे वर्णन सुनकर आनन्दित होते
इस प्रकार कर्तापनका आनन्द लेते रहनेसे बंधन
रहता है। कर्मयोगकी साधना कर्तापनके
बंधनको मिटानेके लिये है। भगवदर्पणताके साथ
परायणताके मिलनेसे यह कार्य सिद्ध होता है।
भावनाका उदय होनेपर सब कर्म भगवान्‌को अर्पण
में परम आनन्द आता है, बिना अर्पण किये कल
पड़ती और भगवान्‌को ही क्रियादि शक्तियोंका
आधार समझते रहनेके कारण कर्तापनका अभिमान भी
नहीं होता है। यद्यपि यह भगवत्परायणता दुर्लभ है, पर
हनुमान्‌जीमें मूर्तिमन्त है। हनुमान्‌जी भगवान्‌को ही

परमप्रिय मानते हैं। इस तथ्यका सबसे सबल प्रमाण
तो यही है कि भगवान् भी 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते
तांस्तथैव भजाम्यहम्'के अनुसार इन्हें परमप्रिय मानते
हैं (रा० च० मा० ७। ३२)।

भ्रातन्ह सहित रामु एक बारा। संग परम प्रिय पवन कुमारा॥

कर्तृत्वाभिमान हनुमान्‌जीको छूतक नहीं सका है। इन्होंने इतने वीरोचित कर्म किये कि महावीर शब्द इनका (विशेषरूपसे 'विशेष्य') वाचक बन गया। इन्होंने मनसे अगम अनेक कार्योंको तनसे सुगम किया। इनकी महावीरताकी गाथा पुराणेतिहासोंमें अमिटरूपसे अङ्कित है; किंतु इन्होंने महावीरताका श्रेय स्वयं कभी नहीं लिया; सम्पूर्ण श्रेय भगवान्‌को दिया। अशोकवन-विध्वंसके बाद जब ये रावणके दरबारमें लाये गये, तब रावणने इनसे पूछा—'रे वीरा! तू कौन है? और तूने किसके बलसे अशोक-वन नष्ट कर दिया?' हनुमान्‌जीने बड़ा ही मार्मिक उत्तर दिया। इन्होंने अपने परिचयमें अपने प्रभुका बल-प्रभुत्व विस्तारसे कहकर अन्तमें कहा—'सुनो रावण! जिसके बल-लवलेशसे तुमने चर-अचर सबको जीत लिया है और अब जिसकी प्रिय नारीको हर ले आये हो, मैं उस सर्वसमर्थका दूतमात्र हूँ'—

जाके बल लवलेस तें जितेहु चराचर झारि।
तासु दूत मैं जा करि हरि आनेहु प्रिय नारि॥
(रा० च० मा० ५। २१)

हनुमान्‌जीके उत्तरसे विदित होता है कि इनकी मान्यतामें कोई भी कार्य भगवत्प्रदत्त-शक्तिसे ही सम्पन्न होता है। अतः इस भावनाके कारणसे, कर्तापनके अभिमानसे बचे रहे। कर्मयोगमें कर्तृत्वाभिमान-शून्यता ... है—'यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न ...' हनुमान्‌जी ऐसे ही थे।

हनुमान्‌जीकी कर्तृत्वाभिमानरहितताको दर्शानेवाला एक बड़ा ही प्रेरक प्रसङ्ग रामचरितमानसमें आया है। जब ये लङ्कासे लौटकर आये, तब भगवान् रामने इन्हें

हाथ पकड़कर अपने समीप बैठाया और सामह पूछा कि जिस लङ्काकी रक्षा स्वयं रावण कर रहा था और जो परम दुर्गम और विकट है, उसे तुमने किस प्रकार जला दिया ? श्रीहनुमान्‌जीने सविनय उत्तर दिया—

सो सब तव प्रताप रघुराई। नाथ न कछू मोरि प्रभुताई॥
(रा० च० मा० ५। ३३)

हनुमान्‌जीके उत्तरमें तीन तत्त्व ऐसे हैं जो इनमें कर्तापनके अभिमानका अभाव दर्शाते हैं। पहला है कि हनुमान्‌जीने अपने कृत्यकी सब बातें एक ही पंक्तिमें कह दी। उन्हें अपने विशिष्ट कार्योंका विस्तार वाञ्छनीय नहीं था; देखिये—

नाघि सिंधु हाटकपुर जारा। निसिचर गन बधि बिपिन उजारा॥

इन्हें अपने कार्योंको विस्तारसे कहनेमें कोई आनन्द नहीं है। यह उनकी अभिमान-शून्यताका प्रमाण है। उनकी निरभिमानताका निदर्शक दूसरा तत्त्व है कि इन्होंने अपने कृत्यकी बातोंके कथनमें प्रसङ्गक्रमका कोई विचार नहीं रखा; (जैसा कि शीघ्रतामें स्वभावतः हो जाता है)। इन्होंने समुद्र लाँघनेके बाद लङ्का जलानेकी बात कही, फिर निशाचरोंके मारनेकी और अन्तमें वाटिका उजाड़नेकी। कार्योंके सम्पादनका यह यथाक्रम ठीक नहीं था। मन्दोदरीके कथनमें क्रम है; यथा—सागर-लंघन, रक्षकमर्दन, वन-विध्वंसन, अक्षय-विनाशन और अन्तमें लङ्कादहन है। मन्दोदरीने हनुमान्‌जीके प्रभावको दर्शानेके लिये कार्योंको सिल-सिलेसे सँवारकर कहा। हनुमान्‌जीको अपने द्वारा किये गये कार्योंमें अपनी कोई प्रभुता ही नहीं दिखायी पड़ती, इसलिये इन्होंने इस सामान्यतासे कह दिया कि प्रसङ्ग-क्रमका भी निर्वाह नहीं रहा। तीसरा तत्त्व है—हनुमान्‌जीद्वारा अपने कृत्य-कथनको निरभिमानताकी भावनासे सम्पुटित कर दिया जाना। कथनकी प्रथम पंक्ति है—'बोला बचन बिगत अभिमाना' और अन्तिम पंक्ति है—'नाथ न कछू मोरि प्रभुताई।' हनुमान्‌जी बहुत बड़ी बहादुरी करके भी निरभिमान [illegible] क्योंकि इन्होंने निरभिमानताका सम्पुट लगाकर [illegible] कर्मयोगका मार्ग प्रशस्त कर दिया। इस प्रसङ्गमें जो कर्तृत्वाभिमानरहितता दिखायी पड़ती है, वह कर्मयोगी होनेके साथ भगवत्परायण होनेका प्रमाण [illegible]

कर्ममें ईश्वरार्पण-बुद्धि रखकर आनन्दानुभव [illegible] विषमबुद्धिसे बाधा उत्पन्न होती रहती है। [illegible] सिद्धि-असिद्धिमें सुख-दुःख या कर्मके साधक-बाधक तत्त्वोंके प्रति राग-द्वेषसे चित्त उद्वेलित होता रहता [illegible] यह संकट बुद्धियोग अर्थात् समचित्ततासे दूर होता [illegible] समबुद्धिके अवलम्बनसे निर्विकारता आती है, [illegible] दृष्टि विकसित होती है, जिससे सृष्टिके साथ सम्यक् व्यवहार होता है। व्यवहारमें आवश्यकतानुसार समचित्तता रखते हुए भी कोमलता या कठोरता लायी जाती है। यह समचित्तता हनुमान्‌जीमें जैसे है, वह सद्ग्रन्थोंमें उल्लिखित है। सुरसा इन्हें खानेको उत्सुक थी। उस स्थितिमें भी इन्होंने उसे माता कहकर सम्बोधित किया—'सत्य कहउँ मोहि जान दे माई।' सुरसाके मुँहमें प्रवेश करके पुनः बाहर निकल आनेमें सफल होनेपर भी ये इतराये नहीं, पूर्ववत् नम्रता धारण किये रहे और प्रणाम करके विदा माँगी—'माँगी बिदा ताहि सिर नावा॥'

उपर्युक्त विवरणसे विदित होता है कि कर्मयोगियोंके जीवन जीनेके चारों सूत्रोंके अनुसार ही हनुमान्‌जीका चरित्र है। अतः ये निःसंदेह एक आदर्श भक्त-कर्मयोगी हैं। कर्मयोगका यथोचित पालन करनेसे ज्ञान अथवा भक्तिकी भी सिद्धि हो जाती है। श्रीमद्भागवत (११।२०।११)का स्पष्ट उद्घोष है कि—

अस्मिँल्लोके वर्तमानः स्वधर्मस्थोऽनघः शुचिः।
ज्ञानं विशुद्धमाप्नोति मद्भक्तिं वा यदृच्छया॥

अर्थात्—स्वधर्ममें स्थित पुरुष इस देहमें रहते-रहते ही अनघ और शुचि होकर विशुद्ध ज्ञान अथवा मेरी

…ा जाता है। हनुमान्‌जी इस तथ्यके प्रत्यक्ष … । सुग्रीवके संकटके समय भी उनके सेवारूप …र्ममें स्थित रहनेके कारण हनुमान्‌जीको अखण्ड … श्रीराम और भक्तिस्वरूपा सीताजी मिल … । फिर भगवान्‌की सेवा करते-करते ही ये …ज्ञानिनामग्रगण्य' और 'रघुपतिके प्रियभक्त' बन गये। …तुलसीदासजीने इनकी गुणनिर्देशात्मक वन्दनामें …की साधना और सिद्धिके क्रमका संकेत करते हुए …ा है कि ये पहले 'खलवनपावक' अर्थात् कर्मी, फिर 'ग्यानघन' अर्थात् ज्ञानी और अन्तमें अपने हृदयागारमें श्रीरामको बसानेवाले अर्थात् भक्त हैं। यथा—

> प्रनवउँ पवनकुमार खल बन पावक ग्यानघन।
> जासु हृदय आगार बसहिं राम सर चाप धर॥
> (रा० च० मा० १। १७)

हनुमान्‌जीने 'खलबन-पावक' होकर भगवदर्थ कर्म किया और ज्ञान-भक्तिकी भी सिद्धि कर ली। इनके चरितके अनुकरणसे कर्म, ज्ञान और भक्तिकी समन्वित सिद्धि सुनिश्चित है।

माता कैकेयी

कैकेयी महाराज कैकयकी पुत्री और दशरथजीकी …रानी थीं। ये केवल अप्रतिम सुन्दरी ही नहीं …प्रथम श्रेणीकी पतिव्रता और वीराङ्गना भी थीं। …त्ता, सरलता, निर्भयता, दयालुता आदि सद्गुणोंका …ीके जीवनमें पूर्ण विकास था। इन्होंने अपने प्रेम …सेवाभावसे महाराजके हृदयपर इतना अधिकार कर … था कि महाराज तीनों पटरानियोंमें कैकेयीको ही … अधिक मानते थे। कैकेयी पति-सेवाके लिये …कुछ कर सकती थीं। एक समय महाराज …थ देवताओंकी सहायताके लिये शम्बरासुर नामक …ससे युद्ध करने गये। उस समय कैकेयी भी …के साथ रणाङ्गणमें गयी थीं—आराम या भोग …नेके लिये नहीं, सेवा और शूरतासे पतिदेवको सुख …ानेके लिये। कैकेयीका पातिव्रत और वीरत्व …से प्रकट होता है कि इन्होंने एक समय महाराज …रथके सारथिके मर जानेपर स्वयं बड़ी ही कुशलतासे …थिका कार्य करके महाराजको संकटसे बचाया था। … युद्धमें दूसरी बार एक घटना यह हुई कि …राज घोर युद्ध कर रहे थे, इतनेमें उनके रथके …की धुरी गिर पड़ी। राजाको इस बातका पता …ला। कैकेयीने इस घटनाको देख लिया और …की विजय-कामनासे महाराजसे बिना कुछ कहे-सुने तुरंत धुरीकी जगह अपना हाथ डाल दिया और बड़ी धीरतासे बैठी रहीं। उस समय वेदनाके मारे कैकेयीकी आँखोंके कोये काले पड़ गये, परंतु उन्होंने अपना हाथ नहीं हटाया। इस विकट समयमें यदि कैकेयीने बुद्धिमत्ता और सहनशीलतासे काम न लिया होता तो महाराजके प्राणोंका बचना कठिन था। इस सेवामें विशेषता यह थी कि कैकेयीने अपनी सेवाका उल्लेख स्वयं नहीं किया। ये तो पातिव्रत धर्मके नाते ही इस सेवामें लगी थीं।

शत्रुओंका संहार करनेके बाद जब महाराजको इस घटनाका पता लगा, तब उनके आश्चर्यका पार नहीं रहा। उनका हृदय कृतज्ञता तथा आनन्दसे भर गया। ऐसी वीरता और त्यागपूर्ण क्रिया करनेपर भी इनके मनमें कोई अभिमान नहीं। ये पतिपर कोई अहसान नहीं करतीं। महाराज वरदान देना चाहते हैं तो ये कह देती हैं कि 'मुझे तो आपके प्रेमके सिवा अन्य कुछ भी नहीं चाहिये।' प्रेममें निष्कामताका यह अनूठा उदाहरण था। जब हठ करने लगते हैं, तब दैवी प्रेरणावश आवश्यक होनेपर माँग लूँगी कहकर अपना पिण्ड छुड़ा लेती हैं। इनकी यह अपूर्व निष्कामता सर्वथा श्लाघनीय है।

भरत-शत्रुघ्न ननिहाल चले गये हैं। पीछेसे महाराजने चैत्रमासमें श्रीरामके राज्याभिषेककी तैयारी

थी। किसी भी कारणसे हो, उस समय महाराज दशरथने इस महान् उत्सवमें भरत और शत्रुघ्नको बुलवानेकी भी आवश्यकता नहीं समझी और न केकयराजको ही निमन्त्रण दिया गया। कहा जाता है कि कैकेयीके विवाहके समय महाराज दशरथने इन्हींके द्वारा उत्पन्न होनेवाले पुत्रको राज्यका अधिकारी मान लिया था; परंतु रघुवंशकी प्रथा और श्रीरामके प्रति अधिक अनुराग होनेके कारण चुपचाप युवराजपद प्रदान करनेकी तैयारी कर ली गयी। यही कारण था कि रानी कैकेयीके महलमें भी इस उत्सवके समाचार पहलेसे नहीं पहुँचे थे। रानी कैकेयी अपना स्वत्व जानती थीं। इन्हें पता था कि भरतको मेरे पुत्रके नाते राज्याधिकार मिलना चाहिये; परंतु कैकेयी इस बातकी कुछ भी परवा न करके राम-राज्याभिषेककी बात सुनते ही प्रसन्न हो गयीं। दैवप्रेरित कुबड़ी मन्थराने आकर जब उन्हें यह समाचार सुनाया, तब वे आनन्दमें डूब गयीं। वे मन्थराको पुरस्कारमें एक दिव्य उत्तम गहना देती हैं।

'दिव्याभरणं तस्यै कुब्जायै प्रददौ शुभम्'

और फिर कहती हैं—

इदं तु मन्थरे मह्यमाख्यातं परमं प्रियम्।
एतन्मे प्रियमाख्यातं किं वा भूयः करोमि ते॥
रामे वा भरते वाहं विशेषं नोपलक्षये।
तस्मात्तुष्टास्मि यद्राजा रामं राज्येऽभिषेक्ष्यति॥
न मे परं किंचिदितो वरं पुनः
प्रियं प्रियार्हे सुवचं वचोऽमृतम्।
तथा ह्यवोचस्त्वमतः प्रियोत्तरं
वरं परं ते प्रददामि तं वृणु॥
(वा० रा० २। ७। ३४-३६)

'मन्थरे! तूने मुझको यह बड़ा ही प्रिय संवाद सुनाया है। इसके बदलेमें मैं तेरा और क्या उपकार करूँ? यद्यपि भरतको राज्य देनेकी बात हुई थी, फिर भी राम और भरतमें कोई भेद नहीं देखती। मैं इस बातसे बहुत प्रसन्न हूँ कि महाराज कल रा[illegible] राज्याभिषेक करेंगे। हे प्रियवादिनि! रामके रा[illegible] भिषेकका संवाद सुननेसे बढ़कर मुझे अन्य कुछ प्रिय नहीं है। ऐसा अमृतके समान सुखप्रद व[illegible] तू नहीं सुना सकती। तूने यह वचन सुनाया इसके लिये तू जो चाहे सो पुरस्कार माँग ले, तुझे देती हूँ।'

इसपर मन्थरा गहनेको फेंककर कैकेयीको ब[illegible] कुछ उल्टा-सीधा समझाती है; परंतु फिर भी कैके[यी] तो श्रीरामके गुणोंकी प्रशंसा करती हुई यही कहती [है] कि 'श्रीरामचन्द्र धर्मज्ञ, गुणवान्, संयतेन्द्रिय, कृतज्ञ और पवित्र हैं। वे राजाके ज्येष्ठ पुत्र हैं, अतए[व] हमारी कुलप्रथाके अनुसार उन्हें युवराजपदका अधिकार है। दीर्घायु राम अपने भाइयों और सेवकोंको पिताकी तरह पालन करेंगे। मन्थरे! तू ऐसे रामचन्द्रके अभिषेककी बात सुनकर क्यों दुःखी हो रही है? यह तो अभ्युदयका समय है। ऐसे समयमें तू जल क्यों रही है? इस भावी कल्याणमें तू क्यों दुःख कर रही है?

यथा वै भरतो मान्यस्तथा भूयोऽपि राघवः।
कौसल्यातोऽतिरिक्तं च मम शुश्रूषते बहु॥
राज्यं यदि हि रामस्य भरतस्यापि तत्तदा।
मन्यते हि यथाऽऽत्मानं तथा भ्रातॄंस्तु राघवः॥
(वा० रा० २। ८। १८-१९)

'मुझे भरत जितना प्यारा है, उससे कहीं अधिक प्यारे राम हैं; क्योंकि राम कौसल्यासे भी अधिक मेरी सेवा करते हैं। रामको यदि राज्य मिलता है तो वह भरतको ही मिलता है—ऐसा समझना चाहिये; क्योंकि राम सब भाइयोंको अपने ही समान समझते हैं।' इसपर जब मन्थरा महाराज दशरथकी निन्दा करके कैकेयीको फिर उभाड़ने लगी, तब तो कैकेयीने बड़ी बुरी तरह उसे फटकार दिया—

ईदृशी यदि रामे च बुद्धिस्तव समागता।
जिह्वायाश्छेदनं चैव कर्तव्यं तव पापिनि॥

...राम कैकेयीकी भाव-रक्षा देखिये—

...त करउँ ध्वसि घरफोरी। जौ धरि जीभ कढावउँ तोरी॥

...प्रसङ्गसे पता लगता है कि कैकेयी श्रीरामको
...अधिक प्यार करती थी और इन्हें श्रीरामके
...में कितना बड़ा सुख था। इसके बाद
...नः बहकनेपर कैकेयीके द्वारा जो कुछ कार्य
...यहाँ लिखनेकी आवश्यकता नहीं। उसी
...तो कैकेयी आजतक पापिनी और अनर्थकी
...कहलाती है, परंतु विचार करनेकी बात
...को इतना चाहनेवाली, कुलप्रथा और
...सर्वदा ध्यान रखनेवाली, परमसुशीला
...भसे ऐसा अनर्थ क्यों किया? जो
...रामको भरतसे अधिक प्रिय बतलाकर
...के सुसंवादपर दिव्याभरण पुरस्कार
...म तथा दशरथकी निन्दा करनेपर,
...की प्रतिज्ञा जाननेपर भी मन्थराको
...उसकी जीभ निकलवाना चाहती
...बातपर इतनी कैसे बदल जाती हैं
...सालके लिये वनके दुःख सहन
...हैं और भरतके शील-स्वभावको
...ये राज्यका वरदान चाहती हैं!

...हस्य यह है कि कैकेयीका जन्म
...में प्रधान कार्य करनेके लिये
...भगवान् श्रीरामको परब्रह्म
...श्रीरामके लीलाकार्यमें सहायक
...मकी रुचिके अनुसार यह
...यदि कैकेयी श्रीरामको वन
...श्रीरामका लीलाकार्य ही
...ण होता और न राक्षस-
...मारा जाता। श्रीरामने
...कर्तोंका विनाश करके
...दुष्टोंके विनाशके लिये

हेतुकी आवश्यकता थी। बिना अपराध मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम किसीपर आक्रमण करने क्यों जाते। आजकलके राज्यलोभी लोगोंकी भाँति वे जबरदस्ती परस्वाहरण करना तो चाहते ही नहीं थे, उन्हें मर्यादाकी रक्षा करके ही सारा काम करना था। रावणको मारनेका कार्य भी दयाके लिये हुए था, मारकर ही उसका उद्धार करना था। दुष्कार्य करनेवालोंका वध करके ही साधु और दुष्टोंका—दोनोंका परित्राण करना था। साधुओंको दुष्टोंसे बचाकर सदुपदेशसे और दुष्टोंके लिये कालमूर्ति होकर मृत्यु-रूपसे—एक ही वारसे दो शिकार करने थे। पर इस कार्यके लिये भी कारण चाहिये, वह कारण था सीताहरण। इसके सिवा अनेक शाप-वरदानोंको भी सच्चा करना था। पहलेके हेतुओंकी मर्यादा रखनी थी, परंतु वन गये बिना सीताहरण होता कैसे? राज्याभिषेक हो जाता तो वन जानेका कोई कारण नहीं रह जाता। महाराज दशरथकी मृत्युका समय समीप आ पहुँचा था, उसके लिये भी किसी निमित्तकी रचना करनी थी। अतएव इस निमित्तके लिये देवी कैकेयीका चुनाव किया गया और महाराज दशरथकी मृत्यु एवं रावणका वध—इन दोनों कार्योंके लिये कैकेयीके द्वारा राम-वनवासकी व्यवस्था करायी गयी।

सर्वनियन्ता भगवान् श्रीरामकी ही प्रेरणासे देवताओंके द्वारा प्रेरित होकर जब सरस्वतीदेवी कैकेयीकी फेर गयी और जब उनपर उनका पूरा असर हो 'भावी बस प्रतीति उर आई'—तब बरतनेवाली कैकेयी भगवान्के मायावश ऐसा कार्य कर बैठीं, जो अत्यन्त क्रूर होनेपर भी भगवान्की लीलाकी सम्पूर्णताके लिये अत्यन्त आवश्यक था। इससे कैकेयीके मूल भावोंको अन्यथा नहीं समझा जा सकता।

अब प्रश्न यह है कि जब कैकेयी भगवान्की भक्ता थीं, प्रभुकी इस आभ्यन्तरिक गुह्यलीलाके अतिरिक्त प्रकाशमें भी श्रीरामसे अत्यन्त प्यार करती थीं, राज्यमें

और परिवारमें उनकी बड़ी सुख्याति थी, सारा कुटुम्ब कैकेयीसे प्रसन्न था, तब भगवान्‌ने इन्हींके द्वारा यह भीषण कार्य कराकर इन्हें कुटुम्बियों और अवधवासियोंके द्वारा तिरस्कृत, पुत्रद्वारा अपमानित और इतिहासमें सदाके लिये लोकनिन्दित क्यों बनाया ? जब भगवान् ही सबके प्रेरक हैं, तब साध्वी सरला कैकेयीके मनमें सरस्वतीके द्वारा ऐसी प्रेरणा ही क्यों करवायी, जिससे इनका जीवन सदाके लिये दुःखी और नाम सदाके लिये बदनाम हो गया ?' इसीमें तो रहस्य है । भगवान् श्रीराम साक्षात् सच्चिदानन्द परमात्मा हैं । कैकेयी उनकी परम अनुरागिणी सेविका हैं । जो सबसे गुह्य और कठिन कार्य होता है, उसको सबके सामने न तो प्रकाशित ही किया जा सकता है और न हर कोई उसे करनेमें ही समर्थ होता है । यह कार्य तो किसी अत्यन्त कठोरकर्मा, घनिष्ठ और परम प्रेमीके द्वारा ही करवाया जाता है—विशेष करके जिस कार्यमें कर्ताकी बदनामी हो, ऐसे कार्यके लिये तो उसीको चुना जाता है, जो अत्यन्त ही अन्तरंग हो । रामका लोकापवाद मिटानेके लिये श्रीसीताजी वनवास स्वीकार करती हुई संदेशा कहलाती हैं कि 'मैं जानती हूँ मेरी शुद्धतामें आपको संदेह नहीं है, केवल आप लोकापवादके भयसे मुझे त्याग रहे हैं, तथापि मेरे तो आप ही परम गति हैं । आपका लोकापवाद दूर हो, मुझे अपने शरीरके लिये कुछ भी शोक नहीं है ।' यहाँ सीताजी 'रामकाज'के लिये कष्ट सहती हैं । परंतु उनकी बदनामी नहीं होती, प्रशंसा होती है। उनके पातिव्रतकी आजतक पूजा होती है । परंतु कैकेयीका कार्य इससे अत्यन्त महान् है । इन्हें तो 'रामकाज'के लिये रामविरोधी प्रख्यात होना पड़ेगा । 'यावच्चन्द्रदिवाकरौ' गालियाँ सहनी पड़ेंगी । पापिनी, कलंकिनी, कुलघातिनीकी उपाधियाँ ग्रहण करनी पड़ेंगी, वैधव्यका दुःख स्वीकार कर पुत्र और नगरवासियोंके द्वारा तिरस्कृत होना पड़ेगा । [illegible] 'रामकाज'के लिये श्रीरामने कैकेयीको ही प्रधान पात्र चुना है । इसीसे यह कलङ्कका टि[illegible] उन्हींके सिर पाया गया है । यह इसलिये [illegible] परमब्रह्म श्रीरामकी परम अन्तरङ्ग प्रेमपात्रा हैं । वे श्री[illegible] लीलाओंमें सहायिका हैं; उन्हें बदनामी-दुर्नामीसे काम नहीं; उन्हें तो सब कुछ सहकर भी 'रामक[ाज]' करना है । रामरूपी सूत्रधार जो कुछ पार्ट दें, उ[स] नाटककी साङ्गताके लिये उनके आज्ञानुसार इन्हें वही खेल खेलना है—चाहे वह कितना ही क्रूर क्यों न हो। कैकेयी अपना पार्ट बड़ा अच्छा खेलती हैं। राम अ[पने] 'कामके' लिये सीता और लक्ष्मणको लेकर खुशी-खुशी वनके लिये विदा होते हैं । कैकेयी इस क[ठिन] पार्ट खेल रही थीं, इसीलिये इनको उस सूत्रधार[से] नाटकके स्वामीसे, जिसके इङ्गितसे जगन्नाटकका प्रत्येक परदा पड़ रहा है और उसमें प्रत्येक क्रिया सुचारुरूपसे हो रही है, एकान्तमें मिलनेका अवसर नहीं मिलता । इसीलिये ये भरतके साथ वन जाती हैं और वहाँ श्रीरामसे—नाटकके स्वामीसे एकान्तमें मिलकर अपने पार्टके लिये पूछती हैं और साधारण स्त्रीकी भाँति लीलासे ही लीलामयसे उनको दुःख पहुँचानेके लिये क्षमा चाहती हैं, परंतु लीलामय भेद खोलकर साफ कर देते हैं कि यह तो मेरा कार्य था, मेरी ही इच्छासे, मेरी मायासे हुआ था । तुम तो निमित्तमात्र थी, सुखसे भजन करो और मुक्त हो जाओ ।'

वहाँका प्रसङ्ग इस प्रकार है । जब भरत श्रीरामको लौटा ले जानेका बहुत आग्रह करते हैं, और वे किसी प्रकार नहीं मानते, तब भगवान् श्रीरामका रहस्य जाननेवाले मुनि वसिष्ठ श्रीरामके संकेतसे भरतको अलग ले जाकर एकान्तमें समझाते हैं—'पुत्र! आज मैं तुझे एक गुप्त रहस्य सुना रहा हूँ । श्रीराम साक्षात् नारायण हैं, पूर्वकालमें ब्रह्माजीने इनसे रावण-वधके लिये प्रार्थना की थी, इसीसे इन्होंने दशरथके यहाँ पुत्ररूपसे अवतार लिया है । श्रीसीताजी साक्षात् योगमाया हैं । श्रीलक्ष्मण

[...] है, जो सदा श्रीरामके साथ उनकी
[...]ते हैं । श्रीरामको रावणका वध करना
[...]कर वनमें रहेंगे, तेरी माताका कोई

[...]दानादि यद्यन्निष्ठुरभाषणम् ॥
[...] चेदियं सा भाषयेत् कथम् ।
[...]ईं तात रामस्य विनिवर्तने ॥
(अ० रा० २ । १ । ४५-४६)

[...]दान माँगे और निष्ठुर वचन कहे
[...]र्य था—रामकाज था । नहीं तो
[...]ऐसा कह सकतीं ? अतएव तुम
[...] चलनेका आग्रह छोड़ दो ।'
[...]भी संकेतसे कहा था—
[...]कैयीपर दोषारोपण न करें ।
[...] देव-दानव और ऋषियोंके
[...]खका कारण होगा ।' अब
[...] मानकर भरत समझ जाते
[...]कर सादर लेकर अयोध्या
[...]धर कैकेयीजी एकान्तमें
[...] आँसुओंकी धारा बहाती
[...]र कहती हैं—'श्रीराम !
[...] किया था । उस समय
[...] थी और मेरा चित्त
[...] था । अतएव मेरी
[...]ोंकि साधु क्षमाशील
[...] साक्षात् विष्णु हो,
[...]त्मा हो, मायासे
[...]को मोहित कर रहे
[...]साधु-असाधु कर्म
[...] अस्वतन्त्र
[...] जैसे
[...] है,

वैसे ही यह बहुरूपधारिणी नर्तकी माया तुम्हारे ही अधीन है । तुम्हें देवताओंका कार्य करना था, अतएव तुमने ही ऐसा करनेके लिये मुझे प्रेरणा दी । हे विश्वेश्वर ! हे अनन्त ! हे जगन्नाथ ! मेरी रक्षा करो । मैं तुम्हें नमस्कार करती हूँ । तुम अपनी तत्त्वज्ञानरूपी निर्मल तीक्ष्णधारवाली तलवारसे मेरी पुत्र-वित्तादि विषयोंमें (मोह-) स्नेहरूपी फाँसी काट दो । मैं तुम्हारे शरण हूँ ।' (अध्यात्मरामायण)

कैकेयीके स्पष्ट और सरल वचन सुनकर भगवान्‌ने हँसते हुए कहा—'हे महाभागे ! तुम जो कुछ कहती हो—सत्य कहती हो, इसमें किञ्चित् भी मिथ्या नहीं है । देवताओंका कार्य सिद्ध करनेके लिये मेरी ही प्रेरणासे उस समय तुम्हारे मुखसे वैसे वचन निकले थे । इसमें तुम्हारा कुछ भी दोष नहीं है । तुमने तो मेरा ही काम किया है । अब तुम जाओ और हृदयमें सदा मेरा ध्यान करती रहो । तुम्हारा स्नेहपाश सब ओरसे टूट जायगा और मेरी इस भक्तिके कारण तुम शीघ्र ही मुक्त हो जाओगी । मैं सर्वत्र समदृष्टि हूँ । मेरे न तो कोई द्वेष्य है और न प्रिय । मुझे जो भजता है, मैं भी उसीको भजता हूँ, परंतु हे मातः ! जिनकी बुद्धि मेरी मायासे मोहित है, वे मुझको तत्त्वसे न जानकर सुख-दुःखोंका भोक्ता साधारण मनुष्य मानते हैं । यह बड़े सौभाग्यका विषय है कि तुम्हारे हृदयमें मेरा यह भवनाशक तत्त्वज्ञान हो गया है । अपने घरमें मेरा स्मरण करती रहो । तुम कभी कर्मोंसे लिप्त नहीं होओगी ।' (अध्यात्मरामायण)

भगवान्‌के इन वचनोंसे कैकेयीकी स्थितिका पता लगता है । भगवान्‌के कथनका सार यही है कि 'तुम महाभाग्यवती हो—लोग चाहे तुम्हें अभागिनी मानते रहें । तुम निर्दोष हो—लोग चाहे तुम्हें दोषी बतावें । तुम्हारे द्वारा तो यह कार्य मैंने ही करवाया था । [illegible]की बुद्धि मायामोहित है, वे ही तुमको बहुत

भी समझते हैं। तुम्हारे हृदयमें तो मेरा [illegible] है। तुम धन्य हो।'

भगवान् श्रीरामके इन वचनोंको सुनकर [illegible] आनन्द और आश्चर्यपूर्ण हृदयसे [illegible] साष्टाङ्ग प्रणाम और प्रदक्षिणा करके सानन्द [illegible] लौट गयी।

उपर्युक्त वर्णनसे यह भलीभाँति स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि कैकेयीने जान-बूझकर भ्रान्त-बुद्धिसे कोई अनर्थ नहीं किया था। उन्होंने जो कुछ किया सो श्रीरामकी प्रेरणासे 'रामराज्य'के लिये। इस विवेचनसे यह प्रमाणित हो जाता है कि कैकेयी बहुत उच्चकोटिकी [illegible] थीं। वे सरल, [illegible], [illegible] [illegible], [illegible], [illegible], [illegible] होनेके साथ ही साथ् [illegible] थीं। इनके जो कुछ वर्णन हुए और हो रहे हैं, वे सब श्रीरामके अनुपम [illegible] [illegible] हैं। जिस देवीने जगत्के आगे, [illegible] [illegible] आदर्श रखा, वह देवी कभी तिरस्कारके योग्य नहीं हो सकती। ऐसी [illegible] देवीके चरणोंमें बारम्बार अनन्त प्रणाम है।

निष्काम भक्त माता कुन्ती

विपदः सन्तु नः शश्वत्तत्र तत्र जगद्गुरो।
भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम्॥
(श्रीमद्भा० १।८।२५)

'जगद्गुरो! हमारे जीवनमें सर्वदा पद-पदपर विपत्तियाँ आती रहें, क्योंकि विपत्तियोंमें ही निश्चितरूपसे आपके दर्शन हुआ करते हैं और दर्शन हो जानेपर फिर जीव जन्म-मृत्युके चक्रमें नहीं पड़ता।'

उपर्युक्त उक्ति पाण्डव-जननी देवी कुन्तीकी है, जिन्होंने अपने जीवनमें भगवान्से न कभी कुछ चाहा और न कभी कुछ माँगा ही। यदि उनकी कोई अभिलाषा थी तो वह मात्र प्रभुके नित्य दर्शनोंकी। वे श्रीकृष्णकी बुआ थीं और उनका सांनिध्य उन्हें सदा सुलभ था, पर उन्होंने अपने सुखके लिये कभी कोई याचना नहीं की। विपत्तिको मात्र उन्होंने इसलिये चाहा कि विषमतामें भगवान्का निरन्तर स्मरण बना रहता है।

पाण्डवोंकी माता कुन्ती वसुदेवजीकी सगी बहन थीं तथा राजा कुन्तिभोजकी गोद ली गयी थीं। जन्मसे उन्हें लोग पृथाके नामसे पुकारते थे, परंतु राजा कुन्तिभोजके यहाँ इनका लालन-पालन होनेसे ये कुन्ती नामसे विख्यात हो गयीं। ये आरम्भसे ही बड़ी सहनशील, सुशील एवं भक्तिमती थीं। एक बार कुन्तिभोजके यहाँ तेजस्वी ब्रह्मर्षि दुर्वासा अतिथिरूपमें पधारे। उनकी सेवाका कार्य बालिका कुन्तीको सौंपा गया। कुन्तीकी ब्राह्मणोंमें बड़ी भक्ति थी और अतिथि-सेवामें बड़ी रुचि थी। राजकुमारी पृथा आलस्य और अभिमानको त्यागकर ब्राह्मण देवताकी सेवामें मनसा, वाचा, कर्मणा संलग्न हो गयी। उसने शुद्ध मनसे सेवा करके ब्राह्मण देवताको पूर्णतया प्रसन्न कर लिया। ब्राह्मण देवताका व्यवहार बड़ा अव्यवस्थित था। वे कभी अनियत समयपर आते, कभी आते ही नहीं और कभी ऐसी वस्तु खानेको माँगते, जिसका मिलना अत्यन्त कठिन होता। किंतु पृथा उनके सारे काम इस प्रकार कर देती, मानो उसने उनके लिये पहलेसे ही तैयारी कर रखी हो। उसके शीलस्वभाव और संयमसे ब्राह्मणको बड़ा संतोष हुआ। कुन्तीके बचपनकी यह ब्राह्मण-सेवा उसके लिये बड़ी कल्याणप्रद सिद्ध हुई; इससे उसके जीवनमें संयम, सदाचार, त्याग एवं सेवाभावकी नींव पड़ी। आगे चलकर इन गुणोंका उसके अंदर अद्भुत विकास हुआ।

कुन्तीमें निष्कामभावका विकास भी बचपनसे ही हो गया था। उन्हें बड़ी तत्परता एवं लगनके साथ

...न्य ब्राह्मणकी सेवा करते पूरा एक वर्ष हो गया। ...के सेवाव्रतका अनुष्ठान पूरा हुआ। महर्षि दुर्वासाको ...तेर भी इनकी सेवामें कोई त्रुटि नहीं दिखायी ...ी। वे इनपर बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा—'बेटी! मैं तेरी सेवासे बहुत प्रसन्न हूँ। मुझसे कोई वरदान माँग ले।' कुन्तीने ब्राह्मण देवताको बड़ा ही सुन्दर उत्तर दिया। श्रीकृष्णकी बूआ और पाण्डवोंकी ...की माताका यह उत्तर सर्वथा अनुरूप था। कुन्तीने कहा—'भगवन्! आप और पिताजी मुझपर प्रसन्न हैं, मेरे सब कार्य तो इसीसे सफल हो गये। अब मुझे वर माँगनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।' एक अल्पवयस्क बालिकाके अंदर विलक्षण सेवाभावके साथ-साथ ऐसी निष्कामताका संयोग मणि-काञ्चन-संयोगके समान था। हमारे देशकी बालिकाओंको कुन्तीके इस आदर्श निष्कामसेवाभावसे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। अतिथि-सेवा हमारे सामाजिक जीवनका प्राण रही है और उसकी शिक्षा भारतवासियोंको बचपनसे ही मिल ...या करती थी। सच्ची एवं सात्त्विक सेवा वही है, जो प्रसन्नतापूर्वक की जाय, जिसमें भार अथवा उकताहट न प्रतीत हो और जिसके बदलेमें कुछ न चाहा जाय। आजकलकी सेवामें प्रायः इन दोनों बातोंका अभाव देखा जाता है। प्रसन्नतापूर्वक निष्कामभावसे की हुई सेवा कल्याणका परम साधन बन जाती है। अस्तु।

जब कुन्तीने महर्षिसे कोई वर नहीं माँगा, तब उन्होंने कुन्तीके भविष्यपर गम्भीरतासे विचार किया। उन्होंने समाधिसे देख लिया कि इसका विवाह पाण्डुसे होगा और संतानोत्पत्तिमें बाधा पड़ेगी। अतः उन्होंने इन्हें अथर्ववेदके शिरोभागमें आये हुए दिव्य मन्त्रोंका उपदेश दिया और कहा कि—'इन मन्त्रोंके बलसे तू जिस-जिस देवताका आवाहन करेगी, वही तेरे अधीन हो जायगा।' यह कहकर वे ब्राह्मण वहीं अन्तर्धान हो गये। आगे चलकर उनके दिये हुए मन्त्रोंके प्रभावसे कुन्तीने धर्म, वायु, इन्द्रका आवाहन करके उनसे क्रमशः युधिष्ठिर, भीम और अर्जुनको पुत्ररूपमें प्राप्त किया। इनकी सपत्नी माद्रीको अश्विनीकुमारसे दो पुत्र प्राप्त हुए—नकुल और सहदेव।

कुन्तीका विवाह महाराज पाण्डुसे हुआ था। महाराज पाण्डु बड़े ही धर्मात्मा थे। उनके द्वारा एक बार भूलसे मृगरूपधारी किन्दम मुनिकी हिंसा हो गयी। इस घटनासे इनके मनमें बड़ी ग्लानि और निर्वेद हुआ तथा उन्होंने सब कुछ त्यागकर वनमें रहनेका निश्चय कर लिया। देवी कुन्ती बड़ी पतिभक्ता थीं। ये भी इन्द्रियोंको वशमें करके तथा कामजन्य सुखको तिलाञ्जलि देकर अपने पतिके साथ वनमें रहनेके लिये तैयार हो गयीं। तबसे उन्होंने जीवनपर्यन्त नियमपूर्वक ब्रह्मचर्यव्रतका पालन किया और संयमपूर्वक रहीं। पतिका स्वर्गवास होनेपर इन्होंने अपने बच्चोंकी रक्षाका भार अपनी छोटी सौत माद्रीको सौंपकर अपने पतिका अनुगमन करनेका विचार किया। पर... माद्रीने इसका विरोध किया। उसने कहा... मैं अभी युवती हूँ, अतः मैं ही पतिदेवका... करूँगी। तुम मेरे बच्चोंकी सँभाल रखना... माद्रीकी बात मान ली और अन्ततक उन... अपने पुत्रोंसे बढ़कर समझा। सपत्नी एवं उस... साथ कैसा बर्ताव करना चाहिये, इसकी... हमारी माता-बहिनोंको कुन्तीके जीवनसे लेनी... पतिके जीवनकालमें इन्होंने माद्रीके साथ छोटी...का-सा बर्ताव किया और उसके सती होनेके बाद पुत्रोंके प्रति वही भाव रक्खा जो एक साध्वी... रखना चाहिये। सहदेवके प्रति तो उनकी विशेष... थी और वे भी इन्हें बहुत अधिक प्यार करते थे।

पतिकी मृत्युके बादसे कुन्तीदेवीका जीवन बरा... कष्टमें बीता; परंतु ये बड़ी ही विचारशीला एवं धैर्य... थीं, अतः इन्होंने कष्टोंकी कुछ भी परवा न क...

और अन्ततक धर्मपर आरूढ़ रहीं। दुर्योधनके अत्याचारोंको भी ये चुपचाप सहती रहीं। इनका स्वभाव बड़ा ही कोमल और दयालु था। इन्हें अपने कष्टोंकी कोई परवा नहीं रहती थी, परंतु ये दूसरोंका कष्ट नहीं देख सकती थीं। लाक्षाभवनसे निकलकर जब ये अपने पुत्रोंके साथ एकचक्रा नगरीमें रहने लगी थीं, उन दिनों वहाँकी प्रजापर एक बड़ा भारी सङ्कट था। उस नगरीके पास ही एक बकासुर नामका राक्षस रहता था। उस राक्षसके लिये नगरवासियोंको प्रतिदिन एक गाड़ी अन्न तथा दो भैंसे पहुँचाने पड़ते थे। जो मनुष्य इन्हें लेकर जाता, उसे भी वह राक्षस खा जाता था। वहाँके निवासियोंको बारी-बारीसे यह काम करना पड़ता था।

एक दिन जिस ब्राह्मणके घरमें पाण्डवलोग भिक्षुकोंके रूपमें रहते थे, उसके घरसे राक्षसके लिये आदमी भेजनेकी बारी आयी। ब्राह्मण-परिवारमें कुहराम मच गया। कुन्तीको जब इस बातका पता लगा तो उनका हृदय दयासे भर आया। इन्होंने सोचा—'हमलोगोंके रहते ब्राह्मण-परिवारको कष्ट भोगना पड़े, यह हमारे लिये बड़ी लज्जाकी बात होगी। फिर हमारे तो ये आश्रयदाता हैं, इनका प्रत्युपकार हमें किसी-न-किसी रूपमें करना ही चाहिये। अवसर पाकर उपकारीका प्रत्युपकार न करना धर्मसे च्युत होना है। जब इनके घरमें हमलोग रह रहे हैं तो इनका दुःख बँटाना हमारा कर्तव्य हो जाता है।' ऐसा विचारकर कुन्ती ब्राह्मणके घर गयीं। इन्होंने देखा कि ब्राह्मण अपनी पत्नी और पुत्रके साथ बैठे अपनी पत्नीसे कह रहे थे—'तुम कुलीन, शीलवती और बच्चोंकी माँ हो। मैं राक्षससे अपने जीवनकी रक्षाके लिये तुम्हें उसके पास नहीं भेज सकता।' पतिकी बात सुनकर ब्राह्मणीने कहा—'नहीं, स्वामी! मैं स्वयं उसके पास जाऊँगी। पत्नीके लिये सबसे बढ़कर सनातन कर्तव्य यही है कि वह अपने प्राणोंको निछावर करके पतिकी भलाई करे। स्त्रियोंके लिये यह बड़े सौभाग्यकी बा[त है] कि वे अपने पतिसे पहले ही परलोकवासिनी हो जा[यँ।] यह भी सम्भव है कि स्त्रीको अवध्य समझकर वह रा[क्षस] मुझे न मारे। पुरुषका वध निर्विवाद है और स्त्री[का] संदेहग्रस्त। इसलिये मुझे ही उसके पास भेजिये।' माता-पिताकी दुःखभरी बातें सुनकर उनकी कन्या बोली—'आप दोनों क्यों दुःखी हो रहे हैं! देखि[ये,] धर्मके अनुसार आप दोनों मुझे एक-न-एक दिन छो[ड़] देंगे। इसलिये आज ही मुझे छोड़कर अपनी रक्षा क[्यों] नहीं कर लेते! लोग संतान इसलिये चाहते हैं कि वह हमें दुःखसे बचाये।' यह सुनकर माँ-बाप दोनों रोने लगे, कन्या भी रोये बिना न रह सकी। सबको रोते देखकर नन्हा-सा ब्राह्मण बालक कहने लगा—'पिताजी! माताजी! बहन! आप न रोएँ।' उसने एक तिनका उठाकर हँसते हुए कहा—मैं इसीसे राक्षसको मार डालूँगा!' उस अबोधकी भोली बातपर सब लोग हँस पड़े।

कुन्ती यह सब देख-सुन रही थीं। ये आगे बढ़कर बोलीं—'महाराज! आपके तो एक पुत्र और एक ही कन्या है। मेरे आपकी दयासे पाँच पुत्र हैं। राक्षसको भोजन पहुँचानेके लिये मैं उनमेंसे किसी एकको भेज दूँगी, आप चिन्ता न करें।' ब्राह्मणदेवताने कुन्तीदेवीके इस प्रस्तावको सुनते ही अस्वीकार कर दिया। उन्होंने कहा—देवि! आपका इस प्रकार कहना आपके अनुरूप ही है, परंतु मैं तो अपने लिये अपने अतिथिकी हत्याका पाप नहीं ले सकता। 'कुन्तीने उन्हें बतलाया कि अपने जिस पुत्रको राक्षसके पास भेजूँगी, वह बड़ा बलवान्, मन्त्र-सिद्ध और तेजस्वी है, उसका कोई बाल भी बाँका नहीं कर सकता।' इसपर ब्राह्मण राजी हो गये। तब कुन्तीने भीमसेनको ब्राह्मणके कार्य-हेतु राक्षसके पास भेज दिया। भीमने उस राक्षसका अन्त कर देशको निष्कण्टक कर दिया। क्या, दूसरोंकी प्राणरक्षाके लिये अपने हृदयके टुकड़ेका जान-बूझकर भला कोई सामान्य

इस प्रकार बलिदान कर सकती है। कहना न
कि कुन्तीके इस आदर्श त्याग और निःस्वार्थ
(कल्याणपूर्वक) परहितकी भावनाका संसारपर
बड़ा प्रभाव पड़ा।

कुन्तीका जीवन आरम्भसे अन्ततक बड़ा ही
तपस्यामय और अनासक्त था। पाण्डवोंके
एवं अज्ञातवासके समय वे उनसे अलग
हस्तिनापुरमें ही रहीं और वहाँसे उन्होंने अपने पुत्रोंके
के प्रतिपक्षपर डटे रहनेका अपना विशेष संदेश
अपने भतीजे श्रीकृष्णके द्वारा भेजा। उन्होंने विदुला
और संजयका दृष्टान्त देकर बड़े ही मार्मिक शब्दोंमें
उन्हें कहला भेजा—'पुत्रो! जिस कार्यके लिये क्षत्राणी
पुत्र उत्पन्न करती है, वह कार्य सम्पन्न करनेका समय
आ गया है। इस समय तुमलोग मेरे दूधको न
लजाना।' महाभारत-युद्धके समय भी वे वहीं रहीं।
युद्ध-समाप्तिके बाद जब धर्मराज सम्राट्के पदपर
अभिषिक्त हुए और उन्हें राजमाता बननेका सौभाग्य
हुआ, तब कुन्तीने इसपर कोई विशेष उत्साहका
भाव न दिखाकर तटस्थ और संयत रहकर, (निर्लेप
भावसे) पुत्रवियोगसे दुःखी अपने जेठ-जेठानी धृतराष्ट्र
और गान्धारीकी सेवाका भार अपने ऊपर ले लिया
और द्वेष एवं अभिमानरहित होकर उनकी सेवामें
अपना समय बिताने लगीं; यहाँतक कि जब वे दोनों
युधिष्ठिरसे अनुमति लेकर वनमें जाने लगे तो उस
समय कुन्तीने मौनभावसे उनका अनुगमन किया।
जीवनभर दुःख और क्लेश भोगनेके बाद जब सुखके
दिन आये, उस समय भी स्वेच्छासे सांसारिक सुख-
भोगको ठुकराकर त्याग, तपस्या एवं सेवामय जीवन
स्वीकार करना कुन्तीदेवी-जैसी पवित्र आत्माका ही
काम था। जिन जेठ-जेठानीसे उन्हें तथा उनके पुत्रों
एवं पुत्रवधुओंको कष्ट, अपमान एवं अत्याचारके अतिरिक्त
कुछ नहीं मिला, उन्हीं पूज्य स्वजनों (जेठ-जेठानी)के
प्रति सम्मान तथा सेवात्यागका ऐसा उदाहरण संसारमें
अन्यत्र देखनेको नहीं मिलता। हमारी माताओं एवं बहनोंको
कुन्तीदेवीके इस अनुपम त्यागसे शिक्षा लेनी चाहिये।
निष्कामताकी दिशामें त्यागका महत्त्वपूर्ण स्थान है।

धर्मराज युधिष्ठिर

धर्मो विवर्धति युधिष्ठिरकीर्तनेन
　पापं प्रणश्यति वृकोदरकीर्तनेन।
शत्रुर्विनश्यति धनंजयकीर्तनेन
　माद्रीसुतौ कथयतां न भवन्ति रोगाः॥
　　　　　　　　(पाण्डवगीता २)

धर्मराज युधिष्ठिर पाण्डव भाइयोंमें सबसे बड़े थे।
सत्यवादी, धर्ममूर्ति, सरल, विनयी, मद-मान-मोहवर्जित,
काम-क्रोधरहित, दयालु, गो-ब्राह्मण-प्रतिपालक,
विद्वान्, ज्ञानी, धैर्यसम्पन्न, क्षमाशील, तपस्वी,
अजातशत्रु, मातृ-पितृ-गुरु-भक्त और भगवान् श्रीकृष्णके
अनन्य भक्त थे। धर्मके अंशसे उत्पन्न होनेके कारण
वे धर्मके गूढ़ तत्त्वको खूब समझते थे। धर्म और
तपकी सूक्ष्मतर भावनाओंका यदि किसीके भीतर
पूर्ण विकास था तो वह पाण्डवोंमें धर्मराज युधिष्ठिरमें ही
था, सत्य और क्षमा तो इनके सहजात सद्गुण थे।
बड़े-से-बड़े विकट प्रसंगोंमें भी उन्होंने सत्य और क्षमाका
त्याग नहीं किया। जब द्रौपदीका वस्त्र उतर रहा
था, भीम-अर्जुन-जैसे योद्धा भाई इस अपमानका
बदला लेनेके लिये धर्मराजका संकेत पाते ही समस्त
कुरुकुलका नाश करनेको उद्यत थे और बड़े भाईके
सम्मान और संकोचसे कुछ कर न पा रहे थे, तब
धर्मराज धर्महेतु सब कुछ चुपचाप सुन और सह रहे थे।

नित्यशत्रु दुर्योधन जिस समय अपना ऐश्वर्य दिखला-
कर पाण्डवोंको नीचा दिखानेके लिये द्वैत वनमें गया
था, उस समय अर्जुनके मित्र गन्धर्व चित्रसेनने कौरवोंकी

और अन्ततक धर्मपर आरूढ़ रहीं। दुर्योधनके अत्याचारोंको भी ये चुपचाप सहती रहीं। इनका स्वभाव बड़ा ही कोमल और दयालु था। इन्हें अपने कष्टोंकी कोई परवा नहीं रहती थी, परंतु ये दूसरोंका कष्ट नहीं देख सकती थीं। लाक्षाभवनसे निकलकर जब ये अपने पुत्रोंके साथ एकचक्रा नगरीमें रहने लगी थीं, उन दिनों वहाँकी प्रजापर एक बड़ा भारी सङ्कट था। उस नगरीके पास ही एक बकासुर नामका राक्षस रहता था। उस राक्षसके लिये नगरवासियोंको प्रतिदिन एक गाड़ी अन्न तथा दो भैंसे पहुँचाने पड़ते थे। जो मनुष्य इन्हें लेकर जाता, उसे भी यह राक्षस खा जाता था। वहाँके निवासियोंको बारी-बारीसे यह काम करना पड़ता था।

एक दिन जिस ब्राह्मणके घरमें पाण्डवलोग भिक्षुकोंके रूपमें रहते थे, उसके घरसे राक्षसके लिये आदमी भेजनेकी बारी आयी। ब्राह्मण-परिवारमें कुहराम मच गया। कुन्तीको जब इस बातका पता लगा तो उनका हृदय दयासे भर आया। इन्होंने सोचा—'हमलोगोंके रहते ब्राह्मण-परिवारको कष्ट भोगना पड़े, यह हमारे लिये बड़ी लज्जाकी बात होगी। फिर हमारे तो ये आश्रयदाता हैं, इनका प्रत्युपकार हमें किसी-न-किसी रूपमें करना ही चाहिये। अवसर पाकर उपकारीका प्रत्युपकार न करना धर्मसे च्युत होना है। जब इनके घरमें हमलोग रह रहे हैं तो इनका दुःख बँटाना हमारा कर्तव्य हो जाता है।' ऐसा विचारकर कुन्ती ब्राह्मणके घर गयी। इन्होंने देखा कि ब्राह्मण अपनी पत्नी और पुत्रके साथ बैठे अपनी पत्नीसे कह रहे थे—'तुम कुलीन, शीलवती और बच्चोंकी माँ हो। मैं राक्षससे अपने जीवनकी रक्षाके लिये तुम्हें उसके पास नहीं भेज सकता।' पतिकी बात सुनकर ब्राह्मणीने कहा—'नहीं, स्वामी! मैं स्वयं उसके पास जाऊँगी। स्त्रीके लिये सबसे बढ़कर सनातन कर्तव्य यही है कि वह अपने प्राणोंको निछावर करके पतिकी भलाई करे। स्त्रियोंके लिये यह बड़े सौभाग्यकी बात है कि वे अपने पतिसे पहले ही परलोकवासिनी हो जायँ। यह भी सम्भव है कि स्त्रीको अवध्य समझकर वह राक्षस मुझे न मारे। पुरुषका वध निर्विवाद है और स्त्रीका संदेहग्रस्त। इसलिये मुझे ही उसके पास भेजिये।' माता-पिताकी दुःखभरी बातें सुनकर उनकी कन्या बोली—'आप दोनों क्यों दुःखी हो रहे हैं? देखिये, धर्मके अनुसार आप दोनों मुझे एक-न-एक दिन छोड़ देंगे। इसलिये आज ही मुझे छोड़कर अपनी रक्षा क्यों नहीं कर लेते? लोग संतान इसलिये चाहते हैं कि वह हमें दुःखसे बचाये।' यह सुनकर माँ-बाप दोनों रोने लगे, कन्या भी रोये बिना न रह सकी। सबको रोते देखकर नन्हा-सा ब्राह्मण बालक कहने लगा—'पिताजी! माताजी! बहन! आप न रोएँ।' उसने एक तिनका उठाकर हँसते हुए कहा—'मैं इसीसे राक्षसको मार डालूँगा!' उस अबोधकी भोली बातपर सब लोग हँस पड़े।

कुन्ती यह सब देख-सुन रही थीं। ये आगे बढ़कर बोलीं—'महाराज! आपके तो एक पुत्र और एक ही कन्या है। मेरे आपकी दयासे पाँच पुत्र हैं। राक्षसको भोजन पहुँचानेके लिये मैं उनमेंसे किसी एकको भेज दूँगी, आप चिन्ता न करें।' ब्राह्मणदेवताने कुन्तीदेवीके इस प्रस्तावको सुनते ही अस्वीकार कर दिया। उन्होंने कहा—'देवि! आपका इस प्रकार कहना आपके अनुरूप ही है, परंतु मैं तो अपने लिये अपने अतिथिकी हत्याका पाप नहीं ले सकता।' कुन्तीने उन्हें बतलाया कि 'अपने जिस पुत्रको राक्षसके पास भेजूँगी, वह बड़ा बलवान्, मन्त्र-सिद्ध और तेजस्वी है, उसका कोई बाल भी बाँका नहीं कर सकता।' इसपर ब्राह्मण राजी हो गये। तब कुन्तीने भीमसेनको ब्राह्मणके कार्य-हेतु राक्षसके पास भेज दिया। भीमने उस राक्षसका अन्त कर देशको निष्कण्टक कर दिया। क्या, दूसरोंकी प्राणरक्षाके लिये अपने हृदयके टुकड़ेको जान-बूझकर भला कोई दानव

योगेश्वरेश्वर श्रीकृष्ण

श्रीकृष्ण योगेश्वर तथा पूर्ण मुक्त लीला-पुरुषोत्तम थे। वे सांसारिक कामनाओंसे सदा निःस्पृह तथा अहंता-ममतासे सर्वथा रहित थे। उन्होंने अपना समस्त जीवन अपने निजी स्वार्थके साधनमें नहीं, अपितु मानवजातिके परम कल्याण-साधनमें ही व्यतीत किया। उनके लिये कोई ऐसी प्राप्तव्य वस्तु न थी, जिसको पानेकी वे इच्छा करते। उनका कहीं भी कोई निजी स्वार्थ नहीं था, जिसे सिद्ध करनेकी वे चेष्टा करते। उन्हें नित्य समाधि सदा प्राप्त थी, जिसके पा लेनेपर कुछ भी प्राप्तव्य नहीं रह जाता—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
(गीता ६। २२)

युधिष्ठिरके राजसूययज्ञमें भीष्म-जैसे महान् पुरुषने सर्वप्रथम उनकी ईश्वरवत् पूजा की और उनके इस प्रस्तावका अकेले चेदिराज शिशुपालको छोड़कर सारी सभाने एक स्वरसे अनुमोदन किया था। श्रीकृष्णने सांदीपनि-ऋषिके यहाँ रहकर चौदह विद्याओं तथा चौंसठ कलाओंका ज्ञान प्राप्त किया था। यही नहीं, पाण्डवोंके वनवासके समय उन्होंने बारह वर्षोंतक अङ्गिरा नामक ऋषिसे घोर योगकी क्रियाएँ सीखी थीं और योगाभ्यास तथा आध्यात्मिक-चिन्तनमें समय बिताया था। इस प्रकार वे पूर्ण योगेश्वर बन गये थे। श्रीमद्भगवद्गीतामें उन्होंने स्वयं अपनेको ईश्वर बतलाया है, इसमें कोई संदेह भी नहीं है; क्योंकि ईश्वरभावको प्राप्त प्रत्येक पुरुष अपनेको ईश्वर कह सकता है। इस भाँति तो श्रीकृष्ण सबके स्रष्टा, सबकी आत्मा, पूर्णब्रह्म, पूर्णतम और साक्षात् भगवान् थे। लोककल्याणकी अपनी इच्छासे ही वे इस धराधामपर अवतरित हुए थे। गीताके ग्यारहवें अध्यायमें श्रीकृष्णने अर्जुनको अपने विश्वरूपका दर्शन कराया था। महाभारतके उद्योगपर्वमें कथा आती है कि जब वे दूत बनकर कौरवोंकी सभामें गये थे, तब जन्मान्ध राजा धृतराष्ट्रको भी उन्होंने अपना वही विश्वरूप दिखलाया था। अश्वत्थामाके द्वारा छोड़े हुए ब्रह्मास्त्रकी ज्वालासे, जब उत्तराका गर्भ जलने लगा, उस समय श्रीकृष्णने कहा था—

'यदि मैं कभी झूठ न बोला होऊँ, यदि मैंने किसीके प्रति भी द्वेष न रखा हो, यदि मेरा धर्म एवं ब्राह्मणोंमें सदा प्रेम रहा हो तो पाण्डवोंका एकमात्र आशा यह बालक जी उठे।' श्रीकृष्णके इस कथनके अनुसार अभिमन्युपुत्र परीक्षित्की रक्षा हुई थी। श्रीकृष्णमें गम्भीर ज्ञान, दूरदर्शिता, प्रेम, निःस्वार्थता तथा लोक-कल्याण-निष्ठा आदि ऐसे अनेक गुण-गण-समूह हैं, जिनका यथार्थतः वर्णन किया जाना सम्भव नहीं है। इससे यह स्पष्ट सिद्ध है कि वे इस धराधामपर एकमात्र पूर्णतम आदर्श पुरुष थे। जो पूर्णावस्थाको प्राप्त होकर सदा आत्मामें स्थित होते हैं, वे लोगोंको अपने-अपने विभिन्न दृष्टि-बिन्दुओंसे अच्छे-बुरे कर्म करते हुए केवल प्रतीत मात्र होते हैं।

वास्तवमें वे कर्मोंसे परे होते हैं। स्वयं उन्हींके वचन हैं—'जिसके अंदर अहंकार नहीं है तथा जिसकी बुद्धि सांसारिक कार्योंमें लिप्त नहीं होती, वह लोकोंका संहार करता हुआ भी वास्तवमें न तो हिंसा करता है और न वह उस कर्मसे बँधता ही है' (गी० १८। १७) यद्यपि श्रीकृष्णके कुछ बालचरित्रोंके विषयमें बहुत लोगोंने आक्षेप किये हैं, परंतु आक्षेप करनेवाले इस बातको भूल गये हैं कि जिस समय श्रीकृष्णने गोपिकाओंके साथ रास-लीला की थी, उस समय वे निरे बालक थे। इसके अतिरिक्त उन लीलाओंमें भी आध्यात्मिक-रहस्य, उनका लोकहितकारी उद्देश्य तथा विश्व-कल्याणका भाव ही निहित था। विशेष ध्यान देनेयोग्य बात जो हमारे लक्ष्यमें आती है, वह यह है कि श्रीकृष्णने सदा साधुओंका साथ दिया और दुष्टोंका संहार किया।

भगवान् श्रीकृष्णका जीवन बाल्यकालसे लेकर बलतक एक-दो नहीं, किंतु अनन्त अलौकिक लीलाओं तथा घटनाओंसे भरपूर है। यही कारण है कि ष्ण-तत्त्वको जाननेवाले भक्तों तथा आर्य महर्षियोंने— एते चांशकलाः प्रोक्ताः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।' कहकर अन्य अवतारी-पुरुषोंको तो अंशावतार ही, पर भगवान् श्रीकृष्णको पूर्णावतार माना है। युगवादके अनुसार भगवान् श्रीकृष्णका जन्म द्वापरयुगमें माना गया है। जिस समय अन्यायी राजा कंसके अत्याचारोंसे प्रजामें हाहाकार मचा हुआ था, गो-ब्राह्मण सताये जा रहे थे, धर्म-कर्म नष्टप्राय हो चुके थे एवं पवित्र भारतभूमि पापके भारसे दबी जा रही थी, ऐसे समयमें कंसके कारागारमें पड़ी हुई माता देवकीकी परमपावन कुक्षिसे भाद्रपद-मासकी कृष्णाष्टमीकी ठीक अर्धरात्रिके समय उसी कारागारमें भगवान् कृष्णका जन्म हुआ।

श्रीकृष्णकी दैवी-शक्ति—श्रीकृष्णके बाल्य तथा र जीवनकी प्रत्येक घटना आश्चर्य और चमत्कारोंसे हुई है। छोटी-अवस्थामें ही कितने ही छद्म-वेशधारी को मारना, गोवर्धन-गिरिका धारण एवं कालियनागका आदि घटनाएँ भगवान् श्रीकृष्णकी किसी महान किसी परिचायिका हैं। भगवान् श्रीकृष्णके सबसे बड़ी विचित्रता तो यह है कि किसी भी उनमें मानव-सुलभ विकारोंके दर्शन नहीं होते। प्रेम कालमें भी उनकी वंशीका वही देव-निनाद अव्याहत रहता है। वंशीका जो मधुर, र गोपियोंको कदम्बके-वृक्षके ऊपरसे निनादित ी पड़ता है, वही मधुर ध्वनि कालियनागके बजनेवाली वंशीमें भी ध्वनित होती है। इन ओंमें कितना भी अन्तर क्यों न हो, किंतु कल्पमें और तदनुरूप वंशीके निनादमें नहीं पाया जाता।

भगवान् श्रीकृष्णकी जितेन्द्रियता—साधारणतया लोकमें भगवान् श्रीकृष्णके चरित्रके सम्बन्धमें कुछ भ्रम-सा फैला हुआ है। इसका मुख्य कारण है— श्रीकृष्ण-चरित्रका तत्त्वतः विचार करनेकी पात्रताकी कमी है। धृतराष्ट्र संजयसे पूछते हैं कि जब माधव— श्रीकृष्ण समस्त लोकोंके महान् ईश्वर हैं, इस बातको तुम कैसे जानते हो और मैं उन्हें क्यों नहीं जानता। संजय कहते हैं कि 'हे राजन्! जिनका ज्ञान अज्ञान-के द्वारा ढका हुआ है, वे भगवान् श्रीकृष्णको नहीं जान सकते। भगवान् केशव अपनी योगमायासे मनुष्योंको ठगते हैं। जो केवल उन्हींकी शरणमें चले जाते हैं, वे ही मायासे मोहित नहीं होते। वस्तुतः श्रीकृष्ण-जैसे महायोगेश्वरपर किसी प्रकार किंचित् भी विलासिताका आरोप नहीं किया जा सकता। श्रीमद्भागवतकी जिस रासपंचाध्यायीके आधारपर भगवान् श्रीकृष्णकी रासलीलाका अनुकरण किया जाता है, वहाँ भी उनके लिये 'साक्षान्मन्मथमन्मथः' तथा 'आत्मारामोऽप्यरीरमत्' इत्यादि वाक्योंका ही प्रयोग किया गया है। श्रीमद्भागवतमें विभिन्न-नामोंसे जिन गोपिकाओंका वर्णन प्राप्त है, वे सब तत्त्वतः योगिराजभगवान् श्रीकृष्णकी चिरसहचरी श्रुतियाँ कही गयी हैं। अपनी अलौकिक आत्म-शक्तिके परीक्षणार्थ उन दिव्य सिद्धियोंके प्रलोभनसे प्रलोभित न होकर यथासमय उनका आवाहन तथा विसर्जन करना भगवान् श्रीकृष्ण-जैसे योगिराजके लिये ही सम्भव हो सकता है। जिन त्रिकालज्ञ महर्षि वेदव्यासने भगवान् श्रीकृष्णके लिये—'गो-गोप-गोपी-पतिः' इस सुन्दर विशेषणका प्रयोग किया है, वे ही उनकी आदर्श जितेन्द्रियताकी महत्ताका वर्णन करनेमें समर्थ हैं, अन्य सब असमर्थ हैं।

श्रीकृष्णने कौरवों और पाण्डवोंमें युद्ध कराया और उस युद्धके आरम्भमें जीवको मुक्त कर देनेवाले दिव्य

योगकी अलौकिक शक्तिका महत्त्व सुनाया । उन्हीं उपदेशोंका जो अठारह अध्यायोंमें निबद्ध संग्रह गीताके नामसे सर्वत्र प्रसिद्ध है । गीता-ज्ञानके सदृश पूर्ण ज्ञानका उपदेश केवल श्रीकृष्णके समान कोई पूर्ण पुरुष ही कर सकता है । महाभारत-युद्धके परिणामको देखकर तथा विभिन्न संग्रामोंमें जो अनेक घटनाएँ हुईं, उनका निरीक्षण करके हम इसी परिणामपर पहुँचते हैं कि श्रीकृष्णने अपने अवतारके उद्देश्य अर्थात् धर्म-संस्थाओंको पूर्ण करनेके हेतुसे ही पाण्डवोंका पक्ष लिया था । उनका अक्षुब्ध मन, प्रगल्भबुद्धि, साधुओंके प्रति अहैतुक प्रेम, भ्रमात्मक विचारों या भावोंका पूर्ण अभाव उनके ऐश्वर्यके परिचायक हैं । यद्यपि वे अपूर्ण मनुष्योंके बीचमें रहते हुए उन मनुष्योंके समान ही व्यवहार करते, बोलते-चलते और विचार करते हुए हमें दीख पड़ते हैं ।

संसारको लोक-संग्रहका सच्चा मार्ग और महत्त्व बतलानेवाले श्रीकृष्ण धर्म और नियमोंके प्रवर्तक थे । श्रीकृष्णका यथार्थ रूप जाननेका सर्वोत्तम उपाय उनसे प्रेम करना तथा उनकी भक्ति करना है । श्री अपने श्रीमुखसे कहते हैं कि 'मेरे आचरणोंका अ न करो, यदि तुम मोक्ष चाहते हो और मुझसे करते हो तो मेरी आज्ञाका पालन करो—

> जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः
> त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन
> (गीता ४ ।

'जो कोई मेरे दिव्य जन्म-कर्मको तत्त्वसे जान वह (सब पापोंसे) मुक्त होकर पुनर्जन्मको नहीं होगा, वह मुझे पा लेगा ।' योगेश्वर श्रीकृ श्रीमुखके ये दिव्य वचन सर्वथा धारण करने य एवं सहज कल्याण-प्रदायक हैं । निःसंदेह श्री स्वयं भगवान् थे और योगेश्वरोंके ईश्वर थे । उन जिस प्रकारका कर्म करनेको और जिस प्रकारसे कर को कहा है—उसका अनुसरण जो कोई करता वह धन्य है । भगवान्‌के वचनोंके अनुसार स्व या शुभ कर्तव्यकर्म करनेवालेकी कभी दुर्गति न हो सकती—

> 'न हि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति ।

सकाम ऐश्वर्य स्थायी नहीं होता

जब भगवान् विष्णुने वामनरूपसे बलिसे पृथ्वी तथा स्वर्गका राज्य छीनकर इन्द्रको दे दिया, तब कुछ ही दिनोंमें राज्यलक्ष्मीके स्वाभाविक दुर्गुण—गर्वसे इन्द्र पुनः उन्मत्त हो उठे । एक दिन वे ब्रह्माजीके पास पहुँचे और हाथ जोड़कर बोले—'पितामह ! अब अपार दानी राजा बलिका कुछ पता नहीं लग रहा है । मैं सर्वत्र खोजता हूँ, पर उनका पता नहीं मिलता । आप कृपाकर मुझे उनका पता बताइये ।' ब्रह्माजीने कहा—'तुम्हारा यह कार्य उचित नहीं; तथापि किसीके पूछनेपर झूठ उत्तर नहीं देना चाहिये, अतएव मैं तुम्हें बलिका पता बतला देता हूँ । राजा बलि इस समय ऊँट, बैल, गधा या [illegible] में रहते हैं ।' इन्द्रने इसपर पूछा—'यदि मैं किसी स्थानपर बलिको पाऊँ तो उन्हें अपने वज्रसे मार डालूँ या नहीं ?' ब्रह्माजीने कहा—राजा बलि—'अरे ! वे कदापि मारने योग्य नहीं हैं । तुम्हें उनके पास जाकर कुछ शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये ।'

इसके बाद देवराज इन्द्र दिव्य आभूषण धारणकर, ऐरावतपर चढ़कर बलिकी खोजमें निकल पड़े । अन्तमें एक खाली घरमें उन्होंने एक गदहा देखा । कई लक्षणोंसे उन्होंने अनुमान किया कि ये ही राजा बलि हो सकते हैं । इन्द्रने कहा—'दानवराज ! इस समय तुमने बड़ा विचित्र वेष बना रक्खा है । क्या तुम्हें अपनी इस दुर्दशापर कोई दुःख नहीं होता ?

समय तुम्हारे छत्र, चामर कहाँ हैं ! अब तुम्हारी माला कहाँ गयी ? कहाँ गया वह तुम्हारा दानका महाकल और कहाँ गया तुम्हारा सूर्य, कुबेर, अग्नि और जलका रूप ?'

बलिने कहा—'देवेन्द्र ! इस समय तुम मेरे छत्र, र, सिंहासनादि उपकरणोंको नहीं देख सकोगे। फिर कभी मेरे दिन लौटेंगे और तब तुम उन्हें देख गे। तुम जो इस समय अपने ऐश्वर्यके मदमें आकर उपहास कर रहे हो, यह केवल तुम्हारी तुच्छ का ही परिचायक है। मालूम होता है, तुम अपने दिनोंको सर्वथा ही भूल गये। पर सुरेश ! तुम्हें लेना चाहिये कि तुम्हारे वे दिन पुनः लौटेंगे। ज ! इस विश्वमें कोई वस्तु सुनिश्चित और सुस्थिर है। काल सबको नष्ट कर डालता है। इस कालके त रहस्यको जानकर मैं किसीके लिये भी शोक नहीं ा। यह काल धनी, निर्धन, बली, निर्बल, पण्डित, , रूपवान्, कुरूप, भाग्यवान्, भाग्यहीन, बालक, , वृद्ध, योगी, तपस्वी, धर्मात्मा, शूर, बड़े-से-बड़े कारियोंमेंसे किसीको भी नहीं छोड़ता और सभीको समान ग्रस्त कर लेता है—सबका कलेवा कर ता है। ऐसी दशामें महेन्द्र ! मैं क्यों सोचूँ ? कालके कारण मनुष्योंको लाभ-हानि और सुख-दुःखकी प्राप्ति ती है। काल ही सबको देता और पुनः छीन भी ता है। कालके ही प्रभावसे सभी कार्य सिद्ध होते हैं। सलिये वासव ! तुम्हारा अहंकार, मद तथा पुरुषार्थका र्व केवल मोहमात्र है।

ऐश्वर्योंकी प्राप्ति या विनाश किसी मनुष्यके अधीन नहीं है। मनुष्यकी कभी उन्नति होती है और कभी अवनति। यह संसारका नियम है, इसमें हर्ष-विषाद नहीं करना चाहिये। न तो सदा किसीकी उन्नति होती है और न सदा अवनति या पतन ही। समयसे ही ऊँचा पद मिलता है और समय ही गिरा देता है। इसे तुम अच्छी तरह जानते हो कि एक दिन देवता, पितर, गन्धर्व, मनुष्य, नाग, राक्षस—सब मेरे अधीन थे। अधिक क्या—

'नमस्तस्यै दिशेऽप्यस्तु यस्यां वैरोचनिर्बलिः'

'जिस दिशामें राजा बलि हों, उस दिशाको भी नमस्कार'—यह कहकर मैं जिस दिशामें रहता था, उस दिशाको भी लोग नमस्कार करते थे। पर जब मुझपर भी कालका आक्रमण हुआ, मेरा भी दिन पलटा खा गया और मैं इस दशामें पहुँच गया, तब किस गरजते और तपते हुएपर कालका चक्र न फिरेगा ? मैं अकेला बारह सूर्योंका तेज रखता था, मैं ही पानीका आकर्षण करता और बरसाता था। मैं ही तीनों लोकोंको प्रकाशित करता और तपाता था। सब लोकोंका पालन, संहार, दान, ग्रहण, बन्धन और मोचन मैं ही करता था। मैं तीनों लोकोंका स्वामी था, किंतु कालके फेरसे इस समय मेरा वह प्रभुत्व समाप्त हो गया। विद्वानोंने कालको दुरतिक्रम और परमेश्वर कहा है। बड़े वेगसे दौड़नेपर भी कोई मनुष्य कालको लाँघ नहीं सकता। उसी कालके अधीन हम, तुम—सब कोई हैं। इन्द्र ! तुम्हारी बुद्धि सचमुच बालकों-जैसी है। शायद तुम्हें पता नहीं कि अबतक तुम्हारे-जैसे हजारों इन्द्र हुए और नष्ट हो चुके। यह राज्यलक्ष्मी, सौभाग्यश्री, जो आज तुम्हारे पास है, तुम्हारी बपौती या खरीदी हुई दासी नहीं है; वह तो तुम-जैसे हजारों इन्द्रोंके पास रह चुकी है। वह इसके पूर्व मेरे पास थी। अब मुझे छोड़कर तुम्हारे पास गयी है और शीघ्र ही तुमको भी छोड़कर दूसरेके पास चली जायगी। मैं इस रहस्यको जानकर रत्तीभर भी दुःखी नहीं होता।

बहुत-से कुलीन धर्मात्मा गुणवान् राजा अपने योग्य मन्त्रियोंके साथ भी घोर क्लेश पाते हुए देखे जाते हैं; साथ ही इसके विपरीत मैं नीचकुलमें उत्पन्न मूर्ख मनुष्योंको बिना किसीकी सहायताके राजा बनते देखता हूँ तो अच्छे

लक्षणोंवाली परम सुन्दरी अभागिनी और दुःखसागरमें डूबती दीख पड़ती है और कुलक्षणा, कुरूपा भाग्यवती देखी जाती है। मैं पूछता हूँ, इन्द्र ! इसमें भवितव्यता-काल यदि कारण नहीं है तो और क्या है ? कालके द्वारा होनेवाले अनर्थ बुद्धि या बलसे हटाये नहीं जा सकते। विद्या, तपस्या, दान और बन्धु-बान्धव—कोई भी कालग्रस्त मनुष्यकी रक्षा नहीं कर सकता। आज तुम मेरे सामने वज्र उठाये खड़े हो, पर मैं यदि अभी चाहूँ तो एक घूसा मारकर वज्रसमेत तुमको गिरा दूँ। चाहूँ तो इसी समय ऐसे अनेक भयंकर रूप धारण कर लूँ, जिनको देखते ही तुम डरकर भाग जाओगे। परंतु करूँ क्या ! यह समय सह लेनेका है—पराक्रम दिखलानेका नहीं। नीति कहती है—'बुद्धिमन्तः सहन्ते।' इसलिये यथेच्छ गदहेका ही रूप बनाकर मैं अध्यात्म-निरत हो रहा हूँ। शोक करनेसे दुःख मिटता नहीं, वह तो और बढ़ता है। इसीसे मैं बेखटके हूँ, बहुत निश्चिन्त, इस दुरवस्थामें भी।'

बलिके इतने विशाल धैर्यको देखकर इन्द्रने उनकी बड़ी प्रशंसा की और कहा—निःसंदेह तुम बड़े धैर्यवान् हो जो इस अवस्थामें भी मुझ वज्रधरको देखकर तनिक भी विचलित नहीं होते। निश्चय ही तुम राग-द्वेषसे शून्य और जितेन्द्रिय हो। तुम्हारी शान्तचित्तता, सर्वभूत-सुहृदता तथा निर्वैरता देखकर मैं तुमपर प्रसन्न हूँ। तुम महापुरुष हो। अब मेरा तुमसे कोई वैर नहीं रहा। तुम्हारा कल्याण हो। अब तुम मेरी ओरसे बेखटके रहो एवं निश्चिन्त और निरोग होकर समयकी प्रतीक्षा करो।'

यों कहकर देवराज इन्द्र ऐरावत हाथीपर चढ़कर चले गये और बलि पुनः अपने स्वरूपचिन्तनमें स्थिर हो गये।

(महाभारत, शान्तिपर्व, मोक्षधर्म, अध्याय २२१–२२७)

राजा रत्नग्रीव

यो नरो जन्मपर्यन्तं स्वोदरस्य प्रपूरकः।
न करोति हरेः पूजां स नरो गोवृषः स्मृतः॥

'जो मनुष्य जीवनभर अपना पेट भरनेमें ही लगा रहता है और श्रीहरिकी पूजा नहीं करता, वह मनुष्यरूपमें बैलके समान है।'

त्रेतायुगकी बात है। चम्पकनगरमें रत्नग्रीव नामके एक भगवद्भक्त प्रजावत्सल आदर्श राजा राज्य करते थे। उनमें अहंकारका नामतक नहीं था। राज्यवैभवको वे अपने विलासका साधन नहीं मानते थे। उनका मत था कि कोष तो प्रजाका है और प्रजा साक्षात् जनार्दनका स्वरूप है। राजाकी धर्मनिष्ठाके कारण पूरा राज्य आदर्श हो गया था। सब लोग वर्णाश्रमधर्मके अपने कर्तव्योंका यथोचित पालन करते थे। ब्राह्मण वेदाध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन तथा श्रीहरिके लिये हुए दानको दान कर देनेमें लगे रहते थे। क्षत्रिय सदा धर्मयुद्धके लिये प्रस्तुत, प्राणियोंकी रक्षामें उद्यत शूरवीर थे और वैश्य न्यायसंगत रीतिसे कृषि या वाणिज्यके द्वारा उपार्जन करते थे। शूद्र समाजकी सेवाको अपना कर्तव्य समझकर उसे तन्मयतासे करते थे। स्त्रियाँ पतिव्रता, गृहकार्यमें कुशल, मधुरभाषिणी तथा सुशीला थीं और पुरुष उद्योगी, धीर, परस्त्रीको माता समझनेवाले तथा सदाचारी थे। सब लोग सदा भगवन्नामके जपमें लगे रहते थे। सब भगवद्भक्त थे। दया, सत्य, शम, दम, दान आदि पूरे राज्यमें व्यापक थे। वहाँ कोई असत्य बोलनेवाला, चोर, आचारहीन, परद्रव्यभोगी नहीं था। राजा प्रजासे उत्पादनका केवल छठा भाग ही लेते थे। दूसरा कोई भी 'कर' प्रजापर नहीं था। यह 'कर' भी प्रायः प्रजाके हितमें ही लगाया जाता था।

राजाकी आयुका बड़ा भाग कर्तव्यपालन करते हुए व्यतीत हो गया। तब राजाने अपना अंत समय

ंदस और भगवान्‌के भजनमें लगानेका निश्चय ये। उन्होंने रानीसे सम्मति ली। पतिव्रता पत्नीने का समर्थन किया। राजाने राज्यका भार पुत्रको ·· तीर्थयात्राकी तैयारी की। उस दिन रात्रिमें होंने स्वप्नमें एक तेजस्वी ब्राह्मणको देखा। दूसरे ने राजाके पास एक जटा-वल्कलधारी तपस्वी ब्राह्मण ये। विप्रदेवका यथाविधि सत्कार-पूजन करके राजाने ग—'मैं किस तीर्थमें जाकर निवास करूँ? वहाँ कर भगवान्‌का भजन करूँ कि जिससे मैं जन्म-णके चक्रसे छूट जाऊँ?'

ब्राह्मणने अयोध्या, हरद्वार, अवन्तिका, काञ्ची, शी आदि तीर्थोंका माहात्म्य बतलाते हुए बताया कि जाको श्रीपुरुषोत्तमपुरीमें जाकर निवास करना चाहिये। र्थयात्राकी विधि पूछनेपर उन्होंने कहा—तीर्थयात्राके ये श्रद्धापूर्वक निश्चय करके भगवान्‌में ही मन लगाना हिये। स्त्री-पुत्र, घर-सम्पत्तिको अनित्य समझकर नका मोह सर्वथा त्याग देना चाहिये। तीर्थयात्री भगवन्नामका उच्चारण करता हुआ घरसे निकले और एक कोस जाकर किसी जलाशयपर क्षौर कराकर स्नान करे। तीर्थोंमें मनुष्योंके पाप उनके केशोंके आश्रयसे ही रह जाते हैं, इसीसे मुण्डन करानेकी विधि है। लोभ छोड़कर दण्ड, कमण्डलु और आसन लेकर तीर्थयात्रीके वेशमें चले। श्रीहरिके क्षेत्रकी ओर जिसके चरण जा रहे हैं, भगवान्‌की सेवामें जिसके हाथ लगे हैं, श्रीनारायणके चिन्तनमें जिसका चित्त लगा है, जिसकी जीभपर अखण्ड भगवन्नाम विराजमान हैं, जो भगवान्‌के ज्ञानको ही विद्या, भगवत्प्राप्तिके साधनको ही तप और नारायणकी सेवाको ही अपनी कीर्ति मानता है, उसीकी तीर्थयात्रा सफ— कोई भी सवारी काममें लेनेसे तीर्थयात्राका फल कम हो जाता है।'

राजाने विधिपूर्वक तीर्थयात्राका निश्चय किया। उन्होंने राज्यमें घोषणा कर दी कि यमदण्डसे मुक्त होकर भगवान्‌को पानेकी इच्छासे जो भी मेरे साथ चलना चाहें, चलें। इस राजाज्ञाकी घोषणा होनेपर बहुतसे नर-नारी उत्साहपूर्वक राजाके साथ पुरुषोत्तमक्षेत्र जानेको उद्यत हो गये। मनको कामादि दोषोंसे अलग करके भगवान्‌में लगाकर भगवन्नामका कीर्तन करते हुए वे सब लोग एक कोस गये और वहाँ क्षौर कराकर स्नान किया। मार्गमें भगवान्‌की कथा कहते-सुनते, भगवान्‌की लीला एवं गुणोंके ललित पदोंका गान करते, दीन-दुखियोंको दान देते, सब लोग गण्डकीके किनारे पहुँचे। ब्राह्मणने राजासे कहा—'राजन्! जिसके मस्तकपर तुलसीदल हो, हृदयपर सुन्दर शालग्राम-शिला हो, मुँहसे राम-नामका उच्चारण या कानसे उसका श्रवण होता हो, वह संसारसे निश्चय मुक्त हो जाता है। राजाने सबके साथ वहाँ गण्डकी-तीर्थमें स्नान-तर्पण आदि करके भगवान् शालग्रामका पूजन किया।

वहाँसे चलकर जब सब लोग गङ्गा सागर-सङ्गमपर पहुँचे, तब राजाकी भगवद्दर्शन-लालसा बहुत तीव्र हो गयी। जब ब्राह्मणने बताया कि हम नीलपर्वतकी सीमामें आ गये हैं, जहाँ भगवान्‌की महिमाका प्रत्यक्ष प्रभाव है, तब तो राजा और भी उत्सुक हो उठे। उनकी उत्कण्ठा देखकर ब्राह्मणने आदेश दिया—'जबतक भगवान्‌के दर्शन न हो जायँ, तबतक सब लोग यहाँ बैठकर भगवान्‌का नामकीर्तन करें। वे भक्तवत्सल प्रभु कभी भक्तकी उपेक्षा नहीं करते।'

सब लोग निर्जल उपवास कर रहे थे। सबके दर्शनोंकी तीव्र लालसा थी। बड़े

निःस्पृह ब्राह्मण सुदामा

…गके विदर्भ* राज्यके किसी छोटे-से ग्राममें …नामके एक सदाचारी ब्राह्मण रहते थे । वे … शास्त्रोंके ज्ञाता, धर्मनिष्ठ, कुलीन एवं साधु … मनुष्य थे । उनके कुटुम्बमें उनकी स्त्री और …त्र थे (किसी-किसीका मत है कि उनके कोई पुत्र …या) । सदाचारी और सद्गुणी होते हुए भी …रा वे ऐसे दरिद्र थे कि कभी-कभी लगातार उन्हें … लङ्घन हो जाते थे, किंतु वे इतने संतोषी भी … किसीके यहाँ कभी कुछ माँगने न जाते थे, … माँगे जो कुछ मिल जाता, उसीसे अपना और … कुटुम्बका पालन करते थे । उनके यहाँ दूसरे … लिये कभी अन्नका दाना नहीं बचता था । जैसा …अन्नका था, वैसा ही वस्त्रोंका भी था। क्योंकि फटे- … वस्त्रोंसे ही दम्पति और बालकोंका कार्य चलता … कभी-कभी तो वस्त्रोंको सीते-सीते ब्राह्मणी हैरान …जाती थी, किंतु पुराने वस्त्र इनका पीछा नहीं छोड़ते … सुदामा सुख-दुःखको समान मानकर अपने धर्म- …में लगे रहते थे । जैसे वे ईश्वरभक्त और साधु …र थे, सौभाग्यसे वैसी ही साध्वी स्त्री उन्हें मिली थी। …की स्त्रीका नाम था सुशीला । सुशीला वास्तवमें …शीला' ही थी । तीन-तीन दीनोंतक भूखी रहकर भी …दा-प्रेमसे अपने पतिकी सेवा और बच्चोंका लालन- … किया करती थी । वह कभी भी पातिव्रत-धर्मसे …त नहीं हुई और न भोजन-वस्त्र और आभूषणोंका …जा करके उन्होंने कभी निर्धन पति- (सुदामाजी-) … चित्त ही दुखाया । मिल गया तो खा लिया, नहीं …यों ही रह गयी; और, उसपर भी सदा प्रसन्न मुख । …नों (दम्पति) ही सदाचारकी मूर्ति थे ।

एक बार ऐसा प्रसंग आया कि इस दरिद्र कुटुम्बको दो उपवास हो गये और कहीं कुछ न मिला । तीसरे दिन भूखसे व्याकुल होकर छोटे-छोटे बच्चे रोने लगे, तो सुशीलाका धैर्य जाता रहा और वे हाथ जोड़कर डरती हुई सुदामाजीसे बोलीं—'नाथ ! बच्चे भूखके मारे व्याकुल हो रहे हैं, किंतु आप उदासीन बैठे हैं, कोई प्रयत्न नहीं कर रहे हैं । यदि भिक्षासे कार्य नहीं चलता तो किसी कुटुम्बी या पड़ोसीके यहाँसे अन्नका प्रबन्ध कीजिये अथवा किसी मित्रकी शरण लीजिये । क्या आपके कोई मित्र नहीं है ? अब तो उदरकी ज्वाला सही नहीं जाती । मैं अकेली होती तो चाहे जैसे भी दिन काट डालती, किंतु इन छोटे-छोटे बच्चोंका रोना-कलपना तो मुझसे नहीं देखा जाता । हाय ! हमलोग बड़े अभागी हैं । पूर्व-जन्ममें न जाने कौन-से पाप किये हैं, जिससे ऐसा कष्ट भोग रहे हैं ।'

सुदामाने हँसते हुए उत्तर दिया—सुशीले ! आज तुमने अपना धैर्य क्यों छोड़ दिया है ? तुम्हारा वह संतोष कहाँ गया ? क्या भूखकी ज्वालाको तुम दबा नहीं सकती ? बालक रो-धोकर स्वयं चुप हो जायँगे । देखती ही हो, मैं लगातार भिक्षाको जाता हूँ, किंतु कहींसे कुछ नहीं मिलता । फिर मैं क्या करूँ ! पड़ोसियोंसे मैं कई बार भिक्षा माँगकर ले आया हूँ और कुटुम्बियोंके पास इस अवस्थामें माँगने जाना मैं उचित नहीं समझता । रह गये मित्र, सो इस संसारमें मेरे वे दो हैं—एक नारायण (श्रीकृष्ण) और दूसरे दरिद्रनारायण । दरिद्रनारायण तो सदा मेरे यहाँ डटे ही रहते हैं और नारायण यहाँसे बहुत दूर द्वारिकामें निवास करते हैं ।

* कई लोगोंने इनका स्थान द्रविड़देश (जो उड़ीसाके दक्षिण-पूर्वीय सागरके किनारेसे रामेश्वरतक है) बताया है, …तु मदनकोशकारने गुजरात प्रदेशमें सागरके किनारे पोरबन्दर (सुदामापुरी) इनका स्थान बताया है और यही …रेक भी बैठता है; क्योंकि पोरबन्दरमें इनकी और इनकी स्त्रीकी मूर्ति अबतक विद्यमान है । अतः इनका द्रविड़-…ह्मण न होकर गुर्जर-ब्राह्मण होना अधिक उपयुक्त मालूम होता है ।

मेरी-उनकी साधारण मित्रता नहीं; बड़ी घनिष्ठ मित्रता है। मैं और वे दोनों महर्षि सान्दीपनिके यहाँ साथ-ही-साथ पढ़े और खेले थे। मित्रताकी दृष्टिसे तो इतना भाग्यवान् हूँ कि संसारमें शायद ही कोई ऐसा मनुष्य हो। किंतु मैंने उनसे माँगनेके लिये मित्रता नहीं की है। कुछ लेनेके विचारसे मित्रता करना मित्रता नहीं, वंचकता है।

सुशीला बोली—'प्राणनाथ! श्रीकृष्ण जिसके मित्र हों, उसकी यह दशा! यह आश्चर्य नहीं तो क्या है! जब वे आपके परम मित्र और गुरुभाई हैं तो फिर उनके पास जानेमें क्या आपत्ति है! उन्होंने तो गो-ब्राह्मणोंकी रक्षा करनेके लिये ही अवतार लिया है। आप निःसंकोच उनके पास जाइये; वहाँ जानेसे हमलोगोंका दारिद्र्य सदाके लिये दूर हो जायगा। निर्धन, गृहस्थ-ब्राह्मण और फिर मित्र समझकर वे आपकी अवश्य सहायता करेंगे। उनकी कृपासे नित्यप्रतिकी भीखका झमेला भी मिट जायगा। हम शान्तिसे भजन कर सकेंगे।

संतोष-मूर्ति सुदामाने उत्तर दिया—'प्रिये! आज तुम्हारे मनमें यह तृष्णा कहाँसे उत्पन्न हो गयी, जो बार-बार हमें द्वारका जानेके लिये कह रही हो! क्या तुम इस बातको भूल गयी कि धनके लोभमें पड़ने और माँगनेसे ब्रह्मतेज नष्ट हो जाता है! इतने दिन जैसे व्यतीत हुए हैं, वैसे ही ईश्वरकृपासे शेष दिन भी बीत जायँगे। निर्धन-अवस्थामें जैसा भगवद्भजन होता है, वैसा धनी होनेपर कदापि नहीं होता। तुच्छ धनके लिये मैं उनके पास जाऊँ, यह महती विडम्बना है। पूर्वजन्ममें यदि मैंने दिया होता तो मुझे इस जन्ममें मिलता, जब दिया ही नहीं तो पानेकी आशा करना व्यर्थ है।'

सुदामाजीके उत्तरसे सुशीला बहुत दुःखी हुई और सकुचाती हुई पुनः बोली—'नाथ! दासीका अपराध क्षमा कीजिये। मैं अपने लिये आपसे द्वारका जानेका इतना आग्रह नहीं कर रही हूँ, किंतु इन नन्हें-नन्हें बालकोंका ख्याल करके कह रही हूँ, कुछ विचार कीजिये। इनका पालन करना भी तो हमारा आवश्यक कर्तव्य है! यदि ये भूखके कारण मर गये तो क्या आपको इसका प्रायश्चित्त नहीं करना होगा! आखिर मैं केवल धनके लोभसे ही आपको वहाँ भेज रही हूँ, ऐसी बात नहीं है। द्वारिकाधीशके पास जाने और उनके दर्शन करनेसे पारलौकिक एवं लौकिक दोनों कल्याण होंगे। एक तो द्वारकानाथ आपके परम मित्र हैं और दूसरे वे दीनानाथ हैं। उनके पास जानेमें क्या लज्जा है! लोभसे नहीं तो प्रेमसे ही जाइये।'

गृहिणीके विशेष आग्रहके कारण विवश हो सुदामाजी द्वारका जानेके लिये तैयार तो हो गये, पर अब उन्हें यह चिन्ता हुई कि सालों बाद मैं मित्रके यहाँ जा रहा हूँ; यदि उनके लिये कुछ भेंट न ले जाऊँगा तो वे क्या कहेंगे! यह सोचकर गृहिणीसे बोले—'प्रिये! शास्त्रोंकी आज्ञा है कि जब किसी गुरुजन या प्रियजनके यहाँ जाय तो कुछ भेंट अवश्य ले जाय। पर मेरे पास तो कुछ भी नहीं है। मैं उनके लिये क्या ले जाऊँ! वहाँ खाली हाथ जाना उचित नहीं लगता।' सुशीला कुछ देरतक सोचती रही, फिर बोली—'अच्छा, मैं अपनी पड़ोसिनोंसे कुछ माँग कर लाती हूँ।' ऐसा कहकर वह चार घरोंसे चार मुट्ठी चावल माँग लायी और एक पुराने चिथड़ेके सात परतमें बाँधकर उन्हें पतिको देकर बोली—'लीजिये, अपने मित्र श्रीकृष्णके लिये यह भेंट, अब तो आप जायँगे!'

सुदामाने चावलकी पोटली बड़ी सावधानीसे रख ली और फटे-पुराने वस्त्रोंको किसी प्रकार पहनकर स्त्री-पुत्रोंसे विदा हो एक फटे बाँसकी लकुटिया लेकर नंगे पैर द्वारकाको चल दिये। पर आश्चर्यकी बात यह हुई कि जो द्वारका सुदामाजीकी कुटियासे कोसों दूर थी, वह

रह गये, किंतु पत्नीद्वारा पतिको पहचानकर उनका स्वागत-सत्कार करने तथा महलके भीतर ले जाकर पूरी बात समझानेपर सुदामाजीके आगेसे रहस्यका पर्दा हटा। वे भगवान्‌की दानशीलता और भक्तवत्सलताका अनुभव करके कृतज्ञतापूर्वक भाव-विभोर हो गये। पर इतना अधिक ऐश्वर्य और धन पाकर भी सुदामाका अन्तर्मन प्रसन्न न हुआ। उनको चिन्तित देखकर एक दिन सुशीलाने उनसे हाथ जोड़कर पूछा—'नाथ! श्रीकृष्णका दिया हुआ यह धनैश्वर्य पाकर भी आप उदासीन दिखायी देते हैं, इसका क्या कारण है?' सुदामाने उत्तर दिया—'सुशीले! यह धन नहीं, बन्धन है। इसके चक्करमें जो मनुष्य पड़ जाता है, उसका संसारके जालसे छूट पाना अत्यन्त कठिन हो जाता है। भिक्षा माँगकर मैं ईश्वरका स्मरण कर सकता था, किंतु अब कर सकूँगा या नहीं, इसमें मुझे सन्देह है इसीलिये मैं उदासीन हूँ। मनुष्यका जन्म केवल सांसारिक सुखभोगके लिये नहीं है, अपितु ईश्वरभक्ति और उनके स्मरण-उपासनाद्वारा इसी जन्ममें भगवान्‌को प्राप्त करनेके लिये है। बड़ी कठिन तपस्याके द्वारा यह मानव-जन्म प्राप्त होता है। मेरा तो तुमसे यही कहना है कि तुम इस धनको अपना न समझकर श्रीकृष्णका ही समझो और उन्हींके नामपर दान-धर्मादिमें इसे खर्च करती रहो और एकमात्र कृष्णका भजन करो।'

श्रीकृष्णकी कृपासे सुदामा और उनकी पतिव्रता पत्नीको कभी धनपर ममत्व नहीं हुआ और उन्होंने अपना समस्त जीवन निष्काम व्यवहार करते हुए श्रीकृष्णकी भक्तिमें ही बिताया। अन्तमें दोनों श्रीकृष्ण-कृपासे गोलोकधामको प्राप्त हुए।

राजा पुण्यनिधि

दक्षिण देशके पाण्ड्य और चोलवंशियोंके राज्य* चिरकालसे प्रसिद्ध हैं। दोनों ही वंशोंमें बड़े-बड़े धर्मात्मा, न्यायशील, भगवद्भक्त राजा हो गये हैं। जिन दिनोंकी बात कही जा रही है, उन दिनों पाण्ड्यवंशकी राजधानी (दक्षिण) मथुरा थी—जिसे आजकल मदुरा कहते हैं। राजा पुण्यनिधि उसके एकच्छत्र अधिपति थे। पुण्यनिधिका नाम यथागुण सार्थक था। वास्तवमें वे पुण्योंके खजाने ही थे। उनका सादा जीवन इतना उच्च और आदर्श था कि जो भी उन्हें देखता, प्रभावित हुए बिना न रहता। उनके जीवनमें शान्ति थी। उनके परिवारमें शान्ति थी और उनके राज्यमें शान्ति थी। उनके पुण्य-प्रतापसे, उनके शुद्ध व्यवहारसे सम्पूर्ण प्रजा पुण्यात्मा हो रही थी। शासनकी तो आवश्यकता ही नहीं पड़ती थी। सब लोग बड़े प्रेमसे अपने-अपने कर्तव्यका पालन करते थे। उनके पास सेना प्रजाकी रक्षाके लिये ही थी। उनका सारा व्यवहार प्रेम और आत्मबलसे ही चलता था। वे समय-समयपर तीर्थयात्रा करते, यज्ञ करते, दान करते और दिल खोलकर दीन-दुखियोंकी सहायता करते। उनमें सबसे बड़ा गुण यह था कि वे जो कुछ भी करते, सब भगवान्‌के लिये, भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये और भगवान्‌की प्रेम-प्राप्तिके लिये करते। उनके चित्तमें लोक-परलोककी कोई भी कामना न थी। वे एक निष्काम कर्तव्य-परायण प्रजा-सेवी राजा थे।

एक बार अपने परिवार और सेनाके साथ राजा पुण्यनिधिने सेतुबन्ध रामेश्वरकी यात्रा की। इस बार इनकी यह इच्छा हुई कि समुद्रके पवित्र तटपर, गन्धमादन पर्वतकी उत्तम भूमिमें अधिक दिनोंतक निवास किया जाय। इसलिये उन्होंने राज्यका सारा भार पुत्रको सौंप दिया और वे आवश्यक सामग्री एवं सेवकोंको लेकर वहीं जाकर निवास करने लगे। राजा पुण्यनिधिका

---

* [illegible] हैं।

...वहीं रम गया । वे बहुत दिनोंतक वहीं रह गये । ...के हृदयमें भगवान्‌की भक्ति थी । वे जहाँ जाते, रहते, वहीं भगवान्‌का स्मरण-चिन्तन किया । मनमें कोई कामना तो थी नहीं, इसलिये उनका ...करण और शुद्ध हो गया । शुद्ध अन्तःकरणमें जो भी संकल्प उठता है, वह भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये होता है और उस संकल्पके अनुसार जो क्रिया होती है, वह ...भगवान्‌के लिये ही होती है । राजाके चित्तमें विष्णु और शिवके प्रति कोई भेद-भाव न था । वे जानते थे कि 'शिवस्य हृदयं विष्णुर्विष्णोश्च हृदयं शिवः ।' ...नयोरेका प्रकृतिः प्रत्ययभेदाद्विभिन्नवद्भाति ।' ...कभी भगवान् शङ्करकी पूजा करते-करते मस्त हो जाते तो कभी जंगलोंमें घूम-घूमकर भगवान् श्रीरामकी लीलाओंका अनुसंधान करते । एक बार वे धनुष्कोटि-तीर्थमें गये । उस तीर्थमें स्नान करके राजाको बड़ा आनन्द हुआ । भगवान्‌की स्मृतिके साथ जो भी काम किया जाता है, वह आनन्ददायक होता है । उसमें उत्साह होता है । उत्साहसे अधिक आनन्दका अनुभव होता रहता है ।

राजा पुण्यनिधि जब स्नान, दान, नित्यकर्म और भगवान्‌की पूजा करके वहाँसे लौटने लगे, तब उन्हें रास्तेमें एक बड़ी सुन्दर कन्या मिली । वह कन्या क्या थी, सौन्दर्यकी प्रत्यक्ष प्रतिमा थी । वास्तवमें वह भगवान्‌की प्रसन्नता ही थी । न जाननेपर भी राजाका चित्त उसकी ओर खिंच गया, मानो वह उनकी अपनी ही लड़की हो । उन्होंने वात्सल्य-स्नेहसे भरकर पूछा—'बेटी ! तुम कौन हो, किसकी कन्या हो, यहाँ किस लिये आयी हो ?' कन्याने कहा—'मेरे माँ-बाप नहीं हैं, भाई-बन्धु भी नहीं हैं, मैं अनाथा हूँ । मैं आपकी पुत्री बननेके लिये आयी हूँ । मैं आपके महलमें रहूँगी, आपको देखा करूँगी, लेकिन एक शर्त है, यदि कोई मुझे बलपूर्वक स्पर्श करेगा अथवा मेरा हाथ पकड़ लेगा तो आपको उसे दण्ड देना पड़ेगा । यदि आप ऐसा करेंगे तो बहुत दिनोंतक मैं आपके पास रहूँगी ।'

राजाने कहा—'बेटी ! तुम जो कह रही हो, वह सब मैं करूँगा । मेरे घर कोई लड़की नहीं है, एक लड़का है । तुम अन्तःपुरमें मेरी धर्मपत्नीके साथ पुत्रीके रूपमें निवास करो । जब तुम्हारी अवस्था विवाहके योग्य होगी, तब तुम जैसा चाहोगी, वैसा कर दूँगा ।' कन्याने राजाकी बात स्वीकार की और उनके साथ राजधानीमें चली गयी । राजा पुण्यनिधिकी धर्मपत्नी विन्ध्यावली अपने पतिके समान ही शुद्ध हृदयकी थीं । अपने पतिको ही भगवान्‌की मूर्ति समझकर उनकी पूजा करती थीं । उनकी प्रसन्नताके लिये ही प्रत्येक चेष्टा करती थीं । उनका मन राजाका मन था, उनका जीवन राजाका जीवन था । इस कन्याको पाकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई । राजाने कहा—'यह हमलोगोंकी लड़की है, इसके साथ परायेका-सा व्यवहार कभी नहीं होना चाहिये ।' विन्ध्यावलीने प्रेमसे उस कन्याका हाथ पकड़ लिया और अपनी गर्भजात पुत्रीके समान ही उसका पालन-पोषण करने लगीं । इस प्रकार कुछ दिन बीते ।

भगवान्‌की लीला बड़ी विचित्र है । वे कब किस बहाने किसपर कृपा करते हैं, यह उनके अतिरिक्त और कोई नहीं जानता । राजा पुण्यनिधिपर कृपा करनेके लिये ही तो यह लीला रची गयी थी । अब वह अवसर आ पहुँचा । एक दिन वह कन्या सखियोंके साथ महलके पुष्पोद्यानमें फूल चुन रही थी । एक ही उम्रकी सब लड़कियाँ थीं । हँस-खेलकर आपसमें मनोरञ्जन कर रही थीं । उसी समय वहाँ एक ब्राह्मण आया । उसके कंधेपर एक घड़ा था, जिसमें जल भरा हुआ था । एक हाथसे वह उस घड़ेको पकड़े हुए था और दूसरे हाथमें छाता लिये हुए था, मानो अभी गङ्गा-स्नान करके लौट रहा हो । उसके शरीरमें भस्म लगा

हुआ था और मस्तकपर त्रिपुण्ड्र, हाथमें रुद्राक्षकी माला और मुखमें भगवान् शंकरका नाम विराजमान था। इस ब्राह्मणको देखकर वह कन्या डरी-सी हो गयी, वह मन-ही-मन जान गयी कि ब्राह्मणके वेशमें यह कौन है। यह छद्मवेशी ब्राह्मण इसी कन्याको तो ढूँढ रहा था। कन्याकी ओर दृष्टि जाते ही ब्राह्मणने पहचान लिया और जाकर उस कन्याका हाथ पकड़ लिया। कन्या चिल्ला उठी। उसकी सखियोंने भी साथ दिया। उनकी आवाज सुनते ही कई सैनिकोंके साथ राजा पुण्यनिधि वहाँ पहुँच गये और उन्होंने पूछा—'बेटी! तुम्हारे चिल्लानेका क्या कारण है, किसने तुम्हारा अपमान किया है?' कन्याकी आँखोंमें आँसू थे। वह खेद और रोषसे कातर हो रही थी। उसने कहा—'प्राणनाथ! इस ब्राह्मणने बलात् मेरा हाथ पकड़ लिया, अब भी यह निडर होकर पेड़के नीचे खड़ा है।' राजा पुण्यनिधिको अपनी प्रतिज्ञा याद हो आयी। वे सोचने लगे कि 'मैंने इस कन्याको वचन दिया है कि यदि कोई तुम्हारी इच्छाके विपरीत तुम्हारा हाथ पकड़ लेगा तो मैं उसे दण्ड दूँगा। इस कन्याको मैंने अपनी पुत्री माना है, मुझे अवश्य ही इस ब्राह्मणको दण्ड देना चाहिये।' उनके चित्तमें इस बातकी कल्पना भी नहीं हो सकती थी कि मेरे भगवान् इस रूपमें मुझपर कृपा करने आये होंगे। उन्होंने सैनिकोंको आज्ञा दी और ब्राह्मणदेवता पकड़ लिये गये। हाथोंमें हथकड़ी और पैरोंमें बेड़ी डालकर उन्हें रामनाथके मन्दिरमें डाल दिया गया। कन्या प्रसन्न होकर अन्तःपुरमें गयी और राजा अपनी बैठकमें गये।

रात हुई। राजाने स्वप्नमें देखा कि जिस ब्राह्मणको कैद किया गया है, वह ब्राह्मण नहीं हैं, वे तो साक्षात् भगवान् हैं। वर्षाकालीन मेघके समान श्यामल छवि, चारों करकमलोंमें शङ्ख-चक्र-गदा-पद्म, वक्षःस्थलपर श्रीवत्स एवं कौस्तुभमणि और वनमाला धारण किये हुए हैं। मन्द-मन्द मुसकराते हुए मुखसे दाँतोंकी किरण निकलकर दिशाओंको उज्ज्वल कर रही हैं। भगवान्‌की सुन्दरताकी छटा निराली ही है। गरुड़के ऊपर शेषशय्यापर विराजमान हैं। साथ ही राजाकी यह कन्या लक्ष्मीके रूपमें खिले हुए कमलपर बैठी है। घने-काले घुँघराले बाल हैं, हाथमें कमल है, बड़े-बड़े दिग्गज स्वर्ण-कलशोंमें अमृत भरकर अभिषेक कर रहे हैं। अमूल्य रत्न और मणियोंकी माला पहने हुए हैं। विष्वक्सेन आदि पार्षद, नारदादि मुनिगण उनकी सेवा कर रहे हैं। महाविष्णुके रूपमें उस ब्राह्मणको और महालक्ष्मीके रूपमें अपनी पुत्रीको देखकर राजा पुण्यनिधि चकित हो गये। स्वप्न टूटते ही वे अपनी कन्याके पास गये, परंतु यह क्या! अब कन्या कन्याके रूपमें नहीं है। स्वप्नमें जो रूप देखा था, वही रूप सामने है। महालक्ष्मीको साष्टाङ्ग प्रणाम करके वे उनके साथ ही रामनाथ-मन्दिरमें गये। वहाँ ब्राह्मणको भी उसी रूपमें देखा, जिस रूपमें स्वप्नके समय देखा था। अपने अपराधका स्मरण करके राजा मूर्च्छित-से हो गये। 'हाय! त्रिलोकीके नायकको मैंने कैदमें डाल दिया। जिसकी पूजा करनी चाहिये, उसको बेड़ीसे जकड़ दिया; धिक्कार है, मुझे सौ-सौ बार धिक्कार है! भगवान्‌के हाथोंमें मैंने हथकड़ी डाल दी! मुझसे बड़ा अपराधी भला और कौन हो सकता है।' राजा पुण्यनिधिका हृदय फटने लगा, शरीर शिथिल हो गया, उनकी मृत्युमें अब आधे क्षणका भी विलम्ब नहीं था। इतनेमें ही उन्हें भगवान्‌की कृपाका स्मरण हो आया। 'ऐसी अद्भुत लीला! भला, उन्हें कौन बाँध सकता है। यशोदाने बाँधा था प्रेमसे और मैंने बाँधा अपनी शक्तिके घमंडसे, रोषसे। पर मुझसे भी बँध गये! प्रभो! यह तुम्हारी भक्तपराधीनता नहीं तो और क्या है!!'

राजा पुण्यनिधिने प्रेममुग्ध हृदयसे, गद्गद वाणीसे, आँसूभरी आँखोंसे, सिर झुकाकर रोमाञ्चित शरीरसे, हाथ जोड़कर स्तुति की—'प्रभो ! मैं आपके चरणोंमें कोटि-कोटि प्रणाम करता हूँ । आप मुझपर कृपा करें, प्रसन्न हों, मैंने अनजानमें यह अपराध किया है । आपकी लीला अगम्य है । आप यदि अपनेको प्रकट न करें तो संसारी लोग भला आपको कैसे पहचान सकते हैं ! दयामूर्ते ! मैंने आपको हथकड़ी-बेड़ीसे जकड़कर महान् अन्याय और अपराध किया है । यदि आप मुझपर कृपा न करेंगे तो मेरे निस्तारका कोई साधन नहीं है । मैं आपके चरणोंमें बार-बार नमस्कार करता हूँ ।'

राजा पुण्यनिधिने महालक्ष्मीकी ओर दृष्टि करके कहा—'हे देवि ! हे जगद्धात्रि ! मैं आपको बार-बार नमस्कार करता हूँ । आपका निवास भगवान्का वक्षःस्थल है । मैंने साधारण कन्या समझकर आपको कष्ट दिया है । आपकी महिमाका भला, कौन वर्णन कर सकता है । सिद्धि, संध्या, प्रभा, श्रद्धा, मेधा तथा आत्मविद्या आदिके रूपमें आप ही प्रकट हो रही हैं । माँ ! संसारकी रक्षाके लिये आप ही श्रुतियोंके रूपमें प्रकट हुई हैं । हे ब्रह्मस्वरूपिणि ! अपनी कृपादृष्टिसे मुझे जीवनदान दो ।' इस प्रकार स्तुति करके राजाने भगवान्से प्रार्थना की—'प्रभो ! मैंने अनजानमें जो अपराध किया है, उसे आप क्षमा कर दीजिये । मधुसूदन ! शिशुओं-का अपराध गुरुजन क्षमा करते ही आये हैं । प्रभो ! जिन दैत्योंने अपराध किया था, उनको तो आपने अपने स्वरूपका दान किया । भगवन् ! आप मेरे इस अपराधको भी क्षमा करें । हे कृपानिधे ! हे लक्ष्मीकान्त ! आप अपनी कृपाकोमल दृष्टि मेरे ऊपर भी डालें ।'

पुण्यनिधिकी प्रार्थना सुनकर भगवान्ने कहा—'राजन् ! मुझे क़ैद करनेके कारण तुम्हारा भयभीत होना उचित नहीं है । मैं तो स्वभावसे ही प्रेमियोंका बंदी हूँ, भक्तोंके वशमें हूँ । जो मेरी प्रसन्नताके लिये धर्म करते हैं, वे मेरे भक्त हैं, तुम्हारी सेवासे मैं तुम्हारे अधीन हो गया हूँ । इसीसे चाहे तुम हथकड़ी-बेड़ी पहनाओ या मत पहनाओ, मैं तुम्हारे प्रेमकी बेड़ीमें सदा बँधा हूँ । मैं अपने भक्तोंके अपराधको अपराध ही नहीं गिनता । इसलिये डरनेकी कोई बात नहीं है । ये महालक्ष्मी मेरी अर्द्धाङ्गिनी शक्ति हैं । तुम्हारी भक्तिकी परीक्षाके लिये ही मेरी सम्मतिसे ये तुम्हारे पास आयी थीं । तुमने इनकी रक्षा करके, अनाथ बालिकाके रूपमें होनेपर भी इन्हें अपने घरमें रखकर और सेवा करके मुझे संतुष्ट किया है । इनके साथ तुमने जो प्रतिज्ञा की थी, उसकी रक्षाके लिये मुझे क़ैदमें डालना किसी प्रकार अनुचित नहीं है । तुमने इनकी रक्षा की है । अनाथकी रक्षा किस प्रकार करनी चाहिये, यह तुमने दिखा दिया । इसलिये मैं तुमपर प्रसन्न हूँ । ये लक्ष्मी तुम्हारी पुत्री हैं, ऐसा ही समझो । यह सत्य है, इसमें संदेह नहीं ।

राजाने न्याय और कर्त्तव्यका पालन किया था, अतः प्रभु प्रसन्न थे । न्याय और कर्त्तव्य प्रभुकी व्यवस्था होते हैं । उनसे प्रभुकी प्रसन्नता स्वाभाविक है । महालक्ष्मीने कहा—'राजन् ! तुमने बहुत दिनोंतक मेरी रक्षा की है, इसलिये मैं तुमपर बहुत ही प्रसन्न हूँ । भगवान्ने और मैंने तुम्हारी भक्तिको शुद्ध करनेके लिये ही प्रेमकलहका बहाना बनाया और इस प्रकार हम दोनों ही तुम्हारे सामने प्रकट हुए । तुमने कोई अपराध नहीं किया । हम तुमपर प्रसन्न हैं । हमारी कृपासे तुम सर्वदा सुखी रहोगे । सारे भूमण्डलका ऐश्वर्य तुम्हें प्राप्त होगा । जबतक जीवित रहोगे, हमारे चरणोंमें तुम्हारी अविचल भक्ति बनी रहेगी । तुम्हारी बुद्धि कभी पापमें न जायगी, सदा धर्ममें ही लगी रहेगी । तुम्हारा हृदय निरन्तर भक्ति-रसमें डूबा रहेगा । इस जीवनके अन्तमें तुम हमारा सायुज्य प्राप्त करोगे ।' इतना कहकर महालक्ष्मी भगवान्-के वक्षःस्थलमें समा गयीं । भगवान्ने कहा—'राजन् !

यह जो तुमने मुझे बाँधा है, यह बड़ा मधुर बन्धन है । मैं नहीं चाहता कि इससे छूट जाऊँ और इसकी स्मृति यहाँ खत्म हो जाय । इसलिये अब मैं यहाँ इसी रूपमें निवास करूँगा और मेरा नाम 'सेतुमाधव' होगा ।' इतना कहकर श्रीभगवान् चुप हो गये ।

राजा पुरुषनिधिने भगवान्की इस अर्चा-मूर्ति पूजा की और जगन्नाथ-विग्रहकी सेवा करके अपने घ गये । जीवनपर्यन्त वे अपनी पत्नीके साथ भगवान्क स्मरण-चिन्तन करते रहे । अन्तमें दोनों भगवान्क सायुज्य-मुक्ति प्राप्तकर भगवान्से एक हो गये ।

एक निष्काम परोपकारी भक्त राजा

एक बहुत ही धर्मात्मा राजा था । वह भगवान्का बड़ा भक्त था । धर्मपूर्वक राज्य करते रहनेवाले उस राजाकी मृत्यु यथाकाल हो गयी । पुण्यात्मा होनेपर भी किसी एक पापका फल भुगतानेके लिये यमदूत उसे सम्मानपूर्वक नरकमार्गसे ले गये । नरकोंका दृश्य देखकर राजाका हृदय दहल गया । वहाँके पीड़ित प्राणियोंका चीत्कार उससे सुना नहीं जाता था । वहाँका दृश्य देखकर ज्यों ही वह यमसेवकोंके साथ नरक छोड़कर जाने लगा त्यों ही नरककी असह्य पीड़ा भोगनेवाले सब-के-सब नरकवासी बड़े जोरोंसे चिल्ला उठे और करुण विलाप करते हुए पुकारकर राजासे कहने लगे—'राजन् ! आप कृपा कीजिये । घड़ीभर तो आप यहाँ और ठहर जाइये । आपके अङ्गका स्पर्श करके आनेवाली हवासे हमें बड़ा ही सुख मिल रहा है, इस सुखद-शीतल वायुके स्पर्शमात्रसे हमारी सारी नारकी पीड़ा और जलन एकदम चली गयी है और हमपर मानो आनन्दकी वर्षा हो रही है, दया कीजिये ।' राजाने यह सुनकर यमदूतोंसे पूछा—'मेरे यहाँ रहनेसे इन लोगोंको सुख मिलनेका क्या कारण है ? मैंने ऐसा कौन-सा कार्य किया है, जिसके कारण इनपर आनन्दकी वर्षा हो रही है?' यमदूतोंने कहा—'महाराज ! आपने देवता, पितर, अतिथि और आश्रितोंका पूजन-सत्कार पहले करके उनसे बचे हुए द्रव्यसे अपना भरण-पोषण किया है तथा श्रीहरिका स्मरण किया है, इसीलिये आपके शरीरसे स्पर्श की हुई हवासे इन पापियोंकी नरक-यातना सहज ही नष्ट हो रही है । आपके तेज और आपके दर्शनसे पापियोंको पीड़ा पहुँचानेवाले यमराजके अस्त्र-शस्त्र, तीक्ष्ण चोंचवाले पक्षी, नरकाग्नि आदि सभी तेजोहत होकर मृदु हो गये हैं; इसीलिये नरकवासी पापियोंको इतना सुख मिल रहा है ।' यह सुनकर राजाने कहा—'इनके सुखसे मुझे बड़ा सुख मिल रहा है, मेरी ऐसी मान्यता है कि आर्त प्राणि रक्षा करनेमें जो सुख होता है, स्वर्ग या ब्रह्मलो भी वैसा सुख नहीं होता । यदि मेरे यहाँ र इनकी पीड़ा दूर होती है तो दूतो ! मैं तो पत्थ तरह अचल होकर यहीं रहूँगा ।' राजाकी यह सुनकर दूतोंने कहा—'चलिये, यह तो पापियोंके नर भोगका स्थान है । आप यहाँ क्यों रहेंगे—आप दि लोकोंमें अपने पुण्योंका फल भोगिये ।' पापका फल आ भोग चुके, अब पुण्यके फल-भोग करनेकी बारी है ।

राजाने कहा—'जबतक इनका दुःखोंसे छुटका नहीं होगा, तबतक मैं यहाँसे नहीं हटूँगा; क्योंकि मे यहाँ रहनेसे इन्हें सुख मिल रहा है । आर्त और आतु होकर शरण चाहनेवाले शत्रुपर भी जो मनुष्य दया नहीं करता, उसके जीवनको धिक्कार है । दुखियोंके दुःख दूर करनेमें जिसका मन नहीं है, उसके यज्ञ, दान, तप आदि कुछ भी इस लोक और परलोकमें सुखके कारण नहीं होते । विकल, आतुर, दुःखी और वृद्धोंके प्रति जिसका चित्त कठोर है, मेरी समझमें वह

ग्य नहीं, राक्षस है । इन लोगोंके पास रहनेसे मुझे रकीय अग्निके तापसे अथवा भूख-प्यासके कारण त्र कर देनेवाला महान् दुःख क्यों न भोगना पड़े, को सुखी करनेसे मिले हुए उस दुःखको मैं अपने े स्वर्गसुखसे भी बढ़कर समझूँगा । मुझ एकके ख पानेसे यदि इतने आर्त जीवोंको सुख होता है, इससे बढ़कर मुझे और क्या लाभ होगा ।

यमदूतोंने कहा—'महाराज ! देखिये, ये साक्षात् और देवराज इन्द्र आपको ले जानेके लिये यहाँ े हैं, अब आपको जाना ही पड़ेगा, अतएव िये ।' धर्मने कहा—'राजन् ! आपने सम्यक् रसे मेरी उपासना की है, इसीलिये मैं स्वयं आपको में ले जाऊँगा; आप डर न करें, विमानपर जल्दी र हों ।' राजाने कहा—'धर्मराज ! हजारों जीव में दुःख पा रहे हैं और मेरे यहां रहनेसे इनका दूर होता है, ऐसी हालतमें मैं यहांसे नहीं जा ता ।' इन्द्र बोले—'राजन् ! अपने-अपने कर्मफलसे ापीलोग नरक भोग रहे हैं । आपको भी अपने का फल भोगनेके लिये स्वर्गमें चलना चाहिये । इन नरकवासियोंपर दया करनेसे आपका पुण्य लाखों गुना और भी बढ़ गया है । अतएव इस पुण्यफलके भोगके लिये आप अवश्य स्वर्ग चलिये । राजाने कहा—'जब मेरे पुण्यसे इनको सुख मिलता है, तब मैं अपना सब पुण्य इनको देता हूँ । इस पुण्यसे ये सारे यातना-भोगी पापी नरकसे छूट जायँ । मैं यहीं रहूँगा ।' इन्द्रने कहा—'महाराज ! आपके पुण्यदानसे देखिये, सारे पापी नरकसे छूटकर विमानोंपर सवार होकर जा रहे हैं । पर इस पुण्यदानसे आपका पुण्य इतना बढ़ गया है कि अब आप और भी ऊँची गतिमें जायँगे । (पुण्यका त्याग पूर्णतः निष्कामताकी ऊँची स्थिति है । राजाने अर्जित पुण्यका त्यागकर निष्कामताकी सीमा कर दी । ऐसे कर्मयोगी राजाओंकी एक परम्परा रही है जो हमारे शास्त्रों-पुराणोंमें भरी पड़ी है ।)

राजापर पुष्पवृष्टि होने लगी और इन्द्र उन्हें विमानपर चढ़ाकर स्वर्गमें ले गये । नरकके सारे प्राणियोंका उद्धार हो गया । 'कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्' का प्राचीन उदाहरण इस कथामें भी प्रतिध्वनित है ।

ईमानदार व्यापारी

महातपस्वी ब्राह्मण जाजलिने दीर्घकालतक श्रद्धा नियमपूर्वक वानप्रस्थाश्रम-धर्मका पालन किया था । वे केवल वायु पी-पीकर निश्चल खड़े हो गये थे कठोर तपस्या कर रहे थे । उन्हें गतिहीन देखकर ोंने कोई वृक्ष समझ लिया और उनकी जटाओंमें ले बनाकर वहीं अंडे दे दिये । वे दयालु महर्षि चुपचाप खड़े रहे । पक्षियोंके अंडे बढ़े और फूटे, उनसे बच्चे निकले । वे बच्चे भी बड़े हुए, उड़ने लगे । जब पक्षियोंके बच्चे उड़नेमें पूरे समर्थ हो गये और एक बार उड़कर पूरे एक महीनेतक अपने घोंसलेमें नहीं लौटे, तब जाजलि हिले । वे स्वयं अपनी तपस्यापर आश्चर्य करने लगे और अपनेको सिद्ध समझने लगे । उसी समय आकाशवाणी हुई—'जाजलि ! तुम गर्व मत करो । काशीमें रहनेवाले तुलाधार वैश्यके समान तुम धार्मिक नहीं हो ।'

आकाशवाणी सुनकर जाजलिको बड़ा आश्चर्य हुआ । वे उसी समय काशीको चल पड़े । वहाँ पहुँचकर उन्होंने देखा कि तुलाधार एक साधारण दूकानदार है और अपनी दूकानपर बैठकर ग्राहकोंको तौल-तौलकर सौदा दे रहा है । परंतु जाजलिको उस समय बड़ा

भी आश्चर्य हुआ, जब तुलाधारने बिना कुछ पूछे उन्हें उठकर प्रणाम किया, उनकी तपस्याका वर्णन करके उनके गर्व तथा आकाशवाणीकी बात भी बता दी। जाजलिने पूछा—'तुम तो एक सामान्य बनिये हो, तुम्हें इस प्रकारका ज्ञान कैसे प्राप्त हुआ ?'

तुलाधारने नम्रतापूर्वक कहा—'ब्रह्मन् ! मैं अपने वर्णोचित धर्मका सावधानीसे पालन करता हूँ। मैं न मद्य बेचता हूँ, न और कोई निन्दित पदार्थ बेचता हूँ। अपने ग्राहकोंको मैं कभी तौलमें कम नहीं देता। ग्राहक बूढ़ा हो या बच्चा, भाव जानता हो या न जानता हो, मैं उसे उचित भावमें उचित वस्तु ही देता हूँ। किसी पदार्थमें दूसरा कोई दूषित पदार्थ नहीं मिलाता। ग्राहककी कठिनाईका लाभ उठाकर मैं अनुचित लाभ भी उससे नहीं लेता हूँ। ग्राहककी सेवा करना मेरा कर्तव्य है, यह बात मैं सदा स्मरण रखता हूँ। ग्राहकोंके लाभ और उनके हितका व्यवहार ही मैं करता हूँ, यही मेरा धर्म है। वाणिज्यका यह सिद्धान्त अपने-आपमें धर्म है और धर्मनिष्ठ किसी भी गर्वीले तपस्वीसे श्रेष्ठ है। तुलाधार धर्मके उन तत्त्वोंको आत्मसात् कर चुके थे, जो साधकोंके लिये अत्यन्त उपादेय ही नहीं, पालनीय भी होते हैं। अस्तु।

तुलाधारने आगे बताया—'मैं राग-द्वेष लोभसे दूर रहता हूँ। यथाशक्ति दान करता हूँ अतिथियोंकी सेवा करता हूँ। हिंसारहित कर्म ही प्रिय हैं। कामनाका त्याग करके सब प्राणियोंको दृष्टिसे देखता हूँ और सबके हितकी चेष्टा करता (कामना-त्याग निष्काम दिशाकी अन्यतम सिद्धि है

जाजलिके पूछनेपर महात्मा तुलाधारने उनको हिं धर्मका उपदेश किया। उन्हें समझाया कि हिंस यज्ञ परिणाममें अनर्थकारी ही हैं। वैसे भी ऐसे य बहुत अधिक भूलोंके होनेकी सम्भावना रहती है। थोड़ी-सी भी भूल विपरीत परिणाम देती है। प्राणियोंको कष्ट देनेवाला मनुष्य कभी सुख तथा परलोकमें म नहीं प्राप्त कर सकता।' अहिंसा ही उत्तम धर्म है- 'अहिंसा परमो धर्मः।'

अब जो पक्षी जाजलिसे उत्पन्न हुए थे, वे तुला जाजलिके पास आ गये। उन्होंने भी तुलाधारके द्वा बताये धर्मका ही अनुमोदन किया। तुलाधारके उपदेश जाजलिका गर्व नष्ट हो गया। इस कथनसे सिद्ध होता कि तप ही सर्वोपरि साधन नहीं है, प्रत्युत धर्मपूर्वक वर्णाश्रम कर्तव्योंका यथावत् पालन और निष्कामतापूर्वक जीवन-यापनका कर्मयोगी जीवन आदरणीय है।

(महाभारत, शान्ति० २६१। २६४)

निष्काम-कर्ममय जीवन तथा सेवाके प्रेरक चरित्र

दैन्य-मूर्ति संत फ्रान्सिस

संत फ्रान्सिस मध्यकालीन यूरोपमें सत्यनिष्ठा, दैन्यप्रियता, निष्कामसेवा, त्याग और दयाके मूर्तिमान् सजीव उदाहरण थे। उन्होंने इटलीके असिसाई नगरमें सन् ११८२ ई०में जन्म लिया था। उनका परिवार बड़ा सुखी समृद्ध था, पर उन्हें इस वातावरणमें वास्तविक आत्मशान्तिका दर्शन नहीं हुआ। दीनताका जीवन अपनाकर सत्यपथपर चलना उन्होंने अपना कर्तव्य समझा। उन्हें असिसाई नगरमें भिक्षा माँगते देखकर लो उनका अपमानित करते थे, कुत्तेकी तरह दुरदुराते थे, कहा करते थे कि शर्म नहीं आती, बड़े घरके होकर भिक्षा माँगते हो ! पर फ्रान्सिसने किसी भी कीमत अपनी जीवनसाथिनी दीनताका परित्याग नहीं किया। दीनता प्रभुके दिशाकी साधना बन जाती है—यदि सबकी वास्तविक परिशोधता की जाय।

निःसंदेह दीनता उनकी जन्मजात सम्पत्ति थी। ने लिये कुछ भी शेष न रखकर परमात्मापर पूर्ण र्भर हो जाना दैन्यका उच्चतम रूप है। दरिद्र-ारायणकी सेवासे आत्मगत दैन्य पुष्ट होता है। के विरक्त जीवनके पहलेकी एक घटना है। मय भी वे उदारता और दानशीलतामें सबसे । कोई भिखारी उनके सामनेसे खाली हाथ ता था। एक समय वे अपनी रेशमी कपड़ेकी र बैठे हुए थे। उनके पिता दुकानके भीतर थे। एक धनी ग्राहकसे बातें कर रहे थे कि अचानक के सामने एक भिखारी दीख पड़ा। बातोंमें उलझे कारण फ्रान्सिसको उसका ख्याल नहीं रह गया, ला गया।

कितना भयानक पाप हो गया मुझसे।' वे दुकान र भिखारीकी खोजमें निकल पड़े। दुकानपर की सम्पत्ति थी, खुली पड़ी रह गयी। चिन्ता थी खारीकी।

आखिर भिखारीको ढूँढ़कर विनम्र वाणीमें उन्होंने —'भाई! मुझसे बड़ी भूल हो गयी। रुपये-पैसेका । ही ऐसा है कि आदमी उसमें उलझकर अंधा हो है। आपने मुझे सेवाका अवसर दिया और मैं गया। फ्रान्सिसने अपने पासके सारे रुपये उसे दे और कोट पहना दिया।

फ्रान्सिसने संतोषकी साँस ली, दरिद्रनारायणकी ष्काम-सेवासे वे धन्य हो उठे। गीतामें भगवान्‌ने ऐसे ही नको सात्त्विक दान कहा है—'दीयतेऽनुपकारिणे'। त फ्रान्सिसकी एक उपाधि थी—'कोढ़ियोंके भाई'। क समय वे घोड़ेपर सवार होकर अपनी गुफामें जा हे थे। थोड़ी दूरपर सड़कपर उन्हें एक कोढ़ी दिखायी ड़ा। उन दिनों कोढ़ियोंको विशिष्ट कपड़ा पहनना पड़ता था, जिससे लोग उन्हें दूरसे ही पहचानकर दूसरा रास्ता पकड़ लेते थे। संत फ्रान्सिसने घोड़ेको मोड़ना चाहा, पर उनका दयापूर्ण कोमल हृदय हाहाकार कर उठा; ऐसा करना पाप है। कोढ़ी भी परमपिता ईश्वरकी संतान है, अपना ही भाई है। भाई तो भाई ही है, फिर उससे घृणा करना, उसकी सेवासे विमुख होना अधर्म है। फ्रान्सिस चल पड़े कोढ़ीकी ओर। निकट जानेका साहस नहीं होता था; कोढ़ीका चेहरा विकृत था; अङ्ग-प्रत्यङ्ग गल गये थे; कहींसे रक्त टपक निकल रहा था तो कहींसे पीब चू रहा था। मवादसे उद्वेजक दुर्गन्ध आ रही थी। संत फ्रान्सिस उसके सामने खड़े देख रहे थे। मनने समझाया कि इसे सहायता चाहिये। संतने अपने पासके सारे पैसे कोढ़ीके सामने डाल दिये। वे वहाँसे चलने वाले ही थे, घोड़ा मुड़ भी चुका था, पर हृदयने पुनः धिक्कारा—भाईके प्रति ऐसा व्यवहार उचित नहीं, इसे पैसेकी आवश्यकता नहीं; अपितु यह सेवाका आकाङ्क्षी है—इसके अङ्ग-प्रत्यङ्गमें भयानक पीड़ा है। इसे स्नेहशील हृदय तथा कोमल अँगुलियोंके स्पर्शकी आवश्यकता है।

फ्रान्सिस अपने-आपको न रोक सके। वे घोड़ेसे उतर पड़े। 'भाई! आपने मुझे अपने सेवाधर्मका ज्ञान करा दिया। मैं यह भूल गया था। आपने कितना बड़ा उपकार किया है मुझपर।' फ्रान्सिसने कोढ़ीका हाथ पकड़कर चूम लिया। उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग सहलाकर अपनी अङ्गुलियोंको पवित्र कर लिया। कोढ़ीके घाव उनकी सेवासे ऐसे दीख पड़े, मानो वे अमृतसे सींचे गये हों। संत फ्रान्सिसकी निष्काम-सेवा-भावना कितनी पवित्र थी। 'कोढ़ियोंके भाई'—नाम उनके लिये कितना सार्थक हो गया। सेवासे निष्काम आत्मिक प्रकाश होता साधन बन जाती है।

संत देवजान सकलवी

सिकन्दरके समयमें यूनान देशमें देवजान सकलवी नामक एक हकीम हुए हैं। वे बड़े विरक्त और वैराग्यवान् थे। वे जन्मभर ब्रह्मचारी रहे। उन्होंने अपने रहनेके लिये कोई मकानतक नहीं बनवाया। वे कभी एक स्थानपर भी न रहे। कभी जंगलमें, कभी मैदानमें, कभी नदीके किनारे और कभी वृक्षके नीचे रह लेते। बिना अपने मतलबके वे किसीसे बोलते-चालते भी न थे। जब उनको भूख लगती, तब किसी-न-किसीसे माँगकर खा लेते थे। अमीरके उत्तम भोजन और गरीबकी सूखी रोटीको बराबर ही समझते थे, सिर्फ पेट भरनेसे उनका मतलब रहता था। हमेशा नग्न रहते थे, लंगोटीतक नहीं बाँधते थे।

एकबार किसीने उनसे कहा—'तुम कपड़ा पहनकर अपने शरीरको क्यों नहीं ढाँपते ?' उन्होंने उत्तर दिया—'जिसमें कोई ऐब होता है, वही अपने ऐबको छिपाता है, जिसमें ऐब न हो, वह क्या छिपाये ?' वह व्यक्ति इस जवाबको सुनकर चला गया। वे नित्यप्रति एक नानबाई (तंदूरवाले)की दूकानपर रोटी माँगकर खाते थे, उस नानबाईके यहाँ रोटी खाते हुए जब कई दिन गुजर गये, तब एक दिन नानबाईने उनसे कहा—'तुम रोज ही रोटी खानेको आ जाते हो ?' फकीरने कहा—'तू रोज ही रोटी पकाता है और हमको रोज ही भूख लगती है, तब खायें नहीं तो क्या करें ?' नानबाई हँस पड़ा; परंतु उसी दिनसे उन्होंने उसकी दूकानपर जाना छोड़ दिया। इधर-उधरसे माँगनेपर जो मिल जाता, उसीसे पेट भर लेते। नानबाईने उनकी बहुत खुशामद की, पर वे पुनः उसकी दूकानपर नहीं गये।

एक दिन एक आदमीने उनसे कहा—'तुम अपना घर क्यों नहीं बनाते ?' उन्होंने कहा—'घर तो वह बनावे जिसका घर गिर जाने का डर हो या जिसका अपना घर न हो। जिन लोगोंके परलोक सम्बन्धी सच्चे घर हुए हैं, वे ही ये इन झूठे घरोंको बनाते हैं। हमारा ऐसा है जो कभी गिरनेवाला नहीं है, फिर हम इसको क्या बनावें ?' दूसरे हमारा घर तमाम दुनिया जिसमें आकर करोड़ों आदमी आराम पाते हैं। हमारा इतना बड़ा घर है तब हम और घर क्या बना… हमारा घर इतना बड़ा है कि तमाम जमीन इस… आँगन, सहन है, आसमान जिसकी छत है, ऐसा… तो किसी भी आदमीसे बन ही नहीं सकता।'

एक दिन वे एक जंगलमें लम्बे पड़े थे। इतने… ही सिकन्दरने आकर इनको लात मारकर कहा—'उ… जल्दी (रास्ता छोड़ो)। हमने एक मुल्क फतह कर लिया है। इसपर लम्बे पड़े-पड़े ही उन्होंने कहा—'मुल्कका फतह करना तो बादशाहोंका एक शरूर (नशा) है, इसमें नयी बात क्या है ? पर इससे मुझे क्या लेना-देना है ?' यह सुनकर सिकन्दर हतप्रभ रह गया और उसने पूछा—'इतनी बेपरवाही तुमको कहाँसे मिली ?' संतने कहा—'सब्र (संतोष) करने और ख्वाहिशों (कामनाओं)के छोड़नेसे।'

एक दिन किसी आदमीने उनसे पूछा कि 'दुनियामें कोई तुम्हारा सम्बन्धी भी है या नहीं ?' उन्होंने कहा—'तमाम दुनियाके लोग अपने ही सम्बन्धी हैं। इसलिये मैं किसीको अपना (दूसरी बार) सम्बन्धी नहीं बनाता।' इसपर उसने कहा—'जब तुम मरोगे, तब तुमको दफन कौन करेगा ?' उन्होंने तुरंत कहा—'जिसको हमारे मुर्देकी सड़ी गन्ध आयेगी, वही दफन करेगा। इसपर तुमको क्या गम और हमको क्या फिकर है ?' निस्पृह संतकी अलौकिकपूर्ण तथा निर्भय अदाकी बातोंसे जीवन और जगत्‌का मर्म सुनकर वह व्यक्ति नतमस्तक हो गया।

कर्मयोगकी विशेषता—सामान्य समीक्षा

[कर्मयोगो विशिष्यते—गीता ५ । २]

(१)

(लेखक—आचार्य पं० श्रीराजबलिजी त्रिपाठी, एम्०ए०, साहित्यरत्न, साहित्यशास्त्री, व्याकरणशास्त्राचार्य

मनुष्य सर्वश्रेष्ठ प्राणी है । यह सृष्टिका शृङ्गार है; क्योंकि यह अपने 'स्व' को सँवारता है । इसका सँवारा हुआ 'स्वरूप' ही परमेश्वर है, परात्पर परब्रह्म है—जो हमारे भीतर है । वह 'सत्-चित् आनन्दरूप' है और मानवका वही चरम प्राप्तव्य भी है । भगवान्‌ने निज-शक्तिसे वृक्ष, सरीसृप, पशु, खग, दंश, मत्स्यादिकी सृष्टिकर जब संतोष-लाभ नहीं किया, तब उन्होंने आत्मस्वरूपको पहचाननेवाले मनुष्यकी सृष्टि की; इससे उन्हें प्रसन्नता हुई—मुदमाप देवः[1] । निदान, मनुष्य-जीवनका चरम उद्देश्य 'स्वात्मबोध' हुआ । यही कारण है कि मननशील[2] मानव स्वभावतः और विचारतः शाश्वत जीवनके मूलभूत—सत् (सत्ता), सर्वाधिक समझदारीका चित् (चेतनता) और नित्य-सुख 'आनन्द' (आनन्दताकी पराकाष्ठा)के रूपका घनीभूत स्वरूप 'सच्चिदानन्दघन' चाहता है । यह इसलिये भी चाहता है कि अन्य योनियोंकी भाँति इसके जीवनका लक्ष्य या फल विषय-भोग अथवा अस्थायी, स्वल्प सुखदायक स्वर्ग भी नहीं है—

एहि तन कर फल बिषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥

मनुष्य-जन्म दुर्लभ है—'मानुष जनम दुरलभ अहै, बहुरि न दूजी बार'; क्योंकि यह मनुष्य-जन्म बड़े भागसे कभी प्राप्त हो जाता है—'**बड़े भाग मानुष तन पावा**' अथवा 'कदाचिल्लभते जन्तुर्मानुष्यं पुण्यसंचयात्।'[3] अतः मनुष्य-जीवनका लक्ष्य उच्च है, जो मोक्ष है; किंतु यह स्वरूप-बोधके सिवा और कुछ नहीं है । उसे ही आत्मदर्शन, कैवल्यप्राप्ति, ब्रह्मात्मैक्य, स्वरूपमें अवस्थिति, मुक्ति अथवा चरम और परमसिद्धि कहा गया है। पुरुषार्थचतुष्टयकी सफलताकी चरम निष्पत्ति उसीमें मानी जाती है । वही मनुष्य-जीवनकी सर्वोत्कृष्ट सिद्धि है ।

उस सिद्धिकी प्राप्तिके लिये हमारे तत्त्वदर्शी ऋषि-मनीषियोंने तत्त्वान्वेषण कर जो तीन साधन-पद्धतियाँ निर्धारित की हैं, वे हैं—(१) कर्मपद्धति, (२) उपासना-पद्धति और (३) ज्ञान-पद्धति । ये साधनाकी परम्परामें चरम स्थिति होकर निष्ठाएँ बन जाती हैं । मूलतः (१) कर्मनिष्ठा, (२) भक्ति या उपासना-निष्ठा और (३) ज्ञान-निष्ठाकी प्रतिष्ठा हो गयी है । भारतीय मोक्षधर्मकी ये निष्ठाएँ शास्त्रोंमें और साधकोंमें अत्यन्त समादृत हैं । श्रीमद्भागवत (१० । २० । ६)में श्रीकृष्णने उद्धवसे कहा है—

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥

'प्रिय उद्धव ! मैंने ही वेदोंमें एवं अन्यत्र भी मनुष्योंका कल्याण करनेके लिये अधिकारि-भेदसे तीन प्रकारके योगोंका (साधनोंका) उपदेश किया है—(१) ज्ञानयोग, (२) कर्मयोग और (३) भक्तियोग । मनुष्यके परमकल्याणके लिये इनके सिवा और कोई उपाय कहीं नहीं है ।'

इसके बाद भगवान् श्रीकृष्णने तीनों योगोंका विवेचन इस प्रकार किया है—

१—श्रीमद्भागवत ११ । ९ । २८ । २—मननान्मनुष्यः (निरुक्त कारकः) । ३—[illegible] ।

इसी आशयका देवीभागवतका यह श्लोक भी है—

मार्गास्त्रयो मे विख्याता मोक्षप्राप्तौ नगाधिप। कर्मयोगो ज्ञानयोगो भक्तियोगश्च सत्तम॥

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥

'हे निष्पाप अर्जुन! मैंने इस लोकमें श्रेयः-सिद्धिके लिये दो प्रकारकी निष्ठा कही है, सांख्योंके लिये ज्ञानयोग और योगियोंके लिये कर्मयोग।'

आगे चलकर वहीं उन्होंने मुक्ति-साधनके रूपमें ज्ञानयोगके साथ कर्मयोगकी तुल्ययोग्यता (निःश्रेयसकरावुभौ) बताते हुए विश्व-व्यवस्थिति अथवा लोकसंग्रहके मङ्गलमय दृष्टि-प्राधान्यसे उन दोनों निष्ठाओंमें कर्मयोगकी विशिष्टता भी निरूपित कर दी है—'तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते' अर्थात्—'स्वरूपतः कर्मसंन्यासकी अपेक्षा कर्मयोग—निष्कामभावसे अनासक्त रहकर जीवनपर्यन्त कर्तव्य कर्म करते रहना—विशिष्ट है, श्रेष्ठ है।' कल्याणकारी तो समानरूपसे दोनों ही हैं, किंतु लोकसंग्रह अथवा विश्व-व्यवस्थाके सार्वजनीन (सर्वकल्याणकारी) पक्षके इस ओर होनेसे एवं सुगमताकी दृष्टिसे यह कर्मयोग विशिष्ट और श्रेष्ठ हो गया है। यही श्रीकृष्ण भगवान्‌का 'निजी मत' है और इसे ही उन्होंने 'उत्तम-रहस्य', 'सर्वगुह्यतम' अथवा 'मे परमं वचः', 'परम गुह्य' कहा है।[10]

यहाँ ध्यान देनेकी बात यह है कि गीताका यह कर्मयोग अथवा कर्मनिष्ठा श्रीमद्भागवतके प्रकृत कामना-परक कर्मयोगकी अपेक्षा कहीं अधिक सुपरिष्कृत है। कहना चाहिये कि 'निष्कामता' की यही विशेषता कर्मयोगका सर्वोत्तम सँवारा हुआ स्वरूप है, जिसमें भक्तिनिष्ठाका सम्मिश्रण 'सोनेमें सुगन्ध' हो गया है। इस रूपमें कर्मयोगको लाकर ज्ञाननिष्ठाके समकक्ष या निष्ठाका पद देने एवं उसे विशिष्ट मान्यता प्रदान करनेका सर्वाधिक श्रेय श्रीकृष्णद्वारा गीत श्रीमद्भगवद्गीताको ही है। वस्तुतः ज्ञान-भक्ति-मिश्रित निष्कामता-विशिष्ट कर्मयोगका प्रधान प्रतिपादक ग्रन्थ गीता ही है—यद्यपि इसका मूल ईशावास्योपनिषद्[11], श्वेताश्वतरोपनिषद्[12], तैत्तिरीयोपनिषद्[13] आदि कतिपय वैदिक ग्रन्थोंमें एवं महाभारतमें वर्णित भागवतीय धर्म या नारायणीयाख्यान—(महाभा० शा० ३४८-७४)में भी विशदरूपमें विद्यमान है—'सांख्ययोगेन तुल्यो हि धर्म एकान्तसेवितः।' भागवतधर्मको तो कर्मयोगका सुपरिष्कृत स्वरूप ही समझना चाहिये। मुख्यतः गीताका कर्मयोग भागवत धर्म ही है।

वास्तवमें कर्मनिष्ठामें आदर्श भक्तिका समन्वय हो जानेसे गीताका कर्मयोग पूर्णतः भागवतधर्म हो गया, जिसे नारायणीय-धर्म भी कहते हैं; क्योंकि इसका उपदेश स्वयं श्रीनारायणने ही सर्वप्रथम भगवान् विवस्वान्‌को दिया था, जिसकी परम्परा मनु, इक्ष्वाकु-प्रभृति राजर्षियोंसे होती हुई 'विदेह' (जनक) तक चली आकर पारिनिष्ठित (अन्तिम) रूपमें स्थित हो गयी। किंतु बहुत समयके बाद कर्मयोगका यह स्वरूप नष्ट हो गया था, जिसे श्रीकृष्णने अर्जुनको उपदेश देकर पुनरुज्जीवित (नवीनीकृत) कर दिया। यही कारण है कि गीतामें कर्मयोग ज्ञानभक्तिसे युक्त तथा निष्कामता, अनासक्तिसे मिश्रित और लोकसंग्रह अथवा भागवत महान् उद्देश्यपरक हो जानेसे विशिष्ट या सर्वश्रेष्ठ हो गया है। इसकी अतीत परम्परा ही इसमें प्रमाण है[14]।

१०—द्रष्टव्य—गीता ३, ३१। ४, ३। ९, २। १०, १। १५, २० और १८, ६४।

११—देखिये मन्त्र २—'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः' इत्यादि।

१२—द्रष्टव्य—६। ४—आरभ्य कर्माणि गुणान्वितानि भावांश्च सर्वान् विनियोजयेद्यः।
तेषामभावे कृतकर्मनाशः कर्मक्षये याति स तत्त्वतोऽन्यः॥

१३—१-९ को देखिये; विद्याके साथ-साथ स्वाध्याय आदि कर्म करना चाहिये—'ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च' इत्यादि।

१४—द्रष्टव्य—गीता ४। १, २ और महाभारतमें वर्णित भागवतधर्मकी वैशम्पायनीय परम्परा और वैशम्पायनका यह कथन कि गीतामें भागवतधर्म ही बतलाया गया है (महाभा० शा० ३४६, १०)।

मनु, इक्ष्वाकु, जनक प्रभृतिके जीवनका अध्ययन करनेपर हमें विदित होता है कि इनमें ज्ञान-भक्ति-मिश्रित कर्मनिष्ठाकी मान्यता ही नहीं थी, प्रत्युत अनुष्ठेयता (व्यावहारिता) भी रही है । यदि हम मनु-प्रभृतिका ही निदर्शन मानें तो उनकी भक्ति-परायणता 'मानस'के एकाधिक मार्मिक सदर्भोके रूपमें सामने उभरी दीखती है और मनुस्मृति-वृद्धमनुके उपज्ञ (प्रथमाचार्य) होनेके नाते वे स्वयं विश्व-व्यवस्थाके विधि-विधायक होनेसे लोकसंग्रही-रूपमें भी सबके सामने आते हैं । इसी प्रकार जनककी उपनिषत्प्रसिद्ध ज्ञानगरिमा गीता-(३ । २०) के **'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः'**से कर्म-निष्ठामें समंजस दीखती है । फलतः भक्त ज्ञानी तो होता ही है, वह लोकसंग्रही कर्मयोगी भी होता है । कोई भी भक्त इन दोनोंसे भिन्न नहीं देखा जाता । इसीलिये वह **'निज प्रभुमय देखहिं जगत'** में ज्ञानी और **'मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत'** की भावनामें अनन्य आदर्श भक्तिकी भूमिका निभाते हुए लोक-संग्रहके उपयुक्त कर्तव्यमें लगा रहता है । **'अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च'** (गी० १२ । १३) उसका स्वभाव ही बन जाता है । यही कारण है कि भक्तिको भगवान् श्रीकृष्णने अलग निष्ठा रखनेकी अपेक्षा ज्ञान और कर्मयोगके साथ इस प्रकार समन्वित कर दिया है कि दो ही निष्ठाएँ (ज्ञाननिष्ठा और कर्मनिष्ठा) माननेपर भी भागवतकी भक्ति मान्यता अव्याहत (अबाधित) ही रहती है इसीलिये गीतामें भक्तियोग 'कर्म-षट्क' और 'ज्ञान- मध्यमें भावयोगका हृदय बनकर सर्वथा सर्वे हो गया है ।[15] यही कारण है कि हमारी मान कि गीताका निष्कामकर्मयोग सर्वथा भक्ति-मिश्रित उपनिषदोंका ब्रह्मज्ञान तथा कापिल-सांख्यके अक्षर-विचार तो कर्मयोगकी आधारशिला ही पातञ्जलयोग भी साधनावस्थामें कर्मयोगका उप (साधन या सहायक) है । सच तो यह है कि गीत कर्मयोगमें सबका संयोजन-समन्वयकर शास्त्रीय रीति उसे परिनिष्ठित (अन्तिम रूपमें) निष्ठाका स्वरूप दिया गया है; अतएव निःसंदिग्धरूपसे कहा ज सकता है कि गीताका कर्मयोग अन्यतर (ज्ञाननिष्ठा औ कर्मनिष्ठा—इन दोनोंमें एक) अन्तिम निष्ठा या चरम साधनावस्था है, जिसके बाद मोक्षकी प्राप्ति सुतराम् सुगम हो जाती है—ठीक वैसे ही जैसे ज्ञा कैवल्य मुक्ति मिल जाती है । इस प्रकार कर्मयोगक विकास और विवेचन गीतामें ही हुआ है ।

अत्यन्त प्राचीन कालमें वैदिक धर्म कर्म-प्रध और कर्मयोग शब्द काम्यकर्मों—यज्ञादि कर्तव्योंके

१५—आचार्य मधुसूदन सरस्वतीने गीताके १८ अध्यायोंमें प्रथम छः अध्यायोंको कर्मषट्क, दूसरे षट्कको उपासना और तीसरे षट्कको 'ज्ञानषट्क' माना है । देखिये श्रीमद्भगवद्गीता उपोद्घात २–४

सच्चिदानन्दरूपं तत् पूर्णं विष्णोः परं पदम् । यत्प्राप्तये समारब्धा वेदाः काण्डत्रयात्मकाः ॥
कर्मोपास्तिस्तथा ज्ञानमिति काण्डत्रयं क्रमात् । तद्रूपाष्टादशाध्यायैर्गीता काण्डत्रयात्मिका ॥
एकमेकेन षट्केन काण्डत्रयोपलक्षयेत् । कर्मनिष्ठाज्ञाननिष्ठे कथिते प्रथमान्त्ययोः ॥
यतः समुच्चयो नास्ति तयोरतिविरोधतः । भगवद्भक्तिनिष्ठा तु मध्यमे परिकीर्तिता ॥

कर्म और ज्ञानके मध्य उपासना या भक्तिषट्कका सन्निवेश भक्तिकी कर्म और ज्ञान उभयमें व्याप्ति और उपादेयता सूचित करता है । १६–इस सम्बन्धका सुन्दर पठनीय प्रतिपादन श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाने भी किया है । देखिये—इसी अङ्कमें पृ० सं० २६ पर 'गीतोक्त निष्कामकर्मयोगका स्वरूप' लेख ।

...सित था। मनुने (२।१९७) इसी पुराने अर्थमें 'काम्यो ... वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः।' (अर्थात् वेदोंकी ... सम्पूर्ण) स्वीकृति, तदनुरूप क्रियायोग यानी क्रिया-...भावसम्पन्न करना कामनामूलक ही है) कहा है। ...स समय न तो ज्ञानकी उतनी प्रतिष्ठा हो पायी थी कि '...ते ज्ञानान्न मुक्तिः' तथा 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति ...न्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' का नितरां विवेचन किया ...। और न भक्तिकी ही प्रतिपादित मौलि थी कि '...वेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद् विडम्बनम्।' ...ही दृढतासे प्रतिपादन किया जाय। वेद-संहिता और ...ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें कर्मकी मीमांसा और कर्म-प्रधान धर्मोंका ...प्रतिपादन किया गया था जो यज्ञादिकी महिमामें कृतार्थ ...। उन्हें 'त्रयीधर्म' कहा जाता था; क्योंकि तीनों ...वेदोंकी प्रवृत्ति इन्हीं कर्मधर्मोंकी ओर अधिक थी। आगे ...चलकर वेदान्त-उपनिषदोंसे उपजीवित ज्ञानमार्ग और ...शास्त्रों एवं भक्तिसूत्रों (नारदभक्ति-सूत्र एवं शाण्डिल्य ...भक्ति-सूत्रों) से उपोद्बलित भक्तिमार्ग अत्यन्त प्रसिद्ध ...हो गये। आचार्य शंकरके समयमें ज्ञानमार्ग ...उत्कर्षपर आ गया और आचार्य रामानुजने भक्तिकी ...सिद्धान्त व्याख्या कर उसकी पद्धतिको अत्यन्त परिमार्जित ...कर दिया। गोस्वामी तुलसीदासजीने तो भक्तिविषयक ...एक सिद्धान्त ही प्रस्तुत कर दिया—'बिनु हरि ...भजन न भव तरिअ यह सिद्धांत अपेल।' किंतु कर्ममार्ग

अथवा प्राचीन कर्मयोगका परिष्कार भगवान् श्रीकृष्णने इस कौशलसे किया कि उसमें ज्ञानका आधार और भक्तिका सम्मिश्रण तो हुआ ही, लोक-संग्रहके पक्षमें निष्काम कर्मकी कर्तव्यता भी उदीत हो उठी। लोक-संग्रहमें विश्व-व्यवस्थाकी प्रेरिका प्रभु-प्रीति हुई, लौकिक कामना या फलेच्छा नहीं। आसक्ति, अकर्मण्यता एवं फलाधिकारिताके साथ कीर्ति-लिप्सा या लोकैषणा भी निष्काम कर्मयोगकी पद्धतिमें बाधा मानी गयी। अतः कर्मयोगका निखरा हुआ स्वरूप इस रूपमें प्रतिष्ठित हो गया—'जीव, जगत् और ईश्वरके ज्ञान हो जानेपर कर्मफलकी इच्छासे त्यागकर लोकसंग्रह (विश्व-व्यवस्था) अथवा भगवदर्पण-बुद्धिसे अनासक्तरूपमें अर्थात् कर्म-फलसे मनका लगाव न रखकर कर्तव्य कर्मोंको जीवन-पर्यन्त करते जाना निष्काम कर्मयोग है, जो निःश्रेयसकी अन्यतम अन्तिम साधनावस्था या निष्ठा है। (क) यतः विश्व-व्यवस्थिति भगवत्कार्य है और (ख) भगवत्सृष्ट वर्णाश्रमधर्म व्यवस्थाकी चरितार्थता इस कर्मयोगमें ही व्यवस्थितरूपमें निर्वाहित होती है, अतः यह ज्ञान-निष्ठाकी अपेक्षा विशिष्ट है; 'कर्मयोगो विशिष्यते' का तात्पर्य इसी दिशाका है। इसीका समर्थन करते हुए गर्गसंहिता-(४।८३)में इसको जाननेवालेको उत्तम पुरुष कहा है—

ज्ञानाद्युपास्तिरुत्कृष्टा कर्मोत्कृष्टमुपासनात्।
इति यो वेद वेदान्तैः स एव पुरुषोत्तमः॥

(क्रमशः [illegible])

'यथाशक्ति करना निष्काम'

जीवनके सर्वोत्तम काम।
सत्पुरुषोंकी संगति करना, मुखसे जपना हरिका नाम॥
सदा पवित्र कर्म ही करने, तजने खोटे कर्म तमाम।
विषयोंका चिन्तन तज मनसे, भजना प्रभुका रूप ललाम॥
कभी किसीका जी न दुखाना, करना सबका ही शुभ ध्यान।
सबकी सेवा तन-मन-धनसे यथाशक्ति करना निष्काम॥

—[illegible] ([illegible]-११८९)

श्रीहरिः

'कल्याण'के नियम

[illegible]-भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, धर्म और सदाचारसमन्वित [illegible]नताको कल्याणके पथपर पहुँचानेका प्रयत्न करना [illegible] है।

नियम

[illegible] भगवद्भक्ति, भक्तचरित, ज्ञान, वैराग्यादि ईश्वर-[illegible]णमार्गमें सहायक, अध्यात्मविषयक, व्यक्तिगत लेखोंके अतिरिक्त अन्य विषयोंके लेख 'कल्याण'में [illegible] माने जाते। लेखोंको घटाने-बढ़ाने और छापने [illegible]पनेका अधिकार सम्पादकको है। अमुद्रित लेख [illegible]टाये नहीं जाते। लेखोंमें प्रकाशित मतके [illegible]दक उत्तरदायी नहीं हैं।

[illegible] इसका डाकव्यय और विशेषाङ्कसहित अग्रिम [illegible] भारतवर्षमें १६.०० रुपये और भारतवर्षसे [illegible] रु० २४.२२ (२ पौण्ड) नियत है।

[illegible] 'कल्याण'का नया वर्ष जनवरीसे आरम्भ [illegible]रमें समाप्त होता है, अतः ग्राहक जनवरीसे [illegible] हैं। वर्षके किसी भी महीनेमें ग्राहक बनाये जा [illegible]र जनवरीके अङ्कके बाद निकले हुए तबतकके सब [illegible]वेना मूल्य दिये जाते हैं। 'कल्याण'के बीचके [illegible] ग्राहक नहीं बनाये जाते; छः या तीन महीनेके [illegible]क नहीं बनाये जाते।

[illegible] इसमें व्यवसायियोंके विज्ञापन किसी भी [illegible]शित नहीं किये जाते।

[illegible] कार्यालयसे 'कल्याण' दो-तीन बार जाँच करके [illegible]के नामसे भेजा जाता है। यदि किसी मासका अङ्क [illegible]े तो अपने

(७) जनवरीसे बननेवाले ग्राहकोंको रंग-बिरंगे चित्रोंवाला जनवरीका अङ्क (चालू वर्षका विशेषाङ्क) दिया जायगा। विशेषाङ्क ही जनवरीका तथा वर्षका पहला अङ्क होगा। फिर दिसम्बरतक प्रतिमास एक अङ्क बिना मूल्य मिला करेगा। किसी अनिवार्य कारणवश 'कल्याण' बंद हो जाय तो जितने अङ्क मिले हों, उतनेमें ही संतोष करना चाहिये; क्योंकि केवल विशेषाङ्कका ही मूल्य १६.०० रुपये है। बाकी ११ अङ्क बिना मूल्य हैं।

आवश्यक सूचनाएँ

(८) 'कल्याण'में किसी प्रकारका कमीशन या 'कल्याण'की एजेन्सी किसीको देनेका नियम नहीं है।

(९) ग्राहकोंको अपना नाम-पता स्पष्ट लिखनेके साथ-साथ ग्राहक-संख्या अवश्य लिखनी चाहिये। पत्रमें आवश्यकताका उल्लेख सर्वप्रथम करना चाहिये।

(१०) पत्रके उत्तरके लिये जवाबी कार्ड या टिकट भेजना आवश्यक है। एक बातके लिये दुबारा पत्र देना हो तो उसमें पिछले पत्रकी तारीख तथा विषय भी देना चाहिये।

(११) ग्राहकोंको चंदा मनीआर्डरद्वारा भेजना चाहिये। वी० पी० से अङ्क बहुत देरसे जा पाते हैं।

(१२) प्रेस-विभाग, 'कल्याण'-व्यवस्था-विभाग तथा सम्पादन-विभागको अलग-अलग समझकर अलग-अलग पत्रव्यवहार करना और रुपया आदि भेजना चाहिये। 'कल्याण'के साथ पुस्तकें और चित्र नहीं भेजे जा सकते। प्रेससे १.०० रु०से कमकी वी० पी० प्रायः नहीं भेजी जाती।

(१३) चालू वर्षके विशेषाङ्कके बदले पिछले वर्षोंका